Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

16.3

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पं० रामनारायण शास्त्री-स्मारक-ट्रस्ट
निजी पुस्तकालय
भवन संख्या एम ३/१४, पथ संख्या–११
राजेन्द्र नगर, पटना–८०००१६

स्कन्ध-संख्या.....

तिथि.....

क्रमक-संख्या.....

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

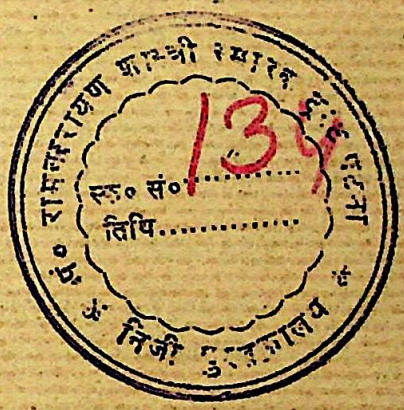

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

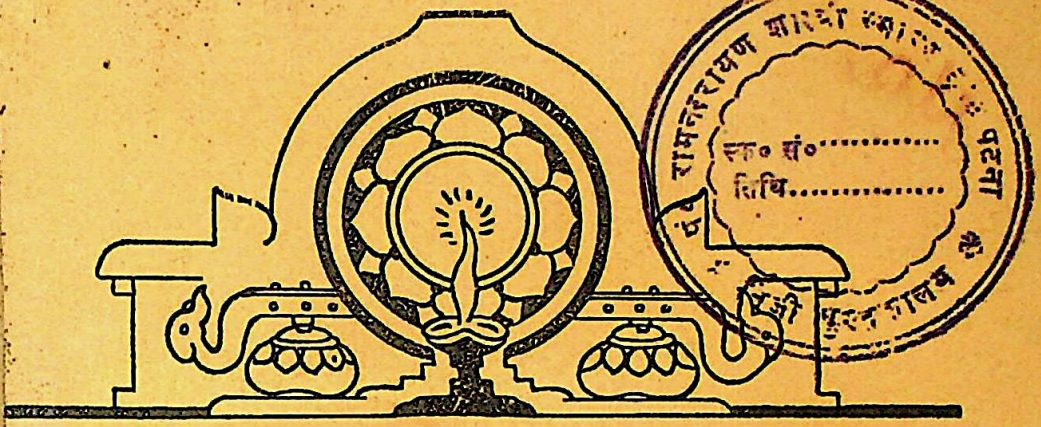

भारती

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का

सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र

वार्षिक ७)] [एक प्रति २)

वर्ष ५ } चैत्र, संवत् २०११ : : अप्रैल, १९५४ ई० { अंक १

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सम्पादकीय

डा० देवसहाय त्रिवेद ९ कनिष्क-काल : १७४५ कलि-संवत्

प्रो० जगदीश पाण्डेय १९ शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य २९ संस्कृत व्याकरण के नियमों की वस्तुस्वभावानुसारिता

श्री नरेन्द्रनारायण लाल, श्री सिद्धेश्वरप्रसाद चौधरी 'मंजु' ३८ गया जिले के तीन स्वर्गीय साहित्यसेवी

श्री व्रजविहारी शरण ४८ भास

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ६९ संत सूरजदास और उनकी रचनाएँ

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ७२ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय (गया) की हस्त-लिखित पोथियों का विवरण

समीक्षा : संकलन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्मेलन के भूतपूर्व अधिवेशन, उनके सभापति, स्थान एवं ई० सन्

(१) पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, १९१९, सोनपुर; (२) श्री राजा राधिकारमण-प्रसाद सिंह, १९२०, बेतिया; (३) श्री शिवनन्दन सहाय, १९२१, सीतामढ़ी; (४) पं० संकलनारायण शर्मा, १९२२, छपरा; (५) पं० चन्द्रशेखर मिश्र, १९२३, पटना; (६) राजा-बहादुर कीर्त्यानन्द सिंह, १९२४, मुजफ्फरपुर; (७) देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद, १९२५, लहेरियासराय; (८) आचार्य बदरीनाथ वर्मा, १९२७, गया; (९) रायबहादुर रामरणविजय सिंह, १९२९, मुँगेर; (१०) स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, १९३१, वैद्यनाथ धाम; (११) डा० काशीप्रसाद जायसवाल, १९३३, भागलपुर; (१२) पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' १९३५, छपरा; (१३) श्री यशोदानन्दन अखौरी, १९३६, पूर्णिया; (१४) श्री व्रजनन्दन सहाय १९३६, बेगूसराय; (१५) श्री पीर मुहम्मद मूनिस, १९३७, आरा; (१६) महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, १९३८, राँची; (१७) प्रो० शिवपूजन सहाय, १९४१, पटना; (१८) श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह, १९४१, मोतिहारी; (१९) श्री रामधारी प्रसाद, १९४५, मन्दार (बाँसी); (२०) प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, १९४८, मुजफ्फरपुर; (२१) श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', १९५०, गया; (२२) श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, १९५१, आरा; (२३) पं० छविनाथ पाण्डेय, १९५२, झरिया।

कल्पना का 'कला-अंक'

इस अंक की [illegible]एँ—

- इस अंक में प्रकाशित होनेवाले प्रायः सभी रंगीन तथा इकरंगे चित्र अबतक अप्रकाशित रहे हैं।
- भारत के सर्वश्रेष्ठ ब्लाक-मेकर्स द्वारा तैयार किये गए रंगीन तथा सादे ब्लाक की आर्ट पेपर पर भारत में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ छपाई की व्यवस्था इस अंक के लिए की गई है।
- इस अंक में ३० रंगीन तथा १०० इकरंगे चित्र रहेंगे।
- अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गए निबंधों की २०० पृष्ठों की पाठ्य-सामग्री इस अंक में रहेगी।
- इस अंक का आकार साधारण अंकों के आकार से बड़ा होगा।

विशेष विवरण के लिए लिखें :

शाखा कार्यालय
२०, हमाम स्ट्रीट, फोर्ट
बम्बई

व्यवस्थापक
'कल्पना' मासिक
८३१, बेगम बाजार, हैदराबाद (दक्षिण)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विद्यया मृतमश्नुते ।'

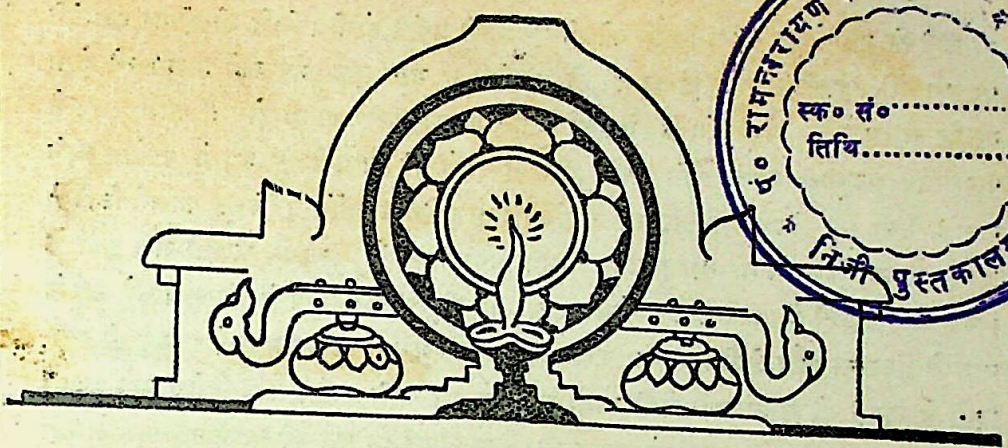

पं० रामनरेश त्रिपाठी स्मृति निजी पुस्तकालय
स्क० सं०.....
तिथि.....

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र

वार्षिक ७)] [एक प्रति २)

वर्ष ५ } चैत्र, संवत् २०११ : : अप्रैल, १९५४ ई० { अंक १

सम्पादकीय

राष्ट्रभाषा और उर्दू

इस देश में हिन्दू और मुसलमान सदियों से साथ रहते आये हैं। भारत के खण्डित हो जाने पर भी उसके अनेक प्रान्तों में लाखों मुसलमान अब भी हैं। प्राय सभी जगहों में वे हिन्दुओं के पड़ोसी हैं। राजनीतिक आन्दोलनों के पहले तो वे बहुत ही अच्छे पड़ोसी थे। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी सहृदयता और उदारता सराहनीय थी। पर्व-त्योहारों में भी उनके साथ कोई भेदभाव न था। हिन्दुओं की आदर्श सहिष्णुता से उन्होंने बराबर लाभ उठाया। आज भी, पाकिस्तानी भावना का जहर फैल चुकने पर भी, उनके साथ लेन-देन का रोजगार हर जगह चालू है। उनके धार्मिक उत्सवों में अब भी यथासंभव सहयोग और भाईचारा कायम है। अब भी दोनों बहुत दूर तक एक दूसरे के सुख-दुख में साथी हैं। सैकड़ों वर्ष से दोनों के बोलचाल की भाषा एक रही है। दोनों की भाषा में पहले केवल लिपि का ही भेद था। कई लेखकों और कवियों की उर्दू-रचनाएँ ऐसी हैं जो अगर नागरी-लिपि में लिख

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दी जायँ तो मुहावरेदार सरल हिन्दी की ही एक शैली प्रतीत होंगी। लिपि की दीवार हटा देने पर बहुत-सी उर्दू की रचनाएँ हिन्दी की हो जायँगी। अगर कुछ भेद कहीं मालूम भी होगा तो वह साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लेखकों के दुराग्रह का परिणाम ही होगा; क्योंकि जब से पारस्परिक सद्भाव विषाक्त होने लगा तभी से दोनों की भाषा के स्वरूप में पार्थक्य बढ़ने लगा। लिपि की दीवार हटते ही यह पार्थक्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा। केवल फारसी-लिपि ने हिन्दी को उर्दू के नाम से साम्प्रदायिक भाषा बना दिया है। अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्द हिन्दी में प्रचलित हैं। ऐसी हिन्दी को ही फारसी-लिपि में लिखकर उसे उर्दू के नाम से पुकारना और क्षेत्रीय भाषा कहना एक नया झगड़ा खड़ा करना है। उर्दू तो बहुत दिनों से हिन्दी की मुसलमानी शैली मानी जाती है, पर पहले कभी इसका विरोध नहीं हुआ। अब जान-बूझकर जोर-जबरदस्ती से भारत की तरह भाषा का रूप भी खण्डित किया जा रहा है। जमीन का पाकिस्तान बनने से तो राष्ट्र में अशान्ति बढ़ ही रही है, जबान का पाकिस्तान बनने पर वह अशान्ति और भी बढ़ती रहेगी। इसलिए दोनों पक्ष के शान्तिप्रिय साहित्य-सेवी समझ-बूझकर राष्ट्रीय एकता को खतरे से बचाने की कोशिश करें।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उर्दू केवल दुर्बोध लिपि और अरबी-फारसी के क्लिष्ट शब्दों के जाल में फँस जाने के कारण ही राष्ट्रभाषा हिन्दी से अलग नजर आती है। यदि अप्रचलित, अपरिचित और दुरूह शब्दों के प्रयोग का दुराग्रह न हो तो हिन्दू-मुस्लिम जनता की भाषा में विशेष भेद न रहेगा। जब से व्यावहारिक भाषा पर भी साम्प्रदायिकता का भार पड़ने लगा तब से खींचतान बढ़ती ही जा रही है। जहाँ सिर्फ नाम का ही भेद था, वहाँ रूप और प्रकृति में भी भेद डालने की नीयत से बीच में खाई खोदी जाने लगी, और वह खाई दिन-दिन चौड़ी होती जा रही है। इससे राष्ट्र के साथ-साथ राष्ट्रभाषा का भी अंग-भंग होगा। यह संकट राष्ट्रीय एकता के लिए घातक हो सकता है।

सच पूछिए तो अरबी और फारसी का आगमन कभी अरब और फारस से हुआ होगा, मगर उर्दू तो सोलहो आने भारत की ही उपज है। उसे कोई फौजी छावनी की भाषा कहे या बेगमों के महल की, मगर यह शुरू में 'बाबू इङ्गलिश' की तरह मुसलमानी हिन्दी के सिवा और कुछ नहीं थी। जनभाषा तो उस समय भी हिन्दी ही थी। खुसरो कबीर, जायसी, रहीम आदि इसके प्रमाण हैं। यह कदापि नहीं कहा या माना जा सकता कि लश्कर के बाजार में या शाही दरबार में सिर्फ अरबी-फारसी का ही व्यवहार होता था, जनभाषा का वहाँ गुजर नहीं था। जनभाषा हिन्दी में ही अरबी-फारसी के मेलजोल से मुसलमानी रंगत आ गई। उसीको मुसलमान भाई उर्दू कहने लगे। हिन्दुओं की 'खड़ी बोली' ही मुसलमानों में 'उर्दू' कहलाने लगी। 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में ही उर्दू पैदा हुई थी। वास्तव में वह 'खड़ी बोली' (हिन्दी) का ही मुसलमानी रूप है। इस तरह उर्दू तो हिन्दी की मुसलमानी शैली का ही पुराना नाम है। उसके क्रिया-पद, अव्यय, मुहावरे, तद्धित, कृदन्त आदि हिन्दी-व्याकरण के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अत्यन्त निकट हैं। दुर्गम लिपि और अरबी-फारसी की बाहरी पोशाक उतार देने पर उसकी गठन बस हिन्दी की ही है। उसको व्रजभाषा और अवधी की तरह क्षेत्रीय भाषा नहीं कह सकते। हिन्दी-क्षेत्र की विभिन्न बोलियों से अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। पुराने समय के हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी अलग भाषा नहीं मानते थे; लिपि भले ही भिन्न रही हो। आज भी मलिक मुहम्मद जायसी का 'पदमावत' फारसी लिपि में लिखा मिलता है, पर वह अवधी भाषा का प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है। फारसी-लिपि के माध्यम से मुसलमानों ने हिन्दी की खूब सेवा की थी। यों तो मुसलमान कवियों की साहित्य-सेवा से हिन्दी का इतिहास उज्ज्वल है और हिन्दू साहित्यकारों की सेवा से उर्दू का इतिहास भी खूब जगमगा रहा है। पंजाब के हिन्दू घरानों में कभी रामायण-महाभारत की कथाएँ भी फारसी-लिपि में ही पढ़ी जाती थी। लिपि और भाषा का झगड़ा तो शुद्ध साम्प्रदायिक है। बुगदादी भाषा लिखने-बोलनेवालों की हठधर्मी से उर्दू को अलग हस्ती कायम की जा रही है, नहीं तो भाषाशास्त्रियों के मतानुसार वह राष्ट्रभाषा हिन्दी का ही अभिन्न अंग है।

यह बात भी प्रत्यक्ष ही सिद्ध है कि देवनागरी-लिपि में लिखी जाने पर उर्दू कहीं की क्षेत्रीय भाषा न रहकर राष्ट्रभाषा के कक्ष में चली जायगी। देवनागरी उसे अमृत पिला देगी। भेदभाव की भित्ति भूमिसात् हो जायगी। दोनों पक्ष के लोग एक दूसरे की संस्कृति से परिचित हो जायँगे। दिन-दिन बढ़ता हुआ वैमनस्य क्रमशः विलीन हो जायगा। आपस के मनोमालिन्य की खाई पट जायगी। किन्तु वर्त्तमान काल के वातावरण एवं लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दीवालों की सद्भावना भी शंका-सन्देह की दृष्टि से देखी जा रही है। तब भी हम हिन्दीवालों को चाहिए कि उर्दू को अपने से अलग न होने दें; क्योंकि वह हिन्दी की ही एक लुभावनी शैली है। और, जिस दिन राष्ट्रभाषा के हितैषियों की ओर से, फारसी लिपि में छपी उत्तमोत्तम साहित्यिक पुस्तकें देवनागरी-लिपि में छपकर प्रकाशित होने लगेंगी उसी दिन हमारे मुसलमान भाई यह अनुभव करने लगेंगे कि जिस भाषा पर वे खास अपनी छाप लगाते हैं वह हिन्दी की एक विशिष्ट शैली के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू की अच्छी-से-अच्छी किताबों को देवनागरी-लिपि में, टीका-टिप्पणी और गवेषणापूर्ण भूमिका के साथ, प्रकाशित कर देने पर राष्ट्रभाषा का वह खजाना आसानी से वापस आ जायगा, जो फारसी-लिपि की चीनी दीवार के पीछे छिपा पड़ा है। अन्त में, देवनागरी के सहारे अपनी भाषा की व्यापकता बढ़ते देखकर, आशा है, मुसलमान भाई भी हमारी बात का तथ्य समझ जायँगे। उनका यह भ्रम भी दूर हो जायगा कि देवनागरी से उनकी सांस्कृतिक हानि होगी। उनकी लिपि तो फारसी के लिए सदा बनी ही रहेगी। साहित्यिक दृष्टि से फारसी बहुत समृद्ध भाषा है। उसके पढ़ने वाले उसीकी लिपि के सहारे उससे लाभ उठावेंगे। इधर देवनागरी के बल पर इस्लामी संस्कृति भी समस्त राष्ट्र में उजागर हो जायगी।

हाँ, हिन्दीवालों की ओर से उर्दू के विरोध का भी कोई प्रश्न नहीं है। कोई अंगी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपने ही किसी अंग से विरोध क्यों करेगा ? विरोध तो उर्दूवालों की ओर से ही आगे बढ़ाया गया है। हिन्दीवाले तो बराबर उर्दू को अपनाते आये हैं। आज भी हिन्दीवालों में ऐसे बहुतेरे हैं जो केवल हिन्दी के माध्यम से उर्दू-साहित्य का अच्छा ज्ञान रखते हैं। किन्तु मुसलमान भाइयों में ऐसे सज्जन बहुत कम ही होंगे जो केवल फ़ारसी-लिपि के माध्यम से हिन्दी-साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का कुछ परिचय पा सके हों। हिन्दीवालों के मन में उर्दू के प्रति घृणा नहीं है, पर उर्दूवालों के मन में हिन्दी के प्रति काफी उदासीनता है। इसके लिए प्रमाणों की कमी नहीं है। उर्दू के लेखकों और कवियों को हिन्दीवाले बड़े शौक से पढ़ते हैं और उनमें कितनों को प्यार भी करते हैं, पर उर्दूवालों में वैसे हिन्दी-साहित्यानुरागी शायद ही ढूँढ़े मिलेंगे। इन सब बातों से यह साफ जाहिर है कि राष्ट्रभाषा और उर्दू में कोई मौलिक भिन्नता नहीं है और किसी प्रकार का साम्प्रदायिक विरोध भी नहीं है। अगर कोई ऐसे सपने देखता है तो वह कभी भारत की राष्ट्रीय एकता का हिमायती नहीं हो सकता।

—शिव०

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की हीरक-जयन्ती

हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने योग्य बनाने के प्रयत्न में सबसे अधिक योगदान 'सभा' ने ही किया है। यों तो 'सभा' से ही प्रसूत 'सम्मेलन' भी प्रभूत यश का भागी है; पर 'सभा' का स्थान सर्वोपरि है, इसमें मीन-मेष नहीं। जान पड़ता है कि ईश्वरीय प्रेरणा से ही, विश्वनाथपुरी में, विक्रम की बीसवीं शताब्दी के मध्य में, हिन्दी के विशेष प्रचार और उत्थान के लिए, सभा का शुभ जन्म हुआ था। सभा के सतत सहयोग से हिन्दी का जो सम्मान-संवर्द्धन और साहित्य-निर्माण हुआ उसे इतिहास सदा गर्व-गौरव के साथ याद किया करेगा। सभा के प्राण और हृदय बाबू श्यामसुन्दर दास और पंडित रामनारायण मिश्र हिन्दी के सच्चे आचार्य्य हुए। उनकी तपस्या खूब फूली-फली। ईश्वर की दया से दोनों ने सभा की स्वर्ण-जयन्ती देख ली थी। बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है कि सभा के संस्थापकों में अन्यतम ठाकुर शिवकुमार सिंह ने सभा की हीरक-जयन्ती भी देख ली। बड़े पुण्य से ऐसा संयोग होता है। सभा तो सचमुच अनेक साधकों की पुञ्जीभूत साधना का ही मूर्त्त रूप है। ऐसे अवसर पर उन साधकों का अनायास स्मरण होना स्वाभाविक है—लाला भगवान दीन, पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू जगमोहन वर्मा, बाबू रामचन्द्र वर्मा, पं० केदारनाथ पाठक आदि के नाम कभी भुलाये न जायँगे। ऐसे तो शुरू से आज तक के सभा के जीवनेतिहास में एक-से-एक यशोधन हिन्दी-भक्तों के नाम सादर स्मरणीय हैं—सर्वश्री राधाकृष्ण दास, महामना मदनमोहन मालवीय, बालकृष्ण भट्ट, कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ दास रत्नाकर, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामबिहारी मिश्र, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, हीरालाल, रामावतार शर्मा, विष्णुलाल पण्ड्या, कामता प्रसाद गुरु, गौरीशंकर प्रसाद, मुन्शी अजमेरी, लज्जाशंकर झा, व्रजरत्न दास, रामकृष्ण दास, विश्वनाथ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पाण्डेय, अमरनाथ झा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजबली पाण्डेय आदि के नाम भी सभा-भवन में प्रायः गूँजा करेंगे। ऐसी गौरवमयी परम्परा किसी भी साहित्यिक संस्था के लिए गर्व की वस्तु है। किन्तु यह तभी हमेशा कायम रह सकती है जब सभा में पूर्ववत् साहित्य-निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य बराबर होता रहे।

महोत्सव के अवसर पर सभा को हजारों रुपये मिले हैं। आशा है कि पहले की तरह यदि लगन से काम होता रहा तो और भी रुपये मिलेंगे। लेकिन सभा को अब बाजार का रुख देखकर प्रकाशन नहीं करना है। उसे विश्वविद्यालयों के लिए पाठ्यग्रन्थ भी नहीं प्रस्तुत करना है। उसे तो आकर-ग्रन्थों, विविध कोशों, प्रामाणिक अनुवादों, साहित्यिक ग्रन्थावलियों, अलभ्य एवं सहायक ग्रन्थों के प्रकाशन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। हिन्दी में सचित्र विश्वकोश की बड़ी आवश्यकता है। वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कोष भी नहीं है। इसी तरह रामायण-महाभारत-कोष की कमी खटकती है। हिन्दी के अभावों की तालिका बहुत लम्बी है। किन्तु सभा जैसी समर्थ संस्था यदि वास्तव में कर्मनिष्ठ हो जाय तो साहित्य के महान् कार्यों के सम्पन्न करने की व्यवस्था हो सकती है। विश्वास है कि सभा के वर्तमान प्रधान मंत्री डाक्टर राजबली पाण्डेय हिन्दी-प्रेमियों की आशा पूरी करने में दत्तचित्त होंगे।

—शिव०

महाकवि 'निराला' की अस्वस्थता

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में महाकवि 'निराला' के अस्वस्थ होने के चिन्ता-जनक संवाद प्रकाशित हो रहे हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए आर्थिक सहायता की अपील भी छपी। केन्द्र की और उत्तर प्रदेश की सरकार से आर्थिक सहायता मिलने के समाचार भी देखने में आये। निराला जी के संरक्षकों और मित्रों में खूब विवाद छिड़ा तथा पारस्परिक आरोपों के खंडन-मंडन भी हुए। किन्तु निराला जी की स्थिति में क्या सुधार हुआ, इसका ठीक पता नहीं लगता। हम स्वयं अस्वस्थ होने से विवश हैं, नहीं तो उनके पास पहुँचकर वास्तविक स्थिति अवश्य देखते-समझते।

'निराला' जी के साहित्यिक जीवन के आरम्भिक काल से हमने उनको बहुत निकट से देखा-परखा है। उनकी प्रकृति से हम बहुत-कुछ परिचित हैं। किसी प्रकार की परिस्थिति उनके स्वभाव, हृदय या विचार में परिवर्त्तन नहीं ला सकती। वे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही सारा काम करते हैं; यों तो सलाह सब की सुन लेते हैं। उनका अन्तःकरण पवित्र और कोमल है। शील और धैर्य की मात्रा उनमें काफी है। मौन रहकर कष्ट सहते रहने की शक्ति उनके बराबर कम लोगों में होगी। वे सच्चे अर्थ में जन-जन के सुहृद् हैं। साहित्य-संसार में फैले हुए राग-द्वेष और परोत्कर्षासहिष्णुता से वे दूर रहते हैं। पुरुषत्व के वे प्रतीक हैं। उनका स्वाभिमान अखण्ड है, तो उनका विनय भी आकर्षक है। सेवा-सत्कार करनेवाले के वे खुद सेवक बन जाते हैं। जो उनके मनस्तत्त्व से ठीक परिचित नहीं हैं, वे उनको विकृत-मस्तिष्क

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तक कह डालते हैं। पर वस्तुतः वे सदा अपने-आप में लीन रहने के कारण बाह्यज्ञान-शून्य-से प्रतीत होते हैं। कभी-कभी अपनी चिन्तन-धारा में निमग्न रहने से वे आत्मविस्मृत-से दीख पड़ते हैं। उन्हें सँभालने के लिए उनकी प्रकृति के अनुकूल व्यक्ति चाहिए।

लोग कहते हैं कि धातुओं में ईश्वरीय विभूति कंचन में है और उसी में कलियुग का निवास भी, इसलिए जो कंचन को कौड़ी के मोल का कर देता है, उससे कंचन भी खूब बदला चुकाता है। इस समय निराला जी से शायद कंचन ही बदला सधा रहा है। वे कंचन के किंकर कभी न रहे। अपने कंचन के भोगनेवालों को पहचानते हुए भी वे मन मैला नहीं करते। उनके पास लक्ष्मी बहुत आई, पर उनका संचय-संरक्षण उनसे न बन पड़ा; फिर भी उसका कभी तिरस्कार न करके उन्होंने सदुपयोग ही बराबर किया। उनके द्रव्य का दुरुपयोग दूसरों के द्वारा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। किन्तु, उनके हाथ से जब पैसे निकले तब परोपकार-पथ के ही पथिक हुए। उनके पास या साथ रहकर कोई जरूरतमन्द नहीं रह सकता। उनका आनन्द दुखियों के दुःख-हरण में है। इष्ट-मित्र के काम आ जाने में ही उन्हें संतोष होता है। ऐसे महाप्राण कवि की सेवा कर सकना सब के बस की बात नहीं।

अच्छा तो यह होता कि प्रयाग के जिम्मेदार साहित्य-सेवी उनके सम्बन्ध में स्पष्ट वक्तव्य प्रकाशित कर हिन्दी-प्रेमी जनता और सरकार को उनकी ठीक-ठीक दशा बतला देते। साहित्य-सम्मेलन को भी अपनी ओर से विज्ञप्ति प्रकाशित करनी चाहिए। सरकारी सहायता की रकम उनकी चिकित्सा में ठीक तरह से खर्च हो रही है या नहीं, इसकी देखभाल कोई नहीं कर सकता। स्वस्थ रहने पर तो वे अपने पैसों को शरीर की सेवा में लगाते ही नहीं, अस्वस्थता में वह कैसे संभव है। यदि हिन्दी-प्रेमियों को उनकी प्राण-रक्षा सचमुच अभीष्ट है तो उन्हें किसी अच्छे अस्पताल के डाक्टरों और नर्सों के संरक्षण में रखने के लिए सरकार से ही अनुरोध करना चाहिए। सरकारी सहायता की रकम यदि सरकार की ही देख-रेख में खर्च हो तो श्रेयस्कर होगा। ऐसी व्यवस्था उत्तर प्रदेश की सरकार के लिए कोई कठिन काम नहीं है। परमेश्वर से प्रार्थना है कि निराला जी शीघ्र स्वस्थ होकर पुनः हमलोगों को निश्चिन्त करें।

—शिव०

साहित्य का इतिहास-दर्शन

(फ्रेंच-साहित्य)

पश्चिम में उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यिक वैदुष्य की प्रणालियों के जो विकल्प वर्त्तमान शताब्दी में उपस्थित किए गए वे पूर्वागत विधेयवाद के विरुद्ध विद्रोह के आधार हैं। हमने अन्यत्र अँगरेजी और जर्मन साहित्य के इतिहास-दर्शन पर विचार करते हुए तत्तत् साहित्यों के इतिहासों एवं ऐतिहासिक विवेचनों में इस विद्रोह के आधार निर्दिष्ट किए हैं। जहाँ तक फ्रेंच साहित्यों के इतिहास-दर्शन का प्रश्न है, वह उपर्युक्त साहित्यों के इतिहास-दर्शन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की तुलना में अधिक नियंत्रित रहा है और उन्नीसवीं शताब्दी के विधेयवाद के विरुद्ध होने वाले विद्रोह से भी वह प्रायः अछूता रहा है।

फ्रेंच साहित्य के इतिहासकारों की यह गतानुगतिकता आश्चर्यजनक तो है किंतु इसके कारण आसानी से ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं। फ्रांस कभी भी जर्मनी के संघटित साहित्यिक तथ्यवाद से आक्रांत नहीं हुआ। फ्रांस के साहित्यिक इतिहासकारों ने, अधिक-से-अधिक प्रकृतवादी दृष्टिकोण अपनाने पर भी, सदैव स्पृहणीय सौंदर्यशास्त्रीय और आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया है। Ferdinand Brunetiere प्राणिशास्त्रीय विकासवाद से अत्यधिक प्रभावित था किंतु वह श्रेयवादी बना रहा; इसी प्रकार Gustave Lanson ने वैज्ञानिक आदर्श के साथ राष्ट्रीय चेतना और उसकी आध्यात्मिक एषणा के आधानों का समन्वयन किया।

फिर भी, प्रथम विश्व-युद्ध के तुरत बाद फ्रांस में भी तथ्यवाद की विजय होती-सी दीख पड़ती है। भारी-भरकम महानिबंध (the'se); Fernand Baldensperger के द्वारा अनुप्रेरित तुलनात्मक साहित्य के सुसंघटित संप्रदाय का व्यापक प्रभाव; फ्रेंच भाषा के श्रेयस ग्रंथों के अतिशय विशद संस्करण प्रस्तुत करनेवाले विद्वानों की सफलता (उदाहरणार्थ, Abel Le Franc का Rabelais; Pierre Villey का Montaigne के Essais का संस्करण; Daniel Mornet का Rousseau के Nouvelle Hessise का संस्करण); Daniel Mornet के सिद्धांत, जिसकी मांग थी कि गौणतम लेखकों का भी विशद साहित्यिक इतिहास लिखा जाए—ये सभी इस बात के लक्षण हैं कि फ्रांस ने उन्नीसवीं शताब्दी के विशुद्ध ऐतिहासिक वैदुष्य को आयत्त करने की चेष्टा की थी।

किंतु इसके साथ ही साथ फ्रांस में एक परिवर्त्तन के चिह्न लक्षित होते हैं जो, जैसा सर्वत्र होता है, दो दिशाओं में प्रसरित होता है : एक नवीन संश्लेषण और एक नवीन विश्लेषण की ओर। फ्रांस के साहित्यिक इतिहासकार निर्भीक भाव से चित्रित बौद्धिक इतिहासों के क्षेत्र में विशेष रूप से सफल सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए, Paul Hazard का Crise de la Conscience Europeenne उस परिवर्त्तन का कुशल प्रतिपादन है जो सत्रहवीं शताब्दी के अंत में यूरोप में दिखाई पड़ा था। Hazard ने अपने इस विस्तृत ग्रंथ में उस यूरोपीय चेतना के आधान को अपनाया है जो प्राचीन विधेयवादी प्रणालियों को सर्वथा अग्राह्य था। Etienne Gilson जैसा कैथलिक-मतानुयायी लेखक भी साहित्य पर धार्मिकता के प्रभाव की मीमांसा करता हुआ (Les idees et les lettres), या Abbe Bremond अपने विशाल Literary History of the Religious Sentiment in France (L' Historie du sentiment religieu en France फ्रेंच में ग्यारह खंडों में, अँगरेजी में आंशिक अनुवाद तीन खंडों में) में प्रकृतवाद की उपेक्षा करते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपेक्षाकृत अधिक सीमित परिधिवाले साहित्यिक विवेचनों में Louis Cazamian ने तो अँगरेजी साहित्य के इतिहास के मनोवैज्ञानिक विकास की एक कल्पित योजना निर्मित करने का भी प्रयत्न किया है जिसमें प्रमाणित यह किया गया है कि अँगरेजों की मानसिक चेतना भावना और बुद्धि के ध्रुवांतों के बीच क्रमशः तीव्रतर होता जाने वाला दोलन है। (L' Evolution psychologique de la litterature en Angleterre, और E. Legouis और L. Cazamian के Histoire de la litterature anglaise का उत्तरार्ध)। यह योजना अपने इस निर्दिष्ट व्यवहृत रूप में कहाँ तक सफल है, यह विवाद्य हो सकता है। साहित्यिक परिवर्त्तनों की जटिल वास्तविकता का इससे कहाँ तक समाधान होता हैं, यह अवश्य ही विचारणीय है। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह योजना साहित्य के लिए व्यवहृत इतिहास के प्रायः तात्त्विक दर्शन को प्रस्तुत कर देने का प्रयास था।

साहित्य के इन इतिहासकारों के अतिरिक्त Paul Van Tieghem ने 'सामान्य साहित्य' का आधान उद्भावित किया है जो तुलनावादियों के द्वारा प्रयुक्त प्रभावों के पृथक्कृत और पृथक्कारी अध्ययन के नितांत प्रतिकूल है, और पाश्चात्य यूरोपीय साहित्यिक परम्परा की अन्विति मान लेता है (La synthese en histoire litteraire : Litterature comparee et litterature generale शीर्षक निबंध Revue de synthese historique में, तथा Le preromantisme, दो खंड)। जहाँ तक इस विद्वान् के सिद्धांत के स्वतः व्यवहृत रूप का प्रश्न है, वह बहुत निराशाजनक और रूढ़ है, क्योंकि वह साहित्यिक प्रचलनों को समस्त यूरोपीय देशों में निरूपित मात्र कर संतोष कर लेता है।

फ्रेंच विद्वानों के अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषणात्मक विवेचनों में भी दृष्टिकोण के आमूल परिवर्त्तन का अभाव ही है। Explication de textes की प्रणाली अत्यधिक भाषा-विज्ञानमूलक और निरुक्तशास्त्रीय है और इस कारण साहित्यिक अध्यापन की एक उपयोगी पद्धति भर ही मानी जा सकती है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि अधुनातन साहित्यिक विवेचनों में पाठ की ओर लौट चलने का जो स्पृहणीय आंदोलन शुरू हुआ था, उसका प्रारंभ इसी प्रणाली में पाया जाता है।

—न० वि० श०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कनिष्क-काल : १७४५ कलि-संवत्

डा० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

कनिष्क का काल पुरातत्त्वविदों के लिए असमाप्य विवाद का विषय बना हुआ है। मेरा विचार है कि इस समस्या का अभी तक सांगोपांग विवेचन नहीं हुआ है। मैं सभी प्राप्य प्रमाणों का निरपेक्ष और निष्पक्ष अध्ययन कर युक्तियुक्त निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करूँगा।

वंश

हुविष्क, वसिष्क तथा कनिष्क अपने सिक्कों पर अपने को कुषाण कहते हैं। स्टेनकोनो के अनुसार यह निश्चितप्राय है कि ये ईरानी थे। कनिष्क और अजेस (अयश) दोनों का नाम भारतीय परम्परा में कहीं नहीं मिलता। केवल साधारण तर्क पर ही इन्हें भारतीय इतिहास में स्थान मिला है। कल्हण कहता है कि हुष्क, जुष्क और कनिष्क तुरुष्क (तुर्क) वंश के थे। अनेक विद्वानों का मत है कि कनिष्क लघुयूची वंश का था।[1]

सिक्के

इन राजाओं के सिक्कों पर जो चित्र मिलते थे उनका पहनावा (आवरण) वीम काड-फाइसिस के पहनावे से मिलता है। किन्तु इन तीनों कुषाण राजाओं ने अपनी राज-मुद्रा के प्रचलन के सम्बन्ध में एक नये मार्ग का अवलम्बन किया जिससे प्रकट होता है कि ये एक विभिन्न वंश के थे। ऐसे अनेक मुद्रा-प्राप्ति-स्थान हैं जहाँ कनिष्क और वीम काडफाइसिस के सिक्के एक साथ ही मिलते हैं। किन्तु तीन विशाल मुद्रा-प्राप्ति-स्थान ऐसे हैं जहाँ हुविष्क, वासुदेव तथा काडफाइसिस किसी का भी कोई चिह्न नहीं मिलता। ये स्थान हैं—रानसी, बुआडीह तथा कालका।

जुलुस, गण्डफरनीस, कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के सिक्के मथुरा में मिले हैं। काडफाइसिस, हुविष्क और कनिष्क के सिक्के खैराडीह में मिले हैं। वीम काडफाइसिस और कनिष्क के ५०० सिक्के रानसी में मिले हैं। वीम काडफाइसिस और कनिष्क के सिक्के बुआडीह के पास भी पाये गये हैं। वीम काडफाइसिस, कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के २० ताम्र-सिक्के इन्दौर में मिले हैं। अहिनपोष भाण्डार से कनिष्क और हुविष्क की

१—हुष्कजुष्ककनिष्काख्यास्त्रयस्तत्रैव पार्थिवाः।
ते तुरुष्कान्वयोद्भूता अपि पुण्याश्रया नृपाः॥१—६६॥
—राजतरङ्गिणी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वर्ण-मुद्राओं के साथ दमितियन, ब्राजन तथा सविन की भी स्वर्ण-मुद्राएँ मिली हैं। शंकिस से वीम काडफाइसिस, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव तथा अनेक परवर्त्ती सिक्के भी मिले हैं। कन्हिमारा में वीम काडफाइसिस के दो, कनिष्क का एक तथा वासुदेव का एक सिक्का, मिले हैं।[1] मानिकयाल में कुजल, वीम काडफाइसिस तथा कनिष्क के सिक्के पाये गये हैं। पटियाला, पूर्वी पंजाब राज्यसंघ के काल का कसौली पथ पर कनिष्क की ४० ताम्र-मुद्राएँ, काडफाइसिस द्वितीय की ३८२ ताम्र-मुद्राओं के साथ पाई गई हैं। पेशावर में काडफाइसिस, कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के १,००० मुद्राएँ पाई गई हैं।

कुछ मुद्राविज्ञ काडफाइसिस समूह को कनिष्क के पूर्व का मानते हैं तथा अन्यों ने ठीक इसके विपरीत सिद्ध किया है।

जनरल कनिंगघम ने इनकी मुद्राओं का निम्नांकित तौल बतलाया है :—

वीम काडफाइसिस	के	१९	दीनारों का मध्यमान	१२२.२१ ग्रेन[2]
कनिष्क	के	२१	,, ,,	१२२.१९ ,,
हुविष्क	के	११८	,, ,,	१२३.१६ ,,
वासुदेव	के	२१	,, ,,	१२२.१६ ,,

अन्य सारणी में कुछ चुने हुए सिक्कों का तौल उसने इस प्रकार दिया है :

वीम काडफाइसिस के		२	सिक्कों का मध्यमान	१२३.१ ग्रेन
कनिष्क	के	११	,, ,,	१२३.१ ,,
हुविष्क	के	२५	,, ,,	१२३.४ ,,
वासुदेव	के	२१	,, ,,	१२३.३ ,,

आजकल का एक रुपया = ·३७४ औंस = १७९.५२ ग्रेन के बराबर होता है जिसमें ·९१६५ भाग शुद्ध रजत होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि इन सिक्कों का तौल रोम नगर में कलि-संवत् ३०५५ के निर्धारित मान का अनुसरण करता है। कनिष्क अपनी मुद्राओं पर केवल ग्रीक भाषा और लिपि का प्रयोग करता है। फरात (यूफ्रेटस) नदी के पूर्व जहाँ भी ग्रीक या यूनानी बस गये थे उन सभी प्रदेशों में व्यापार के लिए यूनानी भाषा ही सामान्य भाषा थी। किन्तु कनिष्क

१—जर्नल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, १९३२ पृ० १२७—उत्तर-बंगाल से प्राप्त तीन कुषाण-मुद्राएँ—लेखक, श्री ननी गोपाल मजुमदार।

२—२४ ग्रैन = १ पेनीवेट
२० पेनीवेट = १ आउंस
१२ आउंस = १ पाउण्ड

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की मुद्राओं पर अशुद्ध त्रुटिपूर्ण ग्रीक भाषा का प्रयोग है किन्तु हुविष्क और वासुदेव की मुद्राओं पर ग्रीक अक्षरों का विशुद्ध प्रयोग मिलता है।

(क्षौम) रेशम का व्यापार

प्राचीन काल में चीन और सीरिया (असुर देश) में क्षौम का व्यापार खोतन, सीमांत पश्चिमोत्तर, काबुल तथा पारसीक उपसागर के मार्ग से खूब होता था। इसी व्यापार के आधार पर हम कनिष्क समुदाय के सिक्कों की विशेषता की व्याख्या कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि—

(१) कनिष्क ने स्वर्णमुद्रा का प्रचार क्यों किया। यह भारत के लिए एक नई बात थी।

(२) इसकी मुद्राओं पर केवल यूनानी अक्षर और लिपि क्यों पाई जाती है यद्यपि तत्कालीन अन्य भारतीय मुद्राओं पर दो भाषाएँ मिलती हैं।

(३) इन मुद्राओं पर यूनानी अभिलेख घसीट अक्षरों में लिखे हुए हैं। यह भी भारतीय मुद्रा-पद्धति के क्षेत्र में एक नूतन समावेश था।

(४) इन सभी मुद्राओं के लिए एक विशिष्ट तौल को सभी राजाओं ने क्यों व्यवहृत किया।

अर्थशास्त्र के (कलि-संवत् १६००) अनुसार भारत में पहले से ही क्षौम वस्त्र का प्रयोग होता था तथा पार्थिया में भी यह प्रचलित था। अतःकुषाणवंशी राजाओं की स्वर्ण-मुद्रा का प्रमुख कारण केवल वाणिज्य ही न था। ग्रीस और रोमवासियों को भारतीय क्षौम वस्त्र विशेष प्रिय था। प्लिनी का रोना है कि ग्रीस और रोम का स्वर्ण-भाण्डार भारत की ओर बहता जा रहा है। सचमुच यह कहा जा सकता है कि इन मुद्राओं का तौल किसी विशेष मानदण्ड से सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु यह तत्कालीन पश्चिमी एशिया में प्रचलित सुवर्ण और रजत के अनुपात की सुविधा के अनुकूल अपनाया गया था।

गान्धार-कला

कनिष्क का गान्धार-कला से क्या सम्बन्ध है इसके विषय में भी विद्वानों में अतिशय मतभेद है। विसेंट आर्थर स्मिथ कहता है कि कनिष्क के राज्यकाल में गान्धार-कला परा-काष्ठा को पहुँच गई। फागेल और स्पूनर कहते हैं कि यह निश्चय ही सत्य है कि गान्धार-कला का वसंतकाल कनिष्क राज्यारम्भ के बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था। फाडशर इस विषय में मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है और कहता है कि कनिष्क गान्धार युग का मध्यकालिक राजा था। कनिष्क की मुद्राएँ इतनी भद्दी हैं और उनकी निर्माण-कला इतनी निम्न श्रेणी की है कि शायद ही कोई उपर्युक्त विचारधारा को स्वीकार कर सकेगा। सभी बातों पर विचार करने से ज्ञात होगा कि कनिष्क-काल गान्धार-पद्धति की प्रारंभिक या बाल्यावस्था है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हमलोगों का ज्ञान उस काल की कला तथा पुरातत्त्व के इतिवृत्त के सम्बन्ध में अत्यन्त साधारण और अस्पष्ट है, अतः हम उस काल के विषय में स्थायी सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सकते। हम स्थानीय विभिन्नताओं से प्रायः एकदम अनभिज्ञ हैं और जब हम शुङ्ग, कुषाण और गुप्तवंश की बातें करते हैं तो हम केवल अमुक शती की बातें सोचते हैं। हमें यह भूल न जाना चाहिए कि मुद्रा और लिपि के प्रमाण केवल आनुषंगिक तिथि या काल बता सकते हैं। जब तक इन सिक्कों की प्राप्त तिथि या संवत् किसी ख्यात संवत् में अंकित न हों तब तक वे निर्विवाद प्रमाण नहीं माने जा सकते।

कनिष्क के कुछ सिक्कों पर हम पाते हैं—वैसिलियस वेसिलियन कन्हेष्कय—राजाओं का राजा कनिष्क। कनिष्क के अधिकांश सिक्कों पर तथा अन्य कुषाण राजाओं की मुद्राओं पर निम्नलिखित पाठ मिलता है—'शावनानो शाव कन्हेष्की कुषाणो, शावनानो शाव हविष्की' ये पाठ 'पट' पर मिलते हैं। इनके 'चित' पर यूनानी, ईरानी, ब्राह्मण और बौद्ध देवों के चित्र पाये जाते हैं। इनके चित्रों के साथ-साथ देवों के नाम भी मिलते हैं। किन्तु केवल कनिष्क की मुद्राओं पर ही बुद्ध भगवान् के ध्यानावस्था, उत्तिष्ठावस्था और तिष्ठावस्थाओं के चित्र मिलते हैं। अशोक और अकबर के समान कनिष्क भी अपने साम्राज्य के भीतर और बाहर सभी प्रचलित धर्मों का समान आदर करता था और इसी कारण उसकी मुद्राओं पर विभिन्न धर्म के देव-चिह्न मिलते हैं। सिन्धु-तट से प्राप्त ४१ वें वर्ष के खरोष्ठी अभिलेख में निम्नलिखित पाठ मिलता है—महाराज (भारतीय उपाधि), राजातिराज (ईरानी उपाधि), देवपुत्र (अर्द्धचीनी), कैसर (रोमक उपाधि) वजेष्कपुत्र कनिष्क।

इन तीन राजाओं के अनेक अभिलेख पाये गये हैं। ये प्रायः बौद्ध और जैन पूजा के स्मृति-चिह्न हैं। ये अभिलेख मथुरा के पास विशेष रूप से मिलते हैं। इनमें ब्राह्मण धर्म का एक भी अभिलेख नहीं मिलता।

कनिष्क के अभिलेख १, ३, ५, और २४ वर्ष के बीच पाये जाते हैं। वसिष्क के लेख २४ तथा २८ के मध्य पाये गये हैं। कनिष्क द्वितीय का लेख ४१ वें वर्ष में मिला है। हुविष्क के अभिलेख ३३ और ६० वर्ष के बीच मिले हैं। वासुदेव के अभिलेखों में ७४ से ९८ तक वर्ष मिलता है।

३३७९ कलि-संवत्

डाक्टर रामगोपाल भण्डारकर का मत है[1] कि गुप्त राजाओं ने जिन स्वर्णमुद्राओं का प्रचार किया वे कुषाण सिक्कों के हूबहू अनुकरण हैं और कुषाण अभिलेखों के वर्णाक्षर बाद के हैं। अतः भण्डारकर का विश्वास है कि कनिष्क राजा ईसा की प्रथम शती के बाद हुआ तथा किसी शक सम्राट् ने शक संवत् की स्थापना की। भारत के कई भागों में विशेषतः काँगड़ा में

१—सर रामगोपाल भण्डारकर के समुदय ग्रंथ, पूना, १९३३, भाग १, पृ०—१५-१६।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तिथियों को लिखते समय शती को या सैकड़ों को छोड़ देना या भूल जाना प्राचीन प्रथा है—जिस प्रकार आज कल हमलोग संवत् २००६ के बदले प्रायेण ०६ या संवत् ६ ही लिखते हैं। मथुरा से एक अभिलेख मिला है जिसमें राजकुमार का नाम नहीं है, किन्तु इसमें कुषाणवंशी राजाओं द्वारा प्रयुक्त उपाधियों का प्रयोग है तथा इसमें संवत् २६० मिलता है तथा कुछ इकाई भी है जो स्पष्ट नहीं पढ़ी जा सकती। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन तीन कुषाण राजाओं के अभिलेखों पर एक ऐसे संवत् का प्रयोग किया गया है जिनमें से सैकड़ा (दो) लुप्त है। ये तिथियाँ शक संवत् में ही प्रयुक्त हैं अतः इनका प्रयोग शक संवत् २०५ से २६८ तक हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि कनिष्क का राज्यारंभ-काल कलि-संवत् ३३७६ है (३३८४—५=३३७६)।

कलि संवत् ३३५०

डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार [1] के मतानुसार केवल दो ही प्रकार की उपपत्तियों से कनिष्क-काल के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। ये स्रोत भारतीय और चीनी हैं। भारतीय उपपत्ति के सम्बन्ध में मजुमदार का कहना है कि डाक्टर फ्लीट और उसके अनुयायियों को छोड़कर सभी विद्वान् मानने लग गये हैं कि उत्तरी क्षत्रप (—सत्रप ?)[2] तथा राजा गण्डफरनीस महाराज कनिष्क के पहले हो गये, तथा बाद के राजाओं में काडफाइसिस समुदय राजा कनिष्क के पहले हो गया।

इन राजाओं से सम्बद्ध हमें अनेक अभिलेख-तिथियाँ मिली हैं जिन्हें हम निम्नलिखित प्रकार से रख सकते हैं:—

उत्तरी क्षत्रप (सत्रप ?)	७२ और ७८
गण्डफरनीस	१०३
कुषाणा राजा (अनाम)	११३, १२२, १३६
कनिष्क, वसिष्क, हुविष्क और वासुदेव	३—९८

अतः यह स्पष्ट है कि इसे ९८ की तिथि अन्य संवत्सरों का उल्लेख नहीं कर सकती, जिनका सम्बन्ध उपर्युक्त सत्रप और अनाम कुषाण राजाओं के संवत्सर से है। जिन अभिलेखों में अनाम कुषाणराजाओं का संकेत है उन्हें हमें कनिष्क के पहले रखना चाहिए, क्योंकि चीनी लेखकों से ज्ञात होता है कि पूर्व-कुषाण सम्राट् भारत का शासन स्वयं नहीं करते थे अपितु एक उपराज, (प्रतिनिधि) उनके नाम पर शासन करता था। मुद्रा-शास्त्र और अभिलेख के प्रमाणों पर इन सभी तिथियों को जो ७८ से १३६ तक मिलती हैं, एक ही संवत्सर से सम्बद्ध मानना उचित होगा। इस विचार-पद्धति के अनुसार कनिष्क उस संवत्सर के १३६ वर्ष बाद होगा।

१—कुषाणवंशावली, जर्नल आफ डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, कलकत्ता; भाग १, पृ०—६५ इत्यादि देखें।

२—सत्रान् पाति इति सत्रपः—यज्ञरक्षक।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पश्चिमी सत्रपों ने शकसंवत् का प्रयोग किया था जिसका आरंभ कलि-संवत् ३१७६ से होता है, क्योंकि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से इनका घनिष्ट सम्बन्ध था।

यदि हम शक संवत् से इन संवत्सरों का सम्बन्ध जोड़ें तो इन शासकों का काल निम्नलिखित प्रकार से होगा:—

उत्तरी सत्रप	कलिसंवत्	३२५१ से ३२५७ क० सं०
गण्डफरनीस	,,	३२८२ क० सं०
कुषाण राजा	,,	३२९२ से ३३१५ क० सं०
कनिष्क	,,	३३१५ कलि संवत् के कुछ बाद।

मजुमदार के मतानुसार दो चीनी ऐतिहासिक ग्रंथ भारतीय कुषाणों के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। (१) हियो हान चाड का लेटरहान डायनेप्टी का इतिहास तथा (२) वि-लिओ। प्रथम ग्रन्थ की रचना फान ये ने की थी जिसका निधन कलि संवत् ३५४६ में हो गया। इसमें क० सं० ३१२६ से क० सं० ३३२१ का इतिहास सन्निहित है। दूसरे ग्रन्थ की रचना यू हुअन ने की थी (क० सं० ३३४० और ३३६६ के मध्य) तथा इसमें सम्राट् मिंग (क० सं० ३३२८ से क० सं ३३४० तक) के काल तक की घटनाओं का वर्णन है।

फान में कुषाणों की भारत-विजय का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है : प्राचीनकाल में यूइ-ची को हियोंगुन ने पराजित किया। वे हार कर जा-हिया चले गये। तथा वहाँ का राज्य पाँच जबगौस में विभाजित किया। इसके प्रायः १०५ वर्ष बाद कु यू इ चौ आंग (कुषाण) के यब-गौस (जबगौस) ने, जिसका नाम कियू-सियू-कियो (कुजुल काडफाइसिस) था, आक्रमण किया और शेष चारों यबगौसों को पराजित कर राजा कहलाने लगा। उसके राज्य का नाम कुषाण था। इसने गान-सी (पार्थिया) पर भी आक्रमण किया और का-फाऊ (काबुल) को हस्तगत किया। इसने पोनटा और किपिन (कश्मीर) को अधिकृत किया तथा वह इन सभी राज्यों का पूर्ण सम्राट् बन गया। कियू-सियू का निधन ८० वर्ष की अवस्था के बाद हुआ। उसका पुत्र यान-काव-चेन (वीम काडफाइसिस) उसका उत्तराधिकारी और राजा हुआ। उसने भारत की भी विजय की तथा वहाँ पर शासन करने के लिए एक उपराज (प्रतिनिधि) नियुक्त किया। इस समय ये सभी भारतीय राज्य यूइ-ची के अधीन थे। यूइ-ची लोगों ने अपने राजा का वध किया था तथा शासन के लिए एक सरदार को अभिषिक्त किया था। रमेशचन्द्र मजुमदार के अनुसार 'इस समय' को साधारण अर्थ में लेना चाहिए, अर्थात् इसका सम्बन्ध उस काल से है जिसका वर्णन फान-ये ने किया है, अर्थात्, कलिसंवत् ३३२१ के कुछ बाद।

इन दोनों ग्रंथों का वर्णन प्रायः मिलता-जुलता है। इनमें एक ग्रन्थ तो नि-लिओ क० सं० ३३४० तक की घटनाओं का उल्लेख करता है। वि-लिओ के अनुसार यूचियों का साम्राज्य बल्खरव से पूर्व भारत तक विस्तीर्ण था। चीनी प्रमाणों से स्पष्ट है कि कुजुल काड-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

फाइसिस ने पार्थियन लोगों को हराया तथा काबुल भी जीता एवं उसके पुत्र ने क० सं० ३३२१ के बाद भारत पर विजय प्राप्त की।

अतः कनिष्क का काल क० सं० ३३१५ के बाद ही होना चाहिए। हमें एक नूतन कल्पित संवत्सर को मान लेने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। हम देखें कि इस काल के आस-पास किसी संवत्सरका का प्रयोग मिलता है या नहीं। दृष्टि दौड़ाने से हमारा ध्यान त्रैकूटक, कलचूरी, या चेदि संवत्सर की ओर जाता है, जिसका प्रारम्भकाल क० सं० ३३५० है, अतः मजुमदार के विचार से कनिष्क को ही इस कलचूरी संवत् का प्रवर्त्तक मानने में हिचक न होनी चाहिए, और हम कह सकते हैं कि कनिष्क का राज्य क० सं० ३३५० में आरंभ हुआ।

कलि संवत् ३२२६

स्टेनकोनो का मत है[1] कि चीनी ऐतिहासिक ग्रन्थों में कहीं भी कनिष्क का उल्लेख नहीं है। चीनी इतिहासकार पश्चिमी देशों की सभी घटनाओं से (क० सं० ३२२६ तक की) अभिज्ञ थे किन्तु इसके बाद नहीं। अतः हमें यह जानना होगा कि कनिष्क का उदय क० सं० ३२२६ के बाद ही हुआ।

हमें इसका ठीक ज्ञान नहीं कि तिब्बती परम्परा का राजा कनिष्क कौन है? खोतन के राजा क्षेन से कनिष्क के नाम का आभास मिलता है। संभवतः राजा कनिक ही ख्यात-नामा कनिष्क है, यद्यपि तारानाथ दोनों में विभेद करता है और कहता है कि कनिष्क मौर्यकाल (क० सं० १४९८ से क० सं० १८१४ तक) में हुआ। यह जब युवक था तभी लोगों ने इसे मालवा का सम्राट् चुना। कुश और कुशी में साम्य है जो कनिष्क की स्वर्ण-मुद्राओं पर अंकित जातीय चिह्न पाया जाता है।

विसेंट आर्थर स्मिथ का कहना है[2] कि काडफाइसिस के बाद ही कनिष्क राजा हुआ। इसका नाम तिब्बत, चीन और मंगोलिया की दन्त-कथाओं में जीवित है। स्मिथ का यह दृढ़ विश्वास है कि कनिष्क खीष्टाब्द के बहुत बाद हुआ। कई अन्य तुच्छ प्रमाणों के आधार पर स्मिथ इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कनिष्क हाद्रियन, मारकस तथा आरेलियस इत्यादि राजाओं का समकालिक था तथा कलिसंवत् ३२२१ या ३२१६ में सिंहासनासीन हुआ।

कलिसंवत् ३१७९

कलिसंवत् ३१७९ की पुष्टि राखालदास वन्द्योपाध्याय[3] टामस, रैपसन, ओल्डेनवर्ग

१—कारपस इंसक्रिप्सनं इनडिकेरम्; भाग २ संख्या १; स्टेनकोनो द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, सन् १९२९।

२—अर्ली हिष्ट्री आफ इण्डिया, द्वितीय संस्करण, पृ० २३९।

३—भारतीय इतिहास का सिथियनकाल, इण्डियन ऐंटिकेरी, सन् १९०८, पृ० २६—७५, राखालदास बनर्जी का लेख।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तथा वाडेल ने की है। राखालदास वन्द्योपाध्याय ने लिपि के आधार पर यह निर्णय किया कि कनिष्क कलिसंवत् ३१७९ में सिंहासनासीन हुआ। यह महान् विजेता था। तथा काशगर, यारकन्द और खोतन को विजित किया। किन्तु इसी को पां-चाऊने कलिसंवत् ३१९१ में पराजित किया (मानिकयाल अभिलेख, संवत्सर १८=क० सं० ३१९७)।

वन्द्योपाध्याय कनिष्क-जीवन की कथाओं की निम्नांकित तालिका देते हैं:—

शक-संवत्	०	कलि-संवत् ३१७९	कनिष्क का राज्यारोहण।
,,	१	,, ३१८०	कनिष्क ने उत्तरापथ को वाराणसी तक पराजित किया।
,,	४	,, ३१८२	त्रिपिटकोपाध्याय बल, भिक्षुपुष्यबुद्धि, वनस्फर बनारस के सत्रप का सारनाथ अभिलेख।
,,	५	,, ३१८३	चतुर्थ वर्ष का मथुरा अभिलेख।
,,	७	,, ३१८६	पूर्व विजय-यात्रा, पाटलिपुत्र पर आक्रमण तथा मगध-विजय।
,,	१०	,, ३१८९	चीन से कटु सम्बन्ध।
,,	११	,, ३१९०	उपराज सी सुंगली को पार कर चीनियों को दण्ड देने जाता है। सुइ-विहार तथा जेहा के ११वें वर्ष के अभिलेख।
,,	१२	,, ३१९१	कुषाण-सेना पां-चाऊ से हार जाती है।
,,	१३	,, ३१९२	कनिष्क हुविष्क को भारतीय राज्यों का पूर्ण सम्राट् बना देता है तथा युद्ध-क्षेत्र में स्वयं प्रस्थान करता है।
,,	१८	,, ३१९७	तक्षशिला का सत्रप वेसपासी, अष्टादश वर्ष का मानिक-याल अभिलेख।
,,	१९	,, ३१९८	हिन्दूकुश के उत्तर सभी प्रदेशों का विलोप।
,,	२२	,, ३२०१	पार्थिया में गृह-कलह।
,,	२४	,, ३२०३	पां-चाऊ का निधन।
,,	२७	,, ३२०६	वल्लरव की पुनर्विजय।
,,	३२	,, ३२११	काशगर, यारकन्द तथा खोतन की विजय।
,,	३३	,, ३२१२	हुविष्क का ३३वें वर्ष का मथुरा अभिलेख।
,,	३७	,, ३२१६	कश्मीर के कुण्डलवन विहार में चतुर्थ बौद्ध-परिषद्।
,,	४०	,, ३२१९	वाराणसी का सामन्तराज अश्वघोष। अशोक का ४०वें वर्ष का अभिलेख।
,,	४१	,, ३२२०	आरा अभिलेख, ४१वें वर्ष का।
,,	४५	,, ३२२४	कनिष्क का निधन।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किन्तु शालिवाहन शक, जिसका आरम्भ-काल कलि-संवत् ३१७९ में होता है, निश्चय ही दक्षिणात्य गणना है। शक-संवत् का प्रयोग दक्षिणापथ और गुर्जर देश में ही प्राचीन-काल में सीमित था, तथा यह भारतीयों की ज्योतिर्गणना है। इसके सिवा यहाँ एक अन्य आन्ध्र शक-संवत् भी प्रचलित था, जिसका उदय-काल ख्रीष्ट पूर्व ५५० अथवा कलि-संवत् २५५१ या सप्तर्षि-संवत् २५२६ है।[1]

कलि-संवत् ३०४४

डाक्टर जान फेथफुल फ्लीट[2] का कहना है कि दिव्यावदान या इत्सिंग के भारत-वर्णन में कहीं भी कनिष्क का उल्लेख नहीं है। हुयेनसंग कहता है कि गान्धार और कश्मीर की परम्परा के अनुसार कनिष्क भगवान् बुद्ध के निर्वाण के ४०० वर्ष बाद हुआ। फ्लीट के मतानुसार इस परम्परा को टाल देने का कोई भी कारण नहीं है। यदि हम इस परम्परा का अवलम्ब लेते हैं तो मानना होगा कि कनिष्क विक्रम संवत् प्रारंभ होने के आसपास में आता है। बुद्ध का निर्वाण-काल खीष्ट पूर्व ४८३ क० सं० २६१८ है। अतः इसमें से ४०० घटाने से कनिष्क का काल खीष्टपूर्व ८३ या कलिसंवत् ३०१८ होता है। यह काल विक्रम संवत् आरंभ होने के २५ वर्ष पूर्व होता है। फ्लीट के अनुसार कनिष्क ही विक्रम संवत्सर का प्रवर्त्तक है अतः कलिसंवत् ३०४४ ही कनिष्क के राज्यारोह का ठीक काल है। ४०० की संख्या गोल है अतः फ्लीट महोदय इसे ४२५ वर्ष मानने में हिचकते नहीं। कनिंगघम, केनेडी तथा बारनेट इस तिथि की पुष्टि करते हैं।

यद्यपि बौद्ध राजा कनिष्क और उसके प्रश्रय में सम्पादित चतुर्थ बौद्ध-परिषद्, जो बुद्ध-निर्वाण के ४०० वर्ष बाद हुई, आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती है फिर भी बौद्ध साहित्य में कहीं भी उल्लेख नहीं कि राजा कनिष्क ने अपने राज्यारोहण-काल या परिषद्-काल में कोई संवत्सर चलाया और कलिसंवत् ३०४४ में प्रचलित संवत्सर का महाराज विक्रमादित्य उज्जयिनी-नरेश से, घनिष्ठ सम्बन्ध है। विक्रमादित्य ने कश्मीर में ३६ वर्षों तक राज्य किया (कलिसंवत् ३११४ से ३१५० तक) तथा कुल ९३ वर्ष राज्य करने के बाद १११ वर्ष की अवस्था में, कलिसंवत् ३१५५ में, चल बसे।[3]

कलि-संवत् १७४५

पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में इतनी असंगति है कि एक सिद्धान्त दूसरे मत का त्वरित खण्डन कर देता है, अतः इन तिथियों में से हम किसी को भी मान्यता

१—देखें—अयनांश, श्री थिरुवेंकटाचार्य का लेख—जर्नल आव इण्डियन हिष्ट्री, त्रिवेन्द्रम्, १९५० पृ०।

२—ग्रेट-ब्रिटेन तथा आयरलैंड की रायल एशियाटिक सोसायटी का जर्नल, सन् १९१३।

३—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर', आरा, भाग ९; पृ० ३७—४२ 'विक्रमादित्य' देखें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नहीं दे सकते। हम किसी भारतीय परम्परा का आश्रय लेने को बाध्य हो जाते हैं। कश्मीर की राजवंशावली के अनुसार कनिष्क कलिसंवत् १७४५ में गद्दी पर बैठा और इसने ५० वर्ष राज्य किया। इसका निधन कलिसंवत् १७९५ में हो गया। राजतरंगिणी में राजाओं का क्रम शुद्ध है। हुष्क और जुष्क कनिष्क के पूर्वराजा हैं। अतः कुषाण राजाओं का योगकाल इस प्रकार है :[1]

हुष्क ने २८ वर्ष राज्य किया क० सं० १६८३ से १७११ तक
जुष्क ने ३४ " " " " १७११ से १७४५ "
कनिष्क ने ५० " " " " १७४५ से १७९५ "

इस वंश के राजाओं की मुद्राओं और अभिलेखों पर अंकित विभिन्न तिथियों की व्याख्या केवल इसी आधार पर की जा सकती है कि इनमें कुछ राजाओं के अपने राज्य-संवत्सर में तथा अन्य लौकिक संवत् में अंकित हैं जिनका सैकड़ा लिखने में प्रयुक्त नहीं होता।

यदि हम हुयेनसंग द्वारा अंकित तिथि को प्रामाणिक मानें तो हमें सरलतया कनिष्क का ठीक काल मिल जाता है। भगवान् बुद्ध का निर्वाणकाल कलिसंवत् १३०८ है। यह अन्यत्र सिद्ध है।[2] कल्हण विस्मृत राजाओं से अनभिज्ञ था अतः भूल से वह कहता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के १५० वर्षशाद राजा कनिष्क हुआ [3]। अतः कनिष्क कलिसंवत् १४५८ में हुआ। किन्तु कल्हण की भूल का कारण कहा जा चुका है। हुयेनसंग की परम्परा की पुष्टि चीन और तिब्बत की परम्परा से भी होती है। अतः यह अधिक विश्वसनीय है। अतः १७०८ कलिसंवत् के आसपास कनिष्क का राज्यारंभ-काल होता है। गोल संख्याएँ प्रायः सन्देहास्पद होती हैं अतः हम इसे अधिक भी मान सकते हैं। फलतः गणना से हम कनिष्क का काल १७४५ कलिसंवत् (१३०८+४००+यावत्) पाते हैं। ग्रीस का इतिहास[4] विश्वास योग्य नहीं और चीनी इतिहासकार कहीं भी कनिष्क का उल्लेख नहीं करते अतः इतिहासकार को इस तिथि पर ध्यान देना चाहिए।

१—जर्नल आफ इण्डियन हिष्ट्री, मद्रास, भाग १८ पृ० ५५ देखें।

२—भारतीय विद्या, भाग ८, पृ० २२०—३८ 'भगवान् बुद्ध का काल, देखें।

३—तदा भगवतः शाक्यसिंहस्य परिनिर्वृतेः।
अस्मिन्महीलोकपातौ सर्धं वर्षशतं ह्यगात्॥
—(राजतरंगिणी १। १७२)

४—भारतीय विद्या, बम्बई, भाग ६, पृ० ११७—२२, 'ए न्यू शीट ऐंकर आफ हिष्ट्री' देखें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

(व्यावहारिक पक्ष)

प्रो० श्री जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०

(गतांक से आगे)

—'गोदान'—

गोदान में कोई ऐसी घटना नहीं घटती जिससे होरी के भाग्य से हम भीत-त्रस्त हो जाएँ। होरी के जीवन के अन्त में एक तरह का साहित्य का वामन्याय (Poetic Injustice) है न्याय का वह व्यंग्य जो पुरस्कार के योग्य व्यक्ति के विनाश या अपहरण में स्थित है। ऊपर से नीचे गिरनेवाले को देख मनोयोग से हम साध्वस और सहानुभूति दोनों से भर जाते हैं। पर यह बात सम धरातल की लम्बी यात्रा से थकनेवाले पथिक को देखकर नहीं होती। गऊ के लिए भोला से चाल चलना, फिर धनिया को झूठी प्रशंसा से फुला देना, राय साहब के यहाँ माली बनना, बाँसवाले के साथ षड्यन्त्र करना, अलग हुए भाई तथा उसकी पत्नी का प्रेम जोतने के लिए बिना बुलाये उनके लिए लड़ना, झुनिया, सिलिया को शरण देना, रुपये-पैसे तथा अन्न महाजन और पंच के घर पहुँचाना, तन-पेट काटकर जीनेवाली परिस्थिति में बेटे की कृतघ्नता सहन करना, भाई के लिए बेटे के सिर पर हाथ रखकर झूठी सौगन्ध खाना, स्वयं काम करते जाना, और चक्कर खाकर गिर पड़ना ये सभी घटनाएँ सम धरातल की हैं।

इसके फलस्वरूप होता यह है कि नायक होरी के जीवन-काल में दुःख का विस्तार तो रहता है, लेकिन पीड़ा का घनत्व नहीं। होरी के हृदय में आलम्बन-गत भाव-द्वैत, आदर्शगत संकल्प-द्वैत, पाप-चेतना के मौन सहस्रमरण, अथवा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की प्राण-निष्ठुर शक्तियों से द्वन्द्व के मर्मान्तक क्षण देखने को नहीं मिलते। होरी गाँव से निकाला वह कृषक-प्रधान नहीं जो आँधी में, अनावृष्टि में, पथरीली जमीन पर, चट्टान का संकल्प-मेरु बना अपने में गड़ा, तना, खड़ा, फावड़े चलाता जाता है। लज्जा की किसी वेला में अपने ही पुत्र या पुत्री का गला घोंट देनेवाला और फिर पश्चात्ताप में गरल-निमज्जित होनेवाला, तथा प्रायश्चित्त में, अपने ही दाँतों से गँड़ासे पकड़ने का अभ्यास कर, किसी मंदिर की चौखट पर अपने गट्टों को सदा के लिए साफ कर देनेवाला (लेकिन फिर भी वापस न जाने वाला) व्यक्ति होरी नहीं है। होरी राय साहब के यहाँ अपनी पूछ की बात तो करता है लेकिन बेलारी में उसके मान, चरित्र, संकल्प अथवा व्यक्तित्व की कोई धाक नहीं। होरी में न तो वर्ग-समर्थ-महिमा है, न वृत्तियों का असामान्य गुणन ही। प्रत्येक करुणोदात्त शील की अभिव्यक्ति में वृत्तियों, भावों, घटनाओं तथा द्वन्द्व की सामाजिक, आभ्यन्तरिक और अति-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भौतिक शक्तियों का जो प्रकार-विशेष का असाधारणीकरण रहता है, वह होरी की करुण गाथा में नहीं।

'गोदान' की प्रारब्ध-भावना उदात्त की नहीं है। आजकल समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्थाओं का एक निकृष्ट नव्य-प्रारब्धवाद चल पड़ा है। रस की दृष्टि से ऐसे प्रारब्ध के कई दोष हैं। ऐसे प्रारब्ध में काव्य की रहस्य-भावना नहीं। ऐसा प्रारब्ध बुद्धि-कल्पित होता है, उसमें एक व्याख्येय हेतु-दर्शन होता है।

ऐसे प्रारब्ध में व्याख्या की सम्भावना के कारण मध्याह्न की स्पष्टता है। ऐसा प्रारब्ध दृश्य होते हुए भी अरूप-सामान्य बना रहता है। जहाँ नियति (अ) वृत्तियों के घातक आवेश या विरोध के रूप में, (ब) काल की विशेष-निरपेक्ष गति के रूप में (स) विश्व में व्याप्त अव्याख्येय संकल्प या तत्त्व की रहस्य-लीला के रूप में दिखाई जाती है (कहीं प्रकृति, कहीं दैव-योग के माध्यम से) वहाँ प्रारब्ध अदृश्य होते हुए भी रहस्य-पटल में छिपे शत्रु-भाव, ईर्ष्या-भाव के लोक-साधारण विशेष के रूप में हृदय को विस्मय तथा भय से भर देता है। जहाँ वंशरेत (Heredity) के आभ्यन्तरिक, निसर्गगत प्रारब्ध के बीज शील की अभिव्यक्ति की जाती है वहाँ भी यह रहस्य-भावना बनी रह सकती है, क्योंकि इसमें भी अतिभौतिक शक्ति के सूक्ष्म तथा बधिर रहस्य-विधान का आभास होता है। मनुष्य की शाश्वत वृत्तियों को एक ऐसे अखिल व्यापक प्रारब्ध की पृष्ठभूमि में रखकर दिखलाना, जो या तो ईर्ष्या से हस्तक्षेप करता अथवा व्यक्ति-विशेष के दुःख के प्रति व्यंग्य-निर्मम शून्यमनस्कता से व्यवहार करता प्रतीत होता है, इस रहस्यानंद के अनुकूल पड़ता है। उसी तरह वातावरण को प्रतीक-लिङ्गों तथा परम्परा की अविच्छिन्न स्मृतियों से निर्मितकर उसे एक सहज-रहस्य, शील-विधाता प्रारब्ध का गौरव दे सकते हैं। जिस तरह रहस्य के नेपथ्य में छिपे प्रियतम के गीत में दार्शनिकता रहती है उसी तरह रहस्य के नेपथ्य में छिपे इस ईर्ष्या-बधिर अतिप्रबल बल के प्रति एक शत्रु-भाव हो जाता है, जो हमें भय से भर देता है, विस्मय से भी; तथा कि एक विचित्र निर्वेद की अवस्था में छोड़ देता है। निर्वेद की यह अवस्था इसलिए कि उस विराट् के हम सभी अंग हैं, और ध्रुव-निश्चित, पक्षपात-शून्य विधान के प्रति हम दार्शनिक-से हो जाते हैं। 'गोदान' का नायक होरी उस व्यवस्था के प्रति संघर्ष करता जिसका प्रतिनिधित्व झिंगुरी सिंह, नोखे राम, आदि करते हैं। ये घृणा और विनोद, दोनों के पात्र हैं। यही हालत राय साहब, तंखा, खन्ना आदि की है। होरी के द्वारा ऐसा कोई संकल्प अथवा कर्म नहीं किया जाता, जिससे होरी के दुःख की चरम स्थिति का हेतु निरूपित हो सके। होरी विद्रोह नहीं करता, होरी शायद इसीलिए दुःख भोगता है कि वह तरह देता चलता है। होरी जिन्दगी से थक-सा जाता है। उसे जीवन की निस्सारता की अनुभूति जितनी नहीं होती, उतनी अपने भूत की दुर्दशा की स्मृति सताती है।

गोदान में बहुत-से पात्रों की भीड़ लग जाती है, सेमरी प्रायः एक स्वतंत्र केन्द्र है

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रूप में स्थित हो जाता है। बेलारी में होरी सबका मुँह जोहता फिरता है। इन सभी बातों से उसका व्यक्तित्व उन्नत-विशाल नहीं हो पाता। होरी करुणा का पात्र है और उसका प्रारब्धभूत, शत्रुभूत सामाजिक तथा आर्थिक आवेष्टन है उपहास का पात्र! यह विचित्र रस-विघात है। विस्तार के द्वारा यह युग के महाप्रबंध-सा तो दीखता है लेकिन बेचारे, नेक, भोले होरी के लिए मोह ही हो पाता है। शील का करुणोदात्त स्वरूप हाथ नहीं लगता।

'गोदान' के यश का बहुत बड़ा श्रेय उसके संकल्प-कथन, कथोपकथन, और भाषा को है। पात्रों के शील, मनोदशा, परिस्थिति, वर्ग, संस्कृति आदि के अनुसार उक्ति का सामंजस्य प्रबन्धकार का विशेष उत्तरदायित्व है। किसी वीर पात्र को लीजिए। प्रलापी शत्रु को देखकर यदि वह यह न कहकर कि तू इन भुजाओं को देख, तेरी छाती फाड़ डालने में उन्हें कितनी देर लगेगी, यह कहे कि 'आ बेटे, वह कबूतर-लोट लोटाऊँगा कि तू भी याद करेगा,' तो न शत्रु को ही भय होगा न पाठक को ही वीर रस का आनंद आयेगा।

किसी घोरसंकल्प न्यायाधीश ने यदि न्याय की उच्चतम पवित्रता के लिए अपने बेटे को ही फाँसी की सजा दे दी हो, और वह शोक-पश्चात्ताप-विगलित मनोदशा में हो, तो वह अपनी स्त्री से यह तो नहीं कहेगा कि 'मैंने जाब्ता फौजदारी दफा ३०३ के अनुसार अपने ही बेटे को फाँसी दे दी।' वहाँ तो कथोपकथन विक्षिप्त मनोदशा के स्फुट पदों के क्रिया-विहीन वाक्य का स्वरूप ले सकता है—

"आज तो आरती उतार···तेरा पति जज!···धारा ३०३···। हुँह् आज तो रोना ही पड़ेगा···तेरे लाल को प्राणदण्ड···!···कानून है, कोई खेल नहीं। बाहर की सर्दी···! देख तो···देख—वह बाहर मेरी चिता···। जलने दे न्याय की चिता···फाँसी···! आह! मेरे लाल!···तू माँ है न? तेरी छाती क्यों नहीं···।"

परिस्थिति के अनुसार कथोपकथन में मन्द्रता, क्षिप्रता, उदारता, द्रुतता, सरलता, तथा उत्कंठा आदि के धर्म आते-जाते रहते हैं। अनुशासनच्युत शिष्य के पतन पर, तपकुटुम्ब की भरी सभा में, तपोवन के कुलपति की प्रायश्चित्त-घोषणा में मन्द्र-मिताक्षरता रहेगी, —"गंगा के तट पर ज्वालाओं के बीच टँगे रहने की तुम्हें आज्ञा है, जब तक पाप की आँखें राख न हो जाएँ।"

इसमें 'ज्वालाओं के बीच' के पहले 'चतुर्दिक् अग्नि की'; 'टँगे रहने' के पहले 'उलटे'; 'राख न हो जाएँ' के पहले 'जलकर'; 'आँखें' के पहले 'तुम्हारी' का अध्याहार आशय स्पष्ट करने के लिए हमें करना पड़ेगा। लेकिन परिस्थिति की गंभीरता के साथ कुलपति के अविचल निश्चय की अभिव्यक्ति में आकांक्षा निहित होगी, कुछ अतिशय पूर्त्ति नहीं।

क्षिप्रता:—जहाँ किसी दुष्ट राजकुमार के दुर्व्यवहार से कोई शरीर ग्रामबाला रुष्ट हो जाय और राजकुमार का अपमान करने में शोखी से इठलाये तो वह कहेगी, "तू राज-कुमार नहीं, तू लुच्चा, तू पाजी, तू कोढ़ी···थू, हजार बार थू।"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उदारता:—ऐसे कथोपकथन में एक विशद विस्तार, अनाकुलता, इतमीनान रहता है। स्याहीसोख पर एक बूँद स्याही भी फैलकर कितनी जगह छेंकती है। उसी तरह ऐसा कथन भरे-पूरे, मंथर गतिवाले वटवृक्ष की तरह फैला हुआ होता है। लेकिन परिस्थिति यदि विरोधी पात्रों की हुई तो कथोपकथन में वैदाध्य अथवा खण्डन की तीक्ष्णता आ जाती है, जिससे जड़ कटने का खौफ रहता है, शाखाओं के फैलने की संभावना नहीं। जहाँ दो अभिन्न पात्र किसी प्रिय भेद को लेकर हृदय हलका करते हैं, अथवा एक दूसरे के व्यक्तित्व को इतमीनान के साथ आत्मसात् करना चाहते हैं वहाँ उदारता का गुण देखने में आता है। ऐसे कथोपकथन की परिस्थिति थोड़ी स्थिर तथा काल-चेतना से अव्यग्र होती है। चाय की प्यालियों के बीच सुहृदों की टोली जहाँ एक दूसरे से प्रेरणा लेती, अथवा किसी सामान्य भले लेकिन अचानक हठ पकड़ लेनेवाले सुहृद् को नीति, परमार्थ, संसार की रीति, इतिहास पुराणों के दृष्टान्त तथा स्नेह, आदेश, अनुनय आदि की बातों से लौटा लेना चाहती है, वहाँ उदारता का धर्म ही देखने को मिलता हैं। 'गोदान' में गोविन्दी और उनके श्रद्धालु प्रोफेसर मेहता की बातों में यही उदारता देखने को मिलती है। वहाँ वाक्यों के गठन में व्यायाम की चुस्ती नहीं, बलगमी शरीर का फैलाव है। इसमें पर्य्यायवाची शब्दों, मुहावरों, रूपकों कहावतों आदि के लिए पर्याप्त अवसर रहता है।

द्रुतता:—काल-चेतना से व्यग्र, संकटापन्न परिस्थिति में एक ही साँस में बहुत कुछ कह जाने की आवश्यकता द्रुतता ला देती है—

"आग लगी है आग लगी है, भाई जल्दी आवो,
देखो सारा घर जलता है, पानी डाल बुझावो।
छप्पर, कड़ी, किवाड़ जल गये चटक रहे हैं बाँस
देर हुई तो जल जावोगे, रोते-मलते हाथ।"

'शिशु प्रमोद' की ये पंक्तियाँ कालव्यग्र परिस्थिति की उक्ति-द्रुतता के लिए सनातन उदाहरण-सी मालूम पड़ती हैं।

सरलता:—भावुक हृदय जब ऐसी भावविह्वल परिस्थिति में हो जाता है कि वचन तथा भाव कर्म में साकार होना चाहते हैं तो कथोपकथन में सरलता आ जाती है। चित्रकूट में प्रायश्चित्त के निमित्त आकुल भरत के लिए वशिष्ठ को एक चरम वेला में सीधे यह कहना पड़ता है कि तुम और शत्रुघ्न बन में रह जाओ, और राम-लक्ष्मण-सीता अयोध्या वापस चले जाएँ। भरत को उस समय और कुछ नहीं सूझता और वे सरल समाधान के ब्योरे रख देते हैं—जैसे, भरत और शत्रुघ्न बन जाएँ, राम, लक्ष्मण, सीता अयोध्या जाएँ, अथवा, भरत अकेले बन जाएँ और सभी घर लौट जाएँ, अथवा, तीनों भाई बन जाएँ और राम-सीता लौट जाएँ। राम के प्रति उद्गार व्यक्त करने में भरत को केवल बचपन से चली आती सरल स्मृतियाँ सूझती हैं—बालपन से ही संग नहीं छोड़ा, राम अपराध करने पर भी खिन्न नहीं हुए, खेल

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भरत के हार जाने पर भी उन्हें जिता दिया, और भरत ने भी संकोचवश सामने कुछ बात नहीं की, भर आँख देखा भी नहीं, दर्शन के लिए तो आज तक नैन प्यासे हैं। ऐसे अवसरों पर विशेषण और बाष्प की भाषा समीचीन नहीं होती।

उत्कंठा:—जिस परिस्थिति में भयङ्करता अथवा शक्तियों का रौद्र—भयावह नर्त्तन होना है, उसमें अथवा उसके ठीक बाद, कथोपकथन में एक तनाव उत्कंठा-सी आ जाती है। 'आकाशदीप' के प्रारम्भ में—

'बन्दी।'

'क्या है?'

'मुक्त होना चाहते हो?'

'अभी नहीं, सोने दो'...। यह उत्कंठा का उदाहरण है।

'शेखर' के आरम्भ में 'फाँसी!' शब्द से उत्कंठा अक्षरशः जगा तो दी जाती है, पर निभती नहीं।

इस तरह जहाँ विराट् तथा नाटकीय का संयोग हो जाता है, वहाँ भाषा कुछ घुँटी खोपड़ी-सी हो जाती है लेकिन उसमें स्फीत-शिर उत्साह देखने को मिलता है। पाठक के प्राण उत्कंठा से कंठगत हो जाते हैं।

उसी प्रकार वर्ग के अनुसार शील तथा उक्ति के सामंजस्य का विचार रखना चाहिए। उदाहरणतः, प्रोफेसर की बातचीत में ग्रन्थ-क्लिष्टता, सम्पादक की बातचीत में सभी वादों की सामयिक-असामयिक चर्चा, बीमा के एजेंट की बातचीत में मुवक्किल के लड़के-वाले के समाचार की जिज्ञासा तथा उसकी लड़की की शादी के लिए कल्पना के चार-पाँच घरों और वरों के रूप-वैभव का बँधा-बँधाया वर्णन या उसके शत्रुओं की कुछ यों ही शिकायत, मौसम के विषय में पसन्द पड़नेवाली कुछ बात और उसीमें धीरे-धीरे अपने लक्ष्य का प्रवेश आदि रहेंगी तो हम आसानी से पहचान सकेंगे। फिर वर्ग के साथ संस्कृति का भी विचार आवश्यक है। मान कि किसी उपन्यास में एक पात्र कलाकार है। अब उसके विचारों को प्रकट कराने के लिए उपन्यासकार किसी किसान के नौजवान लड़के से उसका झगड़ा कराये, और वह जितना बोले उतनी ही शास्त्रीयता (अथवा सरलीकृत शास्त्रीयता) से किसान का लड़का भी उसके साथ विवाद छेड़ दे तो उस लड़के की अचानक की यह संस्कृति नेपथ्य-भाषित सी लगेगी। अथवा कलाकार को छोड़िए। मन की किसी स्थिति में कोई विद्वान् अपनी किसी जटिल समस्या पर एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता उस किसान जवान को सुना दे, तो इसमें न तो संस्कृति का न श्रोता-प्रतिपात्र का ही विचार दीख पड़ेगा। उसे एक दीवाने की उपाधि मिल सकती है। लेकिन जहाँ उपन्यास में शील की सामान्य गति-विधि तथा गुण-योजना से उसकी दीवानगी मेल न खाती हो, वहाँ व्यर्थ ही श्रोता के रूप में अनुपयुक्तपात्र को धिक्कार विद्वान् महोदय 'नाडकाष्ठ' ही कह सकते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रेमचन्द जी ग्रामीणों के वार्त्तालाप, विवाद अथवा कथोपथन में एक तरफ तो प्रचलित कहावतों, मुहावरों, चित्र-वाक्यों की भरमार रहने देते हैं, दूसरी ओर शब्दों के प्राकृत-भ्रष्ट संस्करण, या ग्राम्य-रूपान्तर भी प्रयुक्त करते जाते हैं, जिससे उनकी ग्रामीणता की चेतना बनी रहे।

पात्रों की बातचीत में उर्दू की तर्जियत है। बातचीत में उदारता अधिक है। ऐसा मालूम होता है कि रस लेने के लिए अथवा रस ले-लेकर वे बातें करते हैं और सभी शैली में बोलते हैं। गम्भीर तथा कर्मठ लोगों का संयम, और फलतः उत्कंठा, नहीं के बराबर है। जहाँ चार जने जुट जाते हैं, वहाँ या तो हास लीला, या गोष्ठी (विवाद के अवसरों पर) या मित्रमण्डली का आनन्द रहता है।

"तू जो बात नहीं समझती, उसमें टाँग क्यों अड़ाती है, भाई! मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये।...जब दूसरों के पावों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

अन्तिम वाक्य को पढ़ते-पढ़ते लगता है जैसे किसी परीक्षार्थी को कई मुहावरों का प्रयोग करने के लिए कहा गया हो, और उसने ऐसी बन्दिश बाँध दी हो कि सभी एक ही जगह खप जायँ। ऐसे उदाहरण, अनेक मिलेंगे। ध्यान से देखिए। होरी दूसरों के पाँव-तले नहीं कहता जो परिष्कृत रुचि के लिए भी काफी था, बहुवचन का आग्रह रखता है। फिर देहाती लोगों का कुछ ऐसा बँधा-बँधाया अभ्यास होता है कि 'जब यह बात तब या तो यह बात' कहकर ही वाक्य-शान्ति पाते हैं।

होरी कहता है 'जब दूसरों के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, उन पाँवों के...' 'उन पाँवों' के पहले 'तब' या 'तो' को उड़ा देने की संस्कृति भी, पता नहीं कैसे, होरी की हो गई है। धनिया या पुनिया के लिए झगड़ने, व्यंग्य करने ताने कसने या रोष-प्रलाप करने की जो स्वभाव-सिद्ध आवश्यकता है उसमें अगर थोड़ी किरकिरीदार भाषा और शब्दों का बवंडर रहे तो बात उचित मालूम होती है। लेकिन भोला, होरी, झुनिया, सिलिया आदि की तबीयत और राय साहब, मिर्जा की तबीयत में केवल छोटे-बड़े शब्दों का भेद हो तो यह बात खटकती है। ढाँचा प्रायः एक ही है। बीच-बीच में 'परसाद', 'असनान', 'रस-बस', 'इनकिलाब', 'मिरजई', 'मेहरिया' आदि के आ जाने से बात कुछ विशेष नहीं सुधरती।

रस की बात और बात के रस में भेद है। पहले में परिस्थिति-निबद्ध पात्रत्व का विचार रहता है, दूसरे में शब्दराग की स्वच्छन्दता होती है। सब कुछ कह लेने के बाद भी चमत्कार का कुतूहल बना ही रहता है। बात यह है कि उपन्यासकार के हृदय-कमल की पंखुड़ियों का उड़-उड़कर पात्रों के मुँह को ढक लेना तो बुरा मालूम होता है, लेकिन उसी पराग के सूक्ष्म सौरभ की विशेषता, जो अन्य उपन्यासकारों से उसे पृथक् करती है, पहचान

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के लिए जरूरी है। प्रेमचन्द जी प्रसंगों की उद्भावना कर सकते हैं तो अवश्य, लेकिन जितना पात्रों के कर्मों के द्वारा नहीं, उतना बातचीत के द्वारा उनमें प्राण डालकर। यदि प्रेमचन्द के उपन्यास में सिकन्दर एक पात्र होता तो उसकी खुली मुट्ठियाँ मूक संकेत नहीं करतीं कि लोग संसार से खाली हाथ जाते हैं, इस पर जरूर कुछ न कुछ शैली की ठिठोली होकर रहती। प्रेमचन्द जी सामान्यतः उपन्यासकार नहीं, विशेषतः 'गल्प'-कार हैं। उनके किसी उपन्यास या आख्यायिका को इसीसे पहचाना जा सकता है। और इसमें उनकी बराबरी करने वाला कोई नहीं।

ध्यान देने की बात है कि 'मुदा' और 'लिलाम' के साथ-साथ होरी की बातों में—'सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है, उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं'—के तत्सम—प्रयोग का आदर्श भी है।

फिर भी सामान्यतः प्रेमचन्दजी शील-परिस्थिति और भाव-मुद्रा का बड़ा ही सरल सामंजस्य उपस्थित करते हैं। भोला को भूसा देने के लिए होरी धनिया को फुसलाना चाहता है। कहता है—'मैंने तो कह दिया, भैया, वह नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती, गालियों से बात करती है; लेकिन वह यही कहे जाय कि वह औरत नहीं, लक्ष्मी है। बात यह है कि उसकी घरवाली जबान की बड़ी तेज थी। बेचारा उसके डर के मारे भागा-भागा फिरता था। कहता था, जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुँह सवेरे देख लेता हूँ, उस दिन कुछ न-कुछ जरूर हाथ लगता है। मैंने कहा—'तुम्हारे हाथ लगता होगा, यहाँ तो रोज देखते हैं, कभी पैसे से भेंट नहीं होती।'

यहाँ 'नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती' मुहावरे की शिक्षित विशेषता 'गालियों से बात करती है' की दुहरी वास्तविकता में घुल-मिल जाती है। दुहरी इसलिए कि भोला की कल्पित स्त्री गालियों से बात करती थी, इधर झुनिया का भी तो यही स्वभाव है। होरी का यह दैनिक सौभाग्य है।

लेकिन वह यही 'कहे जाय' और वह यही कहता जाता था में भेद है। बार-बार कहने के आग्रह का कितना सुंदर धोखा है यह! लाख मना करने पर भी न मानने की ध्वनि है। धनिया औरत नहीं है, लक्ष्मी है, यह कहकर तुरत होरी यह नहीं कहता कि सबेरे मुँह देख लेने से कुछ-न-कुछ मिल जाता है, क्योंकि यह तो साध्य और प्रमाण की शृङ्खला जैसा लगता। बीच में भोला की घरवाली की जबान के तेज होने की बात कही जाती है। धनिया भी तो ऐसी है। धनिया लजायेगी, इस बार कम-से-कम पति का विरोध नहीं करेगी। अथवा प्रशंसक भोला की दृष्टि में जबान की तेज होकर गिरना नहीं चाहेगी। ऐसी हालत में सबेरे मुँह देखने के फल की बात, और तब होरी के द्वारा की गई निंदा भी, कह दी जाती है, जिसमें होरी से चिढ़कर भोला से धनिया और अधिक प्रसन्न हो जाय।

गाय को हीरा विष देता है, उस समय के प्रसंग को देखिए। प्रेमचंदजी ने इस प्रसंग

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में जितना संयम, जितनी स्वाभाविकता दिखाई है, उतनी शायद ही और कहीं। परिस्थिति कूट परिहास की है। परिहास में नियति की निर्मम मुस्कान है।

हीरा गौ को विष दे चुका है। उसी समय होरी आ जाता है। होरी के कौड़े पर हीरा आ गया, होरी को जैसे क्या नहीं मिल गया। उसी क्षण वह पिघल कर मोम हो जाता है। सोचता है, हीरा दिल का साफ है। कैसा करुण-व्यंग्य है। हृदय के भोलानाथों की यही हालत है। बीच में बोल-चाल तक बन्द थी। वर्षों के मन-भेद के बाद जो स्नेह उमड़ता है, उसमें संकोच बहुत रहता है— इसलिए बातचीत में इधर-उधर का बहाना रहता है।

होरी पूछता है—'तमाखू है कि ला दूँ?'

हीरा—'नहीं, तमाखू तो है, दादा!'

तमाखू लाने की बात में जो आवभगत है, उसमें आत्मीयता के साथ संकोच भी है। 'दादा' का सम्बोधन! होरी को अमृत मिल गया। साथ ही याद कीजिए, विष देनेवाला हीरा यह कह रहा है। अपराध की चेतना के साथ भय पश्चात्ताप और ग्लानि के कारण कितनी पूँजी खर्चकर उसने 'दादा' कहा होगा। कहा भी जाता है, तो भोले होरी के बाल-सुलभ अज्ञान की कल्पना कीजिए।

बातचीत करने का कौन बहाना ढूँढा जाय। सोभा भी तो है।

होरी कहता है, 'सोभा तो आज बहुत बेहाल है।' कोई दवाई नहीं खाता तो क्या किया जाय। उसके लेखे तो सारे वैद्य, डाक्टर, हकीम अनाड़ी हैं। भगवान् के पास जितनी अक्ल थी, वह उसके और उसकी घर वाली के हिस्से पड़ गई। 'कोई' कैसी सरल तथा सरस उपेक्षा है।

तीन भाई अलग होते हैं। फिर दो भाइयों में मेल हो जाता है और तीसरे की शिकायत करते हैं, वह भी ऐसी शिकायत जिसमें स्नेह का क्रोध छिपा हुआ है। यहाँ मन-मुटाव के क्रमशः घुलने का सूक्ष्म आनंद बड़ा ही मार्मिक है।

होरी को अब मौका मिला कि दोनों को अपना ले। होरा ने सोभा को दुराग्रही कह कर छाँटा। होरी हीरा को भी दुराग्रही सिद्ध कर देता है, तो स्नेह में तीनों की छायामूर्ति डूब जाती है। होरी अब दौड़ पड़ता है।

"यही तो बुराई है उसमें। और चिढ़ने तो बीमारी में सभी हो जाते हैं। तुम्हें याद है कि नहीं, जब तुम्हें इंफिजा हो गया था, तो दवाई उठाकर फेंक देते थे। मैं तुम्हारे दोनों हाथ पकड़ता था, तब तुम्हारी भाभी तुम्हारे मुँह में दवाई डालती थीं। उसपर तुम उसे हजारों गालियाँ देते थे।"

कुछ दिन पहले धनिया से लड़ाई हुई थी। इस स्मृति से भाई के स्नेह का भूखा होरी किस तरह एक हो जाने और एक बना लेने के लिए आतुर दीखता है।

"हाँ दादा, भला वह बात भूल सकता है? तुमने इतना न किया होता, तो तुमसे लड़ने के लिए कैसे बचा रहता?"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उधर होरी के भ्रातृ-वात्सल्य की स्मृति, इधर विषपान की स्मृति ! आत्मधिक्कार के सभी सर्प एक ही साथ अन्तरात्मा में विष घोल रहे हैं।

भोला होरी दया से भर जाता है—"बेटा, लड़ाई-झगड़ा तो जिन्दगी का धरम है।" आदि।

डाक्टर मेहता की स्पीच, बीच-बीच में खन्ना, ओंकारनाथ जैसे दिलजलों की द्वेषाक्त टीका, मिर्जा साहब की सहानुभूतिपूर्ण लेकिन स्वतन्त्र उक्तियाँ अत्यन्त ही सुन्दर उतरी हैं। राय साहब जैसे स्थूल-श्लथ शील की बातों में उदार विस्तार, मेहता की बातों में तर्कपूर्ण वैदग्ध्य तथा वैयक्तिक मर्माक्षेप, ओंकारनाथ की बातों में साहित्यिक योग्यता, स्वतंत्र विचार, तथा सम्पादकीय की शैली देखने को मिलती है। मालती नचानेवाली पुतली न होकर जब मेहता के लिए नाचनेवाली हो जाती है, तो उसकी बातों में आक्षेप, झीने आवरण की निर्लज्जता तथा नखरे आ जाते हैं। कर्कशा पुन्नी की शैली में बौछार का एक झटका देखिए। ऐसा लगता है जैसे हवा की चौआई चल रही हो—"तेरी मिट्टी उठे, तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आये, देवी मैया तुझे लील जाएँ, तुझे इन्फ्लुएंजा हो जाए। भगवान करे तू कोढ़ी हो जाए, हाथ-पाँव कट-कट गिरें।"

हीरा के शील के कोणत्व के योग्य उक्ति देखिए। मृत्यु तक आदमी सह सकता है। काली माई आईं, उठाकर ले गईं, लेकिन कोढ़ी होना, हाथ-पाँव का कट-कटकर गिरना। हीरा बिगड़ता है—"हाथ-पाँव कट-कटकर गिर जाएँगे, तो मैं तुझे लेकर चाटूँगा ! तू ही मेरे बाल-बच्चों को पालेगी ? ऐं ! तू ही इतनी बड़ी गिरस्ती चलायेगी ? तू तो दूसरा भरतार करके किनारे खड़ी हो जायेगी।" यह तो मृत्यु होने पर भी हो सकता था, मगर हाथ-पाँव कटने की बात ही और है।

राय साहब के यहाँ गोष्ठी में मिर्जा साहब ही मस्त हैं; और तो सभी शास्त्र के भारी-भरकम हाथी या लदे-लदाये ऊँट हैं—"विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"

स्पष्ट है कि यह ग्रन्थों की वैज्ञानिक भाषा है। यह भाषा न तो व्यक्ति के माध्यम से गुजर चुकी है, न इसका साधारणीकरण ही हो पाया है। "एक बार बाँह पकड़ ली और फिर छोड़ दिया, ऐसे आदमी को मैं मर्द नहीं कह सकता। पहले पकड़ो नहीं, पकड़ो तो निभावो।" यह बात लोकग्राह्य होती। लेकिन यह समाज ग्रन्थ-ज्ञान के अजीर्णवालों का है। इसलिए कृत्रिमता को उपहास्य बनाने के लिए कुछ हद तक इस शैली की वकालत की जा सकती है।

मिर्जा के "आपको इल्म की कसम, माशूक की अदाओं की कसम, अपनी इज्जत की कसम, पीछे कदम न हटायें !" को कौन भूलेगा !

यह दिल्लगी नहीं, दिल्लगीबाजी है। ओंकारनाथ जी जब शराब पी लेते हैं तो वाहवाही का एक नमूना देखिए··· "वाह देवी जी ! क्या कहना है ! कमाल है मिस

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मालती, कमाल है ! तोड़ दिया, नमक का कानून तोड़ दिया, धर्म का किला तोड़ दिया, मे का घड़ा फोड़ दिया।"

यह हाल के शोर-गुल का समवेत स्वर है। लेकिन आप आवाजें पहचान सकते है। देवीजी कहने वाले मेहता होंगे, मिस मालती कहनेवाले खन्ना हैं, तथा नमक का कानू तोड़वाने वाले सिवा मिर्जा साहिब के कौन होगा ?

ओंकार नाथ जी जहाँ शराब पी लेते हैं वहाँ वाक्य से 'ने' चिह्न लुप्त होने लगत है। 'तुम हमारी तारीफ क्यों की ?'—एक ही बात धक्के से तेहराई जाती है। क्यों की क्यों को ? बोलो, क्यों हमारी तारीफ की ?

'हम किसी का नौकर नहीं है'—हिन्दी बंगालियों और विलायतियों की हो जात है। भाषा में एक ओर गुंडा-तत्त्व आने लगता है, दूसरी ओर सानुनासिक का लोप हो लगता है, और कोमलता आने लगती है, जिसमें व्यंजन स्वर होने लगते हैं—'हम किसी बाप का नौकर नई है।' पण्डित जी साहब की बोली बोलने लगते हैं। फिर शब्दों की से कल्पना काम करने लगती है। हम खुद सम्पादक है। "हम 'बिजली' का सम्पादक हैं हम उसमें सब का तारीफ करेगा। देवी जी, हम तुम्हारा तारीप करेगा।" उच्चारण कष्ट-साध्य होने लगता है। 'फ' तक न पहुँच कर पण्डितजी 'प' तक ही रह जाते हैं।

उसके बाद धीरे-धीरे अर्थ, सम्बन्ध, संगति आदि के धर्म लुप्त होने लगते हैं। अ में अतिशयता घर दबाती है। "हम कोई बड़ा आदमी नहीं है। हम सब का गुलाम है हम आपका चरण-रज है। मालती देवी हमारा लक्ष्मी, हमारा सरस्वती, हमारा राधा।..."

मेहता-पठान में उसी तरह लूट-खसोट, सरकार के प्रति उद्दण्ड निर्भीकता, गाल गुफ्ता गया शब्दों के पठानी संस्करण देखने को मिलते हैं।

'हम' के बदले 'अम', 'कहाँ जाते हो तुम' के बदले 'कहाँ जाता तुम', 'अभी' बदले 'अबी', तथा जशन मनाने, हुस्न पर आशिक होने, कबीले के खान होने तथा दिल कहकर सम्बोधन करने का जो सिलसिला है, उसमें दर्शन के प्रोफेसर और सरहदी पठान भेद ही नहीं रह जाता उन तालीम के जाहिलों के लिए।

इसी तरह नोखेराम, पटेश्वरी, मातादीन, झिंगुरी, दुलारी सहुआइन आदि जहाँ जाती हैं वहाँ बातों में दिहाती कहावतों, मुहावरों की भरमार हो जाती है।

औरत औरत से कैसे चिढ़ सकती है, यह देखिए। झुनिया के बोलने पर दुल सहुआइन कहती हैं—'बाको भाई, बड़ी गालदराज औरत है न।' 'बाकी भाई' का छ उकिया कितना मौजूँ है ! उसी तरह गुलाबी साड़ी देखकर जब होरी छेड़खानी करता है सहुआइन के बनने-मटकने के शब्द भी उतने ही लाजवाब हैं।

गोबर के जाते समय होरी की प्रार्थना, तथा मृत्युशय्या पर धनिया से कहे गये अन्तिम शब्द तो करुणा के पुटपाक ही हैं। [क्रमश

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्कृत व्याकरण के नियमों की वस्तुस्वभावानुसारिता

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य

भारत के प्राचीनतम विद्वानों का यह सिद्धान्त था कि संस्कृत भाषा का मूल सर्ववित् ब्रह्मा है, इसके शब्द विशुद्ध तथा असंकीर्ण हैं और यह अपभ्रंशों से नहीं बनी। पर आधुनिक भाषावैज्ञानिकों का कहना है कि संस्कृत क्रमशः अपभ्रंश भाषाओं से बनी, और भाषा का मूल अतिप्राचीन मानवों की अस्फुट वाक् है। इसके विपरीत भारतीय आचार्यों का मत है कि संस्कृत मनुष्य के द्वारा व्यवहृत प्राचीन भाषा है। उनकी यह भी मान्यता है कि आदिकाल के मनुष्य निरतिशय ज्ञान-शक्ति-संपन्न होते थे, और क्रमशः उनमें ज्ञान-शक्ति-शिष्टता का ह्रास होता आ रहा है।

इन दोनों मतों में भारतीय मत ही भारतीय इतिहास से, तथा जडद्रव्यविचार से भी संगत प्रतीत होता है। इसे प्रमाणित कर दिखाना इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। यहाँ केवल यही दिखाया जायगा कि संस्कृत शब्दों में जो प्रयोगानुसारी क्रम है, वह अनन्य साधारण बुद्धि-संचार का ज्ञापक है, अर्थात्, शब्द-विश्लेषक आचार्यों ने शब्द-प्रयोग के तत्त्वों के विषय में जो कुछ कहा है उससे पता चलता है कि आदिकाल में संस्कृतभाषी व्यक्तियों में असाधारण सूक्ष्म दृष्टि थी और उनका शब्द-प्रयोग बहुविध भौतिक तथा मानसिक नियमों की स्वतः व्याख्या करता है। संस्कृत भाषा में निहित विद्या ही बुद्धिपूर्वक विचारित है, केवल यही सत्य नहीं है; संस्कृत शब्द-प्रयोग भी इसका प्रमाण है।

इस प्रतिज्ञा को प्रमाणित करने के लिए मैं यहाँ शब्द-प्रयोग-सम्बन्धी कुछ ऐसे प्राचीन विचारों का उल्लेख कर रहा हूँ, जिससे उपर्युक्त मत निःसंशय रूप से सिद्ध हो जायगा। संस्कृत को क्यों 'दैवी' या 'ब्राह्मी' कहा जाता है, यह इससे स्पष्ट हो जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

(क) संस्कृत में पौनःपुन्य अर्थ के द्योतन के लिए पद का द्वित्व किया जाता है, जैसे पचति पचति' (वह बार-बार पाक कर रहा है), और अतिशय अर्थ के द्योतन के लिए 'तरप्' प्रत्यय का व्यवहार होता है। (जैसे सुन्दर से सुन्दरतर)। वीप्सा में भी द्वित्व होता है जैसे 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' अर्थात् सब वृक्षों का सेचन कर रहा है।

पर अतिशय अर्थ के साथ पौनःपुन्य या वीप्सा (जिन दोनों के लिए पद का द्वित्व

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किया जाता है) की विवक्षा हो, तो क्रियापद का जैसा प्रयोग होता है, द्रव्य शब्द का वैसा प्रयोग नहीं होता। जैसे, 'पचति' इस क्रिया के साथ पौनःपुन्य और अतिशय की युगपत् विवक्षा होने पर 'पचति पचतितराम्' ऐसा प्रयोग होगा, 'पचतितरां पचतितराम्' ऐसा प्रयोग नहीं होगा, अर्थात् क्रियापद का ही द्वित्व होगा, और एक ही बार 'तरप्' प्रत्यय होगा।

द्रव्य शब्द में ऐसा नहीं होता। वहाँ पद का द्वित्व भी होता है और साथ ही साथ तरप् प्रत्यय भी दो बार होता है, अर्थात्, 'आढ्यतरः आढ्यतरः' ऐसा प्रयोग होगा—'आढ्याढ्यतरः' ऐसा नहीं।

क्रिया शब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय नहीं हुआ, तथा द्रव्य शब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय हुआ—साधारण दृष्टि से इसका कुछ भी हेतु प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार के प्रश्नों को निरर्थक कहा जाता है, क्योंकि 'इस प्रकार का शब्द-प्रयोग क्यों होता है ?' ऐसा प्रश्न व्यर्थ समझा जाता है, और यदि हेतु के लिए जोर दिया जाता है तो केवल यही उत्तर दिया जाता है कि ऐसा प्रयोग शब्द-शक्ति का स्वभाव है, अर्थात्, चूँकि ऐसा ही प्रयोग होता है, अतः ऐसा ही प्रयोग कर्त्तव्य है, इसमें पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता।

पर हमारा सिद्धान्त है कि संसार की अन्य भाषाओं में इस प्रकार की युक्ति भले ही चले संस्कृत में ऐसी हेय युक्ति नहीं चलेगी। जहाँ भी नियमों का व्यतिक्रम है, वहाँ वह अवश्यमेव सकारण है। धीर बुद्धि से विचार करने पर पता चलता है कि उपर्युक्त स्थल में भी कुछ न कुछ मानसिक कारण था, जिससे इस प्रकार विलक्षण प्रयोग होते थे; स्वतः इस प्रकार के प्रयोग नहीं हो गये। वह कारण निम्नलिखित प्रकार है:—

क्रियावाची पद में (अर्थात्, यहाँ 'पचति'=पाक करता है) अतिशयार्थक तरप् प्रत्यय के बाद पौनःपुन्यार्थक द्वित्व का होना संभव नहीं है, क्योंकि मानसिक चिन्ता इसके विपरीत है। किसी का प्रकर्ष (अतिशय) किसी प्रतियोगी की अपेक्षा से ही संभव है, स्वतः नहीं; पर किसी क्रिया का पौनःपुन्य स्वतः होता है, किसी की अपेक्षा से नहीं, अतः क्रिया में पौनःपुन्यभाव अन्तरंग होता है, और प्रकर्ष बहिरङ्ग। मानवीय चिन्ता इस तथ्य का अतिक्रमण नहीं कर सकती, अतः क्रिया का पौनःपुन्यबोधक द्वित्व ही पहले होगा, और उसके बाद प्रकर्षद्योतक तरप् प्रत्यय। अतः 'पचतितरां पचतितराम्' ऐसा न होकर 'पचति पचतितराम्' ही होगा।

द्रव्यप्रकर्ष के उदाहरण (अढ्यतर आढ्यतरः) में ऐसी चिन्ता नहीं होती। यहाँ तो आढ्य वस्तुतः प्रकर्षयुक्त है। उसकी ही वीप्सा (पूर्णतायुक्त सम्बन्ध) होती है, वीप्सा से युक्त आढ्यों का प्रकर्ष विवक्षित नहीं होता। वाक्य (आढ्यतरं आढ्यतरम् आनय) में प्रकर्षयुक्त आढ्यों का आनयन विवक्षित है, जो आनयन सर्वतोभावेन संपूर्ण है; हम प्रकर्षयुक्त प्रत्येक आढ्य से पूर्ण सम्बन्ध जोड़ते हैं आनयन क्रिया में, न कि आनयन क्रिया की पूर्णता से आढ्य का सम्बन्ध स्थापित कर उस आढ्य का प्रकर्ष करते हैं। आढ्य का प्रकर्ष उसका अपना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है, उससे जो वीप्सा है, वह आढ्य से पृथक् व्यक्ति की है, अतः आढ्य के प्रकर्ष के लिए पहले 'तरप् प्रत्यय' होकर 'आढ्यतर' शब्द बन जायगा, और उसके बाद वीप्सा के द्योतन के लिए 'आढ्यतर' शब्द का द्वित्व होगा (जैसा उदाहरण में दिखाया गया है)।

यह एक ही उदाहरण प्रकाशित करता है कि संस्कृत का प्रयोग मानसिक चिन्ता का अनुसारी है, प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं है।

(ख) धातु (क्रियावाची) उपसर्ग (क्रिया का विशेषक) तथा साधन (कर्तृत्व, कर्मत्व, संख्याबोधक प्रत्यय) का जो सम्बन्ध संस्कृत व्याकरण में दिखाया गया है, वह भी प्रमाणित करता है कि क्रिया का स्वरूप तथा उसकी निष्पत्ति के प्रकार के विषय में संस्कृतभाषी प्राचीनतम भारतीय असाधारण ज्ञान रखते थे। मन में चिन्ता का जैसा क्रम उठता था, तदनुसार ही प्रयोग किया जाता था, यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

धातु का योग पहले उपसर्ग से होगा या साधन (जिससे संख्या, काल आदि का बोध होता है, और जिससे क्रिया की निष्पत्ति होती है) से होगा, यह संस्कृत व्याकरण का एक विचार्य विषय है। इस विषय में महामति आचार्य पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि पहले धातु का योग उपसर्ग से होगा, और उसके बाद उपसर्ग युक्त धातु का योग साधन से होगा।

हम समझते हैं कि क्रिया का स्वभाव तथा प्रकार और क्रिया-निष्पत्ति रूप व्यापार में जो व्यावहारिक क्रम है, उसके अनुसार ही यह सिद्धान्त भाषित हुआ है, न कि प्रयोगों की सिद्धि के लिए अपनी इच्छा से इस मत को माना गया है, अर्थात्, लोक में क्रिया-सिद्धि का जो वैज्ञानिक रहस्य है वह इस सिद्धान्त से जाना जा सकता है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

क्रिया में विशिष्टत्व लाना उपसर्ग का काम है, और सामान्य या विशेष किसी प्रकार की क्रिया की सिद्धि करना साधन का काम है। हम लौकिक भूयोदर्शन से जानते हैं कि किसी भी क्रिया की निष्पत्ति यदि हो गई तो पुनः उसमें विशिष्टता लाई नहीं जा सकती। क्योंकि सिद्धि के बाद क्रिया समाप्त हो जाती है। क्रिया की पूर्णता यदि साधन से एक बार हो गई, तो वह अन्य किसी भी विशेषण के लिए अपेक्षा नहीं करेगी, अतः साधन के साथ क्रिया के योग के बाद, उसके विशेषण-योग के लोक में न होने के कारण, शास्त्र में भी उपसर्ग का योग नहीं सकता। अतः व्याकरण का नियम यह है कि पहले साधन के साथ धातु का योग नहीं हो सकता।

पर पहले उपसर्ग के साथ धातु के योग के बाद साधन के साथ योग होने में किसी भी प्रकार से लौकिक व्यवहार में बाधा नहीं होती, क्योंकि क्रिया, जो विशिष्ट स्वभाववती होती है, साधन से नहीं होती, प्रत्युत वह क्रिया की अपनी प्रवृत्ति है, जैसे, गमन साधन-बल से आगमन नहीं होता, हरण साधन-बल से संहरण नहीं होता, बल्कि वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है। अतः भौतिक दृष्टान्त के अनुसार यह माना जा सकता है कि क्रिया को विशिष्टता एक

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वतन्त्र क्रिया है और वह क्रिया अपनी पूर्णता के लिए बाद में अपने साधन के साथ युक्त हो सकती है। शब्दशास्त्र की दृष्टि से धातु का योग पहले उपसर्ग से होगा, और उसके बाद साधन (प्रत्यय) से, अर्थात् विशिष्ट क्रिया की निष्पत्ति साधन से होती है, पर किसी भी साधन से लब्धस्वरूप क्रिया का विशेष अन्य के योग से नहीं हो सकता क्योंकि स्वरूपलब्ध होने के बाद किसी में विशिष्टता का प्रवेश नहीं हो सकता (स्वरूप का नाश किये विना), पर स्वरूप की पूर्णता होने के पहले किसी वस्तु में असाधारण वैशिष्ट्य लाया जा सकता है; जैसे घट बन जाने के बाद उसके स्वरूप में वैशिष्ट्य नहीं लाया जा सकता, पर घर बनने के पहले उसकी आकृति में असाधारण परिवर्त्तन किया जा सकता है। यह इस विषय का लौकिक दृष्टान्त है। सांख्यकारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने भी इस मत की प्रतिध्वनि की है कि जो वस्तुतः नील है उसको सहस्र शिल्पी मिल कर भी पीत नहीं बना सकते।

इस प्रकार हम देखते है कि चूँकि दृश्य व्यापार में, क्रिया में, विशिष्टता उसकी निष्पत्ति के पहले ही की जा सकती है, निष्पन्न होने के बाद नहीं, अतः व्याकरण में भी धातु पहले उपसर्ग से सम्बन्धित होती है, तब प्रत्ययों से। शंका हो सकती है कि तब दूसरे मत की उत्पत्ति ही क्यों हुई (क्योंकि वास्तव दृष्टि से तो वह असंभव है)? उत्तर यह है कि क्रिया नियमतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्रिया से संपृक्त साधन ही ग्राह्य होता है, अतः चूँकि क्रियाज्ञान साधन-सापेक्ष है, अतः ज्ञान ही सत्ता (Knowing is being) है। इस न्याय से व्यवहार-दृष्टि से, पहले साधन के साथ क्रिया का योग होता है, ऐसा कहा गया है। यह मत एक स्तर तक सत्य होता हुआ भी सार्वभौम नहीं है, अतः भाष्यकार ने इस मत को 'सारहीन' कहा है, मिथ्या नहीं कहा ('नैतत् सारं'—भाष्य ६।१।१३५), क्योंकि क्रियातत्त्व की दृष्टि में क्रिया और साधन पृथक् पदार्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रिया के साथ उपसर्ग का प्राथमिक सम्बन्ध एक व्याकरणीय नियममात्र नहीं है, अपितु यह नियम विश्वव्यापारनियमानुसारी है।

(ग) पाणिनि की अष्टाध्यायी में कारक-प्रकरण-सम्बन्धी एक रहस्य का उद्घाटन इस निबन्ध में किया जा रहा है। यह चिन्ता कहाँ तक युक्त है, विद्वद्वर्ग ही इसमें प्रमाण होगा।

अष्टाध्यायी में कारकों का क्रमिक स्थापन निम्न प्रकार है—अपादान, संप्रदान, करण, अधिकरण, कर्म तथा कर्त्ता। इस प्रकार क्रम क्यों रखा गया है; प्रयोगवादी वैयाकरणों के दृष्टिकोण के अनुसार इसका एक युक्ततम उत्तर अन्यत्र दिया गया है।[1] पर इस क्रम में एक अन्य सूक्ष्म रहस्य भी है। यथा:—

१—भर्तृहरि ने कहा है:—'अपादान-सम्प्रदान-करणाधार-कर्मणां, कर्तुश्चान्योन्यसन्देहे परमेकं प्रवर्त्तते।' और इस विप्रतिषेध नियमानुसार कारकों का क्रमिक स्थापन किया गया है। पर हम इसका वैज्ञानिक कारण यहाँ दिखा रहे हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'कारके' (१।४।२३) इस सूत्र के अधिकार में अपादान आदि पठित हुए हैं। यहाँ संज्ञा का अधिकार है, अतः 'कारकम्' ऐसा प्रथमान्त पाठ करना ही युक्ततर होता हैं, जैसा अन्य अधिकारसूत्रों में है, पर पाणिनि ने जो सप्तम्यन्त 'कारके' पद का पाठ किया है, उससे ज्ञापित होता है कि यहाँ 'क्रियायां विषये' अभीष्ट है, अर्थात् क्रियासिद्धरूप विषय में जो शास्त्रोक्त लक्षणयुक्त होगा, वह शास्त्रोक्त कारक होगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक कारक क्रिया-निष्पत्ति में सहायक होगा, और ऐसा सहायक होना ही कारक का कारकत्व है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो जितना अधिक उपकारक है, वह उतना अधिक प्रभावशाली कारक है। यह बात सत्य है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि पाणिनि का दर्शन ऐसा ही था, और इस दर्शन के अनुसार ही उन्होंने कारकों का यह क्रम रखा है।

क्रम के विषय में उनका सूत्र है—विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) अर्थात् समान बलवाले दोनों शास्त्रों (सूत्र) की युगपत् प्राप्ति यदि हो, तो पर-शास्त्र ही प्रवृत्त होगा। यहाँ भी बलवत्ता की दृष्टि से अपादान आदि कारकों का क्रमिक स्थापन किया है।

सन्देह होता है कि प्रयोग बनाने की दृष्टि से तो यह क्रम संगत होता हैं, पर कारकों का वास्तव स्वभाव भी क्या इस दर्शन का पोषक है, अर्थात्, अपादान, संप्रदान आदि जो पदार्थ हैं, क्या क्रिया-निष्पत्ति की दृष्टि में उनमें भी कोई सर्वश्रेष्ठ साधक और कोई सर्व-निकृष्ट साधक है, जिससे यह भी सिद्ध हो जाय कि पाणिनि का यह नियम वस्तुस्वभावानुसारी है?

हम समझाते हैं कि कर्त्ता, कर्म आदि कारकों का जो वास्तव है, वही प्रमाणित करता है कि क्रिया-सिद्धि की दृष्टि में सबसे अधिक उपकारक 'कर्त्ता' है, उससे कम कर्म, उससे कम अधिकरण और इस प्रकार सबसे निकृष्टतम साधक 'अपादान' है, और यही कारण है कि कारकों में विप्रतिषेध होने से सर्वबलिष्ठ 'कर्त्ता' ही वहाँ प्रवृत्त होता है। इस वास्तव सत्य को देख कर ही पाणिनि ने कारकों का अपादान, संप्रदान आदि क्रमिक स्थापन किया है।

कर्त्ता आदि की क्रिया-सिद्धि की दृष्टि से उपकारक स्वभाव का विवरण निम्नलिखित प्रकार है:—

किसी भी क्रिया के प्रकटन के लिए एक करनेवाला अवश्य चाहिए, जो अपनी महिमा से या साधनों के बल पर क्रिया की सिद्धि करे। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'क्रिया दो पदार्थों का समाहार है—व्यापार तथा फल। क्रिया में जो व्यापार—अंश है, उसका कोई न कोई आश्रय चाहिए, निराश्रय व्यापार की सत्ता नहीं रह सकती, वह तत्क्षणात् अव्यक्त हो जायगा, अतः व्यक्तीभूत व्यापार के लिए सर्वाधिक साधक कर्त्ता ही हुआ।

व्यापार का फल होना अवश्यंभावी है। व्यापार हो, पर उसका कुछ भी फल न हो—यह अचिन्तनीय बात है, और इस फल का भी कुछ न कुछ आश्रय होना चाहिए। फल

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का आश्रय क्यों होना चाहिए, इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि क्रिया से जो फल होगा, वह किसी से सम्बन्धित होगा ही, जैसे, पदों का पूर्वदेशत्यागपूर्वक उत्तरदेशगमनरूप व्यापार का फल है देशान्तर-संयोग, और यह संयोग किसी देश पर आश्रित है। इस आश्रय का नाम 'कर्म' है। इतरां यह सिद्ध हुआ कि कहीं भी क्रिया होने से 'कर्त्ता' और 'कर्म' का होना अनिवार्य है। उनमें कर्त्ता पहले होगा, उसके बाद 'कर्म', क्योंकि व्यापार फल का जनक है।

शंका हो सकती है कि संस्कृत में सभी धातुओं के यदि व्यापार तथा फल हों, तो संस्कृत में अकर्मक धातु (धातु=क्रियावाचक शब्द) का अर्थ क्या होगा? उत्तर—जब व्यापार और फल का एक ही आश्रय होता है, तब उस धातु को व्यावहारिक दृष्टि से अकर्मक कहा जाता है, क्योंकि वहाँ कर्म की पृथक् सत्ता स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होती यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक अकर्मक धातु का भी कर्म सकर्मक धातु की तरह है।[1] अँगरेजी भाषा के Transitive-Intransitive से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ व्यक्त या अव्यक्त फल अवश्यमेव होगा, वर्त्तमान जडविज्ञान का भी यह मत है, इतरां तात्त्विक दृष्टि से 'अकर्मक-क्रिया' एक अलीक पद है।

यह दिखाया गया कि क्रिया-सिद्धि में कर्त्ता सर्वाधिक उपकारक होता है, तथा उसी को कर्म। इसी दृष्टि के अनुसार यह भी प्रमाणित होगा कि 'अधिकरण' कारक कर्म से भी कम क्रियासिद्धिपादक होता है, तथा कर्त्ता और कर्म के अधीन इसकी सत्ता है। अधिकरण की सत्ता कर्त्ता की तरह स्वतन्त्र नहीं है, तथा वह क्रिया से उत्पाद्यमान ईप्सिततम भी नहीं है। अतः बलाबल की दृष्टि से उसका स्थान कर्म के बाद ही होगा।

व्याकरण में अधिकरण के बाद 'करण कारक' का स्थान है। लोक से भी यह समर्थित होता है। कर्त्ता क्रिया-सिद्धि के लिए जिसकी सहायता लेता है, उसको करण कहा जाता है। 'सहायता लेना' रूप पदार्थ से क्रिया का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु जिसकी सहायता ली जाती है, उससे अन्य पदार्थ की सहायता से भी उस क्रिया की सिद्धि हो सकती है, और चूंकि उस 'सहायक' में क्रिया नहीं रहती है, अतः कर्त्ता और कर्म के बाद ही 'करण' का स्थान युक्त होता है। अधिकरण से भी करण अप्रबल है, क्योंकि अधिकरण (=आश्रय) के बिना क्रिया का संचार नहीं हो सकता, और करण के बिना क्रिया का संचार हो सकता है, पर उसकी असफलता की ही संभावना है। किन्तु कर्त्ता और कर्म से अधिकरण का अच्छेद्य सम्बन्ध है, परन्तु करण का सम्बन्ध अच्छेद्य नहीं है, अतः 'करण' के बाद 'अधिकरण' का स्थान शब्दशास्त्र में है।

उसके बाद संप्रदान का स्थान है। जब हम किसीको कुछ देते हैं, तब 'कुछ देना' ही मुख्य क्रिया है। दानरूप क्रिया दानीय व्यक्ति की भिन्नता से विभिन्न नहीं होती और

१—देखो वैयाकरण-भूषण-सार का धात्वर्थ प्रकरण।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दान-क्रिया की सिद्धि में ही दानीय व्यक्ति का कुछ महत्त्व रहता है। महत्त्व तो दाता और देय वस्तु का है, अतः सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो 'सम्प्रदान' को कारक कहना अनुचित होगा, क्योंकि दान-क्रिया की सिद्धि में इसका कुछ भी योग नहीं रहता। तब भी शास्त्र में अपादान को जो कारक कहा गया, उसका तात्पर्य यही है कि शास्त्र में दान-क्रिया की चरितार्थता के लिए दानीय व्यक्ति का महत्त्व भी कुछ अंश तक (धर्मशास्त्र में) दिया गया है। और संप्रदान की इस निष्क्रियता (क्रिया-सिद्धि के प्रति) को लक्ष्यकर ही व्याकरण में 'संप्रदान' शब्द को 'दा' धातु से लिया गया, जबकि कर्त्ता, कर्म आदि अन्य सब कारक 'कृ' धातु से। वस्तुतः क्रिया-सिद्धि की दृष्टि से संप्रदान का कुछ भी महत्त्व नहीं है; हाँ, दान के फल की दृष्टि में है, और इसीलिए उसको एक अति गौण स्थान मिला है।

इस दृष्टि से 'अपादान' भी एक अत्यन्त गौण कारक है, क्योंकि क्रिया-सिद्धि में उसकी कुछ भी वास्तव उपकारिता दृष्ट नहीं होती, और इसीलिए उसको निकृष्टतम कारक कहा जाता है। जब वृक्ष से पत्र गिरता है (वृक्षात् पर्णं पतति) तब वृक्ष को अपादान कारक कहा जाता है, पर पतन-क्रिया के प्रति वृक्ष की कुछ भी उपकारिता साक्षात् रूप से उपलब्ध नहीं होती। पर्ण अपने बल के कारण अपनी क्रिया से गिरता है। अतः क्रिया से वृक्ष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। शंका हो सकती है कि तब 'अपादान' को कारक कहा ही क्यों गया है ? उत्तर—पतन क्रिया की उच्चावचता (वैज्ञानिक परिभाषा में Acceleration) में वृक्ष की उच्चता कुछ कारण होती है, और पतन क्रिया भी अतिसामान्य अंश में वृक्षसापेक्ष है, अतः अपादान को भी कारक कहा गया है। इसीलिए 'सम्बन्ध' को कारक नहीं माना जाता, क्योंकि क्रिया-सिद्धि में उसकी कुछ भी सहायता वस्तुतः नहीं होती और न क्रिया की प्रकृति में ही सम्बन्ध भेद से कुछ वास्तव भेद होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याकरण का कारक-सम्बन्धी नियम केवल शब्द-प्रयोग में ही चरितार्थ होता है—ऐसी बात नहीं; वह एक वैज्ञानिक सत्य है, तथा वस्तुस्वभाव के अनुसार ही भाषित हुआ है।

(घ) अब संस्कृत व्याकरण के एक ऐसे नियम का उल्लेख किया जा रहा है, जिससे यह असंशयरूप से प्रमाणित होता है कि मानसिक चिन्ता के अनुसार ही शब्द-प्रयोग का क्रम संस्कृत में है। आजकल की भाषा के शब्द-प्रयोग में इस प्रकार का नियम कहीं पर कहा नहीं जाता है, क्योंकि आजकल उतने सूक्ष्म दर्शन के प्रति जन-साधारण की दृष्टि नहीं है; पर चूँकि प्राचीनकाल में उतनी सूक्ष्म दृष्टि सार्वजनीन थी, अतः वैसे नियमों का आविष्कार भी हुआ।

नियम यह है कि शब्द जब प्रयुक्त होता है तब वह पहले अपने अर्थ की जाति को कहता है, उसके बाद क्रमशः द्रव्य, लिंग, संख्या और कारक को कहता है, अर्थात् वक्ता और श्रोता में इन सब तत्वों का क्रमिक ज्ञान होता है। आजकल भी इनका ज्ञान होता है, पर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उतने विशद रूप से नहीं, तथा कुछ तत्त्वों का ज्ञान नष्ट हो गया है। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि अति प्राचीन काल में (जब यह भाषा संकीर्ण नहीं थी) संस्कृत वाक्यों का शाब्द बोध जितना सूक्ष्म होता था आज उतना नहीं होता है, तथा जिस रूप से बोध होता था, आज संस्कृत वाक्यों का ठीक उस रूप से बोध भी नहीं होता, क्योंकि प्राचीनतम काल में जो असाधारण मनस्विता थी, आज वह दुर्लभतम है। हम अन्य निबन्ध में उदाहरणों के साथ इस विषय का विशद विवेचन करेंगे।

प्रस्तुत विषय पर अब विचार किया जा रहा है। कोई भी शब्द पहले अपनी जाति को कहता है, अर्थात् घट शब्द से घटत्व का बोध पहले होता है और उसके बाद घटत्व से युक्त जड़ द्रव्य का बोध होता है। यदि घट शब्द से घटत्व-बोध-पूर्वक घट द्रव्य का बोध न माना जाय तो एक घट शब्द के ज्ञान से एक ही घट द्रव्य का बोध होगा, पृथक् घट के लिए प्रज्ञात घट शब्द का प्रयोग वक्ता नहीं कर सकता। पर चूँकि घट शब्द पहले घटत्व को कहता है, अतः जितने द्रव्यों पर घटत्व है, उन सब का बोध एक घट शब्द करा सकता है।

घटत्वबोध के बाद घट द्रव्य का बोध मन में होता है। घटत्व चूँकि जाति है, अतः उसका आधार कुछ न कुछ तत्क्षणात् कल्पनीय होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य-बुद्धि आधार व्यक्ति को छोड़कर आधेय जाति की चिन्ता नहीं कर सकती।

द्रव्यबोध के बाद 'लिंग' का बोध होता है। आज लिंग का बोध नहीं होता, पर जाति और व्यक्ति की तरह लिंग का बोध भी प्राचीनकाल में होता था, जो मानसिक जड़ता के कारण अब बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होता। लिंग एक प्रकार का सत्त्वधर्म (=द्रव्य धर्म) है, जो द्रव्य के दैशिक या कालिक परिमाण को कहता है। जैसे ही घटत्व से युक्त द्रव्य का बोध होगा, तत्क्षणात् उस द्रव्य का दैशिक या कालिक (आजकल की गाणितिक परिभाषा में (Fourth demension) परिमाण का भी बोध होगा, क्योंकि परिमाण-बोध के बिना द्रव्य का बोध अपूर्ण रह जाता है। आजकल भी यह परिमाण-बोध होता है, पर अस्फुट रूप से और प्राचीनतम काल में जिस दार्शनिक पद्धति से शब्दोच्चारण के साथ-साथ यह परिमाण-बोध होता था, आजकल वह नहीं होता है।

लिंगबोध के बाद 'संख्या' का बोध होता है। संख्या की अपेक्षा लिंग अन्तरंग है, क्योंकि संख्या 'भेदापेक्षी' है, अर्थात् अन्यपदार्थसापेक्ष है। और लिंग का बोध अन्य पदार्थ की अपेक्षा से नहीं होता।

संख्या के बाद 'कारक' का बोध होता है—ऐसा शब्दशास्त्र का नियम है। किसी द्रव्य में कर्तृत्व, कर्मत्व आदि का बोध विजातीय क्रियापेक्षसाधन की अपेक्षा से होता है स्वतः नहीं, अतः जाति, द्रव्य, लिंग के बाद ही कारक का बोध होना उचित है। शंका हो सकती है कि संख्या के पहले ही कारक का बोध क्यों नहीं होता, क्योंकि उसका बोध भी तो स्वतः नहीं होता, किसी की अपेक्षा से ही होता है; तो उत्तर यह है कि संख्या तृतीय

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जातीय साधन की अपेक्षा करती है, अर्थात् कोई द्रव्य एक है या अनेक, इसके लिए सजातीय साधन की अपेक्षा होती है; वृक्ष के संख्याज्ञान में वस्तुसत्ता की अपेक्षा नहीं होती, पर कारक (=कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि) के लिए सजातीय क्रिया की कुछ भी अपेक्षा नहीं है, विजातीय क्रिया से कारकत्व पूर्णरूप से सिद्ध होता है, अतः कारक के बोध की अपेक्षा संख्या का बोध अन्तरंग है, छतरां कारक-बोध के पहले ही संख्या का बोध होगा।

पूर्वोक्त शुक्ति को संक्षेप में कहा जा रहा है—'जाति = द्रव्य का स्वार्थ = प्रवृत्ति निमित्त है। किसी भी विशिष्ट बुद्धि में विशेषणज्ञान (यह पदार्थ इस विशेषण से अवच्छिन्न है, ऐसा ज्ञान) कारण अवश्य होगा, अतः पहले प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान होगा। उसके बाद उसके आश्रयभूत द्रव्य का ज्ञान होगा, क्योंकि धर्म धर्मि-आश्रित है। उसके बाद सत्त्वधर्म अर्थात् परिमाण-विशेष रूप लिंग का ज्ञान होगा, उसके बाद संख्या का ज्ञान होगा, क्योंकि वह सजातीय पदार्थापेक्ष है, तदनन्तर कारक का बोध होगा, क्योंकि वह विजातीयक्रियापेक्ष कारकापेक्ष है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत व्याकरण का एक प्रसिद्ध नियम मानसिक चिन्ता के अनुसार ही कल्पित हुआ है, केवल शब्द-सिद्धि करने के लिए एक कपोलकल्पित नियम नहीं है। हम चाहते हैं कि हिन्दी के व्याकरण में भी इस प्रकार के नियमों का आश्रयण यथासंभव किया जाय, जिससे हिन्दी का व्याकरण भी संस्कृत व्याकरण की तरह एक शास्त्र हो जाय।

पूर्वोक्त नियमों की तरह अन्य नियमों का उल्लेख किया जा सकता है। जैसे (क) व्याकरण-प्रक्रियाओं का अन्तरंग-बहिरंगभाव, (ख) सूत्रार्थ का बलाबल-विचार इत्यादि। मेरा यह स्पष्ट मत है कि इन नियमों की कल्पना केवल शब्द-सिद्धि के लिए नहीं हुई थी, पर मानसिक चिन्ताक्रम के अनुसार ही इन नियमों की कल्पना की गई है। अन्य निबन्धों में ऐसे नियमों का विवरण प्रस्तुत करूँगा, जिससे 'संस्कृत भाषा को संस्कृत क्यों कहा जाता है' इसका निरूपण हो जाय।

उपसंहार में वक्तव्य यह है कि संस्कृतभाषा के प्रयोग-सम्बन्धी सभी विशिष्ट नियमों का कुछ न कुछ मानसिक कारण अवश्य है, जिसे आज हम दिखाने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि हमारी परंपरा सहस्राधिक वत्सर से नष्ट हो चुकी है। आज व्याकरण शास्त्र में केवल साधारण विवरणपरक वाक्य (Generalisation) रह गया है, पर जिन प्रक्रियाओं से उन नियमों की सिद्धि एक दिन आचार्यों ने की थी, उनका लोप हो गया है, यद्यपि उनका कुछ न कुछ प्रतिभास आज भी होता है। मैं आगामी निबन्ध में उन तत्त्वों का विवरण करूँगा, जिनके बल से अखण्ड वाक्यों को विश्लिष्ट कर आचार्यों ने प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना की थी। मैं शब्दशास्त्र को जडविज्ञान या गणितशास्त्र की तरह समझाता हूँ। आगामी निबन्धों में इस प्रतिज्ञा का प्रमाणीकरण किया जायगा, जिससे पाठकों को यह विदित हो जाय कि व्याकरण को 'वेदानां वेदः' क्यों कहा जाता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गया जिले के तीन स्वर्गीय साहित्य-सेवी

[१]

राय साहब लक्ष्मीनारायण लाल

श्री लक्ष्मीनारायण लाल बिहार के उन साहित्यिकों में से थे जिन्होंने बीसवीं शताब्दि के प्रथम चरण में हिन्दी-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है। बीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में जब हिन्दी-साहित्य के सेवकों की संख्या कम थी और जन-साधारण में हिन्दी का विशेष प्रचार नहीं था, राय साहब ने गया में लक्ष्मी प्रेस की स्थापना की और साथ ही हिन्दी मासिक 'लक्ष्मी' और हिन्दी साप्ताहिक 'गृहस्थ' को जन्म दिया। आरम्भ में इनका सम्पादन आप स्वयं करते थे। आप एक अच्छे वकील थे, पर आपकी साहित्य-सेवा पर वकालत को आँच नहीं पाने पाई। अन्त में 'लक्ष्मी' का सम्पादन-भार आपने हिन्दी-साहित्य के महारथी लाला भगवान दीन को सौंप दिया। काशी में रहकर भी दीन जी बड़ी दक्षता और तत्परता के साथ 'लक्ष्मी' का काम सँभालते रहे।

लक्ष्मी बाबू (मेरे पूज्य पितामह) ने अपने उक्त दोनों पत्रों के माध्यम से न केवल जन-साधारण की सेवा की, अपितु नवीन लेखकों और कवियों को भी पर्याप्त प्रेरणाएँ देकर प्रोत्साहित किया। 'लक्ष्मी' के प्रकाशन-काल में 'सरस्वती' को छोड़ कोई दूसरा साहित्यिक पत्र नहीं था। 'लक्ष्मी' ने बिहार में बहुत-से ऐसे साहित्य-सेवी पैदा किए जो आगे चलकर बड़े यशस्वी हुए। सन् १९१४—१८ के प्रथम विश्व-महायुद्ध की महँगी (सन् १९२२ ई०) में 'लक्ष्मी' बन्द हो गई। उसके अन्तिम वर्षों में लक्ष्मी बाबू के प्रथम पुत्र श्री रामानुग्रह नारायण लाल (मेरे पूज्य पिता) उसका सम्पादन करते रहे।

सन् १९३२ के अगस्त महीने में, दादी जी बहुत बीमार थीं, उनके जीवन की अन्तिम घड़ी थी। परिवार के सभी लोग उनकी 'खाट के चारों ओर खड़े थे। सबकी आँखें सजल थे। आप (दादा जी) निकट ही कुर्सी पर बैठे थे। आपकी आँखें गीली थीं। किन्तु परिवार के लोगों की तरह आप अधीर न थे। आपने सबसे कहा कि हरि-कीर्त्तन कीजिए और 'रघुपति राघव राजाराम' स्वयं लय के साथ गाने लगे। आपकी देखा-देखी सभी हरि-कीर्त्तन करने लगे। दुःख और करुणा का वातावरण हरि-नाम-कीर्त्तन से गूँज उठा। उस समय मैं बारह बरस का था, पर आज मैं उस पवित्र दृश्य का महत्त्व समझ रहा हूँ।

सन् १९४० की बात है। मेरी रचनाएँ हिन्दी साप्ताहिक 'गृहस्थ' में (जो अब भी जीवित है) नियमित रूप से निकल रही थीं, यों तो उसमें मेरी कहानियाँ सन् १९३१ [illegible]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही प्रकाशित हो रही थीं। एक दिन लक्ष्मी बाबू ने मुझे बुलाकर कहा—"गृहस्थ में तुम्हारी कहानियाँ देखकर आशा होती है कि मेरी साहित्यिक वंशावली आगे चलेगी। उनके उसी आशीर्वाद का फल है कि मैं आज अपनी शक्ति और श्रद्धा के अनुसार हिन्दी-साहित्य की सेवा में संलग्न हूँ।

औरंगाबाद (गया) में वकालत करने के पहले आपने कुछ दिनों तक गया में ही वकालत की थी, पर जब औरंगाबाद में वकालत करने लगे, तब आपकी वकालत ऐसी चमकी कि साहित्य-सेवा के लिए बड़ी कठिनाई से समय निकाल पाते थे। फिर भी, प्रतिदिन कुछ न कुछ समय साहित्य-सेवा में अवश्य ही लगाते थे। यहाँ तक कि कचहरी में भी अवकाश के कुछ क्षण मिल जाने पर अपनी डायरी में कविता लिख लेते थे और घर आकर मुझसे उसकी नकल कराके 'गृहस्थ' में भेज देते थे।

सन् १९४३ का ग्रीष्मकाल था। आप अपने कमरे में बैठे पढ़ रहे थे। एकाएक मुझे पुकार कर कहा—'मेरे सिर में दर्द है, वह लाल शीशी की दवा दे दीजिए।' मैंने कहा—'आप थोड़ी देर भी दिमाग को आराम नहीं देते, सिर दर्द न होगा तो और क्या होगा?' आपने हँसकर कहा—'मवक्किलों से रुपये ले चुका हूँ, उनका काम तो करना ही होगा। साथ ही साथ हिन्दी का भी तो ऋण चुकाना है।'

आपके चरित्र की महत्ता सोच-सोचकर मैं दंग हो रहा था। सोचता—'हजारों रुपए की आमदनी है, यश और प्रतिष्ठा है, किसी बात की चिन्ता भी नहीं है, फिर भी दिन-रात में सिर्फ कुछ घंटे ही विश्राम करते हैं, नहीं तो अहर्निश लिखने-पढ़ने में ही डूबे रहते हैं। वस्तुतः आपका जीवन कर्ममय था।

आपकी जीवन-चर्या बहुत नियमित थी। बड़े सवेरे उठते, नित्यकृत्य से निवृत्त हो पढ़ने बैठ जाते। कुछ देर गीता या किसी धर्म-ग्रंथ का पाठ करने के बाद कचहरी के कामों में लग जाते। फिर, शाम को अखबार पढ़ते-पढ़ते नाश्ता कर लेते और दस बजे रात तक गहरे अध्ययन में निमग्न रहते। आपके अध्ययन के विषय थे—साहित्य, आयुर्वेद, ब्रह्मविद्या आदि। आपकी आध्यात्मिक कविताओं का संग्रह यदि प्रकाशित किया जाय तो हिन्दी में एक अनूठी चीज होगी।

आपका जीवन उस मशीन की भाँति था जो उचित खाद्य पदार्थ पाने के बाद काम करने में कभी थकती नहीं। दिन-रात काम करते रहने पर भी, आप थकते न थे। वृद्ध होने पर भी सार्वजनिक कामों में आपका उत्साह दर्शनीय था।

जब कभी किसी साहित्यिक-सभा, हरिजन-सभा, मेल-मिलाप-सभा से निमन्त्रण आता, आप सभा के समय से दस मिनट पूर्व ही वहाँ पहुँच जाते और बड़ी लगन से सभा के काम में योग देते। औरंगाबाद में सभाएँ बिना आपकी उपस्थिति के नहीं होती थीं और प्रायः सभाओं का सभापतित्व आप ही को करना पड़ता था। आप बड़ी पटुता के साथ सभा का संचालन करते थे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एक बार आपने अपने छात्र-जीवन की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए कहा था- 'मेरे पिता मुंशी दयालनारायण लाल बड़े ही गरीब थे। इसलिए, मुझे बड़े कष्ट से पढ़ना पड़ा। कई बार ऐसे अवसर आये हैं कि दो-दो दिनों तक भूखा रहना पड़ा और पानी में फुलाए चावल ही चबाकर संतोष करना पड़ा है। किन्तु, गरीबी का मुझे अभिमान था। सोत्साह बढ़ता गया। वर्षों के अथक परिश्रम और कष्ट-सहन के बाद आज मैं सुख के दि देख रहा हूँ। वास्तव में श्रम ही मनुष्य का अमूल्य धन है।

एक बार गयानिवासी बाबू द्वारकाप्रसाद गुप्त द्वारा लिखित आपकी जीवनी हाथ लगी। मैं उसे बड़े ध्यान से पढ़ गया तब आपके जीवन की महत्ता और हृदय विशालता मेरी समझ में आई। स्वावलम्बन की महिमा दरसाने वाला आपका जीवन प्रत्ये नवयुवक के लिए आदर्श है।

आपमें एक विशेषता यह थी कि छोटे बच्चे को भी 'आप' ही कहकर संबोधित क थे। किसी के लिए उनके मुख से 'तुम' नहीं सुन पड़ता था। आप किसी को घृणा की से नहीं देखते थे। आप कभी निरादर के भाव से नहीं बोलते थे। आपकी सहृदयता को आकृष्ट करती थी। अतिथि-सत्कार में आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आप समाज-सुधारक थे। अपने परिवार के विरोध करने पर भी केवल आपकी ही प्रेरणा से मैंने सन् १९४३ में विधवा-विवाह किया था। आपने आशीर्वाद देते हुए कहा था कि समाज के कल्याण लिए देश के युवकों को बालविधवाओं के उद्धार में साहस प्रदर्शित करना चाहिए।

बिहार के प्रसिद्ध नगर 'गया' से लगभग ४८ मील पश्चिम, 'ग्रैण्ड ट्रङ्क रोड' किनारे, कूसी गाँव है, जो कभी खुशहालपुर कहा जाता था। उक्त ग्राम के एक कायस्थ में सन् १८७० ई० के फाल्गुन मास (संवत् १९२६) में आपका जन्म हुआ था। आपके का नाम श्री दयालनारायण लाल था।

जन्म के कुछ ही दिन बाद आप मातृहीन हो गए। पाँच वर्ष की अवस्था में, परम्परा के अनुसार आप गाँव की हिन्दी पाठशाला में पढ़ने लगे। उसके बाद औरंगा मिड्ल स्कूल में पढ़कर गया के जिला स्कूल में भरती हुए। सन् १८८७ ई० में प्रवेश परीक्षा पास करने पर आपको एक सौ रुपये का पारितोषिक मिला। गरीबी के क आपको आगे की पढ़ाई रोककर आरा नगर के 'कायस्थ जुबिली एकाडमी' नामक हाई स्क शिक्षक का काम करने के लिए मजबूर होना पड़ा। स्कूल में काम करते हुए ही, अव के समय का सदुपयोग करके आपने एफ्० ए० की परीक्षा पास की और सन् १८९१ में, वकालत की परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उस समय आपकी अव कुल २१ वर्ष की ही थी।

औरंगाबाद मिड्ल स्कूल में पढ़ते समय, १२ वर्ष की अवस्था में, आपका विवाह जिकान्तर्गत पोगर ग्रामनिवासी मुंशी बिहारीलाल जी की कन्या नवरानी कुँअर से हु

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गया जिले के तीन स्वर्गीय साहित्य-सेवी

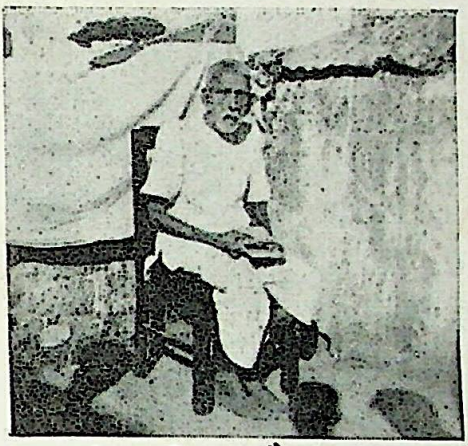

पं० कालीप्रसाद चौधरी 'मीत'

श्री गोपीचन्दलाल गुप्त 'प्रेमानन्द'

रायसाहब लक्ष्मीनारायण लाल

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वे आदर्श पत्नी थीं। उनका स्वर्गवास ७ अगस्त १९३२ ई० को हुआ था। आपको चार पुत्ररत्न और दो कन्याएँ हुईं। आपके चार पुत्र हैं—

श्री रामानुग्रहनारायण लाल, बी० ए० (भूतपूर्व 'लक्ष्मी'-सम्पादक), श्री आदित्य-नारायण लाल, एम्० ए०, बी-एल्० (एडवोकेट, पटना हाईकोर्ट), श्री राजकिशोरनारायण लाल, बी० एल्० और श्री व्रजकिशोरनारायण लाल, बी० एल्०।

१८९१ में, औरंगाबाद में, वकालत शुरू करके आपने काफी धन कमाया। उस धन का सदुपयोग अधिकतर आपने लोक-सेवा में किया। सर्वप्रथम आपने औरंगाबाद में एक 'लक्ष्मी औषधालय' स्थापित किया। दीनों को वहाँ दवा अमूल्य मिला करती थी।

आप आयुर्वेद के विद्वान् और प्रेमी थे। आयुर्वेद-प्रचार के हेतु आपने सन् १९०३ ई० में एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया, जिसका नाम 'लक्ष्मी उपदेश-लहरी' रखा गया। पत्रिका का प्रकाशन उक्त औषधालय की ओर से होता था। उसका सम्पादन अखौरी शिवनन्दन प्रसाद 'बहार' जी किया करते थे। बहार जी ने एक वर्ष तक उसका सम्पादन किया और उसके बाद मध्य प्रदेश के सागर जिलान्तर्गत देवरी-निवासी श्री गोरेलाल 'मंजुलशील' जी ने उसका सम्पादन-भार उठाया। मंजुलशील जी के सम्पादकत्व-काल में पत्रिका की विशेष उन्नति हुई। जब पत्रिका का प्रचार खूब होने लगा तो उसे साहित्यिक कलेवर दिया गया। आपमें भी साहित्य के प्रति अनुराग बढ़ने लगा और मंजुलशील जी से काव्य का अध्ययन किया और फिर स्वयं आप अच्छी कविताएँ करने लगे। पत्रिका के सामयिक प्रकाशन के लिए आपने गया में सन् १९०५ के ११ नवम्बर को अपना 'लक्ष्मी प्रेस' स्थापित किया जो आज भी कायम है। 'लक्ष्मी' पत्रिका के अतिरिक्त आपने साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन भी आरम्भ किया। प्रेस स्थापित करने के बाद ही सन् १९०६ में मंजुलशील जी का सहसा देहांत हो गया। उनके देहांत के बाद छत्रपुर (बुंदेलखण्ड) निवासी श्री लाला भगवान दीन जी 'दीन' उपर्युक्त 'लहरी' के सम्पादक नियुक्त हुए। दीन जी उन दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के हिन्दी-प्राध्यापक थे। सन् १९०७ ई० में पत्रिका का नाम केवल 'लक्ष्मी' रह गया।

लाला भगवान दीन जी के बाद आरानिवासी पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा और फिर श्री रामानुग्रहनारायण लाल, बी० ए० बहुत दिनों तक उस पत्रिका का संपादन बारी-बारी से करते रहे। अमरीका-प्रवासी स्वामी सत्यदेव ने एक पत्र में 'लक्ष्मी' की प्रशंसा करते हुए यह लिखा था—"गया की 'लक्ष्मी' हिन्दुस्तान के सामयिक पत्रों में अपना खास स्थान रखती है। प्रायः सभी लेख और कविताएँ उपयोगी और शिक्षाप्रद हैं। संस्थापक महोदय अवश्य प्रशंसा के पात्र हैं।"

एक बार, प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पं० सकल नारायण शर्मा, तीर्थत्रय ने अपने भाषण में 'लक्ष्मी' की प्रशंसा करते हुए कहा था—"...राय साहब लक्ष्मी-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नारायण लाल जी बिहार के उन हिन्दी-प्रेमियों में हैं, जो हिन्दी के लिए प्रतिवर्ष पानी की तरह रुपये बहाते हुए कुण्ठित नहीं होते। 'लक्ष्मी' के लिए आप कितनी ही हानियाँ उठा चुके हैं, किन्तु उसे सदैव निकालते रहने का संकल्प कर उसे कभी बंद नहीं होने देते, कोई दूसरा कोई होता तो इतनी हानि उठाकर २० वर्ष तक पत्रिका कभी भी जारी नहीं रखता।

आपके हृदय में किसानों के लिए भी अटूट प्रेम था। अतः आपने सन् १९१५ ई० में अपने संपादकत्व में 'गृहस्थ' नामक एक मासिक पत्र निकाला। कुछ दिनों बाद वह साप्ताहिक हो गया। बड़ी ही खुशी की बात है कि 'गृहस्थ' आज भी जीवित है। 'लक्ष्मी' के प्रकाशन काल में 'लक्ष्मी-स्वर्ण-पदक' कई व्यक्तियों को मिल चुका है।

आप हिन्दू-मुस्लिम एकता के बड़े हिमायती थे। रूढ़िवाद से बहुत दूर रहकर हिन्दू समाज में भी आप क्रान्ति करना चाहते थे। छुआछूत के आप विरोधी थे। आपका व्यक्तित्व बहुत ही लाजवाब था। आप हिन्दी और अँगरेजी के अलावा उर्दू और फारसी के भी अच्छे विद्वान् थे।

आपकी प्रकाशित पुस्तकें निम्नलिखित हैं:—

(१) लक्ष्मी-सतसई (जीवनोपयोगी पद्य-संग्रह), (२) उपदेश-मंजरी (ईश्वर तथा देशभक्तिपूर्ण पद्य), (३) सहयोग (को-आपरेटिव बैंक-संबंधी गद्य-पुस्तक), (४) बैंक की बारह बातें (दोहा-चौपाई में बैंक के नियम), (५) सोना-सुगंध (खेती-संबंधी विचार), (६) गीता-गीतावली (श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय का दोहा-चौपाई अनुवाद), (७) विनय-वाटिका (ईश-स्तुतिपरक पद्य), (८) पूर्ति-पुञ्ज (समस्या-पूर्ति का पद्य-संग्रह), (९) हिन्दू-मुस्लिम एकता (पद्य), (१०) चरखा-माहात्म्य (पद्य), (११) गाँधी-गीता (पद्य), (१२) स्वराज्य-सोपान (पद्य), (१३) गीता-रत्नावली (पद्य), (१४) श्रीचरण-चिह्न-चन्द्रिका (पद्य), (१५) आरती (पद्य), (१६) घरेलू धंधा (खेती-संबंधी विचार), (१७) समुद्र-यात्रा, (१८) हैजे की दवा, (१९) कजरी बहार (पद्य), (२०) सावन बहार (पद्य), (२१) स्वदेश होली (पद्य), (२२) अछूतोद्धार (पद्य), (२३) [illegible] भण्डार (पद्य), (२४) गाँधी-धर्म-चर्चा, (२५) ग्लोरी आफ इण्डियन मेडिसिन्स (अँगरेजी) तथा (२६) सत्यनारायण-कथा (दोहा-चौपाई)।

आप बिहार विधायिका सभा के और केन्द्रीय विधान-सभा के भी सदस्य थे। बिहार में को-आपरेटिव बैंक के प्रवर्त्तकों में से थे। बिहार में आयुर्वेदिक कालेज के लिए आपने बहुत प्रयत्न किया था।

आपकी मृत्यु सन् १९४६ ई० में २० जुलाई (श्रावण कृष्ण ६ शनिवार, २००३) को हुई थी।

—श्री नरेन्द्रनारायण

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

[२]

पं० कालीप्रसाद चौधरी 'मीत'

श्री 'मीत' जी गया जिले के हसुआनिवासी एक प्रतिष्ठित वयोवृद्ध साहित्य-सेवी थे। आपके पूर्वजों का आदिस्थान दरभंगा जिलान्तर्गत मधुबनी सबडिवीजन का 'कोइलख' नामक ग्राम है। आप गया-प्रवासी मैथिल ब्राह्मण थे। आपके पूर्वज क्यों और कैसे गया आये, इसके सम्बन्ध में पटना के भूतपूर्व सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'बिहार-बन्धु' के पहली मई, सन् १९०९ ई० के अंक में प्रकाशित सम्पादकीय टिप्पणी का कुछ अंश दे रहा हूँ—

"गया-हसुआ के प्रतिष्ठित मैथिल जमीन्दार ब्राह्मण-कुल-तिलक पहुना जी स्वर्गवासी बाबू अजितनारायण चौधरी (मीत जी के पितामह) को बिहार के प्रायः प्रतिष्ठित व्यक्तिमात्र जानते होंगे। आपकी जमीन्दारी करीब सत्तर-अस्सी हजार रुपये की है, आपकी धार्मिकता का प्रत्यक्ष उदाहरण यही है, बारह हजार रुपये के तहसील की जमीन्दारी निकाल दी गई है, सदाव्रत के लिए, जो आज तक जारी है। बाबू अजितनारायण चौधरीजी के पुत्र बाबू टोडलनारायण चौधरी (मीत जी के पिता) जी ने अपने नाबालिग चार पुत्रों को छोड़ स्वर्गवास किया। चूँकि बाबू अजितनारायण चौधरी अपनी ससुराल में रहते थे, इसलिए इन दोनों महाशयों के मरने पर इस धन की पूर्ण अधिकारिणी बाबू अजितनारायण चौधरी जी की सहधर्मिणी मुसम्मात लाला कुँअरी उर्फ दायीपति कुँअरी (मीत जी की दादी) थीं, जिन्होंने बाबू टोडलनारायण चौधरी के चारो पुत्रों के नाम बिल लिख दिया था।"

इससे स्पष्ट होता है कि 'मीत' जी के दादा एक श्रीसम्पन्न गृह में विवाह कर यहीं (हसुआ, गया) बस गये थे। कालान्तर में उनकी सन्तति भी यहीं बसती गई।

श्री 'मीत' जी की स्कूली शिक्षा मैट्रिक तक हुई थी। फारसी, बँगला, संस्कृत और मातृभाषा हिन्दी की शिक्षा घर पर ही हुई थी। १६ वर्ष की अवस्था से ही आप हिन्दी में कविता और गद्य लिखने लगे थे।

आपके विद्या-गुरु आरा जिला निवासी पं० विजयानन्द त्रिपाठी 'श्री कवि' थे। श्री कवि जीकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता जग-जाहिर है। 'श्रीकवि' जी बहुत दिनों तक आपके यहाँ रहे और जब तब काशी के राममन्दिर में, जिसके लिए बहुत बड़ा दंगा काशी में हुआ था। कहते हैं कि पण्डित जी को उसका नेता मानकर अँगरेजी सरकार ने उनको पकड़ना चाहा। यह खबर पाकर 'मीत' जी पाँच सौ रुपये लेकर काशी गये और किसी तरह अपने गुरुदेव को सुरक्षित स्थान पर ले आये। यह है आपकी गुरुभक्ति और गुरुसेवा का ज्वलन्त प्रमाण।

अन्त में, आपके भाइयों में गृह-कलह उत्पन्न हो गया। कहावत है—'घर ही में आग लग गई घर के चिराग से।' परिणाम यह हुआ कि सारी जमीन्दारी नष्ट होकर रही। सन् १९१० ई० में, जब आपकी जमीन्दारी नीलाम पर चढ़ी थी, आप एकान्त में 'गजेन्द्रमोक्ष' नामक कविता-पुस्तक तैयार कर रहे थे। उसका एक कवित्त यह है—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"सब विधि असमर्थ अरु असहाय लखि
बावरो सो करिवर बिलखि विकल भो।
बस भरि लरि करि अमित उपाय हाय,
चल्यो ना बसाय अतिकाय छीन बल भो।
थाकि थहरात गिर्‌यो चाहत निरास भास,
खल जल-जन्तु सब भाँति सो प्रबल भो।
ऊँचो करि सुण्डा दण्ड गहि कै सनाल पद्म,
अरपत हरि करि कातर अचल भो।
शयन करत छीर-निधि में सुनी जो टेरि
द्रुत उठि दौरे देह-सुधि हू बिसारि कै।
आय खगनायक चढाय लै चले सवेग,
आये गज पाँहि दुष्ट दपट्यौ प्रचारि कै।
नक्र अवहार हूँ को छेद्‌यो हरिचक्र छाड़ि,
निपट गयन्द 'मीत' दुखित निहारि कै।
सकल सरीर पानि पंकज सों पोंछत
अँगोछत बदन करिवर को उबारि कै।"

सन् १९२१ ई० में, आप, जमीन्दारी मिट जाने पर, सपरिवार गया आकर रहने लगे। यहाँ स्थायी रूप से साहित्य-सेवा में दत्तचित्त हुए। उसी समय 'हिन्दी-साहित्य-सभा' नामक एक संस्था कायम हुई। नियमित रूप से उसकी प्रतिमास बैठक होती थी। नये-नये सुलेखक और सुकवि पहुँचने लगे। समस्या-पूर्त्तियों का प्रवाह जारी हुआ। होनहार लेखकों को स्वर्ण-रौप्य-पदक भी मिलने लगे। उस सभा की उन्नति का सारा भार आपके ही कन्धों पर था। उन दिनों गया का एक खास तरुण समुदाय आपके विशेष पाण्डित्य पर मुग्ध हो आपका शिष्यत्व ग्रहण कर रहा था। सन् १९२४ ई० में अयोध्या-हिन्दी-साहित्य-सभा ने आपको 'काव्य-कुसुमाकर' की उपाधि से विभूषित किया। आपके उद्योग से, सन् १९२६ ई० में, गया में एक विराट् प्रान्तीय-कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ था, उसके स्वागताध्यक्ष आप ही थे। आपकी स्वागत-गान-सम्बन्धी कविता की बड़ी प्रशंसा हुई थी। उसी वर्ष उक्त संस्था ने बड़े आग्रह से आपकी एक छोटी सी काव्य-पुस्तिका (आदर्श मैत्री या सुदामा-चरित्र) प्रकाशित की थी। उसकी भूमिका में प्रयाग की मासिक पत्रिका 'सेवा' के सम्पादक श्री जानकीशरण वर्मा, बी० ए० ने अपने उद्गार इस तरह प्रकट किये थे —

"कविवर पण्डित कालीप्रसाद चौधरी 'मीत' जी की यह पुस्तिका बड़ी ही सुन्दर है। इसकी सीधी-सादी चलती हुई पंक्तियाँ, जिनमें स्थान-स्थान पर उर्दू शब्दों का सम्मिश्रण भी है, अपने भावों को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करती हैं। बोलचाल की भाषा में सुन्दर कविता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किस प्रकार लिखी जा सकती है, इसको यह पुस्तिका अच्छी तरह प्रमाणित करती है।"

आपकी काव्य-पुस्तिका 'आदर्श मैत्री या सुदामा-चरित्र' की कुछ खास सुन्दर पंक्तियाँ मनोरंजनार्थ यहाँ दे रहा हूँ—

"कर्नाट देश में थे दुखी एक बरहमन।
थे दीन, मगर रहते थे बेफिक्र मगन-मन॥
बच्चे और धर्मपत्नी उनके घर थे गुलबदन।
अफसोस, उनके पास मगर था नहीं अन-धन॥
चल करके देखिए तो हविस है यही दिन-रात।
उस बाँसुरीवाले की दोस्ती की करामात॥"

× × ×

"वह राहगीर देवता उधेड़बुन में थे।
थे कुछ जरूर सोच में पर अपनी धुन में थे॥
मिलना है, माँगना तो नहीं, इस छगुन में थे।
इस सोच में पड़ करके सने रस करुन में थे॥
मंगन समझ के मित्र हमें नीच न समझें।
इस सूधे प्रेमभाव में कुछ बीच न समझें॥
वह दीन समझ करके हमें नीच न समझें।
डर है हमें माधुर और कहीं मीच न समझें॥"

आपकी रचनाएँ भिन्न-भिन्न नामों से माधुरी, मर्यादा, बिहार-बन्धु, पाटलिपुत्र, गृहस्थ, लक्ष्मी, युग-प्रवेश, सेवा, नालन्दा, हितैषी, शृङ्गार आदि पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। आपके पुराने साहित्यिक मित्रों में निम्नलिखित साहित्य-सेवी उल्लेखनीय थे—

सर्वश्री ईश्वरी प्रसाद शर्मा, 'हिन्दू-पंच'-संपादक, शिवनन्दन त्रिपाठी, 'बिहार-बन्धु'-संपादक, पारसनाथ त्रिपाठी, 'पाटलिपुत्र'-संपादक, हास्यरसावतार जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, जानकीशरण वर्मा, 'सेवा'-संपादक, प्रो० लाला भगवान दीन, प्रो० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र', देवकीनन्दन खत्री, (चन्द्रकान्ता-लेखक) जनार्दन झा 'जनसीदन' आदि।

आप अच्छे संगीतज्ञ भी थे। बूढ़े होने पर भी आपके गले में स्वर की बुलन्दी और मिठास थी। राग-रागिनियों की बड़ी बारीक चीजों की जानकारी रखते थे।

आपका जन्म सन् १८८० ई० में हुआ था। सन् १९५२ ई० में ७२ वर्ष की आयु में आपका देहान्त हुआ।

जब कभी कोई आपसे आग्रह करता था कि कुछ कविता सुनाइए, तब आप यही कहते थे—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"आबे हयात में भी जरर देख रहे हैं।
हम दिल के समुन्दर की लहर देख रहे हैं॥
सब देख चुके मोम के पुतलों का इशारा।
अब टकटकी लगा के इधर देख रहे हैं॥"

उर्दू की शायरी भी आप अच्छी कर लेते थे। स्वतंत्रता के आन्दोलन में आपके राष्ट्रीय गीतों की बड़ी धूम रही। सन् १९२२ ई० की गया-काँगरेस में आपने अपने से भिक्षाटन कर सोलह सौ रुपये दिये थे। काँगरेस के राष्ट्रीय आन्दोलन में आपने इलाके में बाबू अनुग्रहनारायण सिंह (वर्त्तमान अर्थ-मंत्री) के साथ लगातार वर्षों प्रचार किया था।

आपकी फुटकर कविताएँ और दो तीन काव्य-पुस्तकें अप्रकाशित पड़ी हुई हैं। मोती की तरह अक्षर लिखते थे। आप चतुर्थ गया-जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभा रह चुके थे। आपने अपने भाषण में वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य की आधुनिक तरुण पीढ़ी आग्रह किया था कि वे पुराने साहित्य-सेवियों का उचित सम्मान करना सीखें। *

—श्री सिद्धेश्वरप्रसाद चौधरी 'इं

[३]

श्री गोपीचन्द लाल गुप्त 'प्रेमानन्द'

गौर वर्ण, उन्नत ललाट, ग्राण्डील डील-डौल, आधे से अधिक पके हुए बाल, ल सफेद मूँछें, ऐसी 'प्रेमानन्द' जी की शारीरिक रूप-रेखा, जो आपके व्यक्तित्व तथा कवित को प्रदर्शित करती थी।

आप अपने ग्रामीण अंचल के लब्धप्रतिष्ठ व्यवसायी बाबू शिवानन्द जी के सुपु आप कवि 'मीत' जी की तरह हसुआ ग्रामनिवासी थे। 'मीत' जी के साथ आपकी मैत्री थी।

आपका जन्मकाल संवत् १९४४ है। आप माहुरी (वैश्य) थे। लगभग पन्द्रह की आयु से ही आपने व्रजभाषा में कविता लिखना प्रारंभ किया था। सन् १९५२ ई मृत्यु के समय आपकी अवस्था ६६ वर्षकी थी। आपकी शिक्षा कहीं नियमित रूप से हुई। केवल स्वतंत्र स्वाध्याय के बल पर ही आपने हिन्दी में अच्छी योग्यता अर्जित क थी, जिसे आपने साहित्य-सेवा में लगाया। अट्ठाईस वर्ष की अवस्था से ही आपने जातीय पत्र 'माहुरी-मयंक' का सम्पादन-कार्य आरंभ किया, जिसका ग्यारह वर्षों तक सफ

* यह जीवनी कवि 'मीत' के सुपुत्र श्री 'मंजु' की लिखी हुई है जो प के दैनिक 'आर्यावर्त्त' में काम करते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूर्वक संपादन किया। संपादकत्व के साथ ही साथ अबरख-खान की मैनेजरी भी आपने की थी। जिस समय जंगलियों से, खान से अबरख निकलवाते थे, उसी समय ब्रजभाषा की सुन्दर कविताएँ करते जाते थे। आपकी प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाएँ इस प्रकार हैं—

प्रकाशित रचनाएँ :

(१) रामलीला-लहरी (२) ठाकुर भक्त विनोद (३) माहुरी जाति सुधार (४) प्रार्थना-सतसई (५) प्रेमानन्द-प्रवाह (दो भाग) (६) संकीर्त्तन-सुधा (७) कीर्त्तन-कला (८) चिन्तामणि (९) परमात्मसहस्रनाम (१०) चाबुक (११) राधा-सुधा-शतक (१२) माहुरी-मंडल नाटक (१३) नाच (१४) प्रतिज्ञावीर (१५) तेजा नाटक।

अप्रकाशित रचनाएँ :

(१) विद्रोह बावनी, (२) पहेली-प्रमोद, (३) ज्ञान-गुच्छा, (४) आनन्द-मंजरी, (५) घनश्याम घनाक्षरी, (६) सवैया-सुधा, (७) पूर्त्ति-प्रमोद, (८) माहुरी-मीमांसा।

आपकी कितनी ही रचनाएँ हिन्दी की पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। पाठकों के मनोरंजनार्थ कुछ रचनाओं की बानगियाँ उपस्थित कर रहा हूँ:—

"तुम बिनु कौन मेरे और।
जानि बिनवौं बिपद कहि-कहि गहौं चरणन दौर।
प्रणतपाल दयालु दीनानाथ जग सिरमौर॥
कौन अशरण शरण प्रभुजी दीनजन के ठौर।
मेरो तो गुरु मातु पितु अरु प्राणपति चितचोर॥
तुम्हीं हो गजराज रक्षक पर्‌यो तेरो पौर।
देख कर सारंगधर क्या कर रहे हो गौर॥
प्रेम औ आनन्द बूड़े जात दृग-जल भौंर
तुम बिनु कौन मेरो और॥"

अपनी धर्मपत्नी के देहावसान पर आपने विरह-विह्वल हृदय से इस प्रकार ईश्वर-प्रार्थना की थी:—

'प्रभुजी एक तुम्हारी आशा।
चित चिन्तित यों चूर हुआ ज्यों पानी बीच बताशा।
हित, अनहित, अरि, मित्र बन्धुगण देखें खड़े तमाशा॥
कोउ न बटावनहार विपति को चहुँदिशि घोर निराशा।
तिय सहधर्मिणी स्वर्ग सिधारी तजि के भोग-विलासा॥
विदा भयो 'प्रेमानन्द' तनं ते रहि गये केवल स्वासा।
प्रभुजी एक तुम्हारी आशा॥"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एक पद में आपने अपनी कामना ईश्वर से निवेदित की है:—

"विषयन ते मन मेरो हटै हरि।
तब पद पदुम पराग हो पुण्य बढ़ै अरु पाप घटै हरि।
निशिदिन लूँ तब नाम निरन्तर अभ्यन्तर कलि-कलुष कटै हरि॥
प्रेम पियूष पान करिवे को नहीं चितचातक का उचटै हरि।
लगन लगै मन मगन मस्त हो पूरन 'प्रेमानन्द' प्रकटै हरि॥"

आपकी कुछ उर्दू की पंक्तियाँ भी हृदय का स्पर्श करनेवाली हैं—

"आये तेरे पास कुछ फरियाद करने के लिए।
फेर लीं आँखें मुझे बरबाद करने के लिए॥"
"आँख का मोती भी मेरे आब बन कर बह गया।
अब रहा क्या बाकी दिल आबाद करने के लिए॥"
"क्या इसे कहते मुहब्बत क्या यही दिल-दर्द है
अच्छे ये नुस्खे हैं बेबुनियाद करने के लिए॥"

प्रयाग की एक 'कवीन्द्र-वाटिका' नामक साहित्यिक संस्था से आपको 'रसराज' उपाधि मिली थी। इसके अतिरिक्त, आप, अपनी एक जातीय संस्था से 'कवि-शिरोम को उपाधि एवं अखिल भारतीय संकीर्त्तन-समाज से 'स्वर्ण-पदक' भी प्राप्त कर चुके बुढ़ापे में भी लिखने की धुन बराबर बनी रही। जब भी लिखते, आध्यात्मिकता, सामाजि एवं व्यावहारिकता से ओतप्रोत अपनी सरल सुबोध शैली में उपयोगी वस्तु।

संवत् २००९ में, कार्त्तिक, कृष्ण नवमी (१२ अक्टूबर, सन् १९५२ ई०) को आ देहावसान पटना के अस्पताल में हुआ। आपके चार पुत्र, दो पुत्रियाँ और कई पौत्र-पौत्रियाँ हैं।

—श्री सिद्धेश्वरप्रसाद चौधरी एम

भास

श्री व्रजविहारी शरण

यदि कालिदास और अश्वघोष के समय के विषय में विद्वानों का बहुमत स्पष्ट हो है, तो भास के समय के विषय में इतना अधिक मतभेद है कि किसी पक्षका निश्चय स समर्थन करना इस समय असम्भव हो रहा है। फिर, केवल भास के समय के विषय मतभेद नहीं है; जिन नाटकों को भास का कहा जाता है, उनके रचयिता के विषय मतभेद है। इसमें तो किसी को सन्देह नहीं है कि भास एक विख्यात नाटककार और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हो गये हैं। उनका उल्लेख साहित्य के ग्रन्थों में बिखरा पड़ा है, और यह भी संकेत मिलता है कि भास ने बहुतेरे नाटकों की रचना की थी, और उनमें सबसे उत्कृष्ट 'स्वप्न-वासवदत्त' समझा जाता था। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में भास की ख्याति बताई है; उनके विख्यात श्लोक 'नवं शरावं सलिलैः उपूर्णम्' आदि का उल्लेख कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में मिलता है। और बाण ने अपने 'हर्ष-चरित' में लिखा है—

"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥"

(अनेक भूमिकाओं और पताकाओं [मुख्य कथा पर अवलम्बित कथाओं] से युक्त सूत्रधार से आरम्भ होनेवाले नाटकों को लिखकर भास ने वैसा ही यश पाया, जैसा देवकुल [मन्दिर] से।)

ऊपर उद्धृत श्लोक से स्पष्ट है कि भास न केवल बाण (ईस्वी सप्तम शती) से पूर्व, प्रत्युत कालिदास (चतुर्थ-पञ्चम शती) से भी पूर्व हुए थे, और उनका यश उसी समय व्यापक हो गया था।

'अवन्तिसुन्दरी-कथा' में—जिसे दण्डी के द्वारा प्रणीत कहा जाता है—निम्नोक्त श्लोक मिलता है:—

"सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ॥"

[परलोक सिधारे हुए भास (आज भी) मुख आदि अङ्गों, स्पष्ट लक्षणों और वृत्तियों से युक्त, नाटकरूपी शरीरों से, जीवित से ही हैं]

महाकवि जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' में लिखा है:—

"यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरः
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा भवति कवितामामिनी कौतुकाय ॥"

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त, साहित्य के समालोचकों ने यत्र-तत्र भास का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त अपनी भरतनाट्य शास्त्र की टीका (दशम शताब्दी) में 'स्वप्नवासवदत्त' का उल्लेख करते हुए, एक श्लोक—'सञ्चितपद्मकवाटं' आदि उद्धृत करते हैं, जो प्राप्त 'स्वप्नवासवदत्त' में नहीं मिलता। इसी तरह 'शृङ्गारप्रकाश' में भोजदेव (एकादश शताब्दी) 'भावप्रकाश' में शारदातनय (द्वादश शताब्दी) 'नाट्यदर्पण' में रामचन्द्र और गुणचन्द्र (द्वादश शताब्दी), 'नाटकरत्नकोष' में सागरनन्दी (चतुर्दश शताब्दी) ने भास का उल्लेख किया है। सभी ने कुछ उद्धरण भी दिये हैं। राजशेखर ने 'स्वप्नवासवदत्त' के विषय में लिखा है:—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्तं परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥"

[जब भास के नाटकों में से 'स्वप्नवासवदत्त' को बुद्धिमानों ने जाँच के लिए [illegible] लोचना की आग में फेंका, तो वह आग उसे जला न सकी ।]

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि प्राचीन समय से ही—कालिदास [illegible] पहले से ही—भास की कीर्ति गाई जा रही है, और वे अद्वितीय कवि और नाटककार [illegible] जाते रहे हैं । 'स्वप्न-वासवदत्त' एक विख्यात नाटक था और समालोचकों को उसमें [illegible] भी दोष नहीं मिला था । कैसे आश्चर्य्य की बात है कि ऐसे कविशिरोमणि के ग्रन्थों का [illegible] पता ही नहीं चलता था । १९०८ ई० तक भास का नाम भी केवल धुरन्धर संस्कृत [illegible] विद्वानों को ही विदित था, और वह भी दूसरे ग्रन्थों के अध्ययन से । १९०९ ई० में भारत [illegible] महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री को ताल्पत्र पर हस्तलिखित पुस्तकों का एक संग्रह मनलि [illegible] मठ, पद्मनाभपुरं, में मिला । यह मलयलम लिपि में लिखा हुआ था । उसमें दस संस्कृत नाटक मिले—स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, पञ्चरात्र, मध्यमव्यायोग, चारुदत्त, दूतघटोत्कच, अविमारक, बालचरित, कर्णभार, और ऊरुभङ्ग । इस हस्तलिखित प्रति की [illegible] विशेषता थी कि इसमें कवि का नाम ही नहीं था । इसके बाद तीन दूसरे नाटकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं—प्रतिभा, अभिषेक और दूतवाक्य । इनमें भी नाटककार का नाम नहीं था । श्री म० म० गणपति शास्त्री ने, इन नाटकों को १९१० ई० में त्रिवैन्द्रम (Trivandrum) से छपवाया । इसी से ये नाटक Trivandrum plays (त्रिवैन्द्रम के नाटक) कहाने लगे । शास्त्रीजी ने उनकी समालोचना करते हुए यह सिद्ध किया कि ये भास के लिखे, तब से अप्राप्त नाटक थे । इन नाटकों ने संस्कृत विद्वानों में सनसनी पैदा कर दी । भारतीय और पाश्चात्त्य संस्कृत के प्रेमी, इनके अध्ययन में जुट गये, और घनघोर वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया । विद्वानों के, स्थूल रूप से, दो दल बन गये । एक दल इस सिद्धान्त पर पहुँचा कि ये नाटक भास के लिखे थे । इस दल में अनेक विख्यात संस्कृत के पंडित थे—जैसे अभ्यंकर, ध्रुव, दीक्षितर; याकोबी (jakobi), जायसवाल, यौली (jolly) कीथ (Keith), पराशर, हरप्रसाद शास्त्री, सक्थङ्कर, टामस (Thomos) वेलर (weller), विण्टर निट्ज (Winternitz) बैनर्जी-शास्त्री, पुसलकर आदि ।

दूसरा दल इन्हें भास द्वारा लिखित मानने को तैयार नहीं था । इस दल में प्रमुख थे—रामावतार शर्मा, बारनेट् (Barnett) शारपेन्टियर (Charpentiere) देवधर, [illegible] पिशरोती, राजा, हीरानन्द शास्त्री, लेवी (Levy), आदि । इस मतभेद का अभी तक [illegible] नहीं हुआ और दोनों दलों के नये समर्थक निकलते जाते हैं । इसका फल यह हुआ कि [illegible] विषय पर इतने लेख और पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं कि सबका पढ़ना भी कठिन [illegible] गया है ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपर्युक्त दूसरे दल में कुछ लोग इस विचार के भी हैं कि भास के असली नाटकों को काट-छाँटकर, अथवा उनको नया रूप देकर, केरल के शाकिचारों ने अपनी नाटक-मंडलियों के उपयोग के लिए परिवर्त्तित कर लिया था, इनके अनुसार भी, यह कहना कि ये नाटक भास-लिखित हैं, गलत है।

इन विचारों को सामने रखते हुए, बुद्धिमानी यही है कि प्रत्येक पाठक इन नाटकों का स्वतन्त्र अध्ययन करे, और अपना स्वतन्त्र निश्चय स्थिर करे। जब तक भास के नाटकों की प्राचीन प्रति उत्तरी भारत अथवा अन्य देशों में जैसे नेपाल, तिब्बत आदि में नहीं पाई जाती, भास की समस्या हल नहीं हो सकती।

इन बातों से स्पष्ट है कि भासविषयक प्रश्न के दो भाग हैं—(१) भास कवि कब हुए?; (२) त्रिवेन्द्रम नाटक-चक्र क्या उन्हीं का लिखा है? यदि नहीं तो उनके रचयिता का क्या समय होना चाहिए? भास के समय के विषय में इतना तो अवश्य मानना होगा कि वे कालिदास के पहले हुए, क्योंकि कालिदास ने उनका उल्लेख किया है। परन्तु त्रिवेन्द्रम-नाटकों के रचयिता के समय के विषय में बहुत मतभेद है जो नीचे दी हुई कोष्ठी से स्पष्ट होगा :—

१. भिदे, दीक्षितर, गणपति शास्त्री, हरप्रसाद शास्त्री आदि (ईसा पूर्व छठी से चतुर्थ शताब्दी)
२. पुसलकर (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी),
३. जहाँगिरदर, कुलकर्णी, ध्रुव, जायसवाल (ई० पूर्व दूसरी से पहली शताब्दी)
४. कोनो, वेलर, सरूप आदि (दूसरी शताब्दी)
५. बैनर्जी-शास्त्री, भण्डारकर, याकोबी, कीथ (तीसरी शताब्दी)
६. लेस्नी, विण्टर निट्ज़ (चौथी शताब्दी)
७. शंकर (पाँचवीं-छठी शताब्दी)
८. बारनेट, देवधर आदि (सातवीं शताब्दी)
९. काणे और राजा (नवीं शताब्दी)
१०. रामावतार शर्म्मा (दसवीं शताब्दी)
११. रेड्डी शास्त्री (ग्यारहवीं शताब्दी)

यह स्पष्ट है कि जहाँ १५०० वर्षों का भेद है, वहाँ समय निश्चित करने का प्रयत्न असंगत ही नहीं, केवल मस्तिष्क का व्यायाम है। जब तक भास के नाटकों की प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती, यह झगड़ा चलता ही रहेगा। एक रीति है जिसका अनुकरण करके प्रत्येक पाठक अपना स्वतन्त्र निश्चय स्थापित कर सकता है। पहली बात जो उसे करनी होगी वह है संस्कृत और प्राकृत के प्रारम्भ, विकास और क्षय का ऐतिहासिक अध्ययन और इसके आधार पर इन नाटकों की भाषा के काल का निर्णय। फिर, इन नाटकों में वर्णित

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कथाओं के पूर्ववर्ती और परवर्ती रूपों का अध्ययन करके यह देखना होगा कि
निर्णय की पुष्टि होती है, या विरोध; तीसरी बात जिस पर पाठकों को ध्यान देना होगा,
है, नाटकों में वर्णित धार्मिक और राजनीतिक विधि-विधानों का ऐतिहासिक विकास।
अध्ययनों के बाद ही पाठक कोई युक्ति-युक्त अनुमान कर सकता है।

संस्कृत के जिन धुरन्धर विद्वानों ने भास पर लिखा है, उन्होंने इन प्रश्नों पर यथा
शक्ति विचार किया है, तथापि उनके अनुमानों में समानता नहीं है। जिन बातों के आधार पर
एक विचारक एक अनुमान पर पहुँचता है, उन्हीं बातों के आधार पर दूसरा भिन्न निष्कर्ष
पहुँच जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि साधारण पाठक को इन झगड़ों से कोई लाभ नहीं है
उसे तो इन नाटकों को भासकृत मानकर ही उनका रसास्वादन करना चाहिए और फिर उन
आधारों पर अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थिर करना चाहिए।

(२)

इन नाटकों से भास के जीवन और चरित्र के विषय में तो कुछ भी अनुमान न
किया जा सकता, परन्तु उनमें प्रकटित विचारों और चित्रणों से कवि के मानसिक और आत्मि
त्मिक गठन के विषय में कुछ कहा जा सकता है। उनके अध्ययन से एक सौम्य, प्रतिभा
और उच्च व्यक्तित्व का चित्र आपसे आप आ खड़ा होता है। ऐसा तभी होता है जब
अध्ययन करते समय निम्नोक्त बातों पर ध्यान रखते हैं—(१) कथा-वस्तु का चुनाव
कथा-वस्तु का निर्वाह, उसमें ध्येय के उपयुक्त परिवर्त्तन (३) इन परिवर्त्तनों से कवि के
का निर्णय। इस उद्देश्य से इन नाटकों को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) ऐतिहासिक—स्वप्न-वासवदत्त और प्रतिज्ञायौगन्धरायण।

(२) कल्पित कथाएँ—अविमारक, चारुदत्त।

(३) महाभारत पर अवलंबित—दूतघटोत्कच, दूतवाक्य, कर्णभार, मध्यमव्यायो
ऊरुभङ्ग (एक अङ्क); पञ्चरात्र (तीन-अंक); बालचरित (पाँच अंक), (४) रामायण
अवलंबित—प्रतिभा नाटक, अभिषेक।

'स्वप्न-वासवदत्त' और 'प्रतिज्ञा' में कौशाम्बी-नरेश उदयन की कथा है। उद
पुरुवंशीय राजा और बुद्धदेव का समसामयिक था। बुद्धदेव, बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अज
शत्रु के भी समसामयिक थे। भास ने उदयन को दर्शक का भी समसामयिक बताया
इतिहासज्ञों ने उदयन, अजातशत्रु, दर्शक, और चण्डमहासेन प्रद्योत का अस्तित्व प्रमा
किया है, परन्तु उदयन और दर्शक समसामयिक थे या नहीं, कहना कठिन है। जो कुछ
हो, प्राचीन भारत में उदयन की कथा उसी तरह विख्यात थी जैसे मध्य-युगीन भार
पृथ्वीराज की कथा। उदयन के आधार पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं जिनसे स्पष्ट है
उसमें कुछ ऐसे गुण थे, जिन्होंने उसे उस समय के समाज में सर्वप्रिय बना दिया था।
'कथासरित्सागर' में उसका चित्रण, एक वीर, साहसी, तथापि कामी और भोगी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रूप में किया गया है। इसके प्रतिकूल, 'प्रतिज्ञा' और 'स्वप्न' में वह एक आदर्श पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। यह या तो भास का किया परिवर्त्तन है, या उन्हें किसी अज्ञात सूत्र से प्राप्त चित्र है। इसी तरह 'अविमारक' और 'चारुदत्त' के नायक आदर्श चरित्र के पुरुष हैं। महाभारतीय नाटकों में भी भास ने दुर्योधन, कर्ण आदि का चित्रण आदर्श पुरुषों-सा ही किया है। इन सभी बातों से हम यही अनुमान कर सकते हैं कि भास आदर्शवादी थे, और नाटकों के माध्यम से समाज को उन्नत बनाना उनका ध्येय था। ये सभी नाटक उच्च विचारों और भावों से भरे हैं। यद्यपि सदैव लेखक के विचारों के अनुरूप ही उसका चरित्र भी नहीं पाया जाता, तथापि प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हम भास को चरित्रवान् मान सकते हैं।

भास के नाटकों में अधिकतर उत्तरी भारत का ही वर्णन मिलता है। दक्षिण का उल्लेख रामायणीय नाटकों में ही आता है, और वहाँ के स्थानों के वर्णनों में कोई ऐसी नवीनता नहीं पाई जाती जिससे ऐसा अनुमान किया जाय कि वे रामायण से नहीं लिये गये हैं। इन कारणों से हम अनुमान कर सकते हैं कि भास उत्तर भारत के ही रहने वाले थे। उनकी कृतियों में उत्तर भारत के अनेक नगरों का वर्णन मिलता है, जैसे उज्जयिनी, वैरन्ती, कौशाम्बी, हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र आदि। अनेक वर्णन ऐसे पूर्ण और सजीव हैं कि स्पष्टतः वर्ण्य वस्तु या स्थान भास के देखे हुए प्रतीत होते हैं। मानव स्वभाव और प्रकृति का चित्रण प्रत्यक्ष-सा, और ठीक-ठीक किया गया है, जिससे भास की सूक्ष्मदर्शिता स्पष्ट होती है। भास सत्य के प्रेमी, मातृ-पितृ के अनुयायी, हासप्रिय, परन्तु शीलवान् थे। उनका सम्बन्ध किसी राजा से था और वे उनके हितचिन्तक थे। भास को बौद्ध और जैनधर्मावलम्बियों में श्रद्धा नहीं थी। वे वैदिक धर्मानुयायी प्रतीत होते हैं। उनके समय में राम और कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। उनके समय में वर्णाश्रम धर्म स्थिर हो चुका था, परन्तु इन नाटकों में ब्राह्मणों का कोई विशेष आदर अथवा अधिकार दृष्ट नहीं होता, सम्भवतः उस समय स्वयम्वर की प्रथा ढीली पड़ गई थी। भास स्त्री-पुरुष-सम्पर्क के विरोधी-से दीखते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि उनके समय वरपक्ष वाले ही किसी युवती के विवाह का प्रस्ताव करते थे। प्राय भास के सभी नाटकों में हास्यरस बहुतायत से मिलता है। कालिदास आदि के नाटकों में विदूषकों का वैसा हास्यमय चित्रण नहीं हुआ है जैसा भास में। हास्योत्पादक दृश्यों के लिए अविमारक और चारुदत्त विशिष्ट हैं, परन्तु दूसरे नाटक भी इससे एकदम रिक्त नहीं हैं। भास के विषय में 'भासो हासः' वस्तुतः चरितार्थ होता है।

त्रिवेन्द्रम में पाये गये तेरहों नाटकों में निम्नलिखित एकांकी हैं—ऊरुभङ्ग, कर्णभार दूतघटोत्कच, दूतकाव्य और मध्यमव्यायोग। पञ्चरात्र तीन अङ्कों का और शेष चार से सात अङ्कों के हैं। नाट्य शास्त्र के अनुसार नाटकों का विभाजन, बनावट, विषय और संधियों पर निर्भर करता है। कुछ आचार्यों ने, प्रकरण, व्यायोग, अङ्क, डिम, ईहामृग आदि सत्रह वर्गों में नाटकों का विभाजन किया है। परन्तु साधारण पाठकों को इन सूक्ष्मताओं में जाने

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की न तो आवश्यकता है न उससे कोई लाभ ही है। इन नाटकों को किन-किन श्रेणियों में रखा जाय, इस विषय पर अनेक वाद-विवाद उठ चुके हैं। उनका भी उल्लेख करना अनुपयोगी है। पाठक की सुगमता की दृष्टि से एकांकियों का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि इस तरह भास से धीरे-धीरे परिचय बढ़ाकर, स्थिर कर सकेगा कि ये तेरहों नाटक एक ही कवि के लिखे हैं या नहीं, और प्राप्त 'स्वप्न-वासवदत्त' वही विख्यात भास-कृत 'स्वप्न' है या नहीं, जिसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई है।

इस प्रकार अध्ययन करने पर पाठक को स्पष्ट प्रतीत होगा कि भाषा का प्रसाद और उसकी सरलता एकांकियों से दूसरी श्रेणी के नाटकों में अधिक है, और प्रतिभा, अविमारक, प्रतिज्ञा, और स्वप्न में ये गुण शिखर पर पहुँच गए हैं। एकांकियों की रचना में वह कुशलता नहीं है जो दूसरे नाटकों में है। लम्बे-लम्बे सामासिक पदों का व्यवहार कालिदास के पीछे के कवियों और लेखकों की विशेषता है। इन नाटकों में ऐसे पदों का व्यवहार नहीं के बराबर ही है। रामायण और महाभारत में भी ऐसे पदों का व्यवहार नहीं पाया जाता। इस दृष्टिकोण से इन नाटकों को रामायण-महाभारत-युग का कहने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'ऊरुभङ्ग' का विषय महाभारत से लिया गया है। भीम ने दुर्योधन की दोनों जाँघों को तोड़ दिया है और बलदेव क्रुद्ध होकर, भीम को अन्याय-युद्ध का दण्ड देने के लिए तैयार हैं। इसी घटना को लेकर कवि ने यह एकांकी बनाई है। इसके मुख्य पात्र हैं बलदेव, दुर्योधन, धृतराष्ट्र, दुर्जय (दुर्योधन का पुत्र), अश्वत्थामा गान्धारी और दुर्योधन की रानियाँ। इन दृश्यों की रचना अत्यन्त सजीव, रसों का परिपाक कौशलमय तथा ओजस्वी, और पात्रों का चित्रण स्वाभाविक हुआ है। इसमें विशेषता यह है कि भास ने महाभारत के दुर्योधन का चित्रण न करके उच्च आदर्शोंवाले एक नये ही दुर्योधन का चित्रण किया है। यह दुर्योधन वात्सल्य-पूर्ण पिता, पितृ-भक्त पुत्र, उदात्त पति, न्यायशील राजा और क्षमाशील वीर के रूप में चित्रित हुआ है। भास ने दुर्योधन का चित्रण, 'दूतवाक्य', 'दूतघटोत्कच', और 'पञ्चरात्र' में भी किया है। उनमें भी दुर्योधन का चित्रण महाभारत के एकदम प्रतिकूल हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि पात्रों के चित्रण में कवि को सदा स्वतंत्रता रहती है, किन्तु कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि महाभारत के वर्त्तमान रूप धारण करने के पहले ही भास हुए थे और उन्हें यह चित्र किसी अज्ञात सूत्र से पाया था। इस विषय में जो कुछ भी तथ्य हो, यह स्पष्ट है कि 'दूतवाक्य' में श्रीकृष्ण का चित्रण वर्त्तमान महाभारत से ही लिया गया है। इसकी रचना 'ऊरुभङ्ग' से निम्न कोटि की है; फिर भी सभी पात्र सजीव तथा उनकी वाणियाँ ओजपूर्ण और भाव-भरी हैं। इसकी विशेषता यह है कि विष्णु के अस्त्र-शस्त्र मनुष्य के रूप में मञ्च पर लाये गए हैं। नाट्य कला की दृष्टि से यह मध्यम श्रेणी का है। 'दूतघटोत्कच' में भी कोई नाटकीय विशेषता नहीं है। प्रतीत होता है कि कवि ने घटोत्कच की उद्दण्डता के साथ दुर्योधन की गम्भीरता और संयम को इस लिए रखा है कि दुर्योधन का बड़प्पन अधि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निखर आये। दृश्य उस समय का है, जब अभिमन्यु मारा गया है, दुर्योधन का दल हृष्ट है, धृतराष्ट्र वंश का नाश आते देख घबरा रहा है, और पाण्डव-दल भीषण बदला लेने का निश्चय कर चुका है। इसमें सभी पात्रों की बातचीत ओज और भाव से भरी है और प्रत्येक का स्वभाव उसकी बातों से ही स्पष्ट होता है। परन्तु उस समय घटोत्कच का दौत्य ही असंगत-सा प्रतीत होता है।

'पञ्चरात्र' तीन अङ्कों का नाटक है। इसमें भी दुर्योधन का उदात्तचरित मनुष्य के रूप में वर्णन किया गया है। उसने यज्ञ किया है, और इतना दान किया है कि सभी उसकी प्रशंसा करते हैं। भीष्म, द्रोण आदि सभी उसकी धर्म-निष्ठा से सन्तुष्ट हैं। तब दुर्योधन गुरु द्रोण को दक्षिणा माँगने के लिए आमन्त्रित करता है। द्रोण तो पहले कहते हैं—'व्यपश्रयिष्ये तावद्भवन्तम्', परन्तु दुर्योधन के बार-बार विनय करने पर वह यह दक्षिणा माँगते हैं कि दुर्योधन राज्य का आधा भाग पाण्डवों को दे दे। इस पर शकुनि इसे वञ्चना कहता है। द्रोण क्रुद्ध होते हैं और कटु वचन कहते हैं, जिसपर बात बढ़ती है। भीष्म दुर्योधन और कर्ण दोनों को शान्त करते हैं। तब दुर्योधन कहता है कि वह अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेगा परन्तु शकुनि से परामर्श करके। द्रोण कहते हैं 'हन्त! विपन्नं कार्यम्!' और वे शकुनि को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। इसे देख भीष्म सोचते हैं—

"एष शिष्यस्य वात्सल्याच्छकुनिं याचते गुरुः।
एवं सान्त्वीकृतो ह्येष नैव मुञ्चति जिह्मताम्॥"

[अपने शिष्य (अर्जुन) के प्रेम से गुरु शकुनि से याचना करते हैं, परन्तु ऐसी सान्त्वना करने पर भी, शकुनि वक्रता नहीं छोड़ता।]

तब शकुनि दुर्योधन को यह परामर्श देता है कि वह यह शर्त्त करे कि यदि द्रोण पाँच दिनों के भीतर पाण्डवों का पता लगा लें, तो वह आधा राज्य दे देगा। द्रोण यह शर्त्त सुनकर कहते हैं कि जिन्हें तुम लोगों ने बारह वर्ष प्रयत्न करके भी नहीं देख पाया उन्हें मुझे पाँच दिनों में लाने को कहकर इस वर को 'अदत्त' बना रहे हो—

"ये कर्त्तुकामैश्छलनं भवद्भिः संवत्सरैर्द्वादशभिर्न दृष्टाः।
ते पञ्चरात्रेण मयोपनेया वरं ह्यदत्तं विशदाक्षरेण॥"

इसी समय विराट् का दूत आकर कहता है कि विराट् यज्ञ में नहीं शामिल हो सके, क्योंकि किसी अज्ञात मनुष्य ने रात में उनके एक सौ कुटुम्बी कीचकों का, बिना शस्त्र के, वध कर दिया है। यह सुनकर भीष्म जान जाते हैं कि यह काम भीम का ही हो सकता था और वह द्रोण को शर्त्त मान लेने के लिए परामर्श देते हैं। द्रोण मान जाते हैं। तब भीष्म दुर्योधन को यह कहकर कि विराट् से हमारा पुराना वैर है और वह इसीसे नहीं आया, विराट् के गोधन का अपहरण करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। दुर्योधन तैयार हो जाता है। कवि ने अभिमन्यु को दुर्योधन के यज्ञ में निमन्त्रित और आया हुआ दिखाया है और वह भी कौरवों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के साथ गोहरण में शामिल होता है। जब बृहन्नला के रूप में अर्जुन कौरवों को हरा देता है तो भीम अभिमन्यु को पकड़ लाता है। तब पाण्डवों का परिचय मालूम हो जाता है। उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से निश्चित हो जाता है। कुमार उत्तर धृतराष्ट्र से यह पूछने जा है कि अभिमन्यु का विवाह हस्तिनापुर में होगा कि विराट् नगर में, तो शकुनि कहता है विराट् नगर में। तब द्रोण दुर्योधन को स्मरण दिलाते हैं कि पाँच रातों के भीतर ही पाण्ड का पता मिल गया, इससे उन्हें आधा राज्य मिलना चाहिए। दुर्योधन इसे स्वी करता है।

पाठक को समझ में आ गया होगा कि इस नाटक का नाम, 'पञ्चरात्र' क्यों प नाट्य-कला की दृष्टि से इसका प्रारम्भ आकर्षक नहीं है, परन्तु जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती पाठक का आकर्षण बढ़ता जाता है। इसमें भी पात्रों का चित्रण स्पष्ट और प्रभावशाली महाभारत की कथा का जो परिवर्त्तन किया गया है, वह विचित्र है। पाश्चात्त्य आलोचकों दृष्टि में यह परिवर्त्तन हेय है। कवि ने दुर्योधन के चरित्र को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया परन्तु वह शकुनि की कुमन्त्रणा के वश में आकर अपने ध्येय को प्राप्त नहीं कर सका।

'मध्यमव्यायोग' में कोई विशेषता नहीं है। इसका प्रतिपाद्य, भीम, घटोत्कच हिडिम्बा का पुनर्मिलन है। इसके लिए कवि ने महाभारत के आदि पर्व के हिडिम्ब और बक-वध पर्वों की कथाओं को एकत्र कर दिया है। कुछ आलोचकों ने भीम-घटोत्क संवाद और युद्ध में हास्य रस पाया है, क्योंकि भीम तो घटोत्कच को पहचान जाता परन्तु घटोत्कच नहीं। अन्त में हिडिम्बा से मिलन, और घटोत्कच को भीम का पु मिलना बड़ी स्वाभाविकता से निष्पन्न किया गया है।

'कर्णभार' में कर्ण की दानशीलता, सत्यवादिता और वीरता के साथ सरलता चित्रित की गई है। कथावस्तु इतनी ही है कि जब शल्य और कर्ण युद्ध के लिए जा तो ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र उसका कवच और कुण्डल माँगता है और कर्ण दे देता है। परशुराम के शाप की कथा कर्ण सुनाता है, तो शल्य खेद प्रकट करता है, परन्तु कहता है—

"शल्यराज! अलमलं विषादेन—
हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे॥"

(इस श्लोक को भगवद्गीता २-३७ से मिलाया जा सकता है)। इन्द्र कर्ण के दानों को अस्वीकार कर देता है, किन्तु कर्ण अपने कवच और कुण्डल का दान करने है तो इन्द्र शीघ्रता से स्वीकार कर लेता है। कर्ण के मन में होता है कि यह अवश्य 'कपटबुद्धि' कृष्ण का उपाय होगा। परन्तु वह बिना झिझक के उन्हें दे डालता है। के मना करने पर कहता है—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात् सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति॥"

'कर्णभार' का कर्ण, महाभारत के कर्ण से भिन्न, जगद्वन्दनीय, लोकप्रिय मानव-श्रेष्ठ है।

[४]

ऊपर कहा जा चुका है कि भास के नाटकों में 'स्वप्न-वासवदत्त' को ही ख्याति मिलती आई है। अभी तक प्राप्त नाटकों में भी वही सर्वश्रेष्ठ है, यह निर्विवाद है, फिर भी 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'अविमारक' और 'प्रतिमा' उससे कुछ ही अंशों में कम हैं। 'चारुदत्त' अपूर्ण है, और 'अभिषेक' में कोई विशेषता नहीं है। 'बालचरित' में कथावस्तु और दुष्टात्माओं के चित्रण को छोड़कर दूसरी विशेषता नहीं है। पहले 'अभिषेक' और 'बालचरित' पर एक दृष्टि डालकर शेष नाटकों का अध्ययन करना ठीक होगा।

'बालचरित' श्रीकृष्ण का बाल चरित है। इसकी कथा-वस्तु कुछ अंशों में, महाभारत, हरिवंश आदि पुराणों से भिन्न है। इस समय यह कहना कि कवि ने किन अंशों को गढ़ा है और किन अंशों को किसी अज्ञात सूत्र से पाया है, असंभव है। नान्दी में नारायण की स्तुति है। इसके बाद, यह जानकर कि नारायण ने देवकी के गर्भ से जन्म लिया है, नारद आते हैं और देवकी की गोद में स्थित नारायण का दर्शन और प्रदक्षिण कर ब्रह्मलोक चले जाते हैं। वसुदेव को मालूम हो गया है कि कंस का वध करनेवाले का देवकी के गर्भ से जन्म हुआ है और वह देवकी के पास मुदित अवस्था में आकर उस बालक को कहीं छिपाने के लिए माँगते हैं। 'कहाँ' और 'कैसे' पर कुछ बातें होती हैं, फिर वे भाग्य पर भरोसा कर बालक को लेते हैं, और अर्धरात्रि के निबिड़ अंधकार में, जहाँ—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥"

[अन्धकार लेप की तरह अङ्गों में चिपट जाता है। आकाश से मानो अंजन बरस रहा है, और आँखें, असत् पुरुष की सेवा की तरह, निष्फल हो गई हैं।]

ऐसी अँधियारी में वे बाल कृष्ण को लेकर बाहर निकलते हैं। उन्हें यमुना के तट पर जाने की राह नहीं सूझती, परन्तु बालक से ऐसी ज्योति निकलने लगती है कि वह वहाँ पहुँच जाते हैं। यमुना का जल दो भागों में बँट कर, राह छोड़ देता है, और वसुदेव पार हो जाते हैं। उस पार गोपों की बस्ती है और नन्दगोप वसुदेव के मित्र हैं। वसुदेव रात में नन्दगोप के घर जाने में आगा-पीछा कर रहे हैं। इसी समय वह स्वयं एक नवजात लड़की का शव लिये, रोते आये हैं: वसुदेव उन्हें पुकारते हैं। वे पहले कंस के भय से कुछ हिचकते हैं, परन्तु वसुदेव के उपकारों का स्मरण कर, उनके पास जाते हैं। तब बातों से मालूम होता है कि कुछ ही पहले यशोदा एक मृत कन्या को जन्म देकर बेहोश हो गई थीं और उसको बिना जताये ही, नन्द उस शव को ले आये थे, क्योंकि दूसरे दिन इन्द्रयज्ञ होनेवाला था और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नन्द उसमें विघ्न नहीं डालना चाहता था। तब वसुदेव नन्द से अनुरोध करते हैं कि
बाल कृष्ण को रखकर, उन्हे कंस से बचावें। नन्द पहले भयभीत होते हैं, फिर स्वीकार
हैं, परन्तु शव लेने से अपने को अशुद्ध जानकर, यमुना में स्नान करने का समय माँगते
वसुदेव के कहने पर कि घोष तो सदा पवित्र ही रहते हैं, वह कहते हैं कि घोष रीति के
वह मिट्टी से ही शुद्धि कर लेंगे। वे जब मिट्टी उठाने लगते हैं तो वहीं पर पृथ्वी-गर्भ से दो
निकलती हैं और उन्हें नहला देती हैं। तब वे बाल कृष्ण को लेते हैं, किन्तु वे इतने
मालूम होते हैं कि वे उन्हें उठा नहीं सकते। इसी समय विष्णु के सब अस्त्र-शस्त्र एकत्र
हैं। इधर वसुदेव नन्द को सिखाते हैं कि तुम इस बालक से लघु होने की प्रार्थना करो
वे ऐसा करते हैं। चक्र भी ऐसी ही प्रार्थना करता है। तब बालक हलका हो जाता है
नन्द उसे उठा लेते हैं। उनके चले जाने पर वसुदेव भी जाने लगते हैं तो नन्द की
रो उठती है। वसुदेव यह सोच कर कि इसी लड़की से कंस को ठगा जाय, उसे उठा
है और ले जाकर देवकी को देते हैं। कंस ने उस भयानक रात्रि को वैसे बिताया, दूसरे
में यह दिखाया गया है। उस घोर अन्धकार में अटारियाँ गिर पड़ती हैं और अनेक
और उत्पात होते हैं, जिनसे कंस का हृदय शंका से भर जाता है। उसी समय चाण्डाल
के रूप में प्रेतात्माएँ कंस को बुलाती हैं—'आअच्छ, भत्ता, आअच्छ। अत्ताणं करणआर्ष
सह विवाहो होदु। (आओ, स्वामी, आओ; हमारी कन्याओं का विवाह तुम्हारे
होवे।) और फिर अन्तर्धान हो जाती हैं। वह अपने शयन-गृह में जाता है, तो वहाँ
को सम्मुख देखता है। दोनों में बातें होती हैं, परन्तु शाप का भीषण रूप देखकर
कंस को डर नहीं होता, और जब वह कहता है कि वह कंस के हृदय में प्रवेश करेगा,
कंस उत्तर देता है—"हास्योऽसि भोः समकरक्षुभितोर्मिमालं पातुं य इच्छसि कराञ्जलि
समुद्रम्।" इस पर शाप अन्तर्धान हो जाता है और कंस सोता है। तब शाप फिर आता
और राजलक्ष्मी भी आती है। दोनों में बातें होती हैं। शाप से यह जानकर कि विष्णु
आज्ञा से वह कंस में वास करेगा, लक्ष्मी कंस को छोड़ कर चली जाती हैं और शाप
करता है। कंस जगता है और इन अशकुनों की शान्ति कराने का निश्चय करता है।
सिलसिले में उसे देवकी की पुत्री का जन्म होना मालूम होता है और वह उसे मार
है। अङ्क ३ से ५ तक की कथा में कोई विशेषता नहीं है। तीसरे अङ्क में पूतना
वध का संकेत, हल्लीसक नृत्य का अभिनय और अरिष्टर्षभ दानव का वध दिखाया गया
चौथे अङ्क में कालियनाग पर विजय, और पाँचवें अङ्क में, मुष्टिक, चाणूर और कंस का
दिखाया गया है।

जैसे 'दूतवाक्य' में दैवी अङ्गों को मानव रूप में मञ्च पर लाया गया है, उसी
'बालचरित' में भी; परन्तु 'बालचरित' एक पग और आगे गया है। इसमें दैवी
आसुरी शक्तियों को भी मञ्च पर लाया गया है। शेक्सपियर ने 'रिचर्ड तृतीय', 'जूलियस सी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'मैकबेथ' और 'हैमलेट' में अमानुषीय शक्तियाँ और भूतों को मञ्च पर प्रस्तुत किया है। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि 'बालचरित' का द्वितीय अङ्क उस उत्कृष्टता को नहीं पा सका है, जो शेक्सपियर के दृश्यों में है। फिर भी युग का ध्यान रखते हुए, हम कह सकते हैं कि इस नवीन दिशा में भास ने यथेष्ट सफलता पाई है। यह दृश्य उस समय के दर्शकों के रोंगटे खड़ा कर देता होगा। इन नाटक के पात्रों का चित्रण भी स्पष्ट और प्रभावशाली है। अन्धकार, यमुना, भूकम्प और मथुरा में कृष्ण और बलदेव के प्रवेश के वर्णन द्रष्टव्य हैं। कुछ आलोचकों का यह कथन है कि भास ने 'बालचरित' की कथावस्तु वर्त्तमान महाभारत और पुराणों से नहीं ली है, क्योंकि इसमें न तो रासलीला की और न गोपियों के प्रेम की बात ही है। अतः वह महाभारतादि के पूर्वरूप से ली गई होगी।

'अभिषेक' बालि-वध से प्रारम्भ होता है, और रावण-वध के बाद सीता की अग्नि-परीक्षा और वहीं पर राज्याभिषेक दिखाकर समाप्त होता है। इस नाटक में एक बड़ी ही नवीनता है—सेतुबन्ध के बदले, समुद्र अपने जल को दो भागों में करके, राम के पार होने की राह दे देता है। यह दृश्य, 'बालचरित' में यमुना के जल के विभाजन के समान है। कथावस्तु अथवा उसके सँवारने में कोई विशेषता नहीं है, तथापि कतिपय वर्णन सराहनीय हैं—जैसे सन्ध्या, समुद्र, सीता, रावण आदि का वर्णन।

'अभिषेक' के साथ-साथ 'प्रतिमा नाटक' का भी अध्ययन कर लेना उचित होगा। दोनों की कथावस्तु रामायण से ही ली गई है और दोनों की समाप्ति रामाभिषेक से होती है, परन्तु दोनों में से एक भी रामायण की पूर्ण कथा नहीं देता। 'प्रतिमा' में अनेक विशेषताएँ हैं जो 'अभिषेक में नहीं हैं। इसमें कवि ने रामायण की मूल कथा में अनेक परिवर्त्तन किया है, जो नाट्य की दृष्टि से, कथा को अधिक आकर्षक, निर्दोष और प्रभावशाली बनाते हैं। कथा-वस्तु यह है—नाटक के आरम्भ में प्रतिहारी मञ्च पर आकर काञ्चुकीय को बुलाती है और महाराज दशरथ की आज्ञा सुनाती है कि श्री राम के अभिषेक की सामग्रियाँ शीघ्र एकत्र की जायँ। काञ्चुकीय कहता है कि सब ठीक हो चुका है और वशिष्ठ जी बैठे हैं—

"छत्रं सव्यजनं सनन्दिपटहं भद्रासनं कल्पितं
न्यस्ता हेममयाः सदर्भकुशमास्तीर्थाम्बुपूर्णा घटाः।" आदि (१-२)

इसके बाद, प्रतिहारी एक राजपुरुष को पुरोहित को बुलाने के लिए, और एक दासी को 'नाटक करनेवालों के पास, इस आज्ञा के साथ कि वे अभिनय के लिए तैयार हों, भेजती है। तब सीता जी की दासी, अवदातिका, नाट्यशाला का एक वल्कल हाथ में लिये, आती है। वह सोच रही है कि हँसी में उस वल्कल को चुराते यदि उसे इतना भय हुआ था, तो जो सचमुच चोरी करते होंगे उन्हें कितना भय होता होगा? फिर उसे हँसी आने लगती है परन्तु अपने को रोककर कहती है कि अकेले कैसे हँसा जाय? इसी समय

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सीता जी दूसरी दासियों के साथ आती हैं और अवदातिका की शंकित मुद्रा देखकर दासी से पूछती हैं कि वह शंकित-सी क्यों है, तो वह उत्तर देती है कि दासियों से तो अप हुआ ही करता है—कुछ किया होगा। फिर सीता जी उसके मुख पर हँसी की रेखा देख कहती हैं, 'नहीं, नहीं, वह तो हँसने जैसी लगती है।' अवदातिका अपराध की बात ले लेती है और आकर कहती है कि उसने कोई अपराध नहीं किया है। सीता जी उस क को देख लेती हैं और उसके विषय में पूछ बैठती हैं, तो भंडाफोड़ हो जाता है। सीता उस कर्म को पाप कहकर, वल्कल फेरने की आज्ञा देती हैं, परन्तु अवदातिका कहती है तो उसे मजाक के लिए लाई है। सीता जी कहती हैं, 'उम्मतिए! एवं दोसो बड्ढ (इसी तरह दोष बढ़ता है)। जब वह वल्कल फेरने जाने लगती है, तो सीता जी कौतूहल होता है कि वे वल्कल उनके शरीर पर कैसा शोभेंगे, और वह उन्हें माँग लेती और पहनती हैं। इसी समय एक के बाद दूसरी दासी आती है और रामाभिषेक का स देती है, सीता जी अपने अलङ्कारों को उतारकर उन्हें दे देती हैं। एक-न-एक बाजा का बजना बन्द हो जाता है, और इसपर बातें हो ही रही हैं कि श्रीराम स्वयं आ जाते हैं। मालूम होता है कि मन्थरा के कुछ कान में कहने पर राजा दशरथ ने अभिषेक स्थगि दिया है। इतने में सुमन्त्र घबराये आते हैं और कहते हैं कि कैकेयी के भरत का अभि माँगने पर, दशरथ बेहोश हो गये हैं। तब क्रोध से भयङ्कर, धनुष-बाण सँभाले और को स्त्री-शून्य बनाने की धमकी देते लक्ष्मण प्रवेश करते हैं और मालूम होता है कि को चौदह वर्ष का बनवास हो गया। तब राम वल्कल पहनते हैं, परन्तु सीता लक्ष्मण भी बन चलने का हठ करते हैं और अन्त में राम को उनका आग्रह मानना पड़ता है। इस अङ्क में सभी पात्रों का—दासियों से लेकर राम तक का—चित्रण अति कुशलता से किया गया है। दूसरे अङ्क में दशरथ का शोक और मृत्यु का चित्रण, अत्य करुणोत्पादक और प्रभावशाली ढंग से किया गया है। तीसरे अङ्क में भरत की और पवित्र मूर्त्ति मञ्च पर आती है और पाठक के हृदय को अपने वश में कर लेती है। कुल (मन्दिर) में दशरथ की प्रतिमा को देखकर भरत को दशरथ की मृत्यु का और रा वनवास का पता चल जाता है। इसी अङ्क के दृश्य से नाटक का नाम 'प्रतिमा नाटक' है। चौथे अङ्क में भरत और राम का चित्रकूट में मिलन होता है। इस अङ्क में रामाय एक ही विशेषता है—लक्ष्मण भरत से बड़े बताये गये हैं। राम और भरत की बातचीत ग्राही है और उसमें भरत का महत्त्व ऐसा निखर आता है कि राम कह उठते हैं—

"सुचिरेणापि कालेन यशः किञ्चिन्मयार्जितम्।
अचिरेणैव कालेन भरतेनाद्य संचितम्॥"

पाँचवें अङ्क में कवि ने रामायण की कथा को फिर बदल दिया है। रामाय अनुसार सीताजी स्वर्ण-मृग को देखती हैं और उसे मार कर लाने के लिए रामजी को

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करती हैं। जब वह 'हा लक्ष्मण' चिल्लाकर मरता है तब सीताजी यह सुनकर समझती हैं कि राम पर कोई विपत्ति आई है और वह लक्ष्मण से कहती हैं कि अपने भाई की सहायता के लिए जाओ। जब वह जाना नहीं चाहते, तो सीताजी उन्हें कटु बातें कहकर जाने पर बाध्य करती हैं। भास ने यह सब बदल दिया है। लक्ष्मण किसी आवश्यक काम से दूसरी जगह गये हैं। राम इस चिन्ता में पड़े हैं कि वे अपने पिता का श्राद्ध उस वन में कैसे उचित रूप से करें। इसी समय ब्राह्मणवेशधारी रावण वहाँ आता है और सीता और राम अर्घ्यादि से उसका स्वागत करते हैं और जब वह अपनी विद्वत्ता दरसाते हुए कहता है कि वह 'प्राचेतस श्राद्धकल्प' भी जानता है, तो राम पूछते हैं कि अपने पिता का श्राद्ध कैसे करना चाहिए। वह स्वर्ण-मृग का माहात्म्य बताता है, और कहता है कि वह हिमालय पर रहता है। उसी समय एक स्वर्ण-मृग देख पड़ता है और राम, सीता को अतिथि-सत्कार करने की आज्ञा देकर, उसके पीछे दौड़ जाते हैं। अकेली सीता को भय लगता है और वह कुटी में घुसने लगती हैं, तब रावण अपना रूप धारण कर उन्हें पकड़ लेता है। छठे अङ्क में रावण-जटायु का युद्ध, सीता-हरण के संवाद से भरत का दुःखी होना, और इसी सिलसिले में कैकेयी के कलंक का परिमार्जन सम्पादित हुआ है। सप्तम अङ्क में राम रावण को हराकर, सीता के साथ जनस्थान फिर पहुँच गये हैं। सीताजी तापसियों से मिल-मिलकर प्रसन्न हो रही हैं। जब बड़ी सेना के साथ भरत आ जाते हैं वहीं पर कैकेयी की आज्ञा से राज्याभिषेक सम्पन्न हो जाता है।

'प्रतिमा' के छठे अङ्क तक कहीं भी शिथिलता नहीं आई है और कवि ने सभी जगहों पर नवीनता और कला की अद्वितीय चातुरी दिखाई है। जहाँ पर रसों की बहुलता है, वहाँ पर चुनाव करना कठिन हो जाता है, फिर भी अं० २, ७, १२; अं० ३-३ आदि द्रष्टव्य हैं। सातवें अङ्क में कोई विशेषता न होने पर भी रामाभिषेक के नाते दर्शकों को प्रिय होता ही होगा।

[५]

'अविमारक' की कथा मनगढ़न्त है, जिसका एक रूप 'कथा सरित्सागर' में भी मिलता है। इसमें सौवीरराज के पुत्र विष्णुसेन (जो बचपन में ही एक दैत्य का वध करने के कारण, 'अविमारक' नाम से प्रसिद्ध हो गया था) और कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी के परस्पर प्रेम की कथा कही गई है। नाटक का क्षेत्र कुन्तिभोज की राजधानी वैरन्ती है। पहले अङ्क में कुन्तिभोज और उनकी रानी के बीच कुरंगी के विवाह के विषय में बातें हो रही हैं और काशिराज के दूत को, जो विवाह का प्रस्ताव लेकर आया है, क्या उत्तर दिया जाय, इसपर भी विचार हो रहा है, जब नेपथ्य में कुछ हल्ला होता है तब मन्त्री कौञ्जायन आता है और राजोद्यान, जहाँ कुरंगी बिहार के लिए गई थी, वहाँ की घटनाओं का लम्बा वर्णन सुनाता है। उसका सारांश यह है कि जब राजकुमारी, बिहार के बाद वापस आ रही थीं, तो एक मदमस्त हाथी, उनकी सवारी पर टूटा, दास-दासियाँ भाग

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चलीं, परन्तु भाग्यवश, एक सुन्दर युवक जो अपने को अन्त्यज बताता था, आया और हाथी पर प्रहार किया, जिससे वह सवारी को छोड़कर उसी पर टूट पड़ा। तब राजा कुरंगी की सवारी लेकर भाग गये। अविमारक उस हाथी के साथ, कुछ देर तक, खेलता रहा, और चला गया। यह सुनकर राजा-रानी मन्त्री से सहमत हुए कि ऐसा काम अन्त्यज नहीं कर सकता था। बातों ही बातों सौवीरराज की बात उठती है और मालूम होता कि न उनका न उनके पुत्र का ही कहीं पता चलता है। सौवीरराज कुन्तिभोज के मित्र सम्बन्धी हैं, इससे उनकी खोज करने की आज्ञा देते हैं। दूसरे अङ्क के प्रवेशक से यह होता है कि किसी ऋषि के शाप से सौवीरराज अपने नगर को छोड़कर अन्त्यज की रहते हैं परन्तु अविमारक, इस स्थिति को भूलकर कुरंगी के प्रेम में पड़ गया है और मित्र विदूषक से भी बातें नहीं करता। ऐसे विचारते हुए विदूषक की एक राजदासी हो जाती है और वह उसे उल्लू बनाकर उसकी अँगूठी लेकर चल देती है। इसी समय की धाई और उसकी दासी नलिनिका, कुरंगी की कामावस्था पर व्याकुल होती, अवि की योग्यता, अयोग्यता पर विचारती, अविमारक के घर की ओर जाती दृष्ट होती हैं। आकाशवाणी से मालूम होता है कि अविमारक उच्चकुल का है। इस तरह संशयमुक्त अविमारक के घर में प्रवेश करती हैं और अविमारक को चुपचाप बैठे और एकाग्र हो की सुन्दरता का वर्णन करते देखती हैं। अविमारक उसके रूप के भुलाने का प्रयत्न कर चुका है परन्तु असमर्थ हो, अब उसी के ध्यान में सब भूल रहा दासियों के बार-बार सम्बोधन करने पर तो वह स्वस्थ होता है। तब वे कुरंगी अवस्था को सुनाकर, अविमारक को कन्यापुर (हवेली) चलने के लिए निमन्त्रित हैं। तब अविमारक का दुःख शान्त होता है और अर्द्धरात्रि के समय आने का देता है। तीसरे अङ्क में कुरंगी की कामावस्था दिखाई गई है और उसके अविमारक चोरवेश में आता है। सोती हुई वैरन्ती के राजमार्गों, अट्टालिकाओं आदि वर्णन करता हुआ कन्यापुर में प्रवेश करता है और कुरंगी से मिलता है। कवि ने इस अपनी श्रेष्ठता दिखाई है। इस अङ्क के १,३,४,७, १७ श्लोक द्रष्टव्य हैं। चौथे अङ्क के से मालूम होता है कि अविमारक को कन्यापुर में रहते एक वर्ष बीत गया; तब राजा मालूम हो गया कि अन्तःपुर में कोई पुरुष रहता है। किसी-किसी तरह दासियों ने अवि को बाहर भगा दिया; परन्तु दोनों पक्ष में जुदाई असह्य हो जाती है। अविमारक हत्या पर तुल जाता है और वह वन को जलाती अग्नि को देखकर उसमें प्रवेश करता परन्तु जलता नहीं। तब वह पर्वत पर से कूदने का निश्चय करता है। परन्तु उसी उसे मेघनाद विद्याधर और उसकी स्त्री से भेंट हो जाती है। वह विद्याधर उसे एक देता है जिसे दाहिनी उँगलियों में पहनने से वह अदृश्य हो जायगा, और बाईं उँगलि पहनने से प्रत्यक्ष। वहाँ से लौटते समय अविमारक विदूषक को एक शिला पर सोया

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। उसे जगाने पर मालूम होता है कि वह अविमारक ही की खोज में निकला था। तब दोनों कन्यापुर की ओर चलते हैं। इस अङ्क में ग्रीष्म के ताप का वर्णन ४, ५, पर्वत ६, और आकाश से उतरते हुए विद्याधरकृत पृथ्वी का वर्णन १०, ११, द्रष्टव्य हैं। अङ्क ५ में कुरंगी अपने दुःख को असह्य समझकर आत्महत्या करने का निश्चय करती है। दासियों को हटाकर वह फाँसी लगाने लगती है कि अविमारक विदूषक के साथ पहुँच जाता है और पुनर्मिलन होता है। छठे अङ्क में बताया गया है किसी राज का पता न पाकर कुन्तिभोज कुरंगी का विवाह काशिराज के पुत्र से स्थिर कर चुके हैं और वह आ भी गया है। परन्तु यह गोलमाल देखकर नारद जी स्वयं आते हैं क्योंकि कुन्तिभोज और सौवीरराज पर उनकी बड़ी दया है। इधर सौवीरराज के शाप की अवधि समाप्त हो गई है और वे भी अविमारक का पता न पाकर, कुन्तिभोज के पास सहायता के लिए आते हैं। नारद आकर सभी गुत्थियों को सुलझा देते हैं और उनकी आज्ञा के अनुसार कुन्तिभोज अपनी छोटी बेटी का विवाह काशिराज के पुत्र से और कुरंगी का विवाह अविमारक से कर देते हैं।

इस नाटक में नाटककार की दक्षता आदि से अन्त तक प्रदर्शित हुई है। एक ही स्थान पर लम्बे सामासिक पद आये हैं, जो कुछ खटकते हैं। शेष समस्त रचना 'प्रतिमा' की तरह सरल, स्वाभाविक और प्रतिभाशाली है। पात्रों का चित्रण भी स्पष्ट है और कवि के मानव-स्वभाव का गहरा परिचय दरसाता है। परन्तु एक दूसरी बात भी खटकती है। वह है कुरंगी और अविमारक का अविवाहित अवस्था में बरसों का सहवास। परन्तु इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जिस समय की कथा है उस समय गान्धर्व विवाह प्रचलित था और इसीसे नारद मुनि भी अविमारक को दोषी न कहकर केवल गुत्थी सुलझाते हैं।

[६]

जैसा ऊपर कहा गया है 'चारुदत्त' अपूर्ण है और इसकी कथा-वस्तु और रचना शूद्रक के विख्यात 'मृच्छकटिक' के समान है। इसके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठ चुके हैं, जैसे—

(१) 'चारुदत्त' पहले लिखा गया, कि 'मृच्छकटिक'? दूसरे शब्दों में भास पहले हुए कि शूद्रक?

(२) 'चारुदत्त' पूर्ण नाटक है कि अपूर्ण? इसकी अपूर्णता 'मृच्छकटिक' के दस अङ्कों को देखकर ही स्थिर की गई है।

(३) दोनों में कौन श्रेष्ठ है? इत्यादि।

स्पष्ट है कि विना 'मृच्छकटिक' के गहरे तुलनात्मक अध्ययन के 'चारुदत्त' पर विशेष कुछ लिखना ठीक नहीं। यह लेख भी काफी बड़ा हो गया। इससे इसका विशेष अध्ययन शूद्रक-सम्बन्धी लेख के लिए छोड़ देना ही ठीक है। यहाँ इतना ही कह देना उचित है कि 'प्रतिमा', 'अविमारक' आदि के सभी गुण 'चारुदत्त' में पाये जाते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शेष दो नाटकों—'स्वप्नवासवदत्त' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'—का साथ ही साथ अध्ययन करना ठीक जँचता है, क्योंकि दोनों की कथावस्तु एक ही कहानी के दो भाग हैं। उदयन की कथा 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथा' के आधार पर बनी दूसरी पुस्तकों में, विस्तारपूर्वक लिखी गई है। कुरुवंशी, शतानीक-पुत्र उदयन, वत्सदेश के राजा थे और उनकी राजधानी, कौशाम्बी (आधुनिक जिला इलाहाबाद का कोसम ग्राम) थी। जब उदयन जवान हुए और शतानीक की मृत्यु के बाद वे सिंहासन पर बैठे, तो उस समय उज्जयिनी में महासेन चण्डप्रद्योत और पाटलिपुत्र में अजातशत्रु और उसके बाद दर्शक राज्य कर रहे थे। उदयन शीघ्र ही अपने सौन्दर्य, वीरता आदि उत्कृष्ट पुरुष-गुणों के लिए विख्यात हो गये। उनके अनेक गुणों में, वीणा बजाने की अद्वितीय कुशलता और उसी से हाथी को मोहित कर वश में करने की कला, उनकी लोकप्रियता को भारत भर में फैला दी थी। प्रद्योत को महासेन की उपाधि इसलिए मिली थी कि उसकी सेना की बराबरी की सेना किसी दूसरे के पास न थी। उसने बहुतेरे राजाओं को जीत कर अपने अधीन बना लिया था। 'उसे एक पुत्री वासवदत्ता थी, जो अपने रूप और गुणों के लिए विख्यात थी। दर्शक की एक बहन थी (भास ने उसे दर्शक की पुत्री बताया है) जिसका नाम पद्मावती था। महासेन बहुत दिनों से चाहता था कि वासवदत्ता का विवाह उदयन से हो, परन्तु कुल और गुण का अभिमानी उदयन उदासीनता प्रकट करता हुआ, कोई प्रस्ताव नहीं भेजता था। एकबार महासेन ने एक दूत को इस सन्देश के साथ भेजा कि तुम आकर मेरी पुत्री को वीणा सिखाओ। इसे अपमान जानकर उदयन ने कहला भेजा कि अपनी लड़की को मेरे पास भेज दो। महासेन को स्पष्ट होने लगा कि विना उदयन को वश में किये उसकी अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। वह उदयन के शिकार और हाथी पकड़ने के व्यसन को जानता था, इसलिए उसने सोच-विचार कर एक षड्यन्त्र रचा। उसने लकड़ी का एक बहुत बड़ा चलने वाला हाथी बनवाया, और उसके पेट में बहुत से सैनिकों को छिपाने का प्रबन्ध किया। जब उदयन दोनों राज्यों की सीमा पर स्थित जंगलों में आखेट के लिए आया, तो उसने गुप्तचरों को शिकारी के रूप में भेजा और कहलाया कि अमुक वन में अमुक रंग का आश्चर्यजनक हाथी देखा गया है। महासेन का निशाना ठीक बैठ गया। उदयन अपने कौतूहल को न रोक सका और अपनी वीरता और वीणा पर भरोसा करता, दो चार सिपाहियों के ही साथ, उस छद्मवेशी शिकारी के पीछे चल पड़ा। अपने मित्र और मन्त्री रुमण्वत की बातों पर ध्यान ही नहीं दिया। नकली हाथी के स्थान पर पहुँच कर, वह घोड़ा से उतरा, और वीणा बजाता उसकी ओर चला। इस समय सन्ध्या हो गई थी और उसे पूरा धोखा हो गया। जब वह पास आ गया तो वे महासेन के छिपे सैनिक हाथी में से निकल पड़े और उसे घेर लिया। कुछ युद्ध के बाद वह बन्दी हो गया। महासेन ने उदयन के शिष्टाचार में कमी नहीं की, परन्तु उसे पहरे में रखा। कुछ दिनों के बाद महासेन ने उदयन से यह आग्रह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किया कि वे वासवदत्ता को वीणा सिखाएँ और उसके राजी होने पर वासवदत्ता उनसे शिक्षा प्राप्त करने लगी। एक दूसरे को देखते ही दोनों में प्रेम हो गया। उधर जब कौशाम्बी में खबर पहुँची तो उदयन के महामन्त्री यौगन्धरायण उसे छुड़ाने का दृढ़ निश्चय करके, मन्त्रिमण्डल और गुप्तचरों के साथ वेश बदल कर उज्जयिनी आया। वहाँ वह प्रयत्न कर उदयन से मिलता है और ऐसा षड्यन्त्र रचता है कि एक रात को उदयन वासवदत्ता को लेकर भाग जाते हैं। प्रद्योत की अभीष्ट-सिद्धि हो गई और उसने अपने पुत्र को भेजकर, कौशाम्बी में कन्यादान और विवाह कर दिया। कामुक उदयन वासवदत्ता के प्रेम में ऐसे लीन हो गये कि शत्रु उठ खड़े हुए और यौगन्धरायण की इच्छा कि उदयन चक्रवर्त्ती हों, निष्फल होती-सी प्रतीत होने लगी। इस अवस्था में उसने निश्चय किया कि उदयन का पुनर्विवाह मगध के शक्तिशाली राजा दर्शक की भगिनी, पद्मावती के साथ किया जाय। वह वासवदत्ता के उच्च गुणों को जानता था, इसलिए उसने समझा-बुझाकर उसे इस बात पर सहमत कराया कि कुछ दिनों के लिए राजा से अलग होना आवश्यक था, जिसमें वे राज-कार्य्य देखें और चक्रवर्त्ती पद पा सकें। जब वासवदत्ता, अपने हृदय पर पत्थर रखकर, राजी हो गई, तो मन्त्रियों ने उदयन को लावणक वन में, जो मगध की सीमा पर था, शिकार करने के लिए उत्साहित किया। आखेट-प्रिय उदयन राजी हो गये। रानी और राजा लावणक गये। जब एक दिन उदयन शिकार खेलते दूर चले गये, तो यौगन्धरायण ने वासवदत्ता के गृह में आग लगा दी और स्वयं, वासवदत्ता और विदूषक के साथ, वेश बदलकर, गुप्त रीति से मगध में चला गया। बचे मन्त्रियों ने षड्यन्त्र के अनुसार हल्ला कर दिया कि यौगन्धरायण, विदूषक और वासवदत्ता तीनों जलकर भस्म हो गये। जब उदयन लौटे तो यह काण्ड देखकर, स्वयं जान देने पर तुल गये और उनकी रक्षा करते-करते, मन्त्रियों की जान पर आ पड़ी। इधर यौगन्धरायण, ब्राह्मण के वेश में, वासवदत्ता को पुत्री बनाता पाटलिपुत्र पहुँचा और पद्मावती को वाग्बद्ध करके वासवदत्ता को कुछ दिनों के लिए उसके पास छोड़ आया। जब मगधराज ने सुना कि वासवदत्ता जल मरी, तो उसने पद्मावती के साथ विवाह करने का प्रस्ताव उदयन के पास भेजा। रुमण्वत आदि बचे मन्त्रियों ने उदयन को समझा-बुझाकर राजी करा लिया और विवाह हो गया। वासवदत्ता पद्मावती के साथ ही कौशाम्बी लौटी और तब यौगन्धरायण भी प्रकट हुआ और सभी बातें उदयन को समझाई गईं।

ऊपर की संक्षिप्त कथा 'कथासरित्सागर' की है। भास ने इस कथा में कुछ परिवर्त्तन किया है। 'प्रतिज्ञा' का विषय उपर्युक्त कथा का प्रथम भाग है। इसमें नायक, यौगन्धरायण है, यद्यपि कथा उन्हीं की है, वासवदत्ता और उदयन मञ्च पर नहीं आते। हाथीवाले षड्यन्त्र में पड़कर उदयन का बन्दी होना तो मञ्च पर दिखाया नहीं जा सकता था; परन्तु वासवदत्ता और उदयन का प्रेम और साथ-साथ पलायन दिखाया जा सकता था; परन्तु कवि ने यह भी दूसरे पात्रों से कहला दिया है। इस नाटक में कृत्रिम हाथी के बदले

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नील रंग के सच्चे हाथी का वर्णन है, और महासेन के सैनिक जंगल में, न कि हाथी में छि
हैं। पहले अङ्क में उदयन के बन्दी होने की सूचना यौगन्धरायण को मिलती है और वह
छुड़ाने की प्रतिज्ञा करता है। इसीसे नाटक का नाम 'प्रतिज्ञा' पड़ा है। दूसरे अङ्क
महासेन एक आदर्श राजा, पति और पिता के रूप में चित्रित हुआ है। विवाह-योग्य कुमारि
की माताओं के हृदय का कैसा यथार्थ वर्णन है—

"अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः।
धर्म्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः॥" (२.७)

वासवदत्ता के विवाह के लिए वर चुनने की बातें हो रही हैं, जब महासेन को
मिलती है कि उदयन पकड़ लिये गये। वह पूर्ण आदर-सत्कार की व्यवस्था के साथ
घावों के उपचार का भी प्रबन्ध करता है। तीसरे अङ्क में कुछ हास्य-रस के दृश्यों के
यौगन्धरायण को षड्यन्त्र रचने में तत्पर दिखाया गया है। उसे मालूम हो जाता है
उदयन वासवदत्ता के प्रेम में पड़कर, उसके षड्यन्त्र में सहयोग नहीं देते। तब वह
प्रतिज्ञा करता है कि दोनों ही को उज्जयिनी से ले जायगा। चौथे अङ्क के प्रवे
में यौगन्धरायण के गुप्तचर कुछ हँसोड़ मालूम होते हैं। उदयन वासवदत्ता को लेकर नग
बाहर हो जाते हैं। इसके बाद, कुछ युद्ध का वर्णन, यौगन्धरायण का बन्दी होकर महासेन
सत्कृत होना और विवाह का प्रस्ताव भेजना, दिखाया गया है। इसी अङ्क में 'नवं
सलिलैः सुपूर्णम्' वाला विख्यात श्लोक (४.६) आया है; और यौगन्धरायण का कहा हुआ
'कृतापराधस्य हि सत्कृतिर्वधः' (४.७) कहावत-सा हो गया है।

'प्रतिज्ञा' की रचना से प्रतीत होता है कि भास उदयन को बन्दी के रूप में मञ्च
लाना नहीं चाहते थे; अतएव उदयन की कथा में, उदयन को ही गायब कर दिया है। पर
रचना की चातुरी ऐसी है कि पाठक अथवा द्रष्टा का ध्यान मञ्च के पात्रों से अधिक
की कथा पर ही बँधा रहता है। यौगन्धरायण का चित्र पुष्ट लकीरों में है। उसकी राजभ
बुद्धिमानी, साहस आदि उसे नरश्रेष्ठ बनाते हैं।

'स्वप्नवासवदत्त' में भास की कला पूर्णता पर आ गई है। इसकी कथा-वस्तु
भी भास ने थोड़ा परिवर्त्तन किया है। वेश बदले वासवदत्ता और यौगन्धरायण, पाटलि
के बाहर के जंगल में स्थित एक आश्रम पर (न कि पाटलिपुत्र में) आते हैं, जहाँ राजा
माँ, संन्यास धारण करके रहती हैं। उन्हीं से भेंट करने और दान देने के लिए पद्मा
वहीं पर आती है और घोषणा कराती है कि जो कोई कुछ चाहता हो, उसे माँगे, वह
उसे दी जायगी। वहाँ के निवासी तो कुछ माँगते नहीं, परन्तु यौगन्धरायण अपनी
सिद्धि के लिए, यह भिक्षा माँगता है कि उसकी बेटी (वासवदत्ता), जिसका पति
देश गया है, कुछ दिन पद्मावती की शरण में रहे। मन्त्री के मना करने पर भी सत्यवादि
पद्मावती इसे स्वीकार करती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसके बाद यौगन्धरायण को, एक ब्रह्मचारी से उदयन की अवस्था का पता चलता है। यहाँ पर कवि ने अनेक पात्रों को चित्रित करने में अद्वितीय कुशलता दिखाई है—विशेषतः वासवदत्ता और पद्मावती के। दूसरा अङ्क छोटा है। इसमें वासवदत्ता को मालूम हो जाता है कि पद्मावती उदयन को अपना पति बनाना चाहती है। उसे यह खबर भी मिलती है कि उदयन पाटलिपुत्र आ गये हैं और राजा ने पद्मावती का विवाह उन्हीं के साथ करना स्थिर किया है। तीसरे अङ्क से यह खबर मिलती है कि पद्मावती और उदयन का विवाह सम्पन्न हो गया। कवि ने वासवदत्ता के चित्र को और भी मनोरम बनाया है। चौथे और पाँचवें अङ्कों में इस नाटक की मुख्य घटनाओं का चित्रण है और उदयन, पद्मावती और वासवदत्ता के स्वभावों का उन्मीलन पूर्ण हो जाता है। पाँचवें अङ्क में वह दृश्य है जिससे इस नाटक का नाम 'स्वप्न' पड़ा है। नव विवाह से उदयन में वासवदत्ता की स्मृतियाँ जगकर उसे विक्षिप्त करती हैं। पद्मावती के सर में दर्द की बात सुनकर, उदयन समुद्रगृह आते हैं, जहाँ दासियों ने कहा था कि पद्मावती लेटी है। परन्तु वहाँ आने पर बिस्तर खाली मिलता है और उदयन उसी पर सो जाते हैं। उधर वासवदत्ता भी सुनती है कि पद्मावती पीड़ित है और उसे देखने के लिए वह भी समुद्रगृह आती है। वहाँ किसी को सोया देखकर, वह समझती है कि यह पद्मावती है। उसे गहरी नींद में पाकर वह भी लेट जाती है। तब तक उदयन, स्वप्न में ही 'हा वासवदत्ता !' कहते हैं और वह जल्दी से उठ जाती है। परन्तु तन्द्रालु उदयन प्रश्न करने लगता है, और उसके दुःख से प्रभावित होकर, वासवदत्ता उत्तर दे बैठती है। यह दृश्य जिस चातुरी से रचा गया है, उसे देखकर, 'स्वप्न' की प्रशंसा समझ में आने लगती है। छठे अङ्क में भी वही चातुरी देखी जाती है। इसी में उदयन का वासवदत्ता और यौगन्धरायण के साथ पुनर्मिलन होता है। इस नाटक में अनेक स्मरणीय वाक्य हैं जिन्हें पाठक स्वयं देखेंगे; जैसे आश्रम-वर्णन १.१२, सन्ध्या-वर्णन १.१६, सारस-पंक्ति ४.२, अनुराग ४.६ आदि।

इस नाटक-चक्र के दूसरे नाटकों के विषय में जो कुछ भी कहा जाय परन्तु 'अविमारक', 'प्रतिमा', 'प्रतिज्ञा', और 'स्वप्न-वासवदत्त' के रचयिता की दक्षता और उच्च कवित्व-शक्ति के विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इनकी उत्कृष्टता ऐसी है, कि उन्हें 'भास-कृत' कहने में भास की मर्य्यादा-हानि नहीं हो सकती। तथापि जब हम देखते हैं कि पहले के समालोचकों ने भास के तेरह श्लोकों को उद्धृत किया है, जिनका वर्त्तमान नाटकों में कहीं पता नहीं है, तो उन्हें भास-कृत कहने में संशय का होना स्वाभाविक है। पुसलकर आदि ने इस संशय को दूर करने का प्रयत्न किया है, किन्तु फल सन्तोषजनक नहीं हुआ है।

[७]

नाटकों को भास-कृत मानकर, भास की विशेषताओं की ओर ध्यान देना चाहिए। भास के कुछ विशिष्ट गुण नीचे दिये जाते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(१) चरित्र-चित्रण—इन नाटकों में २३० पात्रों का चित्रण हुआ है, परन्तु इनमें से भी नाम-मात्र का पात्र नहीं है। प्रत्येक पात्र में कुछ विशिष्टता है जो उसे दूसरे पात्रों से अलग कर, एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व से अलंकृत करता है—चाहे वह पात्र एक दाई या नौकर ही क्यों न हो। एकांकी नाटकों में यह विशेषता कम है जैसे—'दूतवाक्य' में, दुर्योधन के चित्रण के सामने कृष्ण का, 'कर्णभार' के कर्ण के सामने शल्य और इन्द्र का चित्रण कुछ फीका-सा पड़ जाता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि कवि ने जानकर ऐसा किया है क्योंकि वे भी केवल नाममात्र के पात्र नहीं हैं। इनमें भी कुछ व्यक्तित्व है ही। परन्तु 'ऊरुभङ्ग' के सभी पात्र स्वाभाविक और सजीव हैं—बलदेव, धृतराष्ट्र, रानियाँ, दुर्जय, गान्धारी और अश्वत्थामा। चित्रण की कुशलता बड़े नाटकों में शिखर पर पहुँच जाती है। 'प्रतिमा', 'अविमारक' 'प्रतिज्ञा' और 'स्वप्न' में मुख्य पात्रों की तो बात ही क्या है, छोटे पात्र भी स्वाभाविक और सजीव हैं; कवि ने उनके भी चित्रण में लापरवाही नहीं की है। 'प्रतिमा' में देवकुलिक छत्राकार, चेटियाँ, दुमन्त्र, कौशल्या, कैकेयी आदि द्रष्टव्य हैं। 'अविमारक' में विदूषक चेटियाँ, गन्धर्व आदि उस समय के समाज से ही लिये गये-से प्रतीत होते हैं। 'प्रतिमा' और 'स्वप्न' में तो यह कला पराकाष्ठा पर है। इतने पात्रों को पृथक्-पृथक् व्यक्ति दे देना खेल नहीं है।

(२) नाट्य-घटनाओं का चुनाव—नाट्यवस्तु के चुनने में भास बड़े दक्ष हैं। इन तेरहों नाटकों में ऐसे ही दृश्यों की बहुतायत है जो मञ्च पर भलीभाँति दिखाये जा सकें। कहीं-कहीं पर अवश्य शिथिलता आ गई है, जैसे 'प्रतिमा' के अन्तिम दृश्य में, और 'अभिषेक' और 'बालचरित' के अनेक दृश्यों में। इनके विषय में यह कहा जा सकता है कि दर्शकों की रुचि के अनुसार ही कुछ अङ्क लिखे गये होंगे।

(३) कविता—भास की कविता उत्कृष्ट है, यह सभी मानते हैं। कालिदास की भाँति भास भी केवल अलङ्कारों की खोज में परेशान नहीं दिखते। उनका, रसों का सम्पादन प्रभावशाली है। थोड़े शब्दों में बड़ी बातों को स्पष्ट कर देने में तो उनकी दक्षता अद्वितीय है। उदाहरणार्थ—हत्थिहत्थचञ्चलानि पुरुसभग्गानि होन्ति—(अवि०), अच्छलो स्नेहो मा (अवि०), स्थितः शरीरेण मृतः स जीवति (चारु०), चीरमात्रोत्तरीयाणां किं दृश्यं वनवासिनां (प्रतिमा), उक्तज्ञाः खलु नृशंसाः (बाल०) सान्त्वं हि दुर्विनीतानामौषधम् (पञ्च०) आदि।

(४) भास की भाषा की सरलता और स्वाभाविकता पहली ही दृष्टि में स्पष्ट हो जाती है। भाषा का माधुर्य और प्रसाद उच्चकोटि के हैं। ऐसे अनेक उदाहरणों का उल्लेख किया गया है।

(५) प्रकृति—प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में, कवि ने अपने गंभीर प्रकृति-ज्ञान को दरसाया है। इसके भी अनेक उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

———

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संत सूरजदास और उनकी रचनाएँ

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

(गतांक से आगे)

[३]

जब हम संत सूरजदास की भाषा का विश्लेषण करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि उन्होंने तुलसी के 'रामचरित मानस' की 'अवधी' और उसकी शैली को मुख्य रूप में अपनाया है तथापि जिन पदों अथवा शब्दों को उन्होंने अपने काव्य में प्रश्रय दिया है, वे जनता की प्रचलित बोली और प्रयोगों से लिये गए हैं। यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी घनिष्टता सारन, चम्पारण तथा शाहाबाद में बोली जानेवाली ग्रामीण भोजपुरी से थी। फलतः उन्होंने अनेकानेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें हम आज तथाकथित शिष्ट साहित्य में स्थान नहीं दे सकते।

यहाँ हम कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें ऐसे भी शब्द हैं जो अपने तद्भव रूप में गाँवों में प्रचलित हैं, किन्तु लिखित साहित्य में तत्सम रूप में ही प्रयुक्त होते हैं :—

'चौथा मास गोड़ दुइ कीन्हा।' ५. क
'अबटन मलि दलि लावहि तेला।' ५. ख
'सोने के सुतुही घोंटि पियावे।' ५ ग
'चन्दन खटोलना गंठि देहु जोड़ा।' ५ घ
'कब मोर बबुआ होइहैं सनेही।' ५. ङ
'आंधा - आंधी के कुइआँ में नाऊँ।' ५. च
'झोंटा पकरिके दीन्ह निकारी।' ५. छ
'रूसि के त्रिया जाइ तेहि ठाँई॥' ५. ज
'एक हंडिया दुइ पेट गठु जोरा।' ५. झ
'एकसर तिरिया नैहर कस जासी।' ५. ञ
'लेहु पण्डित तुम आपन धीया।' ५. ट
'चिरुआ एक पिलावहु पानी।' ५. ठ
'हेठ धरौं तो बाघ खिव खाई।' ५.३
'ब्राह्मन वेद पढ़े झकझारी।' १७.७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'आनि सिंगासन आसन दीन्हा ॥' २६.१
'जग्य तुरेआ (तुरग) तुम लावहु जाई ।' ३८.६
'सो अछोप नर जानहू ।
'जो नहि गंगा नहान ॥' ५१.
'सूते सेज बिछाई ।' ५३. *

ऊपर जो उद्धरण दिये गए हैं, उनमें दो या तीन शब्दों की ओर हम पाठकों का ध्य विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहेंगे। वे हैं—'झोंटा', 'झझकारि' और 'अछोप'। 'झोंटा' ह का प्रयोग हम लिखित साहित्य में नहीं करना चाहेंगे, किन्तु जो ग्रामीण वातावरण ग्रामीण भाषा से परिचय रखते हैं, वे इस बात का साक्ष्य देंगे कि जिस समय स्त्रियाँ आप में लड़ती हैं उस समय केश चिकुर आदि परिष्कृत शब्द सैकड़ों की संख्या में क्यों नहीं प्र किये जायँ, किन्तु उनमें वह सामर्थ्य और वह शक्ति नहीं आएगी, जो 'झोंटा' में है। हम अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं कि शिष्ट साहित्य की परिष्कृति के तुषारपात से यदि जीते-जागते, लहलहाते पौधे मुरझा जायँ तो हमारी भाषा का शस्य-श्यामल क्षेत्र कितना ह लगेगा। इसी प्रकार का दूसरा शब्द लीजिए—'झझकारि'। पंक्ति है—'ब्राह्मण बेद झझकारी'। बहुतेरे ब्राह्मण पण्डितों को एक साथ मिलकर वेद-मंत्रों का तार स्वर से पढ़ना ऐसी परिस्थिति है जिसका पूर्ण और सजीव चित्र शायद इस शब्द के अतिरिक्त कोई दू शब्द प्रस्तुत नहीं कर सकता। 'जोर से', 'उच्च स्वर से', 'तार स्वर से', 'घोर निर्घोष क आदि अनेकानेक शब्द अथवा शब्द-समूह आप रखें, किन्तु आप देखेंगे कि वे 'झझकारि' सामने बगल झाँकने लगेंगे। 'अछोप' शब्द भी ऐसा ही है, जिसका प्रयोग हम तो नहीं क किन्तु जिस वातावरण में कवि ने किया है, उसमें अत्यन्त उपयुक्त है।

सन्त सूरजदास के प्रयोगों में अनेक ऐसे प्रयोग हैं, जो भाषा-विज्ञान के अध्ययन दृष्टि से महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार के कुछ शब्दों का विवेचन अनपेक्षित नहीं होग उदाहरणतः—

'प्रिथिसी दलमल हाथी घोड़ा।'

इस पद में 'प्रिथिमी' और 'दलमल' ये दोनों क्रमशः पृथिवी और दलबल के रू न्तर हैं। इन दोनों शब्दों में ध्वनि-विज्ञानगत सानुनासिकत्व का सिद्धान्त काम करता इसी सिद्धान्त के अनुसार 'बी' का 'मी' हो गया है और 'ब' का 'म' हो गया है।

'दुष्ट तालुका जग्य नसावै।'

यहां 'ताटका' या 'ताड़का' से बदलकर 'तालुका' का प्रयोग 'र' और 'ल'

* लेख में उद्धरण पहली पोथी के दिये गए हैं। प्रस्तुत लेख में ५. क ५. ठ तक के उद्धरण दूसरी पोथी के हैं।—ले०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परस्पर विनिमय के ध्वनि-परिवर्त्तनगत सिद्धान्त का द्योतक है। इसी प्रकार 'अनेग' (अनेक) वर्णों के सघोषत्व का उदाहरण है।

'नियरे आइ रिखी मै ठारा।'

में निकट के स्थान में 'नियरे' का प्रयोग उच्चारण के श्रमलाघव के व्यापक सिद्धान्त का दृष्टान्त है।

'चतुरगुन सेवा भरथ के करई।'

इसमें 'चतुरगुन' और 'भरथ' ये दोनों भाषागत ध्वनि-परिवर्त्तन के मनोरंजक उदाहरण हैं। 'शत्रुघ्न' के बदले 'चतुरगुन' का प्रयोग न केवल श्रमलाघव, अपितु अनेक अन्य सिद्धान्तों के फलस्वरूप हुआ है। 'घ्न' के स्थान में 'गुन' वर्णोपजन सूचित करता है और 'शत्रु' के बदले 'चतुर' मिथ्या सादृश्य का। हमने इस प्रसंग में केवल कुछ ही दृष्टान्त दिये हैं। यदि 'रामजन्म' की भाषा का इस दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो वह एक स्वतंत्र निबंध का विषय होगा।

क्रिया-पदों के प्रयोग भी कुछ ऐसे हैं, जिनकी ओर हम पाठकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे। उदाहरणतः—

'जेहि ते तुम दुबरान'

अथवा—

'सरवन अति अकुलान'

यहाँ 'दुबरान' तथा 'अकुलान' का अर्थ है दुबले हुए और आकुल हुए। वस्तुतः इस प्रकार के प्रयोग हमें अपढ़ मुसलमानों की बोली के ऐसे प्रयोगों की याद दिलाते हैं, जैसे—मेरा पेटवा पिराना है, (मेरा पेट दर्द करता है)। यदि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो वस्तुतः ये क्तान्त प्रयोग सिद्ध होंगे और दुर्बलताह या आकुलिताह के जनगत विकृत प्रयोग प्रमाणित होंगे। एक अन्य प्रयोग देखिए—

'तबहि रिखीसर कहबे लीन्हा।'

अथवा

'कवन हठ तुम करबे लागे।'

'कहबे लीन्हा' अथवा 'करबे लागे' जैसे प्रयोग हमें ऊबक जँचेंगे, किन्तु क्रियापदों के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से ये बड़े मनोरंजक हैं।

'सूते सेज बिछाई'

में 'सूते' पद डेढ़ बिहारी प्रयोग का द्योतक है। इसी प्रकार—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'भए विवाह जो होखे नाती।

यहाँ 'होखे' पद ठेठ भोजपुरी का पद है।

'एकसर तिरिआ नैहर कस जासी।'

यहाँ 'जायगी' के बदले 'जासी' का प्रयोग राजस्थानी के प्रभाव को लक्षित क है। जिस प्रकार संज्ञाओं के सम्बन्ध में हमने केवल निर्देशात्मक परिचय दिया है, उसी क्रियापदों के सम्बन्ध में भी दिया है। वैसे, क्रियापदों का वैज्ञानिक अध्ययन भी स्वतन्त्र महत्त्व रखता है। जो थोड़ा विश्लेषण संज्ञा तथा क्रियापदों का किया गया उसके आधार पर हम निम्नलिखित दो मुख्य निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. संत सूरजदास ने अपनी भाषा में लोकप्रचलित ठेठ शब्दों का प्रचुर व्यव किया है।

२. यद्यपि सामान्यतः क्रिया पद अवधी के हैं, और तुलसी के 'मानस' के प्रयोगों साम्य रखते हैं; फिर भी उनपर भोजपुरी भाषा का स्पष्ट प्रभाव असंदिग्ध रू लक्षित होता है।

[क्रमश

श्री मन्नूलाल पुस्तकालय (गया) में संगृहीत प्राचीन हस्त-लिखित पोथियों का विवरण

सं०—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

(गतांक से आगे)

(४१) पिङ्गलचरण पददोहा—ग्रंथकार—श्री हरदेव। लिपिकार—श्री विभीषण। अवस्था अच्छी है। पृ० सं० १। प्र० पृ० पं० लगभग—७। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—फाल्गुन, शु ७ सप्तमी, सं० १९१३ (१८५७) मंगलवार।

प्रारंभ०—"दोहा—कुंजमंजुलकंज को नव कोकिलाकलिका करै। ऊमकै दुर्मडारभूल गय देखिकै मन को हरै ॥१॥ जान औसर माननीत जमान वोवच मानिकै नन्दनन्दन को अकीमिलि कैकिरंगन सानिकै ॥२॥"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अन्त०—"दोहा—आठ सगन को माधवी भगन किरीटी आठ
गंगाजल पुनिजानिये आठ रगन करि पाठ ॥२॥
ईति श्री पिंगल सार समाप्तः॥"

विषय—केवल १६ पंक्तियों का यह ग्रंथ है। पिंगल रचना है।

टिप्पणी—ग्रंथ की लिपि प्राचीन शैली की है। यह ग्रंथ मन्नूलाल पुस्तकालय गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० अ० ६ है

(४२) श्री बिहारी सतसई—ग्रंथकार—श्री बिहारीलाल। लिपिकार—श्री विभीषण। अवस्था—अच्छी है। पृ० सं० ३। प्र० पृ० पं० लगभग—७६। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—फाल्गुन, शुक्ल, सप्तमी सं० १६१३ (१८५७) मंगलवार।

प्रारंभ०—"श्री गणेशायनमः अथ श्री वीहारी सतसई लिख्यते।
दोहा—मेरी भव बाधा हरोराधा नागरिसोय
जातनकी झाँई परैस्याम हरित दुतिहोय ॥१॥
शीसमुकुटकटिकाछनी कर मुरलीउरमाल
एहिवानिक मोमनवसो सदा विहारी लाल ॥२॥
अथमुकुट वर्णन ॥ मोरमुकुट की चन्द्रकनि यों राजत नदनन्द
मनु ससिसेखर की अकस किये सेखर शतचन्द ॥३॥"

अन्त०—"मुद्रीतालक्षीण ॥ कहिपठईजिय भावति पिय आवन को वात
फूली आंगन मे फिरैं आंगन आंग समात ॥६८॥
अनुशयानालक्षीण ॥ फिरिफिरिविलखि ह्वै लखति फिरिफिरिलेत
उसांस साईंसिर कचसेतलौ वीत्यौ चुनत कपास ॥६६॥
सन सूक्यौवीत्यौवनो ऊखो लई उखारि
हरी हरी अरहरी अजें धरुधरहरिजियनारि ॥१००॥
इति श्री बिहारी दासकृत शतसई प्रथम स्वर्ग समाप्तः शुभमस्तु सिद्धिरस्तुः॥"

विषय—नायिका-वर्णन।

टिप्पणी—ऊपर के चारों ग्रंथ पुस्तकालय में एक ही जिल्द में हैं। चारों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं। लिपिकार ने सबके अंत में अपने विषय में लिखा है—"ता० ५ फेफरवरी माहं फागुन सुदी ७ रोज मौवार सम्वत १६१३ शाल १८५७ ईश्वी में अथ तइआर हूआ शूभ ग्रामें नादापुर श्री गंगाटते छावनी में पोथी को धनी श्री भभीछन पर्वतनायक कंपनी ४ रिजमट ४० का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सहसानुज अधिकारी द्वारिका पर्वसिपाहि कंपनी ३ रेवाई
सरिस अनूदास्य श्री रामकृस्नाय पद कमलेभ्यौः ॥"

२—लिपिकार ने इन पोथियों के अतिरिक्त इसी के साथ और
पोथियाँ लिखी हैं। 'सूरसागर' के प्रारंभ में पृष्ठ-संख्या २३
दी हुई है और 'बिहारी सतसई' की समाप्ति पर २४
सिद्ध होता है पूर्व के २३४ पृष्ठ के ग्रंथ नहीं मिले
लिपिकार ने स्वयं भी अन्त में स्वीकार किया है—'पौथी
धनी', इससे प्रतीत होता है कि उक्त छावनी में ही, इसके
पास अनेक ग्रंथ थे, जिन्हें वे उतारते थे। पोथी मन्नूलाल
पुस्तकालय में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क—५५ है।

(४३) श्री बिहारी सतसई—ग्रंथकार—बिहारी लाल। लिपिकार—×। अवस्था—अच्छी
है। पृष्ठ-सं० २६। प्र० पृ० पं० लगभग—२२। लिपि—
नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—आषाढ़ शुक्ल, ३ तृतीया
सं० १६१२ (शक १७७७), (१८५५ ई०)

प्रारंभ०—"श्री राधिकावल्लभो विजयति

दोहा—मेरी भववाधा हरो राधा नागरि सोय
जातन की झाइ परे स्याम हरित द्युति होय ॥१॥
शीस मुकुट कटि का छनीकर मुरली उर माल
ए वानिक मो मन सदा वसो बिहारी लाल ॥२॥
मोर मुकुट की चंद्रकनि यों राजत नंद नंद।
मनु ससि सेषर की अकस किय सेषर सतचंद ३
मकरा कृत गोपाल कै कुंडल झलकत कान।
मनौ वस्यौ हिय घर समर मौटीलसत निसान"

अन्त०—"तौ वलिए भलिएवनी नागर नंद किसोर
जो तुम नीकै कैलषो मोकरनी की ओर २
हरिकरियत तुम सोए है विनीवार हजार
जेहि तेहि भांति गिरोपरो रहो षरोदनवार ३
निज करनहि संकुचहि कत सकुचावत एहि
चाल हम सब सो अति विमुखते सनमुष रहो गुपाल
कीजैचित सोइ तरौजेहि पतितन के साथ
मेरे गुण औ गुण गन नि गनो न गोपी नाथ ५
प्रगट भए द्विज राज कुल सुवस वसै वृज आइ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेरो हरो करे स सब कैसो कैसो नाथ ६
सोरठा—मोह दीजै मोप ज्यौ अनेक अधमनी दयो
जो बांधे ही तोष तब बांधो अपने गुननि ७ ॥

विषय—नायक-नायिका एवं अन्य अवस्थाओं के वर्णन।

टिप्पणी—१—लिपिकार ने ग्रंथ में अपना नाम नहीं दिया है। ग्रंथ के अन्त में 'मुकाम वकसंडा' लिखा है। प्रतीत होता है कि नाम देना भूल गया है।

२—ग्रंथकार ने ग्रंथ के अन्त में, ग्रंथ-समाप्ति के बाद 'नृपस्तुति' लिखी है:—

"चलत पाइनी गुनी गुनी धन मनि मोती लाल
भेंट भये जेंहि साह सौ भाग चाहियत भाल ८
रहत न रन जै साह मुष लषिलापन की फौज
जा जि निरापर ऊंच लै लै लाषन की मौज ९
प्रति बिंबित जै साह द्युति दीपति दरपनधाम
सब जग जीतन को कियौ काम व्यूह मनु काम १०
सामा सैन समाज की सबै साहि कै साथ
बाह बली जै साहजू फतै तिहारै हाथ ११
हुकुम पाइ जै साह की हरि राधिका प्रशाद
करै बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद १२
यद्यपि है सोभा धनी मुकता हल मै देषि
गुहै ठौर की ठौरते लर मै होति विशेष १३
सकल वितिक्रम मे कही होइ अर्थ अति गौर
राम दत्त के हुकुमते कियो सरल सब ठौर १५
धरो अनुक्रम ग्रंथ कौ नायकादि अनुसार
सहर जवन पुर मे वसत हरजू कवि विचार १६
इति श्री बिहारी लाल विरचितायां
सप्त सति कायां नवरस वरणनं नाम चतुर्थ प्रकरण १७"

३—लेख स्पष्ट सुन्दर, एवं सुवाच्य है। लिखने की शैली प्राचीन है। यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क—५८ है।

(४४) दोहावली—ग्रंथकार—गो० तुलसी दास जी। लिपिकार—X। अवस्था—पुराना, हाथ का बना देशी कागज पर लिखा है। पृ० सं० ३५। प्र० पृ० पं०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लगभग—२० । लिपि—नागरी । रचनाकाल—× । लिपिकाल—कार्ति
शुक्ल ११ एकादसी, सं० १८४६ ।

प्रारंभ०—"श्री गणेशायनमः मनि मै दोहा राम नास मणि दीप धरु जीह देहरि द्व
तुलशी बाहर भीतरौजौ बाहसि उजियार
राम नाम को अंक निधि शाधनता सब
अंक रहित सब सुन्न है अंक सहित दस गु
दुगुणो तिगुणो चौगुणो पाय षष्ट अठ
आगे ते पुनि नौ गुणे नौ केनौ रहिजा
नौके नौरहिजात है तुलशी कियो वि
रम्यो रमइआजगत मै नहीं द्वैत विस्ता
जथा भूमि सब बीज मय नपत निवास अ
राम नाम सर्व चर्म मय जानत तुलशीदा
तुलशी रघुवर परमनि ताहि भजो जिह
आदि अंत निरवाहि है जैसे नव को अंक

अंत०—"प्रकिति वचन के मिटत नहि मन सात वर्ग विलाइ ॥
तुलसी चित जल थिर भए नय आतम दर साइ ५६५
इति श्री गोसाईं तुलसीदास जू कि दोहावलि संपूरन ॥"

विषय—तुलसी-साहित्य । विविध दार्शनिक विषय ।

टिप्पणी—इस ग्रंथ की लिपि अस्पष्ट और अत्यंत प्राचीन होने तथा पतले और
अक्षर होने के कारण ठीक नहीं है । लिपिकार ने अपना नाम, पता
भी नहीं दिया है, किंतु पुस्तक के अंत में 'कैथी' अक्षर में यह
दोहा लिखा है—"चारि अक्षर के नाम है...।
आदि अक्षर को मेटि कै ग्रो मोहि दी जै
यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में संगृहीत है । पु० क्र० सं० क-५

(४५) रुक्मिणी स्वयंबर—ग्रंथकार—× । लिपिकार—× । अवस्था—प्राचीन, देशी का
पृ० सं० १२४ । प्र० पृ० पं० लगभग—१८ । लिपि—ना
रचनाकाल—× । लिपिकाल—× ।

प्रारंभ—"श्री गाणाधिपतये ॥ श्री सरस्वत्यै नमः ॥ श्री गुरुभ्यो
श्री कुलदेवताभ्यो नमः ॥ ओं नमो जी श्री कृष्णनाथ ॥
सरस्वतीनाथं रीता । तु चितु कुल देवता ॥ कवना
प्रार्थु ॥१॥ तुचि अखिल आवधेजन ॥ सहज गुरुंतुजनार्दन ॥"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अंत०—"ईति श्री भागवते महापुराणे रुक्मिणी संयवरो नाम प्रसंग चवदरवा ॥१४॥ संपूर्ण ॥"

विषय—भागवत महापुराण की टीका।

टिप्पणी १—यद्यपि इस ग्रंथ की लिपि नागरी है, किंतु ग्रंथ किसी अन्य भाषा में है। इसकी भाषा, आसामी या उड़िया से मिलती-जुलती है। लिपि भी यत्र-तत्र दूसरी जैसी है।

२—भागवत महापुराण के कुछ स्कंधों की टीका है। मूल ग्रंथ इसमें प्रायः नहीं है। १२ वें अध्याय के अन्त में लिखा है—"ईति श्री भागवते महापुराणे हरिवंश समरी ऐकाकार टीकायां रुक्मिम संवरो नाम द्वादश प्रसंगः ॥१२॥" इससे प्रतीत होता है कि यह कोई टीका-ग्रंथ है। किन्तु ऐसा सभी अध्याय के अन्त में नहीं है। इसमें १४ सर्ग हैं। कहीं-कहीं टीका के बाद पद्य-रचना भी की हुई है, जो अस्पष्ट है।

३—पोथी की लिपि अस्पष्ट और प्राचीन है। ऊपर के दोनों ग्रंथ एक ही साथ बँधे हुए हैं। इनके ऊपर पुस्तकालय की सूची में 'विहारी सतसई' लिख दिया है, जो गलत है। इनके ऊपर भी ऐसा ही लिखा हुआ है। दोनों ग्रंथों की लिपि भिन्न है। दोनों के लिपिकार भी दो प्रतीत होते हैं।

४—यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क—५७ है।

(४६) बैताल पचीसी—ग्रंथकार—फकीर सिंह। लिपिकार—×। अवस्था—अच्छी, हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ.सं०—८६। प्र० पृ० पं० लगभग—३४। लिपि—नागरी। रचनाकाल—माघ, शुक्ल, वसंत-पंचमी सं० १७८२, सोमवार। लिपिकाल—×।

प्रारंभ०—"फकीर श्रीघपालपरजाः शभशत्रुन्ह कों जीतः
उचेकुंज है एकवर शुनोतम कहु शोभ.....।
प्रीथीपालताकेभऐ : प्रीथुजशलाजजहाजः
मौज देश देनको मोजशो : वडेगरीबनेवाज :

कवीत्य—कंजहीत मुदीत कुमुद अनहीत मुष सकुचीतरु दीतअधोमुष अमान हैः हंस

चौपाई—ऐकशरऐ गीरी कानन चारु खेलत रहै शींकार शीकारु
तापश ऐक नींवतरु तरे लगी शमाधीतपेश्या करै
श्रीपमन माहताही लषि डरै मनसह कहेउ राजऐहीं हरौ ॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

फीरा नगर आवा घर अपने भऐ वीकल कलपरत न शपने
होत प्रात शींघाशन वैशे हुकुम कीन्ह शेवकशो ऐशे
गनीका नगर मांह की ल्यावो अब रोथलकी हेरीभगावौ
जेतनी मीलै हेरीहेहुमोही हीरा रतन देउ भए तोही
शोकीन लेइ पान करवीरा देहौं ताहि हेम अरुहीरा ॥"

अन्त०—दोहा—"रानी लै नीज कन्यका गइ भागीवन भवन ॥
चला चंदेली को त्रीपती आऐगवोतेही ठवन०
शींघ पै रुख भुपके शुत चंडवीक्रम नाम
दोउ मीली शीकार जोभा गऐ कानन गनैशीत न घाम
चंद्रवती कन्या शहीत को रुप देखो जाऐ
कामशर लोग दोउ के गीरो तब मुरछाऐ
चंद्रवती को चंडवीक्रम गहोतब नीज पानी
रूपवती को लहेतवतहाशीख पैरुख जानी ॥"

विषय—कविता। एक कथा के आधार पर रचना की गई है।

टिप्पणी—यह ग्रंथ प्राचीन है। लिपि स्पष्ट है किन्तु शैली पुरानी है। कहीं शैली पुरानी होने के कारण अस्पष्ट हो गई है। ग्रंथ अपूर्ण प्रारंभ के तीन पृष्ठ फटे हुए हैं। बीच-बीच में भी पृष्ठ फट गए इस ग्रंथ की कथा प्रारंभ होती है—राजा शिकार के लिए जाता साधु को तपस्या करते देख उसे राज्य के अपहरण की चिन्ता है। नगर की सभी वारांगनाओं को बुलाने का आदेश देक सर्वथा प्रसन्न रखने के लिए शृङ्गार प्रसाधन मँगाए जाते हैं तरुणियाँ जाती हैं। उद्यान का वर्णन बड़ा ही अच्छा है। वनस्थ वृक्षों, पौधों, फूलों का चित्रण हृद्य है। लिपिकार के नाम का भी उल्लेख प्रतीत नहीं होता है। ग्रंथ अनुसंधेय है। पोथी श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० सं० क—५९ है।

(४७) रामजन्म कथा—ग्रंथकार—श्री सूरजदास। लिपिकार—बीसी लाल। अवस्था अच्छी; हाथ का बना, मोटा देशी कागज। पृष्ठ-सं०—प्र० पृ० पं० लगभग—३४। लिपि—नागरी। रचनाकाल—लिपिकाल—पौष, शुक्ल, १२ द्वादसी, सं० १९८८, (सन् १९ साल) सोमवार।

प्रारम्भ०—"दोहा—आरख अरथ नहीं जानो नहीं गुर ग्यान उपाऐ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रामकथा कछुभाखो श्री गुरु होहु सहाये
सुमीरना—क्रीपा करो सीवनंदन पंगुवंदो करजोरी
तोहरे चरन मनोरथ सीच्य करो प्रभु मोरी
कंठ वसहु सरोसती हीरदै वसहु महेस
भुला अछरप्रगासहु गौरी के पुत्र गनेस
चौपाई—वरनो गनपती विघीनी वीनासा रामरूप तुम पुरवहुआसा
वरनो सरसती अग्रीतवानी रामरूप तुम भली गतीजानी
वरनो चांद सुज के जोती रामरूप जस नीरमल मोती
वरनो वसुधा चरे जो भारा रामरूप तुम जगत पीआरा
वरनो मातुपिता के पाउ जीन्ह मोही नीरमल ग्यान सीखाउ
वरनो देव वीप्र गुन पाउ जीन्ह मोही वीदवा पढ़े सीखाउ
दोहा—सुजदास कवी वरनो प्राननाथ जीव मोर
रामकथा कछु भाखो कहत न लागे भोर"

अन्त०—"दोहा—सभ रानी अस वोलहीं वेटा कहो तो पाप
सीता सभ की माता राम सभ के वाप
चौपाई—श्री रामजन्म सुनो मनलाइ महापाप ताकर छै जाइ
जानहु गंगा कीन्ह असनाना मानहु जगमंह दीन्हा दाना
जौ फल लेगआपीन्डा दीन्हा तासम रामजन्म सुनी कीन्हा
दोहा ॥ रामजन्म कथा ऐह पढ़े सुने मन लाऐ
महापाप ताकर छुटहीं वीस्नलोक सोजाऐ
इती श्री रामजनम समापत भइल जो पत्र मो देखा सो लीखा मम
दोखनदीअते पंडीत जनसो वीनती मोरी टुटल अछर लेव सभजोरी"

विषय—राम-संबंधी कविता।

टिप्पणी—लिपि प्राचीन है। ग्रंथकार का नाम ग्रंथ में, आदि या अंत में नहीं दिया हुआ है, किंतु यत्र-तत्र चौपाइयों में श्री 'सूरजदास' का नाम आया है। प्रतीत होता है, कोई इसी नाम के कवि थे, जिन्होंने इस काव्य की रचना की है।

यह ग्रंथ श्री मक्खूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क—६२ है।

(४८) भरत-विलाप—ग्रंथकार—तुलसीदास। लिपिकाए—बीसीराम। अवस्था—अच्छी, मोटा, देशी कागज। पृष्ठ सं०—२३। प्र० पृ० पं० लगभग—२२।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—कार्तिक, शुक्ल एकादशी, सं० १८८८ (सन् १२९५ साल), बृहस्पतिवार॥

प्रारंभ०—"प्राजासकलके राखहु प्राना हमहीं आऐ मनावन तोही
पलहु अवधपुर कोसलराजा ... ...
तुम बीनू सकल मरत है भाइ सरनलाज राखहु रघुराइ॥"

अन्त०—"दोहा—रामनाम जीन्ह पुस्खन सुनत जो ऐकोवार
ताके जन्म सुफल भऐ तासु जन्म है सार
रामनाम जीन्ह के घट तेही पुरुखा तरी जाऐ
तुलसी दास भजुराम पद रामनाम मन लाऐ
इतीश्री पोथी भरथबीलाप समापत जोपत्री मोदेखासोलीखा
दोखन दीअते पंडीत जन सोमीनतीमोरी टुटल अछर लेबसब जोगी

विषय—राम-जीवन-संबंधी साहित्य।

टिप्पणी—ऊपर के दोनों ग्रंथ एक ही व्यक्ति के लिखे हुए हैं। पुस्तकाल दोनों ग्रंथ एक ही जिल्द में हैं और दोनों का नाम 'भरत-वि ही, सूची में है। लिपिकार ने अंत में, अपने संबंध में लिखा है "दसखत बीसीलाल कौम कुरमी का मोकाम महले टीलहा म गआजी लोहासाव के बंगलामो पढ़ाते हैं लड़के लोगको महाते सीवाला के बगलमो इसी ठेकाने पर जो कोइ को दरकार लीखावट पोथी का सो सब तरह का पोथी मीलेगा औ लीखव हेमराज राउत कुरमी रहनेवाला गआ महेला टीलहा परका पेसा गढ़ने का है॥"

इस ग्रंथ के प्रारंभ के १७ पृष्ठ नहीं हैं। उपर्युक्त पंक्ति से प्रतीत होता है कि इन दोनों ग्रंथों को किन्हीं 'हेमराज रा नाम के व्यक्ति ने लिखवाया है। ग्रंथ अनुसंधेय। इस ग्रंथ के कर्त्ता का नाम नहीं है, किन्तु स्थान-स्थान पर तुलसीदास का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है, तुलसीद या इस नाम के किसी अन्य व्यक्ति का लिखा है। कहीं-कहीं शैली गो० तुलसीदास से भिन्न है। भाषा 'रामचरित-मानस' मिलती-सी है।

यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में संगृहीत पु० क्रं० सं० क—६२ है।

[क्रमश

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नवीन....और....उल्लेख्य

तीर्थङ्कर वर्द्धमान

आलोचक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

ले०—श्री श्रीचन्द रामपुरिया, बी० काम०, बी० एल्०
प्रकाशक—हमीरमल पूनमचंद, १५ नूरमल लोहिया लेन, कलकत्ता ७।
मूल्य—सजिल्द, पाँच रुपये।

जैन सम्प्रदाय के चौबीसवें तीर्थङ्कर, वर्द्धमान महावीर की प्रामाणिक जीवनी, हिन्दी में, अभी तक दुर्लभ थी। श्री रामपुरिया जी के तीर्थङ्कर वर्द्धमान ने उसे यथार्थ में सुलभ कर दिया है। तीर्थङ्कर वर्द्धमान में, लेखक ने भगवान् महावीर के जीवन-चरित और प्रवचनों का निस्सन्देह स्वर्ण-सुगंध-संयोग उपस्थित किया है। महावीर के जीवन-चरित लिखने में लेखक ने समस्त जैन आगम-ग्रन्थों का व्यापक अध्ययन-अनुशीलन किया है, जिनके नाम प्रस्तुत पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ की पादटिप्पणी में उल्लिखित हैं।

पुस्तक के प्रारंभ में जीवन-साहित्य के सम्पादक श्री यशपाल जैन-लिखित सत्रह पृष्ठों की एक प्रौढ़ भूमिका है, जो पाठकों की आँखों में ज्ञान का अंजन लगाती है। लगभग पाँच सौ पृष्ठों की यह पुस्तक दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग लगभग सौ पृष्ठों का है, जिनमें केवल भगवान् महावीर की सांगोपांग जीवनी प्रामाणिकता के साथ दी गई है। द्वितीय भाग में भगवान् के विभिन्नविषयक प्रवचनों का सुगुम्फन हुआ है। जीवन-भाग में भगवान् के गृहस्थ-जीवन, साधक-जीवन, तीर्थङ्कर-जीवन और परिनिर्वाण पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। प्रवचन-भाग में शिक्षा, निर्ग्रन्थ, दर्शन और क्रान्ति के पद संगृहीत हैं। प्रवचनों के सभी प्राकृत पद सुन्दर हिन्दी अनुवाद के साथ हैं। अनुवाद में पदार्थों के स्पष्टीकरण की ओर भी ध्यान रखा गया है। इस भाग में कुल इक्यावन अध्याय हैं।

तीर्थङ्कर वर्द्धमान का प्रचुर परिश्रम के साथ प्रणयन कर, लेखक ने जैन साहित्य के अनुसंधित्सुओं की दीर्घकाल से असमाहित जिज्ञासा के लिए एक सरल समाधान प्रस्तुत कर दिया है, जिससे उसने अपने को समाहितबुद्धियों की पर्याप्त प्रशंसा के अर्जन का सहज अधिकारी सिद्ध कर दिया है। पुस्तक अनुशीलन-प्रतिष्ठानों में रखने योग्य है। मुद्रण निर्दोष है तथा तिरंगा बहिरावरण चित्ताकर्षक और नयनाभिराम है।

जैन दार्शनिक संस्कृति पर एक विहंगम दृष्टि

आलोचक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

ले०—श्री करण सिंह, बी० ए०
प्रकाशक—नाहटा ब्रदर्स, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता ७।
मूल्य—बारह आने मात्र।

उपर्युक्त एक सौ चार पृष्ठों की पुस्तक अभय जैन ग्रंथमाला का तेरहवाँ पुष्प है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुस्तक के प्रकाशक ख्यात जैन विद्वान् अगरचन्द नाहटा तथा भँवरलाल नाहटा जी हैं। पुस्तक का प्रौढ़ पाण्डित्यपूर्ण प्राक्कथन श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी के श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित है। "जैन धर्म किसी वर्गविशेष की संपत्ति नहीं, पर विश्वधर्म आत्म-धर्म है। इसमें आत्मोत्थान की पराकाष्ठा निर्वाण-प्राप्ति का सहज और सुगम मार्ग निहित है। इसका प्रचार आज के युग में बड़ा ही आवश्यक और कल्याणकारी है।" इसी उद्देश्य को लेकर विद्वान् प्रकाशक ने प्रतिभा-संपन्न लेखक को प्रेरित कर यह निबंध, जो आलोच्य पुस्तक का शीर्षक है, लिखवाया है।

पुस्तक में जैन धर्म, दर्शन और उसके सिद्धान्तों का स्थूल विश्लेषण तो उपस्थित किया ही गया है, साथ ही उनकी सर्वसाधारण विशेषताओं का वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। जैन धर्म के अनुयायी अपने धर्म के सिद्धांतों की प्रशंसा सुनना तो पसन्द करते हैं, पर उन्हें स्वयं जानने की चेष्टा नहीं करते। अतः लेखक ने जैनेतर मनीषियों से इस तत्त्व के अन्वेषण की ओर दृक्पात करने का अनुरोध किया है।

पुस्तक की भाषा प्रौढ़ है, पर परिष्कृत नहीं। पुस्तक के बीच-बीच में उपशीर्षकों की उपेक्षा पाठकों को उबानेवाली हो गई है। विषय-विवेचन में भी कुछ त्रुटि रह गई है। जैसे द्रव्य-वर्णन के प्रसंग में उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण, उसकी समीक्षा तथा तुलना आदि मुख्य बातों की ओर से लेखक अनवधान हो गया है। फिर भी, पुस्तक की उपयोगिता के साथ-साथ लेखक का सुन्दर प्रयत्न प्रशंसनीय है। दूसरे संस्करण में कम-से-कम प्रूफ की अशुद्धियों की ओर अवश्य ध्यान दिया जायगा, ऐसी आशा है।

चार काव्य-कृतियाँ

आलोचक
श्रीरञ्जन सूरिदे

१. राष्ट्रवाणी
२. सितार
३. साथी
४. गाँधी-गीता

राष्ट्रवाणी * श्री 'प्रणयी' जी की पचहत्तर राष्ट्रीय संस्कृत गीतियों का एक सुन्दर संग्रह है। प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रवाणी, संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य-काल के बाद संस्कृत-गीतियों की अवरुद्धप्राय गति को फिर से चेतनशील बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न

---

* *रचयिता*—श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी'; *प्रकाशक*—साहित्य-संसद, आरा; *मूल्य*—डेढ़ रुपये।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। कविताओं में राष्ट्रीय भावनाओं के आंगारिक उन्मेष की वैद्युतिक व्यापकता है। उदाहरण के लिए 'अहम्' शीर्षक गीत की कुछ तैजस पंक्तियाँ देखिए—

"अहमस्मि रणभेरीरवः !
प्रतिपक्षिहृदयविदारकः,
मदमत्तकुञ्जरमारकः;
पविपरुषहृदयस्पन्दनो वननन्दनः कण्ठीरवः !
दुर्धरमहीधरहारकः,
भूखण्डखण्डनकारकः;
तिग्मांशुरश्मिनिवारकः प्रलयङ्करो मरुतो जवः !
बलिदान-वेदी-पावनः,
स्वाधीन-भारत-भावनः;
विजयीति गायन् गीतिकामकरुणतरुणतरुणो नवः !"

संग्रह के कुछ गीतों में राष्ट्र की हीनावस्था के प्रति युगानुध्यायी कवि की स्वाभाविक उदग्रता कविता की ओजस्विनी भाषा में मर्मभेदिनी हो उठी है। 'जयतु भारतवर्षदेशः', 'वन्दी प्रविशति कारागारे', 'तरुण, रणभेरीं निनादय', 'एहि रणं, नो मरणं चिन्तय', 'चल, नवीनयुगं विधातुम्', 'स्वप्नं पश्यति काऽपि शयाना', 'नवविधानम्, नवविधानम्', 'जयतु चिरं जयभारत ! घोषः' आदि शीर्षक गीतों में मथितान्तःकरण कवि की वेदना का विह्वल आह्वान, उद्धूलित प्रकम्पन के समान क्रान्ति की कृपीटयोनि के उच्छिख प्रवाह को उत्कूलित करता-सा प्रतीत होता है।

राष्ट्रवाणी सचमुच, संस्कृत में, नये स्वरों के नये छन्दों में नये भावों की नई योजना है। कवि अपने समीपवर्त्ती संसार से पूर्ण परिचित और अनुभवप्राप्त है, इसलिए उसकी राष्ट्रवाणी पैरों में पंख बाँधकर हवा पर उड़ने की कोशिश नहीं है, बल्कि धरती पर ही अपने उद्विग्न भावों को मूर्त्त करने की आकुलता है।

राष्ट्रवाणी का कवि यह अच्छी तरह जानता है कि किस प्रकार भाषा का प्रयोग करने पर वह प्रवाहमयी और प्रभावशालिनी होती है। संस्कृतानुरागियों के लिए यह नई प्रेरणा और नई आशा प्रदान करने में सक्षम है, ऐसा हमारा विश्वास है।

सोलह और चौदह मात्राओं में लिखी गई राष्ट्रवाणी की कविताओं का, गेयता की दृष्टि से, अपना विशेष महत्त्व है। काव्य-वस्तु की अच्छाई में मुद्रण की मलिनता मलिन पड़ गई है।

सितार * कवि का भोजपुरी गीत-काव्य है। इसमें ५८ सरस गीतों का सुन्दर संग्रह

---

* *रचयिता*—श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी'; *प्रकाशक*—देववाणी-मन्दिर, आरा; मूल्य—दो रुपये।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। इस संग्रह के द्वारा कविने भोजपुरी में नई धारा का सर्जन किया है, यह मानना पड़ेगा कविता क्षणिक मनोरंजन की सामग्री नहीं है, बल्कि चिरन्तन भावों के संकीर्त्तन द्वारा उत्थान, उदारता का प्रसार, और स्नेहिल सम्बन्ध का दृढ़ीकरण उसका लक्ष्य है। इ के भोजपुरी गीतों में मानव के मनोभावों, सुख-दुःख, क्रोध-ईर्ष्या, घृणा-प्रेम आदि, जो के मर्म हैं, का बड़ा ही स्वाभाविक और मनोहर चित्रण हुआ है।

क्षुद्रता से ऊपर उठकर, विश्ववासियों से भ्रातृ-भाव का नाता जोड़ने की ओर करनेवाला 'ईश्वर-अल्ला' शीर्षक गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"जे करीम के कलमा से ही
गीता के उपदेश अमर बा,
दूनों में बा प्रेम विश्व के
दूनों में समता के स्वर बा;
एके बा अकबर-रहीम भा रघुपति, राघव राजा
ईश्वर-अल्ला एके ना

सितार में जहाँ एक ओर वीरता की दहाड़ है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति की मृ पुकार भी है। संस्कृत के शिखरिणी छन्द में सजी-सँवरी वसन्त की बहार देखिए—

"हवा धीरे-धीरे चलल दखिनाहा मलय से,
सुना जाता केहू निठुर पिय के गीत लय से,
अकेले गोरी के थर-थर हिया हाय! भय से,
छने में हो जाला मदन मतवाला विजय से।"

बघार की एक बहार देखिए—

"धनवाँ प चढ़ल धनि सोनवाँ के पनियाँ
रबियो प रसे रसे अँइठे जवनियाँ
मोतियन मँगवा भराइल रे, चान-सुरुज सिंगरवा!
गह-गह रे आजु लागेला बघरवा!"

इदमित्थं, कवि ने अपने सितार के तार पर शृङ्गार (संयोग और विप्रलम्भ मधुमय स्वर-झंकार दे दी है, जिससे गीतों में एक अपूर्व मधुरता और मोहक गई है। इसके अतिरिक्त सामाजिक वैषम्य, जीवन-दर्शन और अध्यात्म-भावना का विश्लेषण भी सितार में हुआ है।

फिर भी, सितार के गीतों में, कवि पहले हिन्दी का कवि है, बाद में भो का। अतएव इनमें भोजपुरी का वैसा मौलिक चमत्कार नहीं आ पाया है जैसा अपेक्षि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साथी * कविता-पुस्तक से बिहार के तरुण कवि श्री प्रणयी की कृति बहुवचनान्तता को प्राप्त करती है। साथी में सौ सरस, सजीव अतएव सुन्दर और सुबोध गीतों का संग्रह है। एक-एक गीत मानव के चिरन्तन भावों के उन्मंथन की विस्फूर्जित तरंग-सा प्रतीत होता है। कर्म-पथ पर आकुल, निराशा की वेदना से आहत मानव-मन पर धीरे से शीतल-सी समानुभूति की उँगुलियों को रख देने के कारण ये गीत यथार्थतः मानव के साथी हैं, जिससे इस संग्रह का नाम अन्वर्थ हो जाता है। साथी में कवि ने संसार के समस्त सम-विषम चल मनोभावों की व्यापकता को छंदों में बाँध दिया है। साथ ही, उनमें भाषा का माधुर्य देकर उन्हें स्वर की तरल झंकार से स्पंदित कर दिया है।

जीवन-दर्शन का निदर्शन साथी के प्रत्येक गीत की अपनी विशेषता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"ज्योति-कुसुम बिखरे तमपट पर
ज्योति-कुसुम बिखरे मरघट पर
घट-घट से पूरित अनादि से व्योम-सिन्धु का नील किनारा!
यह कैसा निर्माण तुम्हारा?"

× × ×

"अपने तन में, अपने मन में
आग लगा अपने यौवन में;
मतवाला बन अपना जीवन लुटा रहा है पीनेवाला!
यह तेरा संसार निराला!"

दार्शनिकता की रूक्षता से भन्नाए हुए मस्तिष्क को साथी के गीतों की कार्शनिकता उबाने की अपेक्षा रसालीढ़ कर देती है, यह साथी के गीतों की दूसरी विशेषता है। साथी में सरल भाषा में गहन भावों का प्रतिबिम्बन जिस तरल शैली में हुआ है वह कवि की अभिनन्दनीय विशेषता है। कि बहुना, साथी के गीतों की अधिकांश पंक्तियाँ नीरव निशीथ में कोमल उँगुलियों से छेड़े गए सितार के तार की मधुर मींड-सी मोहक हो उठी हैं।

गाँधी-गीता * श्री दामोदर शास्त्री की प्रथम कृति है। पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। गाँधी जी की मृत्यु में एक ऐसी विशेषता थी कि उसने कई ऐसे सुप्त-गुप्त कविहृदयों के

---

* *रचयिता*—श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी'; *प्रकाशक*—साहित्य-कला मन्दिर, काशी; *मूल्य*—दो रुपये।

* *रचयिता*—श्री दामोदर शास्त्री; *प्रकाशक*—मिश्र-बान्धव, बभनगामा बाजार (भागलपुर); *मूल्य*—दस आने मात्र।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तारों को झकझोर कर झनझना दिया। जिसके मुख से गाँधी के प्रति उद्गार निकले, अ
ने पद्यत्व प्राप्त कर लिये। गाँधी-गीता की 'बापू का जीवन-दर्शन' शीर्षक भूमिका स्व
द्वारा लिखित है और पद्यभाग से कहीं अधिक महत्त्वशाली और प्रौढ़ है। अच्छा
शास्त्री जी गाँधी जी के अलौकिक गुणों को पद्य में न बाँध कर गद्य में ही गूँथते। शा
तब कहीं अधिक, पाठकों को अपनी विद्या की विभा से स्नात कर सकते, जिसकी
उन जैसे विद्वान् से होती है।

फिर भी, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा गाँधी-गीता के सम्बन्ध में लि
पंक्तियाँ बहुलांशतः सत्य हैं कि बापूविषयक समकालीन बहुत कम कविताएँ इस ऐसी बा
सी सरल-सुघर वाणी में उनके जीवन-दर्शन, विश्व-सन्देश एवं अनुभूत सत्य तत्त्व को
सकने, आँक सकने में सफल हुई हैं।

और, गाँधी-गीता के प्रति प्रो० नलिनविलोचन शर्मा की यह शुभाशंस
समीचीन है कि गाँधी-गीता की यह उल्लेखनीय विशिष्टता है कि उसमें एक ऐसे व्यक्ति
अनुभूतियों को वाणी मिली है जिसका जीवन गाँधीवाद-सम्मत आदर्शों के अनुरूप है।
का प्रतिबिंब ही कला है, यह बहुत लोगों का कहना है और बहुत दूर तक ठीक क
श्री शास्त्री जी की इस रचना में जो बल है, उसका यही रहस्य है।

तीन नाट्य-कृतियाँ

आलोचक
श्रीरञ्जन सूरिदे

१. पाप की हत्या
२. क्रान्तिकारी
३. जूआ

पाप की हत्या * नाट्य-साहित्य की दृष्टि से अपना महत्त्व रखता
इसमें बिहार के सुपरिचित लेखक श्री तारकेश्वर प्रसाद की पाँच सरस और सजीव एकां
(बिज और समस्याएँ, परस्पर, शीर्षकहीन नाटिका, शराब का नशा, पाप की ह
का संग्रह है। अन्तिम एकांकी का शीर्षक ही प्रस्तुत पुस्तक का नाम है। आज जब
साहित्य का क्षेत्र असंपन्न दीखता है, 'पाप की हत्या' द्वारा उसे अभावहीन बनाने की
लेखक का यह आयास अभिनन्दनीय है।

---

* लेखक—श्री तारकेश्वर प्रसाद; प्रकाशक—यूनाइटेड प्रेस लिमि
भागलपुर सिटी; मूल्य—सवा रुपये।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रत्येक एकांकी में समाज के कुत्सित चित्र की ओर लेखक ने तटस्थभाव से संकेत भर कर दिया है, जो नाट्यकार की कुशलता का द्योतक है। कई जगहों में, लेखक ने पात्रों के माध्यम से समाज का ऐसा दारुण चित्र उपस्थित किया है कि वह मर्म को व्यथाविद्ध कर छोड़ता है। 'ब्रिज और समस्याएँ' शीर्षक एकांकी का एक चित्र देखिए—

"दमयन्ती—बच्चे हैं—लेकिन उनकी पहली पत्नी का देहान्त हो चुका है।

सत्य—कैसे देहान्त हुआ ?

हरिनाथ—(बहुत उत्तेजित होकर) मैंने मार डाला ? आप यही कहना चाहते हैं ? लेकिन आपके और मिसेज सिंह के सम्बन्ध के विषय में क्या लोगों को मालूम है ?

मिसेज सिंह—(असीम उत्तेजना और क्रोध से उबलती हुई) जबान सँभालकर बातें कीजिए हरिनाथजी ! आप यह न समझें कि आपके हाथ में अखबार की ताकत है। मैं आपके अखबार को बन्द करवा सकती हूँ।

हरिनाथ—(आवेश में) मैं जानता हूँ। खादी और देश-सेवा की ओट में 'काला बाजार' और आपकी भ्रष्टाचारिता नहीं छिप सकती है।"

प्रत्येक एकांकी समाज के ऐसे चित्रों को एनलार्ज कर पाठकों के सामने प्रस्तुत कर देता है कि रोंगटे खड़े हो जाते हैं। एकांकी-संग्रह की भाषा प्रौढ़ और मँजी हुई है। सवेग सरल शैली में प्रवाह है। प्रत्येक एकांकी बड़ी आसानी से अभिनेय भी बन सकता है। यदि इन एकांकियों को अभिनय-क्षेत्र में उतारा जाय तो, समाज का बड़ा उपकार हो। एक अवैध प्रणय-पत्र की होली जलाकर पाप की हत्या की गई है। इस प्रकार, एकांकी-शीर्षक 'पाप की हत्या' सार्थक है।

क्रान्तिकारी * हिन्दी के ख्यातनामा लेखक श्री उदयशंकर भट्ट का ८० पृष्ठों का एक सुन्दर राजनीतिक एकांकी नाटक है। जहाँ तक सामूहिक राष्ट्रीय जागरण का प्रश्न है नाटककार को पर्याप्त सफलता मिली है। नाटक की राजनीतिक कथावस्तु की झाँकियों को प्रतीकात्मक-शैली में ढालने का ढंग बड़ा ही उपयुक्त हुआ है। नाटककार के ही शब्दों में—"इसमें काल की कुछ सीमाएँ अवश्य हैं, किन्तु वे भी नाटक-प्रणयन-ग्रन्थियाँ मात्र हैं। कथा-वस्तु को निरन्तर बनाये रखने के लिए वे भाग आवश्यक भी थे। हो सकता है, मेरा यह प्रयत्न इतने बड़े काल को कुछ क्षणों में बाँधने के समान हो, किन्तु मुझे इससे दुःख नहीं, संतोष है।"

स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने भारत के क्रान्तिकालीन इतिहास के पिछले अध्यायों का एक लघु अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। नाटक के कतिपय पात्र

---

* लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य—सवा रुपये।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह आदि का अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करते हैं।

पराधीनता को संपूर्ण देश के लिए अभिशाप मानकर स्वतंत्रता के लिए क्रान्ति की क्रान्ति के लिए बलिदान के महत्त्व का प्रतिपादन नाटक का उद्देश्य है। नाटक के संवाद चुस्त हैं। भाषा प्रवाहपूर्ण और परिष्कृत है। साथ ही साथ नाटक अभिनेय भी है। नाटककार का प्रयास विशेष रूप से प्रशंसनीय है। नाटककार के ही शब्दों में—"यह नाटक चार दृश्यों में समाप्त हुआ है तथा अंक एक। ऐसी अवस्था में यह एकांकी नाटक भी कहा जा सकता है। किन्तु, मैं इसे पूर्ण नाटक के रूप में ही स्वीकार करता हूँ, क्योंकि एकांकी नाटक का कोई लक्षण इस नाटक में नहीं है। कथा-उपकथाओं की अन्विति तथा कई दृश्य-विधानों में संगति होने के कारण यह अपने में पूर्ण है।"

जूआ* 'जुगार' नामक एक स्वतंत्र मराठी नाटक का हिंदी अनुवाद है इस नाटक में नाटककार को विवाहित पुरुष के प्रेम-संघर्ष और सपत्नी-विवाह की समस्या पर भारतीय दृष्टिकोण से प्रकाश डालने में समुचित सफलता मिली है, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। लेखिका भारतीय सतीत्व के आदर्श के आग्रह में पड़कर इस दारुण परिस्थिति का समाधान नहीं करती, वरन् वैयक्तिक सुख-भोग की लालसा के पर्यालोचन में समस्या का समाधान चाहती है। उसकी विचारधारा का मूल उत्स है— 'किसी एक के दुःख से किसी दूसरे के सुख की असंभावना।' सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से विभिन्न विचारावलियों का प्रत्यक्षीकरण प्रस्तुत नाटक की अन्तरंग वस्तु है। पात्रों के चरित्र में ऐसी विशेषता मिलती है कि कथानक बड़े मजे से आगे बढ़ता चलता है। उनकी वार्त्ता युक्ति-युक्त और मनोवैज्ञानिक है। निपुण लेखिका ने नाटक में बड़ी चातुरी के साथ प्रचण्ड रूप से जटिल स्थिति का मार्मिक समाधान किया है।

जूआ में चार अंक हैं। नाटकीय तत्त्वों का परिपाक चौथे अंक में पराकाष्ठा पर है। इस अंक के भाव इतने गतिशील एवं प्रभावोत्पादक हैं कि आधुनिक भारतीय नाट्य-साहित्य गौरवान्वित हो उठता है।

संक्षेप में, युवा-युवती यौवनावेग के प्रवाह में अपने वैवाहिक संबंध को, अवश्य सफल होनेवाली एक पूर्ण वस्तु मानने के सहज भारतीय दुराग्रह की जड़िमा में जकड़ जाते हैं।

---

* *मूल लेखिका*—श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित, एम्० ए०, *अनुवादक*—श्री प्र० रा० भुपटकर; *प्रकाशक*—श्री ग० न० साठे, एम्० ए०, बी० टी०, प्रकाशन-मन्त्री, महाराष्ट्र-राष्ट्रभाषा-सभा; ३८८ नारायण पेठ, पूना २; *मूल्य*—ढाई रुपये।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुन्दर समाधान के साथ इसी तत्त्व का विश्लेषण ही श्रीमती दीक्षित का नाटक 'जूआ' है। जूआ नाट्यशास्त्र की परिभाषा और प्रक्रिया के आन्तरिक कलेवर में रोचक शैली से यह प्रत्यक्ष कर देता है कि विवाहित जीवन अनेक अज्ञात तत्त्वों का सम्मिश्रण है। विशेषतया यह नाटक 'दूसरे विवाह' की मनोवृत्ति का विश्लेषण और उसके निराकरण का बड़ा आकर्षक समीकरण उपस्थित करता है। अनुवाद की भाषा प्रभावपूर्ण है।

पुनर्मिलन — *आलोचक*

लेखक—श्री रामानन्द शर्मा, — श्रीरञ्जन सूरिदेव

प्रकाशक—विद्यावन, पामर्रु, कृष्णा (आन्ध्र),

मूल्य—तीन रुपये।

पुनर्मिलन हिन्दी का एक ऐसा सामाजिक उपन्यास है जिसमें दक्षिणात्यों का रहन-सहन, आचार-विचार और उनके सम-विषम भावों का मार्मिक वर्णन मिलता है। इसमें यथार्थ और कल्पना का उचित समन्वय हुआ है। कहानी दक्षिण देश की है और लेखक बिहारी हैं। फिर भी, हिन्दी-प्रचार के आन्दोलन ने लेखक को दक्षिण की आत्मा से परिचित होने का विशेष अवसर दिया है। अपने प्रत्यक्ष अनुभव को लेखक ने प्रौढ़ प्रतिभा द्वारा साहित्य की सुन्दर वस्तु बना दिया है।

उपन्यासकार ने पात्रों के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का निर्वाह किया है और जीवन, जगत् और मानव के अनेक जटिल पक्षों पर प्रकाश डाला है। यौवनागम-काल में अद्भुत गति से उद्भासित होती हुई सौन्दर्य-श्री मानव-जीवन में नर-नारी के पारस्परिक प्रबल आकर्षण की उपद्रवी उलझन उत्पन्न कर देती है। आकर्षण की प्रचण्डता, इसके मोह की घनान्धकारिता एवं इसकी असह जलन और विषाक्त कटुता को हमारे समाज की अनमेल शादियाँ और भी दुरूह एवं समस्यामूलक बना देती हैं—एक तो करैली तीती, दूजे नीम चढ़ी। 'पुनर्मिलन' इसी चित्र को पाठकों के सामने दारुण, दावा-दग्ध बनाकर उपस्थित करता है। यह उपन्यास नर-नारी के बीच के प्रेम की वेदना, सुशिक्षित नारी का प्रचंड तेज, उसका गौरव, उसकी मातृत्व की भूख आदि बातों को बड़े ही रोमांचकर ढंग से प्रस्तुत करता है। उपन्यास के पात्र सुब्रह्मण्यम्, लक्ष्मी, शैलजा, गोपाल, आंजनेय, सुमात्रा, भारती-भूषण आदि के चरित्र को बड़े तटस्थ भाव से लेखक ने चित्रित किया है। शैलजा जहाँ आवश्यकता से अधिक उग्र है, वहाँ लक्ष्मी अनावश्यक रूप से शान्त। मूढ़ सुब्रह्मण्यम् के साथ अनमेल शादी की शिकार, सपत्नी-शापित परित्यक्ता लक्ष्मी के निःसंतानता-निर्यातित मातृत्व का अन्तर्मन्थन बड़ा ही मर्मन्तुद है। अन्त में, सपत्नी-पुत्र से ही सही, लक्ष्मी का अभिशप्त जीवन मातृत्व की सुखद अनुभूति से भर पाता है। भाषा का प्रवाह, शैली की सरसता, चित्रों की यथार्थता, वर्णन की काव्य-सुलभ रम्यता, चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिक गहराई—इस उपन्यास की हृद्य विशेषताएँ हैं। उपन्यास के विषय-वस्तु के अनुरूप ही उसका मुद्रण सुरुचिपूर्ण है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संकलन

राष्ट्रभाषा-मंत्रणालय

[दैनिक 'आज', काशी; ६ मार्च, '५४, संपादकीय]

केन्द्र में राष्ट्रभाषा-मंत्रणालय स्थापित करने की माँग समयानुकूल, अत्यावश्यक ह महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार का प्रस्ताव देश में हिन्दी की प्रत्येक संस्था एवं अपने हर सम्मेल और बैठक में तब तक पास करते रहना चाहिए जब तक मंत्रणालय की स्थापना नहीं होती देश की एकता बनाये रखने तथा अखिल भारतीय कार्य के लिए सर्वमान्य राष्ट्रभाषा आवश्यकता महसूस करनेवाले प्रत्येक भारतीय को इस पर बल देना चाहिए। केन्द्र में राष्ट्र भाषा-मंत्रणालय की स्थापना के लिए संसद् के सदस्यों एवं राज्य-सरकारों को भी केन्द्री सरकार पर दबाव डालना चाहिए। यह प्रश्न इतने महत्त्व का है कि यदि इन उपायों से य कार्य शीघ्र सिद्ध नहीं होता तो इसके लिए देशव्यापी आन्दोलन करने की आवश्यकता है इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा घोषित होने के पश्चात् उसके निर्माण संघ-शासन द्वारा दिया गया योग अत्यल्प और स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अनुपयुक्त है। संघ शासन का सारा कार्य हिन्दी में ही कराने के लिए संविधान द्वारा निर्धारित पंद्रह वर्ष की अवधि में से चार वर्ष से ऊपर व्यतीत हो रहे हैं फिर भी अँगरेजी दिल्ली में तिल भर भी ह्टी है। यदि यही हाल रहा तो बाकी के दस वर्ष में भी वह आखिर कैसे हटेगी? यदि राष्ट्र भाषा को निश्चित अवधि में अपने मनोनीत स्थान पर अधिष्ठित करना है तो केन्द्रीय शास को कदम उठाना ही होगा। यह जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा है।

राष्ट्रभाषा-प्रेमियों को इस बात का भी ध्यान रखना है कि यदि वे अभी से सचे होकर केन्द्रीय सरकार को अपनी उदासीनता एवं निष्क्रियता से जागरित कर पूरे उत्साह एवं शक्ति के साथ शासन-तंत्र में सर्वत्र आयोजित एवं व्यवस्थित रूप से हिन्दी को स्थान दिलाने के लिए बाध्य नहीं करते तो यह आशा कि सन् १९६५ में सर्वोच्च न्यायालय, केन्द्रीय दफ्त अंतर-राष्ट्रीय व्यवहार एवं उच्च अनुसंधान आदि की भाषा हिन्दी ही होगी, केवल स्वप्न-लि होगी। यदि विभिन्न राज्यों में प्रांतीय भाषाएँ अपना स्थान नहीं लेने लग जातीं तो अँगरेजी से कभी मुक्ति मिल सकेगी, इसमें भी संदेह है।

यदि राष्ट्रभाषा अपने स्थान पर प्रस्थापित न हो सकी तो उससे एक विदेशी भा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को केवल गति ही नहीं मिलेगी वरन् वह हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान को चुनौती भी होगी। आजकल भाषाधार राज्यों की आवाज उठ रही है, ऐसी स्थिति में देश सब को एक सूत्र में बाँधनेवाली राष्ट्रभाषा के बिना ही रह गया तो हमारी राष्ट्रीय एकता भी संकट में पड़ सकती है। इतना ही नहीं, विदेशी राष्ट्र इस स्थिति से लाभ उठा कर हमारी स्वतंत्रता भी खतरे में डाल दे सकते हैं। इस प्रकार गम्भीर, व्यापक एवं दूरदृष्टि से विचार करने पर यह सहज स्पष्ट होगा कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न हमारे लिए देश की भाषा का ही नहीं वरन् देश की स्वतन्त्रता सुदृढ़ एवं सुरक्षित बनाये रखने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। हमें अपनी सारी शक्ति लगा कर राज्य-सरकारों एवं केन्द्रीय सरकार पर इतना दबाव डालना चाहिए कि सन् ६५ के पूर्व ही संघीय शासन का सारा कार्य हिन्दी में ही होने लग जाय। यह केन्द्र में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त राष्ट्रभाषा-मंत्रणालय के अविलम्ब स्थापित होने से ही हो सकता है।

केन्द्र में राष्ट्रभाषा-मंत्रणालय की स्थापना की माँग के साथ-साथ प्रत्येक भारतीय और विशेष कर राष्ट्रभाषा-प्रेमी को इस बात का स्मरण एवं आग्रह रखना चाहिए कि हम अपने नित्य के व्यवहार में सर्वत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी का ही प्रयोग करें। अहिन्दी-भाषी अपने राज्य में एवं अपने भाषा-भाषियों के बीच अपनी प्रादेशिक भाषा अथवा राष्ट्रभाषा ही प्रयोग करें। जहाँ किसी एक भाषा में अपने विचार व्यक्त करना कठिन हो वहाँ भारतीय भाषाओं की कुछ खिचड़ी भी पकाई जाय तब भी कोई हानि नहीं, किन्तु अँगरेजी का उपयोग तो तब तक न होना चाहिए जब तक वह अनिवार्य न हो। अँगरेजी का नित्य व्यवहार से कड़ाई के साथ बहिष्कार करने का आग्रह रखे बिना अँगरेजी की हमारे व्यवहार में जमी हुई जड़ें नष्ट न होंगी। अँगरेजी की ये जड़ें जबतक नष्ट न होंगी, संविधान की ३४३ वीं धारा के बावजूद अँगरेजी देश के व्यवहार क्षेत्र से हटने का नाम न लेगी। हमें अपनी रोज की बातचीत, पत्र-व्यवहार में कहीं भी अँगरेजी का प्रयोग न करना चाहिए। हस्ताक्षर भी सर्वत्र नागरी लिपि में ही होना चाहिए। शिक्षित वर्ग में अँगरेजी के प्रति जब तक गौरव की भावना बनी रहेगी राष्ट्रभाषा एवं प्रांतीय भाषाएँ ऊपर नहीं उठ सकेंगी। देश में ऐसा वातावरण निर्माण करने की आवश्यकता है जिसमें व्यवहार्य कार्य में कहीं भी अँगरेजी भाषा अथवा अँगरेजी शब्दों का प्रयोग करनेवाला भारतीय उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाय। अँगरेजी का प्रयोग करनेवाले भारतीय को पदे-पदे रोक कर राष्ट्र-भाषा हिन्दी अथवा प्रांतीय भाषा का प्रयोग करने के लिए विवश करना चाहिए। वैसा वातावरण निर्माण होने लगते ही केन्द्रीय एवं राज्य-सरकारों को भी अँगरेजी का मोह छोड़ना ही पड़ेगा। अँगरेजी किसी समय तक कुछ अंश तक राष्ट्रीय ऐक्य पैदा करने में सहायक हुई थी किन्तु स्वतंत्र भारत में अँगरेजी का बना रहना देश के लिए घातक है। जितनी जल्दी व्यवहार-केन्द्र से अँगरेजी का उच्चाटन होकर राष्ट्र-भाषा अधिष्ठित होगी उतना ही देश का कल्याण होगा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हिन्दी-भाषियों का कर्त्तव्य

[काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के हीरक-जयन्ती-महोत्सव में राष्ट्रपति
डा० राजेन्द्र प्रसाद के उद्घाटन-भाषण का सारांश]

जहाँ अहिन्दी-भाषा-भाषियों का यह कर्त्तव्य है कि राष्ट्रीय कार्य के लिए हि
सीखें, वहाँ हिन्दी-भाषियों पर भी कम-से-कम एक केन्द्रीय भाषा सीखने का दायित्व
है। इससे केवल अदला-बदली की भावना से अभिप्राय नहीं। ऐसा करने से ही हिन्दी
दूसरी भारतीय भाषाएँ एक दूसरे के निकट आ सकती हैं। इन भाषाओं और हिन्दी में
प्रतिस्पर्धा न पहले थी और न अब है।

हिन्दी के लिए यह अवश्य गौरव का विषय है कि उसे भारतीय संविधा
अखिल भारतीय भाषा का स्थान दिया है। इससे हिन्दी-भाषियों और हिन्दी से
रखनेवाली सभी संस्थाओं का दायित्व बहुत बढ़ गया है। संविधान में हिन्दी को
स्थान दिये जाने का विशेष कारण यह था कि इसके जाननेवाले और बोलनेवालों की
भारत की दूसरी भाषाओं के जाननेवालों और बोलनेवालों से कहीं अधिक है।
भाषाओं का भी अपना गौरवपूर्ण साहित्य है और उनके बोलनेवाले अपनी भाषाओं से
प्रेम रखते हैं और उन पर गौरव करते हैं। इसलिए सभी ने जब हिन्दी को यह स्थान
है तो यह समझ कर नहीं कि उनकी अपनी भाषा किसी बात में कम है वरन् यह
कर कि राष्ट्रीय काम के लिए हिन्दी का ही प्रचार सुलभ होगा। हिन्दी को अखिल भा
कामों के लिए प्रधानता दी गई है, इसलिए यह अनिवार्य है कि जहाँ हिन्दी का प्रच
वहाँ साथ ही प्रान्तीय कामों के लिए वहाँ की स्थानीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन दि
और वे अपने सीमित केन्द्र में अपना काम सुचारु रूप से करें। यह कहना अनुचित
कि हिन्दी का हिन्दी-भाषी प्रान्तों में तो वही स्थान होगा जो किसी भी प्रान्तीय
को अपने प्रान्त में, पर अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों में सीमित काम और अखिल भा
क्षेत्र में प्रायः सभी काम हिन्दी द्वारा ही किये जायँगे।

हिन्दी की किसी भी प्रान्तीय भाषा से होड़ नहीं है। सच पूछिये तो हिन्दी-भा
को अन्य प्रादेशिक भाषाओं का पोषक और समर्थक होना चाहिए, जिस तरह से अ
भाषी हिन्दी का पोषक और समर्थक होना चाहते हैं। यदि कहीं भूल से भी हम
भाषियों के बर्ताव और भाषण से यह आभासित हुआ कि हिन्दी अन्य सभी भाषा
अधिक समृद्ध, अधिक परिपुष्ट साहित्यवाली या प्राचीन तथा नवीन विचारों और भाव
व्यक्त करने में अधिक शक्तिशाली भाषा है और इसीलिए इसको अधिकार है कि
भारतीय राष्ट्रीय कामों के लिए यह राष्ट्रीय भाषा मानी जाय, तो इसका फल यह होगा
अन्य भाषा-भाषी हिन्दी के प्रति ईर्ष्या करने लगेंगे, और जो संविधान चाहता है वह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूरा नहीं हो सकेगा, और हिन्दी उस स्थान को प्राप्त नहीं कर सकेगी जो संविधान ने उसे देने का निश्चय किया है। दूसरे शब्दों में हमें हिन्दी का प्रचार नम्रतापूर्वक करना चाहिए।

मैंने कई ऐसे लोगों के लेख देखे हैं जो हिन्दी-भाषी नहीं और जिन्होंने हिन्दी का अभ्यास राष्ट्रीय कामों के लिए ही किया है और उनके लेखों में कुछ वैसे शब्द और मुहावरे देखने में आये हैं जो अर्थ स्पष्ट कर देते हैं पर जो आधुनिक हिन्दी में प्रचलित नहीं है। ऐसे शब्दों और मुहावरों को अन्य-भाषा-भाषी अक्सर व्यवहार में लाया करेंगे और हम हिन्दी-भाषियों को उनका स्वागत करना चाहिए न कि बहिष्कार।

मैं तो यह भी मानता हूँ कि कहीं-कहीं हमारे व्याकरण पर भी अहिन्दी-भाषियों का प्रभाव पड़ेगा। और हमको उससे भी नहीं डरना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी-भाषी और हिन्दी-संस्थाएँ निःस्पृह भाव से हिन्दी की श्रीवृद्धि में लग जायँ जिससे अन्य-भाषा-भाषी भी उसके विभिन्न प्रकार के साहित्य से परिचय पाने के लिए उसे सीखना आवश्यक समझें, जिस तरह आज कोई भी विद्वान् आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त करने के लिए यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझता है।

जितनी बड़ी संख्या हिन्दी जानने और बोलनेवालों की है उतनी बड़ी संख्या संसार की दो ही तीन भाषाओं के बोलनेवालों की है। इसलिए यदि इतने लोगों में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि वे हिन्दी को वही स्थान संसार की भाषाओं में उपलब्ध कराना चाहते हैं जो किसी भी भाषा को प्राप्त है और उस उद्देश्य से हिन्दी-भाषी विभिन्न प्रकार की विद्याओं की प्राप्ति के लिए लग जायँ और हिन्दी में विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रंथ लिखने लग जायँ तो केवल भारतवर्ष के ही अहिन्दी-भाषी नहीं, समस्त संसार के अहिन्दी-भाषी हिन्दी सीखना आवश्यक समझेंगे।

पर यदि हिन्दी में इस तरह के साहित्य का निर्माण नहीं हुआ तो विदेशों को कौन कहे, इस देश में भी सब लोगों की दृष्टि में हिन्दी को वह ऊँचा स्थान नहीं मिल सकेगा, चाहे संविधान के कारण सार्वदेशिक कामों में उसका उपयोग होने भी लग जाय। इसलिए मैं चाहता हूँ कि इस ऊँचे आदर्श को सामने रख कर हिन्दी-भाषी हिन्दी का भंडार भरपूर करने में लग जायँ। जितनी तेजी के साथ और जितनी उच्च कोटि की पुस्तक हिन्दी में लिखी जायँगी उतनी ही उसकी प्रतिष्ठा और सर्वमान्यता बढ़ती जायगी।

अँगरेजी साहित्य का भाण्डार बहुत भरपूर है तो भी शायद ही कोई मौलिक ग्रंथ किसी यूरोपीय भाषा में ऐसा निकला हो जिसका अनुवाद चंद महीनों के अंदर ही अँगरेजी में प्रकाशित न होता हो। इस तरह अँगरेजी-भाषियों के लिए किसी दूसरी भाषा को जानना अनिवार्य नहीं है। पर वे अपने ज्ञान को और विस्तृत करने के लिए अन्य भाषाओं को भी सीखते हैं। उसी तरह हिन्दी का भी स्थान हो जाना चाहिए कि केवल हिन्दी जान कर ही

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हम संसार के विचारों से और गतिविधि से पूरी तरह परिचित हो सकें और इस
प्राप्ति के लिए सभी अन्य भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हिन्दी में सुलभ हो जाने चाहिए।

हिन्दी का अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व

[काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के हीरक-जयन्ती-महोत्सव के
पर आयोजित साहित्य-विमर्श-गोष्ठी में आचार्य श्री बद्रीनाथ वर्मा, शिक्षा
बिहार के उद्घाटन-भाषण का सारांश]

हिन्दी अब केवल हिन्दी-प्रांतों की भाषा अथवा एक संकीर्ण और
समुदाय की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं रही। इस पर समस्त रा
पूर्ण अधिकार है और वह दिन भी शायद दूर नहीं जब समग्र राष्ट्र की प्रतिभा इसमें
फलित होगी। महत्ता सदा से उत्तरदायित्व की गोद में पलती आई है। हमारा
हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करा लेने भर में नहीं बल्कि उत्तरदायित्व के
में है जो हिन्दी-भाषा-भाषियों पर आ पड़ा है। हिन्दी राष्ट्रभाषा हो कर
इसके लिए हमें अधिक चिंता करने की अपेक्षा नहीं। हमें इस गौरव से अभिभूत
की भी अपेक्षा नहीं कि हमारी भाषा को राष्ट्रभाषा का गौरवस्पद पद प्राप्त हुआ है,
उस विशाल उत्तरदायित्व को स्मरण रखने की हमें सबसे अधिक आवश्यकता है,
इसके द्वारा हमें अपने अभावों की ओर ध्यान रहेगा और उन्हें दूर करने की प्रेरणा
रहेगी।

हिन्दी उन समस्त ज्ञान-विज्ञान की उत्तराधिकारिणी है जो संस्कृत, प्राकृ
अपभ्रंश भाषाओं में विकीर्ण है। प्राचीन काल में समस्त ज्ञान-विज्ञान के माध्यम एवं सांस्
चेतना की धारा-वाहिनी के रूप में संस्कृत की प्रतिष्ठा थी। भारतीयता के वास्तविक
के लिए उस साहित्य का मान अनिवार्य है, जिसने एक दिन गौरीशंकर से ले कर कन्याकु
तक, एवं सुदूर गुजरात से लेकर आसाम तक को ऐक्य के सूत्र में आबद्ध कर दिया
संस्कृत किसी दिन जन-साधारण की भाषा थी अथवा नहीं इसके संबंध में पंडितों में
हो सकता है, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि अति प्राचीन काल से ही संस्कृत सांस्
चेतना और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम रही है। बौद्ध और जैन धर्मों के कारण जनभाष
जो प्रोत्साहन मिला वह पांडित्य-विधायक सिद्ध न हो सका एवं सार्वभौम प्रचार के
उन्हें भी संस्कृत को ही माध्यम बनाना पड़ा था। वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य में भारती
और भारतीय संस्कृति चित्रित-प्रतिफलित है। बौद्ध, जैन और तंत्रशास्त्रों में धर्म-साधन
जातीय जीवन का अविच्छिन्न प्रवाह है। काव्य, नाटक, उपाख्यान में भारतीय आत्म
सजीव अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी सहज ही इस विशाल उत्तराधिकार की अधिकारिणी है

हम विदेशी भाषाएँ सीखें। अधिक-से-अधिक भाषाओं का ज्ञान हमारी समुन्न
सहायक होगा, किन्तु अनुसंधित्सु भारतीय विद्यार्थी के लिए उन समग्र ग्रंथों का प्रामा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अनुवाद राष्ट्र-भाषा में होना चाहिए, जिन्होंने अपने विशिष्ट क्षेत्र में कर्तृत्व का परिचय दिया है। इसी प्रकार राष्ट्रभाषा के भी उन श्रेष्ठ ग्रंथों के सुन्दर अनुवाद विदेशी भाषाओं में तैयार किये जायँ, जो हमारे गौरव के आधार हैं और जिनके द्वारा संसार के लोग हमारे सांस्कृतिक और कलात्मक आदर्शों का परिचय प्राप्त कर सकें।

विशाल भारतीय राष्ट्र की राष्ट्रभाषा होने के कारण हिन्दी को आज अंतरराष्ट्रीय महत्त्व उपलब्ध है। समग्र संसार के मनुष्य और राष्ट्र, अब हिन्दी के माध्यम से ही भारतवर्ष से परिचित होंगे। हिन्दी भारतीय राष्ट्र-जीवन और विचारधारा का प्रतीक होगी। हिन्दी का अब वही स्थान नहीं रहा जो अभी तक था। अतः इसे अधिक-से-अधिक व्यापक बनाना होगा, जिसमें सांस्कृतिक संपत्ति की विशालता, विविधता और चेतना का वैभव पुंजीभूत हो।

हिन्दी-साहित्य के सम्यक् विकास और समुचित पुष्टि के लिए हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के साहित्य का सहयोग स्वास्थ्यकर सिद्ध होगा। भारतीय संस्कृति का व्यापक ऐक्य ही इन साहित्यिक धाराओं में अभिव्यक्त होता रहा है। अतः इन धाराओं और अन्तर्धाराओं का परिचय अनिवार्य है। भारतीय चेतना की अखंडित धारा हिन्दी के साथ ही साथ अन्य भारतीय भाषाओं में प्रवाहित होती रही है। इसका विच्छिन्न अध्ययन अपूर्णता और संकीर्णता का सूचक है। विच्छिन्न अध्ययन के आधार पर उपस्थित किये गये निष्कर्ष अधूरे और भ्रमोत्पादक होंगे। अतः अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रंथों का भी प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में होना चाहिए, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं। हम भारत की विभिन्न भाषाओं का गंभीर अध्ययन करें और उनके माध्यम से अपने साहित्य के बहुमूल्य रत्नों को भी उनके सम्मुख उपस्थित करें।

हमारे साहित्य की वर्तमान स्थिति अपर्याप्त एवं लज्जाबोधक कदापि नहीं, किन्तु इसे अधिकाधिक क्षमताशील बनाने का उपक्रम होना चाहिए। भारतीय साहित्य की अखंडित सांस्कृतिक परंपरा से मंडित, समस्त देश के चिन्तन और कलात्मक प्रेरणाओं से परिपुष्ट, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की स्फूर्ति से गतिमान् और लोक-जीवन की व्यापकता से संवेदनशील हिन्दी-साहित्य राष्ट्रीय जागरण और भावनाओं का प्रतीक एवं अंतरराष्ट्रीय वाङ्मय का आधार होगा। हिन्दी के इस चतुर्मुख विकास में हम अपनी पूर्ण शक्ति लगा दें।

भारतीय साहित्य में जीवन का संतुलित रूप

[काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के हीरक-जयन्ती-महोत्सव के अवसर पर आयोजित साहित्य-विमर्श-गोष्ठी में श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' द्वारा किये गए अध्यक्षीय भाषण का एक अंश]

"संसार में भाषाएँ विभिन्न प्रकार की हैं, किन्तु सब भाषाओं का साहित्य मानव-हृदय की ओर ही इंगित करता है। भाषाओं की विभिन्नता साहित्य के मूल की एकरूपता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकती। देश, जाति, संस्कृति तथा सभ्यता के
विश्व-जीवन में जो कहीं-कहीं पार्थक्य का आभास दिखाई पड़ता है उससे वस्तुतः
की मौलिक एकता भंग नहीं होती। यदि ऐसा होता तो विश्व-साहित्य
कोई वस्तु हमारे सामने नहीं आती। मानव-प्रकृति की समाहार-शक्ति
एक विशेषता है कि भिन्न भाषागत और जातिगत साहित्य में भी उसे प्रायः समान
प्रतीति होती है।

भारतीय संस्कृति के कारण भारतीय साहित्य में मानव-जीवन को संतुलित
समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है। भारतीय जीवन के चार पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम
मोक्ष हैं। चारों के संतुलन पर ही जीवन की पूर्णता मानी जाती है। आज
साहित्य इस प्रकार संतुलनप्रधान नहीं हैं। भौतिकवाद के प्रभाव से जीवन का रूप
इस प्रकार हो गया है कि पुरुषार्थ के किसी एक अंग और वह भी विशेष कर अर्थ
का आश्रय लेकर साहित्य को अर्थ-प्रधान या काम-प्रधान बना दिया है। भारतीय
शास्त्र के विचार से ऐसा जीवन संतुलित नहीं माना जा सकता। भारतीय साहित्य
जीवन में अर्थ या काम की प्राप्ति का वर्जन नहीं करता, बल्कि उसको जीवन का
अंग मान कर उसकी प्राप्ति की प्रेरणा देता है। किन्तु, उसके साथ-साथ पुरुषार्थ
अंगों, धर्म और मोक्ष की पूर्णता के लिए भी प्रयत्न करते रहने का आग्रह करता है।"

एशिया की सभ्यता

[काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के हीरक-जयन्ती-महोत्सव के अवसर
आयोजित एशिया-भाषा-सम्मेलन में डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या द्वारा
किए गये भाषण का एक अंश]

"एशिया मानवता का पालना, सभ्यताओं की जन्मभूमि और धर्मों का
रहा है। कई प्रकार की मानव-जातियाँ, जो प्राचीन काल में सभ्यता की दृष्टि से अग्रणी
जाती थीं, एशिया की भूमि पर ही विकसित हुईं। संसार के सभी श्रेष्ठ धर्म इसी
में उत्पन्न हुए। यूरोप न केवल भौगोलिक दृष्टि से, अपितु सांस्कृतिक और आध्यात्मि
दृष्टि से भी एशिया का प्रक्षेप है। संसार का विशाल मानव-समुदाय एशिया के
भूभाग में केन्द्रीभूत हुआ है। मानवता के इतिहास में हजारों वर्षों तक एशिया के देशों
प्राधान्य रहा। यूरोप का महत्त्व कुछ विलम्ब से हुआ। १५०० से २५०० वर्ष
प्राचीन यूनान और रोम साम्राज्य के वैभवपूर्ण दिनों के बीतते ही यूरोप सुप्तावस्था में
गया और उस समय कला और विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिमी एशिया के छोटे राष्ट्रों से
बहुत कुछ सीखा।"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित

साहित्य-संसार के ग्यारह अनमोल ग्रन्थ-रत्न

(१) हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

ले०—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

मूल्य—सवा तीन रुपये।

(२) यूरोपीय दर्शन

ले०—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

मूल्य—सवा तीन रुपये।

(३) विश्व-धर्म-दर्शन

ले०—श्री साँवलिया विहारीलाल वर्मा

मूल्य—साढ़े तेरह रुपये।

(४) हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन

ले०—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

दो तिरंगे और लगभग एक सौ इकरंगे आर्ट पेपर पर छपे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र।

मूल्य—साढ़े नौ रुपये।

(५) सार्थवाह

ले०—डा० मोतीचन्द्र

आर्ट पेपर पर छपे एक सौ अलभ्य ऐतिहासिक चित्र तथा व्यापार पथों के दुरंगे मान-चित्र।

मूल्य—ग्यारह रुपये।

(६) वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा

ले०—डा० सत्यप्रकाश (प्रयाग-विश्व-विद्यालय)

मूल्य—आठ रुपये।

(७) संत कवि दरिया : एक अनुशीलन

ले०—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए० (त्रितय) पी-एच्० डी०

बढ़िया आर्ट पेपर पर सात तिरंगे और बारह इकरंगे चित्र। पृष्ठ-सं० पाँच सौ।

मूल्य—चौदह रुपये।

(८) काव्य-मीमांसा (राजशेखरकृत)

अनुवादक—पं० श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत; ('सुप्रभातम्'-संपादक)

गवेषणापूर्ण प्रामाणिक भूमिका और परिशिष्ट के साथ लगभग साढ़े चार सौ पृष्ठ।

मूल्य—साढ़े नौ रुपये।

(शेषांश चतुर्थ आवरण-पृष्ठ पर)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३

(तृतीय आवरण-पृष्ठ का शेषांश)

(९) श्री रामावतार शर्मा-निबंधावली

ले०—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

मूल्य—पौने नौ रुपये

(१०) प्राङ्मौर्य बिहार

ले०—डा० देवसहाय त्रिवेद, पी-एच्० डी०

प्राङ्मौर्यकालीन बिहार के मान-चित्र के साथ ग्यारह इकरंगे ऐतिहासिक महत्त्व चित्र।

मूल्य—सवा सात रुपये

(११) गुप्तकालीन मुद्राएँ

ले०—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर

आर्ट पेपर पर छपे गुप्तकालीन मुद्राओं और लिपियों के सत्ताईस सविवरण फलक।

मूल्य—साढ़े नौ रुपये

मंत्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

सम्मेलन-भवन, पटना-३

'साहित्य' की फाइल

'साहित्य' के विगत चार वर्षों के दुर्लभ अंकों की कुछ फाइलें प्राप्य हैं। विद्वानों ने शोध और साहित्यालोचन के क्षेत्रों में इन अंकों को प्रतिष्ठा का अधिकारी माना है। विद्यानुरागी सज्जन तथा स्थायी साहित्य के संग्रहालय इन फाइलों को 'साहित्य'-व्यवस्थापक, से पत्र-व्यवहार कर मँगा सकते हैं।

एक वर्ष के चार अंकों की फाइल का मूल्य ७) रुपये। डाकखर्च अलग।
चार वर्ष के सोलह अंकों की पूरी फाइल का मूल्य २८) रु०। „ „

'साहित्य-व्यवस्थापक
बिहार-हिन्दी-साहित्य'-सम्मेलन
पटना-३

मुद्रक—योगी प्रेस, पटना-१ : : प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

134

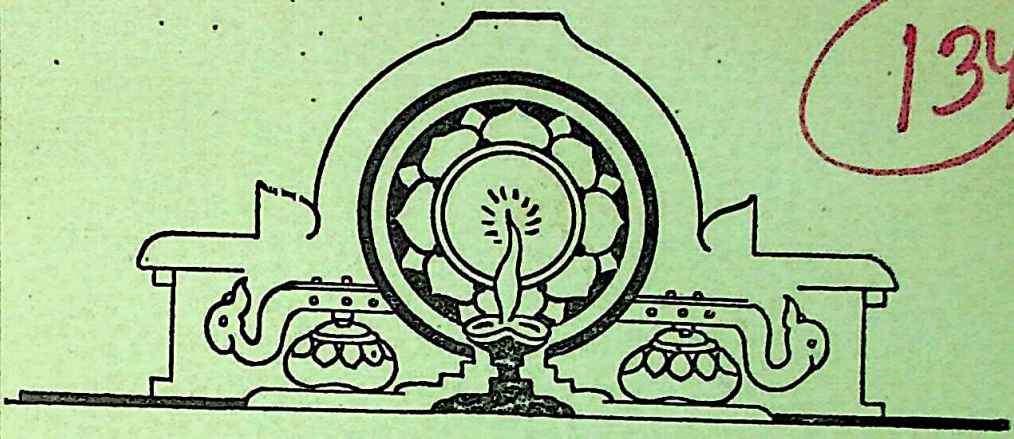

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का

वार्षिक ७)] सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र [एक प्रति २)

वर्ष ५ } आषाढ़, संवत् २०११ : : जुलाई, १९५४ ई० { अंक २

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सम्पादकीय

प्रो० श्री जगदीश पाण्डेय ९ शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धांत

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य ३३ अपभ्रंश के विषय में संस्कृत के आचार्यों का मत

श्री कलीमुद्दीन अहमद ४७ मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

श्री सांवलिया विहारीलाल वर्मा ५२ हिन्दी में उपनिषद्-साहित्य

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ५६ संत सूरजदास और उनकी रचनाएँ

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ५९ हस्त-लिखित प्राचीन पोथियों का विवरण

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ६७ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय (गया) में संगृहीत हस्त-लिखित पोथियों का विवरण

श्री देवनारायण लाल कर्ण }
श्री दुर्गाशङ्कर प्रसाद सिंह } ७४ बिहार के दो स्वर्गीय हिन्दी-कवि

संकलन : समालोचना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan

'बिहार का साहित्यिक इतिहास'

बिहार-राज्य के हिन्दी-प्रेमियों को विदित है कि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओ 'बिहार का साहित्यिक इतिहास' तैयार कराया जा रहा है। इसके लिए बिहार-रा साहित्य-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन (जन्म-काल, सन् १९१९ ई०) से ही सामग्री-सं किया जाता रहा है। अब तक यथासम्भव प्रचुर सामग्री एकत्र हो चुकी है। सं सामग्री का विश्लेषण और सम्पादन क्रमशः होता जा रहा है। फिर भी, ऐसा अनुभव है कि अभी तक जो कुछ प्राप्त हो चुका है, उसके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ प्राप्त करने है। यह काम बहुत छानबीन का है और इसमें समय तथा परिश्रम लगने सहज संभावना है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से प्राचीन हस्त-लिखित पोथियों और दुर्लभ ग्रन्थों की जो खोज हो रही है, उससे अब तक जितनी सामग्री मिली है, वह ऐसा क करने के लिए यथेष्ट है कि इतना महान् कार्य अतिशीघ्रता में सर्वाङ्गपूर्ण नहीं हो स इसलिए, बिहार-राज्य के हिन्दी-प्रेमियों से नम्र निवेदन है कि वे इस साहित्यिक संपन्न करने में यथाशक्य सहायता देने की कृपा करें।

इस काम में सबसे बड़ी सहायता यही हो सकती है कि जो सज्जन अपने सब डिवीजन और थाने के हिन्दी-साहित्य सेवियों को जानते हों उनके विषय में सभी जानने योग्य बातें लिख भेजने की कृपा करें। जिन साहित्यिक सज्जनों ने अपना और अपनी रचनाओं का विवरण तथा उदाहरण अब तक न भेजा हो, वे विलम्ब न करें।

निम्नलिखित सूचनाओं की आवश्यकता है:—(१) उपाधिसहित नाम; (२) वंश-परिचय (३) जन्मस्थान का पूरा पता; (४) वर्त्तमान पूरा पता; (५) जन्म (६) वर्त्तमान कार्य-क्षेत्र; (७) रचना-काल का आरंभ; (८) रचनाओं की नामावली, और अप्रकाशित; (९) रचनाओं के विशिष्ट उदाहरण; (१०) विशेष साहित्यिक (११) साहित्यिक रुचि एवं प्रवृत्ति तथा प्रेरणा-स्रोत; (१२) अन्य ज्ञातव्य आवश्यक बा

प्रार्थित सामग्री भेजने और पत्र-व्यवहार करने का प

मन्त्री,

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सम्मेलन-भवन,

कदमकुआँ, पटना-३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

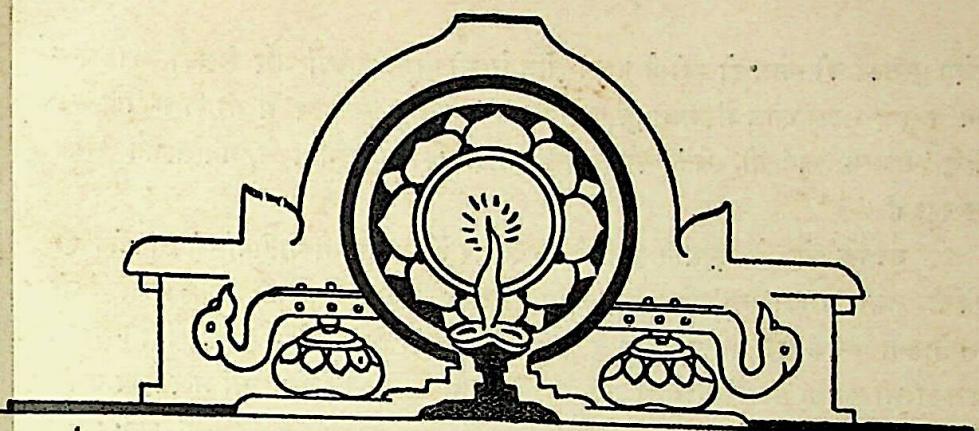

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
सम्मिलित त्रैमासिक मुखपत्र

वार्षिक ७)] [एक प्रति २)

वर्ष ५ } आषाढ़, संवत् २०११ : : जुलाई, १९५४ ई० { अंक २

सम्पादकीय

बिहार के पुराने साहित्यकार-कलाकार

'साहित्य' में आरम्भ से ही बिहार के साहित्यकारों और कलाकारों के परिचय तथा चित्र प्रायः प्रकाशित होते रहे हैं। साहित्य-संसार के बहुत-से स्वर्गीय और वयोवृद्ध व्यक्तियों को लोग भूल गये हैं। उनके परिचय और चित्र का संग्रह करने में 'साहित्य' सदैव तत्पर है। इस काम में साहित्यानुरागीमात्र से सहायता की अपेक्षा है।

'साहित्य' में अब तक जो परिचय और चित्र छपे हैं वे कभी कहीं छपे न थे। आगे भी जो छपेंगे वे ऐसे ही होंगे। साहित्य-प्रेमियों की उदासीनता के कारण, ऐसी सामग्री के संकलन में निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी, 'साहित्य' को यथेष्ट सफलता नहीं मिल रही है। तब भी उसने कई चिरविस्मृत कवियों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से प्राचीन हस्तलिखित पोथियों और अलभ्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मुद्रित पुस्तकों की खोज हो रही है। उस खोज से भी पुराने कवियों और लेखकों का पता लग रहा है। उस खोज में मिली हुई सामग्री का सदुपयोग 'साहित्य' में भी किया गया है। किन्तु 'साहित्य' स्वयं भी, स्वतंत्र रूप में, कुछ साहित्यिकों के सहयोग से, यथासम्भव संचय कर रहा है।

उपर्युक्त खोज से अनुमान होता है कि बिहार में जब पुरानी पोथियों की छानबीन हो चुकेगी तभी उसका साहित्यिक इतिहास पूरा हो सकेगा। पुराने पुस्तकालयों में जो पुरानी छपी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ हैं वे भी इतिहास के निर्माण में सहायक होंगी। उनकी तालिका भी क्रमशः तैयार कराई जा रही है। इस काम में काफी समय, श्रम और द्रव्य लगने की संभावना है; पर हिन्दी-प्रेमियों का सहयोग हो तो सहज ही साध्य भी है; अतः उनसे सविनय अनुरोध है कि वे पुराने साहित्यकारों और कलाकारों के प्रामाणिक परिचय प्राप्त करने में 'साहित्य' की सहायता करें।

—शिव०

'मुँगेर' नगर के दो रामायणी

बिहार में 'मुँगेर' एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। राजनीति और साहित्य में उसकी सेवाएँ स्तुत्य हैं। उसके दो नागरिकों से हम 'साहित्य'-प्रेमियों को परिचित कराना चाहते हैं। प्रथम सज्जन हैं श्री दीपनारायण प्रसाद जी वकील। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी के 'श्री रामचरितमानस का भावात्मक महाभाष्य' लिखा है। उसके छपे हुए कई फार्म हमने देखे हैं। उसमें सचमुच उन्होंने बहुत परिश्रम किया है। वे सम्पूर्ण 'मानस' का महाभाष्य लिख चुके हैं। वह छपने पर बड़ा भारी पोथा होगा। महात्मा रामचरणदासजी की पुरानी टीका के समान वह विस्तृत है। उसके छपकर पूरा होने में एक-दो साल का समय तो लगेगा ही। खर्च का तो कहना ही क्या!

दूसरे सज्जन हैं श्री गोकुलानन्द सहाय मुख्तार। उन्होंने तुलसीदास जी की बहुत बड़ी जीवनी लिख डाली है। उनका दावा है कि उसमें उन्होंने गोस्वामीजी की रचनाओं से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ही बहुत-सी नई खोजें की हैं। किन्तु जबतक वह जीवनी छपती नहीं तबतक उसकी प्रामाणिकता पर विचार-विमर्श होना संभव नहीं। संभवतः उन्होंने तुलसीकृत रचनाओं की टीकाएँ भी लिखी हैं, जिनमें नये-नये अर्थ की बारीकियाँ छुपाई गई हैं। जीवनी की भारी-भरकम पाण्डुलिपि तो हमने देखी भर है। हम नहीं कह सकते कि वह कब और कैसे प्रकाशित होगी।

दोनों महानुभावों की धुन धन्य है। उनके धैर्य और साहस की प्रशंसा स्वाभाविक है। परन्तु बिहार में ऐसा कोई प्रकाशक नहीं नजर आता जो उनलोगों को प्रोत्साहन दे। मुँगेर धनिकों का नगर है। यदि कोई उदाराशय सज्जन अपने नगर के विद्वानों का संकल्प मनोरथ करें तो कीर्ति ही बढ़ेगी।

—शिव०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चम्पारन के एक पुराने कवि

चम्पारन जिले के (हरपुरनाग, डा० मेहसी,) निवासी श्रीरामजीशरण विन्ध्याचलजी बिहार के बड़े पुराने कवि हैं। आपकी जीवनी 'साहित्य' में आगे छपेगी। आपने 'कृष्णायन' नामक विशाल काव्यग्रन्थ रचकर स्वयं प्रकाशित किया है। उसकी भाषा व्रजभाषा-मिश्रित अवधी है। उसे प्रकाशित करने में कवि ऋणग्रस्त हो गये हैं। उसका मूल्य १२) है। काव्य की दृष्टि से उनका ग्रन्थ सुन्दर है। किन्तु वे आधुनिक विज्ञापन-कला से परिचित नहीं हैं; इसलिए उनके ग्रन्थ का प्रचार न हो सका।

मध्यप्रदेश के सुप्रतिष्ठित साहित्यसेवी पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्रजी ने भी 'कृष्णायन' नामक विशाल काव्यग्रन्थ अवधी भाषा में लिखा है। वह हिन्दी-जगत् में प्रसिद्ध हो चुका है। दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन और उनकी समीक्षा करना सुधी समालोचकों का काम है। हमने दोनों को यत्र-तत्र देखा है। यह ग्रन्थ उससे निम्नकोटि का नहीं है। कवि की सफलता अभिनन्दनीय है। साहित्यिक रुचि के पाठक चाहें तो ऋणग्रस्त कवि का उद्धार कर सकते हैं। जो सुन्दर रचना स्वयं रचयिता द्वारा प्रकाशित की जाती है उसकी ओर पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट होना चाहिए।

—शिव०

बिहार के साहित्यकारों की कठिनाइयाँ

बिहार के बहुत-से लेखकों और कवियों के पास उनकी रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी हुई हैं। उन्हें बिहार के प्रकाशकों से यथोचित प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो रहा है। बिहार में कई समर्थ प्रकाशक हैं। उनमें अधिकांश केवल पाठ्य-पुस्तकों के मोह में फँसे हुए हैं। साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशन में उनकी सहज प्रवृत्ति नहीं है। फलस्वरूप बिहार के कितने ही प्रतिभाशाली और यशस्वी लेखकों तथा कवियों की लेखनी कुण्ठित हो रही है।

कुछ दिन पहले हमने 'साहित्य' में बहुत-से बिहारी साहित्यिकों की अप्रकाशित पुस्तकों की सूचनाएँ प्रकाशित की थीं। किन्तु उनपर किसी प्रकाशक ने ध्यान न दिया। हमारे कई सुयोग्य साहित्यकार अपनी रचनाओं को स्वयं प्रकाशित करके अर्थसंकट में पड़ गये हैं। कुछ लोगों की रचनाएँ बाहर के प्रकाशकों ने छापी हैं। फिर भी अनेक उत्तम वस्तुओं का रस समय सोख रहा है। बिहार के प्रकाशकों को साहित्यिक कृतियों के प्रकाशन पर भी ध्यान रखना चाहिए।

बिहार में हिन्दी पुस्तकों की काफी खपत होती है। यहाँ पुस्तकालयों की संख्या भी बहुत है; नया-नया साहित्य पढ़नेवाले पाठक भी कम नहीं हैं। कोई छपी पुस्तक ज्यादा दिन पड़ी नहीं रह सकती। किन्तु लेखक या कवि यदि व्यवसाय में व्यस्त होगा तो उसकी शक्ति बिखर जायगी। बिहार की पुस्तकें बाहर भी बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। हमारे प्रकाशक यदि पाठ्य-पुस्तकों की आय से साहित्य को थोड़ा देते चलें तो उनका भविष्य निस्सन्देह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सन्तोषजनक होगा। कुछ प्रकाशकों ने लाज रखने के लिए साहित्य का आँसू पोंछा है, पर उतने से ही बिहार की उत्कृष्ट प्रतिभा का वास्तविक सम्मान नहीं होता। क्या यहाँ के प्रकाशक कभी अपने लेखकों और कवियों की कठिनाइयाँ समझेंगे ?

—शिव०

हिन्दी-शिष्ट-मण्डल दक्षिण-भारत की ओर—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से एक हिन्दी-शिष्ट-मण्डल दक्षिण-भारत में सद्भावना-प्रसार के निमित्त जा रहा है। उस मण्डल में डाक्टर अमरनाथ झा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० राजबली पाण्डेय, डा० धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, श्री दिनकरजी और श्रीगोविन्दप्रसाद केजरीवाल जानेवाले हैं। कुछ दिन पहले भी एक हिन्दी-शिष्ट-मण्डल उधर गया था। उसमें श्रीमती महादेवी वर्मा, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, पण्डित सीताराम चतुर्वेदी, कविवर दिनकरजी आदि सज्जन सम्मिलित थे। उस यात्रा का विवरण भी काशी के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' में छपा था। 'आज' में दक्षिण-भारत की चिट्ठियाँ प्रायः छपती रहती हैं। उनसे यह पता लगता है कि अब धीरे-धीरे वहाँ का वातावरण हिन्दी के अनुकूल होता जा रहा है। आशा है कि नये 'मण्डल' के जो सदस्य पहले दक्षिण-यात्रा कर चुके हैं वे अपने पिछले अनुभवों से लाभ उठावेंगे।

हम तो कभी दक्षिण नहीं गये, पर हमने अनुभवी लोगों से सुना है कि दक्षिणी भाइयों को हिन्दी के पक्ष में लाने के लिए अँगरेजी भाषा में प्रभावशाली भाषण करनेवाले ऐसे कुशल वक्ता की आवश्यकता है, जो हिन्दी-साहित्य का भी मर्मज्ञ हो और जो अहंकार-शून्य होकर हिन्दी के साहित्यिक ऐश्वर्य का परिचय दे सके। निश्चय ही इस बात की जानकारी मण्डल-सदस्यों को भी होगी।

मण्डल को वहाँ जाकर केवल राष्ट्रभाषा का महत्त्व प्रकट करना और हिन्दी-साहित्य का वैभव बखानना ही नहीं है, बल्कि राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणाएँ दक्षिणी मस्तिष्कों में बद्धमूल हो गई हैं उन्हें निर्मूल भी करना है। साथ ही, दक्षिणी भाषाओं के साहित्य का चरमोत्कर्ष स्वीकृत करते हुए यह भी सुझाना और जँचाना है कि एकमात्र राष्ट्र-भाषा के आधार से ही दक्षिणी साहित्य भारतव्यापी हो सकता है।

दक्षिणी साहित्यिकों से यह भी अनुरोध करना आवश्यक होगा कि वे राजनीति को साहित्यिक मंच अधिकृत न करने दें और मिथ्या भ्रमजाल में पड़कर राष्ट्रीय एकता की शक्ति को क्षीण न करें। दक्षिण और उत्तर के साहित्य में पारस्परिक आदान-प्रदान और भाव-विचार-विनिमय का अटूट सम्बन्ध बराबर बना रहे, इसीके लिए अथक प्रयत्न होना चाहिए। यदि कोई दक्षिणी भाषाएँ जाननेवाला सदस्य भी मण्डल में होता तो बहुत अच्छा होता। ऐसे सज्जन उधर बहुत मिलेंगे और विश्वास है कि मण्डल को उनका सहयोग भी प्राप्त होगा।

दक्षिण में हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए केवल शिष्टमण्डल भेजने से काम न सरेगा। उत्तर से जो हिन्दी के प्रतिनिधि उधर जायँ वे यदि दक्षिणी भाषाओं में भी दक्ष हों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तो वहाँ और भी अधिक प्रभाव पड़ेगा। दक्षिण में तो हिन्दी-प्रचार काफी हुआ है और अब भी हो रहा है; पर उत्तर में ऐसी कोई संस्था नहीं जो हिन्दीवालों को दक्षिणी भाषाएँ सिखा सके। सुनने में आया है कि प्रयाग में भारतीय हिन्दी-परिषद् की ओर से इसी काम के लिए भाषा-विद्यापीठ खुलनेवाला है। उत्तर-भारत के प्रत्येक प्रधान केन्द्र में ऐसी संस्था की आवश्यकता प्रतीत होती है। काशी इसके लिए सर्वोत्तम केन्द्र है। वहाँ दक्षिणी अध्यापक भी आसानी से मिल सकते हैं। 'सभा' का शिष्ट-मण्डल सर्वतोभावेन सफलमनोरथ हो, यही ईश्वर से प्रार्थना है, और आशा है कि शिष्ट-मण्डल की सफलता से उत्साहित होकर 'सभा' काशी में भी दक्षिणी भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध करावेगी।

—शिव०

आर्यभाषा-पुस्तकालय की हीरक-जयन्ती

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा-पुस्तकालय की हीरक-जयन्ती विक्रम-संवत् २०१३ में मनाई जायगी। उसके लिए 'सभा' आज से ही आयोजन करने में लग गई है। महोत्सव की एक सामान्य रूपरेखा 'सभा' की ओर से प्रचारित हो रही है। उसमें आवश्यकतानुसार नये भवन और व्याख्यान-मण्डप के निर्माण की योजना तो है ही, देश-भर के पुस्तकालयों के संगठन और विकास के प्रयास एवं उपाय करने की योजना है। वास्तव में सभा का यह आयोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें समस्त हिन्दी-जगत् का हार्दिक सहयोग अपेक्षित है।

'सभा' की योजना पाँच लाख की है। दो वर्ष में केवल हिन्दी-प्रधान प्रान्तों से ही इतनी रकम इकट्ठी हो सकती है। सभी हिन्दी-हितैषी आज से ही यथाशक्य दान देने का संकल्प कर लें तो 'सभा' की माँग अनायास पूरी हो जायगी। हिन्दी-पत्रकारों को भी 'सभा' के आयोजन की सफलता के लिए कृतसंकल्प होना चाहिए।

हमारा सुझाव है कि नये भवन का नाम 'भारतेन्दु-भवन' और व्याख्यान-मण्डप का नाम 'श्यामसुन्दर-मण्डप' तथा अनुशीलन-कक्ष का नाम 'रामचन्द्र शुक्ल-कक्ष' होना चाहिए। साथ ही, पुस्तकालय में उसके मूल-संस्थापक श्री गदाधर सिंह की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की जाय। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, कविवर रत्नाकर आदि ने जो अपने संग्रहालय 'सभा' को दान दिये हैं उनमें उन महारथियों के तैलचित्र भी विभागानुसार पृथक्-पृथक् रहें। यदि 'सभा' के संचालक उचित समझें तो रामनारायण मिश्र, लाला भगवान दीन और 'प्रसाद' तथा प्रेमचन्द की स्मृति में भी एक-एक प्रकोष्ठ बनवा सकते हैं। ऐसे स्मारक हमारी श्रद्धा के प्रतीक होंगे और साहित्य-जगत् की भावी पीढ़ियों को सदैव प्रेरणा देते रहेंगे। इन कामों के लिए एक-एक दानशील व्यक्ति भी अलग-अलग धनराशि देकर अमरकीर्त्ति हो सकते हैं।

—शिव०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लेखकों के दायित्व

पी० ई० एन्० का इस बार का अन्तर-राष्ट्रीय अधिवेशन एमष्टर्डम में हुआ। उसके अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए अँगरेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार और निबंधकार चार्ल्स मार्गन ने जो बातें कहीं हैं उनमें से अधिकांश से हम सहमत हैं और उन्हें इन पृष्ठों में अपनी बात उनकी जुबानी मानकर उद्धृत कर रहे हैं :—

'जून की यह रात और युद्ध नहीं !' कृतज्ञता और विस्मय का यह एक ऐसा वाक्य है जिसका प्रयोग मैंने अपनी रचनाओं में एक से अधिक बार किया है और जो फिर मेरे दिमाग में आया जब कल रात मैं एमष्टर्डम के इस महान् नगर को अपनी खिड़की से देख रहा था। मेरे पिता और पितामह के लिए युद्ध एक भयंकर विपत्ति थी। मेरी पीढ़ी के पुरुषों और नारियों के लिए शांति एक दुर्लभ वरदान रही है। बीस से लेकर पचास की उम्र के तीस साल किसी भी मनुष्य के कर्मशील जीवन के मर्म होते हैं। मेरे और इस अधिवेशन में भाग लेनेवाले बहुतेरे लोगों के इन वर्षों का एक तिहाई हिस्सा अखंड युद्ध में बीता है। अकेले यही हमें इस बात की चेतावनी देने के लिए काफी है कि हम शांति को सुलभ न मान लें, बल्कि इसके प्रत्येक क्षण को पूर्णता और निर्भयता के साथ जियें। सबके ऊपर तो यह कि हम व्यर्थ में ही किसी को शांति का नाम न लेने दें, न उसे आतंक के उपयोगों के लिए विह्वल होने दें। यदि शांति के 'बालुका-कण' चुकते जा रहे हैं, तो हमारे जीवन के क्षण भी समाप्त हो रहे हैं। किन्तु यह कोई कारण नहीं है कि हम अपनी निष्ठा को खंडित हो जाने दें, या अपने हाथों में अपनी लेखनी कंपित होने दें।

प्रारंभिक युग के ईसाइयों का यह विश्वास था कि उनके जीवन-काल में ही भौतिक जगत् समाप्त हो जायेगा। विज्ञान ने उस विश्वास के लिए हमें एक नया कारण दिया है। वे हमारी अपेक्षा अधिक आस्थावान् थे। उनके लिए समय की अल्पता भगवत्कृपा का एक साधन थी; हमारे लिए भी यह ऐसी ही हो। यह भौतिकतावाद को उसके लाभ से और अत्याचार को उसकी शक्ति से वंचित कर देती है। यह एक ऐसा कारण है कि हम प्रेम करें और शांति का जीवन बिताएँ। यह बुद्धि के सारे बंधनों को क्षमादान है; यह विशृङ्खलता के सभी दर्शनों को खत्म कर देती है। यह कहना : 'जून की एक रात और युद्ध नहीं!' अपनी उपलब्धियों को गिनना है, निराश होना नहीं।

१९४५ ई० की पिछली महान् संधि के बाद क्या हुआ है, उसके बारे में आपको यह याद दिलाने के सिवा मैं कुछ भी नहीं कहूँगा कि, उन अनेक राष्ट्रीय केंद्रों के बीच जो सिलकर लेखकों की उस अन्तर-रारष्ट्रीय संस्था को बनाते हैं जिसे पी० ई० एन्० कहा जाता है, एक ऐसा भी केन्द्र है, जो हमारे विधान के अनुसार, हमारे आदर और सद्भावनाओं पर विशेष अधिकार रखता है—मेरा तात्पर्य है उस केन्द्र से जिसे निर्वासित लेखकों के केन्द्र के नाम से अभिहित किया जाता है। यदि हमसे पूछा जाय कि पी० ई० एन्० क्या है, तो मेरा विश्वास

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है कि सबसे सरल और सच्चा उत्तर यह है : "हमारा अस्तित्व इसलिए है कि ऐसी किसी भी संस्था, जैसी निर्वासित लेखकों की है, के अस्तित्व की आवश्यकता न रह जाय। हम इसलिए परिश्रम करते हैं कि एक भी लेखक निर्वासित न रहे और मानवता के शब्द-कोष से यह शब्द हटाया जा सके।"

वस्तुतः विचार की स्वतन्त्रताओं के प्रति इसी आत्मार्पण की भावना से मैंने वह महान् सम्मान स्वीकार किया जिसे, बेनेदेतो क्रोचे के उत्तराधिकारी के रूप में मुझे अपना अन्तर-राष्ट्रीय अध्यक्ष चुनकर, आपने मुझे प्रदत्त किया है। मैं इसी भावना से ऐसी निष्पक्षता के साथ आपकी सेवा करने की चेष्टा करूँगा जो मेरे जैसे मनुष्य के लिए शायद स्वाभाविक है जो समितियों, परिषदों और काँगरेसों से दूर रहता है, जो हृदय से ऐसा एकांतप्रेमी लेखक हैं जो दलबन्दियों और षड्यंत्रों से सक्रिय घृणा करता है, जो इस बात की ज्यादा परवाह करता है कि कोई पुस्तक सुलिखित हो बनिस्बत कि वह किसी खिड़की के नीचे शोरगुल करने के लिए भीड़ को उत्तेजित करे, और जो, संक्षेप में, मैं आशा रखता हूँ, एक मैत्रीपूर्ण किन्तु सामूहिक जीव नहीं है।

समसामयिक जगत् में अपने दायित्वों के सम्बन्ध में दूसरे लेखक एक भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि जिसे वे सही खिड़की मानते हैं उसके नीचे जय-जयकार करने और गलत खिड़की पर पत्थर चलाने के लिए दूसरों को प्रेरित करें। उनमें और मुझमें जो अन्तर है वह किसी बात पर जोर देने और स्वभाव और काल-विचार का है, न कि अन्तिम सिद्धान्त का। हममें से प्रत्येक का, मनुष्य के रूप में, कर्त्तव्य है कि वह उस सत्य का साक्षी बने जो उसके अन्दर है, और अगर उसका औजार कलम है तो उसे अधिकार है कि वह उसका उपयोग करे—उसी तरह जिस तरह वालतेयर ने फ्रांस में और स्विफ्ट ने इङ्गलैंड में किया था। दूसरे शब्दों में पर्चेबाजी और राजनैतिक व्यंग्य ऐसे लेखकों के न्याय्य कार्य हैं जो इनमें रुचि रखते हों, और हममें से उनलोगों को भी जो ऐसी रुचि नहीं रखते कभी-कभी इस क्षेत्र में कूदने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है, अगर हम महसूस करते हैं कि किसी अन्याय का विरोध करने को हमारी आत्मा हमें निर्देश दे रही है।

ऐसा होते हुए भी, काल-विचार और स्वभाव का अन्तर तो बना ही रहता है, और यह एक ऐसा अन्तर है जिसे, यह जैसी सभा है उसमें, हमें प्रकृति के एक तथ्य के रूप में शांतिपूर्वक स्वीकार करना उचित है, न कि अपने भीतर, आत्मौचित्य-भाव के और जो लेखक हमसे मतभेद रखते हैं उनके प्रति घृणा के कारण के रूप में मानना ठीक है। कुछ दूसरों से अधिक उग्र होते हैं; कुछ अधिक तटस्थ। टाल्स्टाय बारी-बारी से दोनों था; तुर्गनेव, एक आत्मार्पित कलाकार—अगर ऐसा कभी कोई रहा हो—यह मानना पसन्द करता था कि उसके शिकारियों के शब्द-चित्रों का महत्त्व उनके नंदतिक (Aesthetic) वैशिष्ट्य में उतना नहीं था जितना दासों की मुक्ति को प्रभावित करने में; और तौभी यही तुर्गनेव था जिसने,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपनी मृत्यु-शय्या पर, टालस्टाय से प्रार्थना की थी कि वह अपने सामाजिक और धार्मिक प्रचार का परित्याग कर दे और कहानी कहने की ओर वापस लौट जाए। हम लेखक ऐसे विचित्र जीव होते हैं कि हम बौद्धिकतः एक साथ रहना सदैव कठिन पाते रहे हैं और आज तो पहले से भी कठिनतर पा रहे हैं।

इसका समाधान सहिष्णुता और समझौते कि अस्फुट आह्वान में नहीं है। समाधान है, इस काँगरेस में और अपने साथी लेखकों के अपने संपर्कों में, अपने से सही सवाल पूछने में। उदाहरण के लिए—"यह मनुष्य जिसे मैं कायर और पलायनवादी समझता हूँ क्योंकि वह मेरे कंधे से कंधा मिलाकर मेरी लड़ाई नहीं लड़ता, क्या यह संभवतः, मुझ से भिन्न किंतु कम वास्तविक नहीं, सत्य के अन्वेषण में संलग्न हैं?" या दूसरे दृष्टिकोण से: "यह आदमी जिसे मैं ऐसा उग्र भौतिकवादी समझता हूँ जिसने अपनी वैयक्तिकता समर्पित कर दी है और जो किसी दल या संप्रदाय का ध्वनिविस्तारक यंत्र बन गया है, क्या यह भी अपनी आत्मा का उत्सर्ग नहीं कर चुका है, यद्यपि इसकी आत्मा का स्तर मुझसे भिन्न है?" या दोनों दृष्टिकोणों से "क्या यह अपरिचित व्यक्ति मेरी ही तरह व्यथा नहीं सह रहा? क्या यह शत्रु कभी—एक शिशु नहीं था?"

यदि यह कहने के लिए, मुझ पर भावुक होने का दोषारोपण किया जाता है तो मैं इसे सह ले सकता हूँ।

मैं आतुरता के साथ इस बात के लिए चिन्तित हूँ कि इस काँगरेस के द्वारा कल्याण के लिए जो अवसर सुलभ हुआ है वह मत-प्राप्ति के लिए प्रचार करने में, अधिकार के लिए पैंतरेबाजी में, पक्षपातपूर्ण मन की अनुदार कटुता में, बर्बाद न हो। यहाँ जो कोई भी नौसिखुओं की भर्त्ती करनेवाले के रूप में आया है, एकमात्र वही हमारा शत्रु है; वह यहाँ से चला जाय। जो कोई भी यहाँ सीखने और कल्पना करने के लिए आया है वह हमारा मित्र बने। हमें अनुभूति और प्रज्ञा से डरना नहीं है; यही विवेक का जीवन-रक्त है। यही कारण है कि व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए विचार या निर्णय की अपेक्षा कला अधिक महत्त्वपूर्ण है; यह उनकी पूर्ववर्त्तिनी है; यह आत्मा की है, वे शरीर के हैं। किन्तु मैं यहाँ अपनी कुछ कहने नहीं, बल्कि आपकी सुनने आया हूँ। मैं केवल एक चीज के लिए प्रार्थना करता हूँ कि जब प्रत्येक दिन के कार्य की समाप्ति के बाद हम अपनी खिड़कियों से इस शांतिपूर्ण नगर पर अपनी दृष्टि डालें और चूँकि सौभाग्य से यह सम्भव है, हम एक बार फिर कहें, "जून की एक रात और, लड़ाई नहीं," तब उन्हें स्मरण करें जो स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणों की आहुति दे चुके हैं जिसका उपभोग करना हमारे लिए आज संभव है, और उन्हें भी जो, बन्दी और पराधीन होने के कारण, मृत्यु की दया से वंचित कर दिये गये हैं।..."

—न० वि० श०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

(व्यावहारिक पक्ष)

प्रो० श्री जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०

(गतांक से आगे)

—शेखर : एक जीवनी—

'शेखर : एक जीवनी', 'तदुपरांत-उपाधि' का यह हठ-आकर्षण क्यों ? एक उपाधि 'शेखर', उसके उपरान्त, चेतावनी जैसी, अथवा निवेदन-विशेष जैसी, दूसरी उपाधि—'एक जीवनी' । पहली स्पष्ट नहीं थी, इसलिए दूसरी दी गयी । अशोक-प्रतीक में जो 'सिंह भिड़े रहते हैं वहाँ सत्यमेव जयते' स्पष्ट न लिखा हो तो शायद 'सिंह एव जयते' की आशंका हो जाय ! पर इस 'एक जीवनी' का रहस्य क्या है ?

योंही केवल 'शेखर' लिखा होता तो पढ़नेवाले सामान्यतः एक गल्प-कृति, गद्य-प्रबन्ध अथवा उपन्यास समझते । 'जीवनी' से ऐसा लगता है जैसे 'इसे उपन्यास न माना जाय' इसकी सिफारिश, या 'हम इसे उपन्यास नहीं मानते' इसका दंभ, तथा 'आत्मकथा नहीं है यह, ओ शीघ्रता तथा सतह के पाठको' इसकी भी चेतावनी है । यदि आत्मकथा हो भी तो अज्ञेय नाम न दे कर 'शेखर नाम दे देने से विधानतः पाठकों का मुँह बंद कर दिया जा सकता है । लेकिन 'शेखर' नाम दे देने पर भी प्रभाव के आधार पर कवि-पर्याय तथा कवि-निबद्ध पात्र के भेद का अधिकार साहित्य-सुहृद् के लिए सुरक्षित है । ऐतिहासिक सत्ता के किसी व्यक्ति की जीवनी लिखनेवाला साहित्यकार भी घटनाओं की वास्तविकता का विचार तो रखता ही है, लेकिन रस अथवा शील-पराग की दृष्टि से घटनाओं का चयन-गुम्फन करता तथा आलम्बन का शब्द-प्रत्यक्ष कराता है । जहाँ पात्र तथा घटनाएँ कल्पित हैं वहाँ उपन्यास न कह कर 'जीवनी' कह देने से कौन-सी विशेषता आ जाती है ? 'एक व्यक्ति-विशेष पर जो बीती या 'संसार में एक व्यक्ति-विशेष की जैसी बीती' यह जीवनी है; लेकिन 'संसार ऐसा है, जिसमें लोग ऐसे होते हैं' अथवा 'जीवन ऐसा है, जिसे लोग ऐसे भोगते हैं', यह उपन्यास है । अन्ततः व्यक्ति भी संसार में ही होता है, और संसार में व्यक्ति ही रहते हैं, लेकिन अन्ततः तो पानी बर्फ है और बर्फ पानी है । उपदेश उन्हीं काव्य-कृतियों में अधिक उच्चरित होता है जिनमें स्वभाव-चित्रण की अपेक्षा, मनुष्य के अन्तस्सार-यथार्थ की अपेक्षा, कर्मबीज तथा फल-विपाक के सम्बन्ध-तन्तुओं द्वारा घटनाओं की अन्विति प्रमुख रहती है । जिस जीवनी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से यह शिक्षा मिले, 'चोरी करने का फल बुरा होता है' वह 'व्यक्ति-विशेष पर जो बीती', या 'संसार में एक व्यक्ति-विशेष की जैसी बीती' नहीं है। वह जीव-प्रधान नहीं, जीवन-प्रधान है, संसार-प्रधान है; जीवनी नहीं हित-गाथा है। इसी तरह जिस उपन्यास में किसी एक व्यक्ति-विशेष की अनुपस्थिति व्यापक ही नहीं बाधक भी हो जाय, अर्थात् जहाँ दूसरे पात्रों को बढ़ने-पनपने न दे, यदि पनपने भी दे तो साग की तरह खोंट कर खुद खा जाने के लिए; जहां पात्रों के विकास में थोड़ी भी भिन्नता तथा स्वतंत्रता न हो, और संसार में शील की, लोगों की, विविधता का पता न चलने पाये, वह उपन्यास जीवनी भी न रह कर विशुद्ध 'चरित' बन जाता है—व्यक्ति के जीवन का ऐसा और उतना ही प्रत्यक्ष जिससे उसके चरित का पता चले।

आश्रय शेखर आलंबन शेखर की कथा को ले कर कहता है, 'कथा का महत्त्व मेरे लिए नहीं है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसी का महत्त्व है।' 'शेखर' में कुछ ऐसे भी पात्र आ जाते हैं जो अपना निराला संस्कार छोड़ जाते हैं, लेकिन ऐसे सभी पात्र शेखर को आहार पहुँचाने वाले हैं। घटनाएँ इनी-गिनी हैं, प्रायः आवृत्ति के चक्र जैसी हैं और मानसिक हैं।

शारदा, सरस्वती, कुमार प्रायः आवृत्ति के चक्र जैसे हैं। मालूम होता है, शेखर के भीतर कोई रंग का बादल है जो एक के बाद दूसरे पर छा जाता है, कोई दोस्ती का मर्म है जो देखते ही हो जाता है। बाबा मदन सिंह, महसिन, रामजी आदि रूप-भेद से प्रायः एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं। इनके माध्यम से जैसे शेखर अपनी वीर-पूजा कर रहा हो। शेखर में वीरता तथा मौलिकता का जो दंभ है वह जैसे मदन, महसिन और रामजी में साकार हो गया हो। उसमें रामजी ही कुछ थोड़ा अपने ढंग का आदमी है। मदन और महसिन तो शेखर के ढंग के आदमी हैं, भेद यही है कि शेखर इस वीरता के दंभ को विचार के दंभ से छिपा देता है।

शेखर आद्योपान्त घुटता चलता है, लेकिन उसके लिये पाठक को तनिक भी सहानुभूति नहीं होती है। वह तो सहानुभूति करनेवाले पर ही दया करता, सहानुभूति को अपना अपमान समझता। वह सब को घसीट कर अपने अहं के कुंड में होम कर देता है। शशि अन्त होते-होते, करुणा अर्जित कर लेती है, लेकिन शेखर कभी शशि को शशि न रहने दे कर शेखर की शशि, 'मैंने, मेरे मौलिक व्यक्तित्व ने पैदा की है यह सुसंस्कृत लाश, जिसे शशि कहते हैं' का इतना प्रकट, स्पष्ट आग्रह करता है कि लगता है घुमा-फिरा कर, सभी के हाथ पैर तोड़ कर, फिर अपने में जोड़ कर, शेखर ने उन्नत तथा विराट्-विस्तृत होने का प्रयत्न किया हो।

घटनाएँ विशेषतः जिज्ञासा, असमंजस तथा वेदना की हैं। सभी अन्तःप्रधान जगह की। इसलिए शेखर में एक व्यक्ति-विशेष तो है, लेकिन व्यक्ति-विशेष पर कैसी बीती, क्या बीती, नहीं के बराबर है। शेखर के चलते, उसके व्यक्तित्व की महामौलिकता की आँच में बेचारे जीवन पर कैसी, बेचारे (अल्प या सामान्य संस्कृत) लोगों पर कैसी बीती, कुछ नहीं

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उल्टी कथा है। इसलिए शेखर काहे को जीवनी होने जाय? प्रयास तो है इसे चरित बनाने का। घटनाएँ बेचारी इसलिए होती हैं कि शेखर उनमें चरितार्थ हो सके।

शेखर आत्म-समीक्षा-प्रधान चरित है, या यों कहिए, रस की कृति नहीं, रासायनिक है। शेखर अपने को भी प्रज्ञा-चक्षु से, अन्तर्मुखी, समन्वित दृष्टि से नहीं देखता, चंचु-विश्लेषण करता है, चोंच से कुरेदता है। उसकी किसी परिस्थिति अथवा शील-व्यंजना पर पाठकों को अपनी कल्पना खर्च करने की आवश्यकता नहीं, अन्तर्यामी शेखर मन का कोना-कोना उनके लिए स्वयं छान डालता है, महल को चुन-चुन कर कंकड़ बना देता है। कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर घटनाएँ अथवा स्थितियाँ शील की भोग-दशा का द्योतक न हो कर शेखर की भाव्य-सामर्थ्य के अवसर जैसी लगती हैं। आत्म-मीमांसा कभी-कभी परिस्थिति से शील के संयत सम्बन्ध को भुला कर, चेतना में तत्क्षण आये दुनिया भर के विषयों की समीक्षा अथवा शतावृत्त विचार-पिष्टी का रूप ले लेती है, जिसमें न रूप रह जाता है, न सौरभ, केवल घर्षण अथवा रगड़ का ताप रहता है—प्रवाल भस्म बन जाता है। समूचे 'शेखर' में केवल हम जलते माथे पर हाथ रखे रहते हैं।

किसी सहज हृदय की क्लिष्ट-से-क्लिष्ट जिज्ञासा भी रस-पोषक होती है। उदाहरण लीजिए। अपने अहंकार के क्रुद्ध आवेश में कोई अपने दरवाजे पर किसी का अपमान कर दे, और तब उसे यह झटका लगे, 'अरे, हमने क्या किया? अब इस कर्म का फल क्या मुझे मिल कर ही रहेगा? मिलेगा, तो वाजपेयी को क्यों नहीं मिला जिसने ऐसे कुकर्म किये, वैसे कुकर्म किये? लोग कहते हैं, पूर्वजन्म से प्रारब्ध बना रहता है, तब तो शायद मैंने भी अच्छे कर्म किये हों? क्या ईश्वर क्षमा नहीं करता? यदि ईश्वर क्षमा नहीं करता, तो क्या अपना कर्म ही ईश्वर है?' यहाँ यदि वह आश्वासन खोजता है तो प्रश्न छोड़ कर कहेगा—'नहीं, नहीं ईश्वर अवश्य क्षमा कर देगा। मैं रोऊँगा, हाथ जोड़ूँगा, विनय करूँगा।' उस मौके पर उसे कोई चौपाई सूझ जायगी, अथवा कोई श्लोक या कोई कहावत। यदि वह कुछ कठोर स्वभाव का है तो कहेगा, 'जब अपना कर्म ही है तो हटाओ ईश्वर को। कभी अच्छा कर्म भी करूँगा। जब बुरे कर्मियों को भी अच्छा फल मिलते देखता हूँ तो वाजपेयी की तरह मैं भी बच जाऊँगा। मृत्यु के बाद? मृत्यु के बाद क्या है? देखा जायगा।'

यह मन का एक स्थूल चित्र है, लेकिन प्रत्येक प्रश्न के साथ सहज हार्दिकता लगी हुई है। कभी ग्लानि, कभी बचने की आशा, कभी दूसरे के पतन को देख अपने को क्षमा करने की स्वाभाविक आत्म-प्रवंचना का मिथ्या तोष। लेकिन शेखर तो अपने बड़प्पन से हैरान है। अपनी जिस बौद्धिक संस्कृति पर शेखर को नाज है वह तो मस्तिष्क पर स्मृतियों का बोझ है। दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि के कच्चे कचरे से शेखर की दंभ-वायु कुपित-सी हो गई है। शेखर के ऊपर न तो संसार का बोझ दीखता है, न किसी विपत्ति, न किसी विशेष वेदना का। शेखर के ऊपर सबसे अधिक बोझ उसके माथे का है, इसी से शायद उसे फाँसी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

या मृत्यु में सर्प की आँखों-सा एक तुषारमय सम्मोहन दीखता है। फाँसी शेखर के लिये दण्ड नहीं है, दवा है। शेखर के माथे में एक मधुमक्खी है जो डंक मारती रहती है और भन-भनाती रहती है—'किसी-न-किसी तरह मुझ में औरों से विशेष गरिमा है। मैं सूक्ष्म हूँ, परिष्कृत हूँ, महान् हूँ। मेरा अपमान उच्चतम विकास का अपमान है। मैं वर्त्तमान में ही भविष्य हूँ, समुद्र का गौरीशंकर हूँ! दया, व्यंग्य के इन माताओं, भाइयों, पिताओं, लोगों, पढ़े-लिखों को, इन कीड़े-मकोड़ों को मेरी आँच से डरना चाहिये, नहीं तो व्यर्थ झुलस जायेंगे!' इसलिये शेखर यदि ऐसी परिस्थिति में प्रश्न पूछता है तो व्याकरण-व्यायाम के लिए। बच्चों को बताया जाता है 'राम जाता है', 'राम नहीं जाता है', 'क्या राम जाता है?' लड़कों को उस 'क्या?' में हार्दिक जिज्ञासा तो रहती नहीं। इसी तरह शेखर की जिज्ञासा खोज-खोज कर प्रश्नों की जो पंक्ति खड़ी कर देती है, वह रचना (कम्पोजिशन) के अभ्यास जैसी लगती है, क्योंकि वह जिज्ञासा के सूत कातने जैसी है। शेखर ऐसी परिस्थिति में पूछता, 'कर्म? क्या है कर्म? कुरसी को स्थान 'अ' से स्थान 'ब' पर रख देना? तो उसमें अच्छाई-बुराई का सवाल कहाँ पैदा होता है? (मजा तो यह कि जहाँ सवाल पैदा नहीं होता वहाँ भी पूछ दिया जाता है।) अच्छाई क्या है? विष के लिये अच्छाई तो मार डालने में ही है? आग की अच्छाई जला डालने में है कि नहीं? मैं कुछ करता हूँ और मैं बुरा हूँ—इन दोनों "मैं" के सम्बन्ध का सिद्धान्त क्या है? "मैं बुरा हूँ" का अर्थ तो यह है कि लोग मुझे बुरा समझेंगे? पर लोग? कौन हैं ये लोग? और क्या नहीं हूँ मैं?'

इस तरह जिज्ञासा शाब्दिक, तात्त्विक हो जाती है, हार्दिक, यानी, परिस्थिति-सापेक्ष, नहीं रह जाती। परिस्थिति का निरुदन (Dehydration) हो जाता है, बुद्धि का धनुष्टंकार हो हाथ लगता है। पहले के प्रश्न सुई-तागे के टाँके की तरह हैं—कपड़े से कमीज बन जाती है, एक 'डिजाइन', एक आकृति हाथ लगती है। दूसरी सरणि में सूत अलग कर दिये जाते हैं, जिससे सत्य संज्ञाओं का नग्न कंकाल बन जाय, और वह भी इस तरह कि जुगुप्सा न उत्पन्न हो, कोई भाव ही न उठे। शेखर मक्खी नहीं, परिस्थिति मकड़ी नहीं। शेखर ही मकड़ी है, परिस्थिति मक्खी जैसी फँस जाती है।

(२)

शेखर में शील की अस्वाभाविकता केन्द्रीय परिस्थिति (फाँसी) की व्यापक विस्मृति, प्रतिक्रिया की हतुक्षीणता, दृश्य-खण्डों की गरिष्ठ स्वतंत्रता तथा रंगशाला के हठोन्माद की भूरिश: आवृत्ति के कारण देखने को मिलती है। बालों को ऐंठना, देह को मरोड़ना, घुटनों के बीच बहुधा सर छिपाये बैठना, जेल के सीकचों के साथ मांस-व्यायाम करना प्राय: उसकी सामान्य मौलिकता है। कभी कोई प्रश्न शेखर के होंठों पर आ जाता है, तब वह दाँत पीसता है, फिर वश न चलने पर होंठ काटता है, यहाँ तक कि खून आ जाता है। अस्वाभाविकता के कुछ स्फुट कारण नीचे दिये जाते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(१) स्वान्तः सुखाय उक्ति-विलास :—

जेल से शेखर जब लौट आता है तो शशि पूछती है कि जेल में जा कर लोग कुछ खट्टे हो जाते हैं, उन्हें किसी पर विश्वास नहीं रह जाता, कहीं शेखर तो वैसा नहीं हो गया है। शेखर वैदग्ध्य के सस्ते असंयत स्खलन में कह बैठता है कि जेल का जीवन उसे कड़वा लगा, लेकिन वह कड़वा नहीं हो गया है। यहाँ 'न, ऐसी तो कोई बात नहीं, क्या ऐसा कुछ पाती हो मुझमें ?' से काम चल सकता था। गाढ़े सख्य के संदर्भ में इतना ही काफी था। वास्तव में यहाँ खट्टे और कड़वे की लक्षणा में कोई भेद नहीं। जेल के अशिव प्रभाव के अम्ल-तिक्त-मधुर-कषाय आदि प्रभाव शेखर ने नहीं गिना दिये, यही गनीमत है। एक सीधे नकार से जहाँ रस का काम चल जाता, वहाँ स्वतन्त्र मान-सिद्धि के लिए शेखर शशि को विश्वास दिलाने की सहज भावुकता को छोड़ देता है और वक्रोक्ति का व्यर्थ-क्षय विचित्रवीर्य बन जाता है। जिस मनोविज्ञान की किताबों के सूत्र या संकेतों के आधार पर शेखर का शील-विकास दिखाया गया है वही विज्ञान कह उठेगा कि शेखर के मानस में एक हतदृपण-ग्रन्थि है, जो रह-रह कर इस तरह शब्दों के नग्न प्रदर्शन में अपनी मुक्ति पाती है।

(२) समीक्षा का आत्मघात :—जेल से लौट कर शेखर के आने पर शशि भोजन को पूछती है, फिर पूछती है कि शेखर अब क्या करेगा। साथ ही यह भी चेतावनी देती है कि दुबारा आने पर वह पूछेगी कि शेखर ने क्या किया। फिर दुबारा आने के लिये आग्रह करती है, और यह भी जोड़ देती है कि 'वह कह कर गये हैं'। वह यानी उसके पति। इसी बात में न मालूम शेखर को कौन-कौन-से रहस्यों की शंका होती है। पाठक तो हैरान रहता है। इस रहस्य-भावन में पाठक का मनोयोग नहीं भी रहता है, तो भी इस रहस्य को मान कर आगे बढ़ने पर बात कुछ और ही, ऊटपटाँग हो जाती है। शेखर को ऐसा भान होता है कि शशि कुछ दूर-दूर-सी है। कारण क्या है ? पति-पत्नी की आत्मीयता है ? आत्मीयता में तो गहराई होती है। यहाँ तक तो ठीक है। फिर शेखर को लगता है जैसे शशि, शशि के पति रामेश्वर और स्वयं शेखर के बीच जो अविच्छेद्य पर्दा है, उसके पीछे शशि को आनन्द नहीं। यह भी ठीक है। शशि शेखर से प्रेम करती है, इसलिए। स्पष्ट है कि यहाँ आनन्द का अर्थ सुख, वह भी विशेषतः दाम्पत्य सुख है। इस पर शेखर सिद्धान्त की अपरीक्षित तथा वातुल मौलिकता के फेर में कहता है, 'आनन्द एक झिल्ली है जिसमें व्यक्ति सिमट कर बन्द हो जाता है, और दूसरों से पृथक् हो जाता है, अपना जीवन दूसरों के लिये दे कर भी वह दूसरों में मिलता नहीं, उनसे अलग रहता है। क्या यही दूरी शशि ने पायी है ?' अब स्पष्ट है कि यह आनन्द आत्मोत्सर्ग अथवा आत्मबलि करनेवाले व्यक्ति का मज्जागत, वेदनामय आनन्द है, जो दूसरे को आनन्द दे कर, दूसरे के लिए आनन्द का साधन बन कर, अथवा दूसरे के लिये अपने सुख का होम कर देने पर मिलता है। शशि का यही भाग्य है, यही गौरव-ग्रन्थ है। यदि शशि ऐसे आनन्द के पर्दे के पीछे नहीं है तब तो शशि दाम्पत्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुख में प्रसन्न है, जो वास्तविकता नहीं, न शेखर के कहने का अभिप्राय है। बात यह है कि परिस्थिति का ध्यान आनन्दवाले पहले वाक्य तक था। फिर आनन्द शब्द को ले कर शेखर को एक अनूठी दार्शनिकता सूझती है, और पहली समीक्षा भूल जाती है। दोनों समीक्षाएँ, एक परिस्थिति-सापेक्ष, दूसरी सामान्य-निरपेक्ष हो कर, भिन्न ही नहीं, आत्मघाती भी हो जाती हैं, क्योंकि शशि के शील-स्वरूप की दो आत्मघाती छवियाँ हाथ लगती हैं। यदि इतना भी कह दिया जाता कि शशि को जो आनन्द है वह आत्मबलि का, मौन मरण का, निर्लिप्त स्वाहा का तो दो भिन्न आनन्दों का संकेत स्पष्ट हो जाता। ऐसे उदाहरण आलोच्य उपन्यास में भरे पड़े हैं।

एक और सूत्र देखिए। विद्रोही आत्मा को ले कर शेखर कहता है कि विद्रोही अपने विकास में नूतनतम विचारों को समेट कर भी विद्रोही बना रहता है। उदाहरण में शेखर को यह सूझता है कि प्रतिक्रियावादी जर्मनी में भी आइन्सटाइन विद्रोही बना रहा। बात तो तब पुष्ट होती जब जर्मनी प्रगतिशील होता, उसके सांस्कृतिक वायुमंडल में नूतनतम विचार, अभिनव प्रस्थापनाओं की चुनौती भरी रहती, और इन सभी को समेटता, आत्मसात् करता हुआ भी विद्रोही सन्तुष्ट नहीं रहता, फिर भी विद्रोही बना रहता। इसी तरह क्रान्ति की ज्वालाओं के बीच पले स्टालिन पर विचारों की जूठी पत्तल चाटने का अभियोग है। इन दो उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि वातावरण और पुरुष के विकास-वैशिष्ट्य में कोई अविच्छेद्य कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं। यह नहीं सिद्ध होता कि विद्रोही बराबर विद्रोही बना रहता है। उसका विद्रोह आवश्यकता पड़े तो क्रान्ति का भी विद्रोह, अपने नूतन से नूतन निर्माण का भी ध्वंस करता चलेगा।

उदाहरण की एक और उपहास्य सूझ देखिए। शेखर एक जगह महसूस करता है कि उसके भीतर सम्पूर्ति है, तृप्ति नहीं। उदाहरण क्या है? जैसे किसी ने इच्छा भर खा लिया हो लेकिन प्यास न मिटी हो। कहना तो यह चाहिये था कि जैसे किसी का भोजन से पेट भर गया हो, तबीयत न भरी हो। सत्तू ठूँस-ठूँस कर खा लेने से सम्पूर्त्ति हो सकती है, लेकिन किसी अमीर की तृप्ति नहीं हो सकती। प्रचुर भोजन और रुचिकर भोजन का जो भेद है उसे भोजन और प्यास के अवांछित मिश्रण से गड़बड़ कर दिया गया है। रूपक उसी का नहीं निभता, जिसकी भावना में गहराई नहीं है, जो केवल कंठ से प्रवचन करता है।

(३) लोक-दृष्टि की विडम्बना-सी लगनेवाली एक सभ्यप्रज्ञ कंठस्थता :—'फाँसी!' के बाद भयानक एवं दारुण का इतना बड़ा चिह्न। मनुष्य के जीवन की यह प्रायः अघटन घटना जैसी है। उस पर शेखर की प्रतिक्रिया देखिए। ग्रन्थ इसी से आरंभ होता है। शील का गुण तो इसी से स्पष्ट हो जाता है। लगता है जैसे शेखर की मानवीयता एक बहाना है, शेखर का अध्ययन, उसकी पठित-कंठस्थ संस्कृति, वैज्ञानिक सभ्यता की सदस्थता ही शोक करने लगती है। शेखर का शोक विचित्र शोक है—'जिस जीवन को उत्पन्न करने में हमारे संसार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की सारी शक्तियाँ, हमारे विकास, हमारे विज्ञान, हमारी सभ्यता द्वारा निर्मित सारी क्षमतायें या औजार असमर्थ हैं, उसी जीवन के छीन लेने में, उसी का विनाश कर देने में, ऐसी भोली हृदयहीनता ! फाँसी !' पहले तो यह हिन्दी है या अंग्रेजी ? गम्भीर परिस्थिति की भाव-संयत भाषा है या संवाददाता द्वारा किसी नेता के भाषण का कामचलाऊ अनुवाद ? फिर यह लोक-जीवन या समाज के प्रति भी कोई करुणा नहीं। नीरो जैसा आत्मरत व्यक्ति भी जब मर रहा था तो कम-से-कम आज तक हमलोगों को हँसाने के लिये यह तो कह गया, 'आज कितना बड़ा कलाकार अस्त हो रहा है !' लेकिन शेखर राग, द्वेष, घृणा, क्रोध, शान्ति, देश-भक्ति, पराधीनता, युद्ध, अतीत की स्मृति, व्यक्ति, संस्था, देश के जीवन, विश्व के जीवन, आत्मा, अमरत्व, निर्वेद, परलोक आदि की कल्पना नहीं करता। वह तो प्राणेरतस (Protoplasm), प्राणि-शास्त्र के शुक्र-कीटाणु की बात सोचता है, जिसे कोई रासायनिक प्रयोगशाला नहीं बना सकती। विज्ञान से नहीं बननेवाले शुक्र-विंदु के विनाश के लिये उसे शोक है। ऐसा शोक युनिवर्सिटी के वस्तुगत निबंध के योग्य हैं, वह भी वैयक्तिक निबन्ध या मुक्तक निर्बंधिनी की सहज स्वाभाविकता तथा सरसता के योग्य नहीं। शेखर कलाकार की तटस्थता का अर्थ समझता है स्वभावघ्नता। समुद्र के प्रति तटस्थ वह है जो समुद्र की गहराइयों को देखता है पर डूबता नहीं, कुछ वह नहीं जो हिन्द महासागर के नक्शे के छोर पर पर उँगुलियों को गाड़े रहता है। शेखर की प्रसंग-प्रज्ञा (प्रसंग के मर्म को समझने की प्रज्ञा) एक सभ्य, शिक्षित आसन्न-स्नातक (Under-graduate) की है। शेखर के शोक जैसा शोक तो उस आदमी का होगा जो अपने पुत्र की हत्या करनेवाले शत्रु को देख कर यह कहे, 'लाख कोशिश करने पर भी लोग जिस पुत्र को पैदा नहीं कर सकते, पुत्र पैदा हो जाता है। तो रज-वीर्य के अचानक रहस्य-संयोग से, उस पुत्र को मार कर तुमने अपने को कितना अबोध, कितना क्रूर सिद्ध किया है !' इसमें वीतराग दार्शनिकता नहीं, मृतस्वभाव आधुनिकता है। 'शेखर' युग की चीज नहीं, जमाने पर पश्चिम को धौंस जमाने की कोशिश है उसमें भी 'ज्याँ क्रिस्तफर' का काव्यत्व, तथा 'ज्याँ क्रिस्तफर' और 'युलिसिस' की कल्पना होती तो एक बात थी। केवल बाहर जा कर तितलियों के पीछे दौड़ने और झींगुर का संगीत सुन लेने से, घर की अनुदार, पंगु संकीर्णताओं से भागने से, विकास की अदम्य प्रेरणा का प्रभाव नहीं पड़ता। प्रतिभाशालियों की रूढ़ वैयक्तिकता, तथा रटी-रटाई निरुद्देश्यता के कारण शेखर कभी-कभी दो पैसे के लाल चश्मे जैसी अनुकृति मालूम पड़ता है। 'शेखर' के आवरण-पृष्ठ पर चिन्ता-मग्न अरस्तू-अफलातून का जो आतंक अंकित है वह साहित्य में क्रान्ति लाने के तथा युग-सन्देश के दायित्व-भार से व्यस्त आदमी की चीज है, उस उत्तानशायी टिटहरी की चीज है जो आसमान थामे रहती है !

(४) स्मृति की कृच्छ्र साधना, कल्पना का चान्द्रायण :— सड़क पर शेखर निरुद्देश्य भटक रहा है। अचानक की एक स्मृति मानस-गुंजन करने लगती है। बाबा मदनसिंह की स्मृति जग जाती है। ठीक है। यदि बाबा से बातचीत के सिलसिले में हुए किसी वाद-विवाद

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की अक्षरशः स्मृति भी जग जाती तो एक बात थी। यह तो बाबा से किस तरह विवाद-संवाद होता, उसकी कल्पना होती चलती है। यहाँ स्मृति भूत के निरावरण जैसी न मालूम हो कर कुछ वर्त्तमान की उस कताई जैसी मालूम होती है जिससे भविष्य का सूत हाथ लगता है। यह स्मृति-प्रतीति नहीं, हठ-योजना है।

'तो क्या यह जीवन का उद्देश्य हो सकता है? पर मैंने सत्य कहाँ पाया है! मैंने तो सन्देह ही सन्देह पाये हैं। वही सही। कोई भूतपूर्व सत्य अब असन्दिग्ध नहीं रहा है, यह भी एक नकारात्मक सत्य है।'

'पर नकारात्मक सत्य के सहारे'—(यहाँ बीच ही में बात काट कर कथोपकथन को स्वाभाविक बनाने का प्रयास है।)

'शेखर, अपने भीतर कुरेद कर देख। क्या कोई धनात्मक राशि, कोई विश्वास वहाँ नहीं है, केवल ऋण ही ऋण है? (निषेध नहीं, 'ऋण', गणित के Negative का अनुवाद, शब्द-रूप का त्वचान्तर)।

'विश्वास, दर्द से भी बड़ा विश्वास। क्या वह उद्देश्य हो?'

'क्या तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता जो तुम कर सकते हो? अपने लिये नहीं, अपने से बड़ी किसी इकाई के लिये, अर्थात् कोई भी काम जो तुम्हारा नाता तुम से बड़ी किसी चीज से जोड़े?'

'जब अहंकार है, तब मुझ से बड़ा क्या! मैं ही तो बड़ा चीज हुआ न!'

'टालो मत—तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बड़ी वस्तु की झाँकी तुमने पायी है—सभी पाते हैं—।'

इसके बाद प्रकृति का एक अतिरिक्त-सा लगनेवाला चित्र—'वातावरण वैसा ही धूल-भरा था पर आकाश का रंग कुछ और गहरा हो गया था, इसलिये तारे कुछ कम धूमिल दीख रहे थे (सो कैसे?)! एक तारे के टिमटिमाने में शेखर को ऐसा भी लगा कि वह दो-तीन रंगों में चमकता है और रंग कुछ पहचाने भी जाते हैं—नीला, लाल, श्वेत।'

और उसके बाद याद आता है कि रात काटनी है। शेखर भूतल पर उतर आता है। रह-रह कर खो जाना और फिर भूतल पर उतर आना, सारे जीवन की यही कहानी है। यह लोक के बीच जीवन नहीं, डायरी के पन्ने हैं, जिनका स्वतंत्र सौंदर्य है। 'शेखर' के प्रथम भाग के प्रारम्भिक खण्डों में शशि-शेखर के काश्मीर-दृश्यों में अथवा लौट कर शारदा के यहाँ आ कर घर में ताला बन्द पानेवाले दृश्य में प्रकृति का भाव-जगत् के साथ जैसा सामंजस्य है, वैसा यहाँ नहीं। हठ-स्मृति का वर्त्तमान के साथ फिर स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं ही बन पाता।

(५) क्षीण पूर्व-भूमिका अथवा स्वल्प विषय-प्रवेश :—'नौकर है नहीं। खाना होटल से आ जायगा (बिल का प्रश्न उठेगा, पर वह बाद का प्रश्न है)।' शरीर धारी की

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस चिन्ता के बाद साहित्य में क्रान्ति, सर्वतोमुखी क्रान्ति, तथा अपने को समुदाय से स्वतंत्र अस्तित्व के पृथक् तेजः-पुंज के रूप में देखने, फिर सौंदर्य बनाम प्रभाव, लोक-कल्याण बनाम सौंदर्य, उद्देश्य की निष्कम्प एकाग्रता तथा साहित्य के मोह के प्रश्न पर मनन-चिंतन होने लगता है। इन सभी प्रश्नों के लिए पूर्व-भूमिका बस यही है—'नौकर है नहीं, खाना होटल से आ जायगा।'

अतः ? 'अतः काम बहुत न था और फुर्सत पर्याप्त।' और यह फुर्सत सोचने की है। शशि से पहले साहित्य-संबंधी चर्चा हो चुकी है। अब एकान्त में पाठकों के लिए उसका मंथन किये बिना शेखर नहीं रह सकता।

(६) भाव-दारुण परिस्थिति में सामान्य पठित सामग्री :—फाँसी की बात सोच कर शेखर दण्ड के प्रतिशोधात्मक (Retributional), सुधारात्मक (Reformational) और निरोधात्मक (Deterrent) सिद्धान्तों की छानबीन करता है। दण्ड-शास्त्र की रूढ़ स्थापनाएँ रख दी जाती हैं, वे व्यक्ति-हृदय से विगलित होती भी नहीं आतीं। यहाँ शेखर की अनूठी उक्तियाँ भी न मालूम कहाँ अपना चमत्कार खो बैठती हैं!

(७) आधुनिक मनोविज्ञान का स्थूल संकेत :—शेखर संग्रहालय या अजायबघर में जाता है, भूसा से भरा बाघ देख कर डर जाता है, और तब आश्रय शेखर कहता है, 'वह डर उस समय दब गया···लेकिन उसने बालक के मन में घर कर लिया।' ऐसे स्थूल तथा नग्न हेतु-निरूपण पर हँसी आती है। पाठक की कल्पना तथा संकेत-ग्रहण की क्षमता के लिए अवसर ही कहाँ ?

(८) स्वगत का बढ़ते-बढ़ते प्राचीन पारसी सम्बोधन-शैली तथा आवृत्ति के चार-चार तमाचे का रूप अपना लेना:—शेखर वेश्याओं के मुहल्ले में घूम रहा है, और तब उस समय की याद इस प्रकार आती है—'शेखर जाओ, समझो तुम कहाँ हो! यह है वेश्याओं का मुहल्ला, यहाँ शरीर बिकते हैं, यहाँ तृप्ति बिकती है, यहाँ सुख बिकता है। समझे ?' शेखर ने बढ़ते हुए रोष (?) से दुहराना शुरू किया—'वेश्या, वेश्या, प्रास्टिट्यूट, रंडी, (चार तमाचे) समझे ? जहाँ बन्धन नहीं है—लज्जा नहीं है—रोशनी नहीं है—अंधकार नहीं है—(विरोधाभास का चमत्कार, रोष के क्षण में बुद्धि का कसीदा !), हैं रंग-रंगे हुए मुँह···।'

यह न तो शशि को नहीं पाने की निराशा है, न अपने को बरबाद करने की परिणामान्धता है, न उस परिणामान्धता के विरुद्ध अन्तरात्मा की अतल गहराइयों की चेतावनी है, न वेश्या के प्रति जुगुप्सा ही है, यह तो उन्माद की अतिशयोक्ति से भरा वह स्वगत है जो बढ़ियाई नदी में कूदते पथिक को मना करने के लिए उस पार के दूर अन्धकार से गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने जैसा लगता है।

(९) भाव या कर्म का प्रतिक्रियात्मक न हो कर प्रक्षेपणात्मक होना अथवा आलम्बन का हेतुभूत न हो कर भारवाहक या साम्प्रदानिक होना:—ऐसा लगता है कि घृणा, रोष, मौलिकता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का दंभ, विद्रोह की भावना, प्रेम आदि आलम्बन के रूप में किसी व्यक्ति या परिस्थिति को देख कर नहीं पैदा होते; व्यक्ति और परिस्थिति तो स्वयं इन्हें सँभालने के लिए, इनके बहाने के रूप में, इनका बोझ ढोने के लिए, गढ़ लिये जाते हैं। 'शेखर' में विभावन की इतनी दुर्बलता है कि शील के तत्त्व ऐसे लगते हैं जैसे भीतर से शरीर धर कर मनोविकार आवारों की तरह बाहर भटक रहे हों। शेखर एक जगह 'Personal Destiny' की बात करता है। उसका विश्वास है कि विद्रोह की भावना एक प्रतिक्रिया नहीं, बाह्य दैव नहीं, एक तरह का अन्तस्सार है। अनिष्टकारी या अप्रिय का ध्वंस करने के लिए जो क्रोध होता है, रोष होता है, पता नहीं उससे भिन्न यह विद्रोह की भावना कौन-सा नया मनस्तत्त्व है? पर शेखर शायद इसीलिए पैदा होता है। वंशरेतस् की परम्परा की चीज भी यह हो, इसका कोई संकेत नहीं। शेखर निराला है इसलिए वह विद्रोह के लिए विद्रोह करेगा। 'परिस्थिति के घात-प्रतिघात से', वह कहता है, 'विद्रोह निर्मित नहीं होता', मार्शल ला या तिलक की अन्त्येष्टि की, कारण के रूप में, कोई आवश्यकता नहीं। लगता है, यह एक तरह का दृष्टि-पाण्डु है, दुनिया पीली नहीं है। विद्रोह मूर्त्ति नहीं है, मृत्तिका है, उपादान है, जो स्वयंभू है। लेकिन आश्चर्य को भी चकित कर देनेवाली बात यह है कि शेखर विद्रोही हृदय के विद्रोही गढ़न की आवश्यकता समझता है। उसके लिए विराट् मनःशक्ति, घोरतम नियंत्रण आदि की बात करता है, मृत्तिका से कला की वस्तु बनाने की बात करता है। विद्रोह से भी बड़ी यह कला कौन-सी चीज है? विद्रोही तो कला का भी विद्रोह करेगा? और कला से मृत्तिका कैसे बनेगी, मूर्त्ति भले ही बने!

शेखर के अनुसार, विद्रोही संसार में अपने को भुला कर अपने व्यक्तित्व को इस तरह पहचानता है कि एक बौद्धिक तथा शीतल घृणा के सम्बल से वह अनैतिक कार्य करके भी पवित्र रहता है। दो बातें स्पष्ट हैं। या तो विद्रोह घृणा और क्रोध की तरह आभ्यन्तर विकार है, और दोनों की तरह उसे भी एक आलम्बन चाहिए, और नहीं तो विद्रोही मुंडविहीन राक्षस की तरह दौड़ता फिरता है, और जिसे पाता है खाता चलता है, बल्कि यों कहिए कि अजगर की तरह साँस लेता रहता है, जो इर्द-गिर्द रहेगा उसके मुँह में चला जायगा। शेखर एक ऐसा असिद्ध चिंतक है जिसमें हर विषय पर अन्तिम अधिकार के साथ कुछ कह डालने की ललक है। इस तरह उसके शील की एक सार्थक बात हाथ लगती है। शेखर एक ढंग के गद्य-गीत वाली भाव-मुक्तक उपदशाओं का प्राणी है। उसे चिन्तकों और विचारकों से एक गूढ़ प्रतिस्पर्धा है, और इस तरह वह मौलिक न हो कर हठ-चिंतक हो जाता है। स्कूल में शील के 'टाइप्स' बनते हैं, वह अपने को एक विरल-विशेष समझता है, इसलिए शिष्य न बन कर वह प्रवक्ता करने का लोभी-सा दीखता है। विचारों में जहाँ अन्यत्र कही गई बातों को दुहरा कर, अथवा किसी विषय पर सूत्र-कथन कर वह अपने को चिन्तक समझ कर तृप्ति-लाभ करता है, वहाँ वह स्कूल में माष्टर को एक लात मार कर अपने को विशेष प्रतिभाशाली समझता है। लेकिन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मास्टर को लात मार कर, स्कूल से भाग कर, बाग में तितलियों के पीछे दौड़नेवाले, या साँप पकड़नेवाले प्रतिभाशाली व्यक्तियों की देश-विदेश के साहित्य में इतनी आवृत्ति हो गई है कि शेखर तो Type से भी बढ़ कर Stereotyped (मुद्रित-सामान्य)-सा लगता है। Type और Stereotyped का भेद यह है कि Type में जाति का सामान्य स्वरूप होता है। Stereotyped में विशेष ही सही, लेकिन उसकी आवृत्ति इतनी हो चुकी होती है कि नाकोंदम हुआ रहता है। स्कूल, माता-पिता, गुरु, धर्म-दीक्षकों, पुजारियों, ब्याह, मर्यादा बनाम अश्लीलता, नियन्त्रण, स्वच्छन्दता आदि को ले कर तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टि के युग-स्रष्टाओं ने इतना कोलाहल कर दिया है कि इनके आधार पर विद्रोह कर देनेवाला उन किताबों का चकित-चूड़ामणि ही कहलायगा, कुछ प्रतिभा का अद्वितीय-विशेष नहीं।

शेखर के एक भाई ने अपने पिता का गलत नाम बतला दिया है। कालेज के अधिकारी ने शेखर के पिता के पास लिख दिया है। इस पर माता-पिता में बातें हो रही हैं। क्रोध स्वाभाविक है। दोनों खीझे हैं। माँ कह बैठती है कि वह शेखर का भी विश्वास नहीं करती। कई संतानवाले माता-पिता किसी एक या दो संतान के खराब निकल जाने पर खीझ का रेचन दूसरों को भी बुरा कह कर करते हैं। यह स्वभाव है। माँ विश्वास नहीं करती, इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि उसे एक छिपी आशंका है कि कहीं ये दूसरे लाड़ले भी अपने को खतरे में न झोंक दें। लेकिन बस माँ का इतना कहना है कि लगता है आधुनिक मनोविज्ञान की सारी पुस्तकें बोल उठती हैं।

लड़कों को प्रोत्साहन देना चाहिए। ऐसी बात कह देने से जिससे उन्हें क्रोध हो, उनके स्वतंत्र विकास या स्वतंत्र अभिव्यक्ति में बाधा पहुँचे, लड़के माता-पिता के प्रति शत्रु-भाव रखने लगते हैं, जो भय से दब तो जाता है पर एक स्थायी वैर-दशा में परिणत हो जाता है और जीवन अशिव हो जाता है। ऐसी कठोरता के दोषी प्रायः पिता ही होते हैं। चूँकि शेखर मौलिक है, इसलिए बेटी का काम करता है, माता के प्रति शत्रु-भाव रखता है। वह डायरी लिखता है जिसमें कीड़े-मकोड़े हो जाने की बात लिखता है। फिर 'I hate her' अँगरेजी में चिल्लाता है। और तब खिड़की की राह से कूद कर चल देता है। इसके पहले माँ ने कभी ऐसी यातना दी हो, ऐसी बात नहीं। शेखर का चित्त कुछ इतना कोमल, कमल जैसा है, कि उसमें पराग ही पराग है, वह भी क्रोध जैसा लाल। फिर भी शेखर क्रान्तिकारी हो पाया इसके लिए माँ को श्रेय नहीं देना चाहता। एक तरफ तो यह दम्भ कि उस एक वाक्य ने कुछ ऐसा प्रतिशोध भर दिया, ऐसी चुनौती दे दी कि शेखर 'मैं योग्य हूँ, योग्य रहूँगा' का मंत्र जपने लगा। विवश पिता से उपेक्षित हो कर ध्रुव अमर हो गया। अनजाने में कुछ अप्रिय बात कह देनेवाली माता की छाती पर मूँग दलने के लिए शेखर मर जाता है। उसके इस अनिच्छित सत्प्रभाव के लिए भी शेखर आभारी नहीं होना चाहता। गिरफ्तारी सुन कर माता रोयेगी, लेकिन पहला विचार तो होगा, 'मैं तो जानती थी, कभी विश्वास नहीं किया।' वह पुलिस के अत्याचारों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भौतिक शक्तियों का जो प्रकार-विशेष का असाधारणीकरण रहता है, वह होरी की करुण गाथा में नहीं।

'गोदान' की प्रारब्ध-भावना उदात्त की नहीं है। आजकल समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्थाओं का एक निकृष्ट नव्य-प्रारब्धवाद चल पड़ा है। रस की दृष्टि से ऐसे प्रारब्ध के कई दोष हैं। ऐसे प्रारब्ध में काव्य की रहस्य-भावना नहीं। ऐसा प्रारब्ध बुद्धि-कल्पित होता है, उसमें एक व्याख्येय हेतु-दर्शन होता है।

ऐसे प्रारब्ध में व्याख्या की सम्भावना के कारण मध्याह्न की स्पष्टता है। ऐसा प्रारब्ध दृश्य होते हुए भी अरूप-सामान्य बना रहता है। जहाँ नियति (अ) वृत्तियों के घातक आवेश या विरोध के रूप में, (ब) काल की विशेष-निरपेक्ष गति के रूप में (स) विश्व में व्याप्त अव्याख्येय संकल्प या तत्त्व की रहस्य-लीला के रूप में दिखाई जाती है (कहीं प्रकृति, कहीं दैव-योग के माध्यम से) वहाँ प्रारब्ध अदृश्य होते हुए भी रहस्य-पटल में छिपे शत्रु-भाव, ईर्ष्या-भाव के लोक-साधारण विशेष के रूप में हृदय को विस्मय तथा भय से भर देता है। जहाँ वंशरेत (Heredity) के आभ्यन्तरिक, निसर्गगत प्रारब्ध के बीज शील की अभिव्यक्ति की जाती है वहाँ भी यह रहस्य-भावना बनी रह सकती है, क्योंकि इसमें भी अतिभौतिक शक्ति के सूक्ष्म तथा बधिर रहस्य-विधान का आभास होता है। मनुष्य की शाश्वत वृत्तियों को एक ऐसे अखिल व्यापक प्रारब्ध की पृष्ठभूमि में रखकर दिखलाना, जो या तो ईर्ष्या से हस्तक्षेप करता अथवा व्यक्ति-विशेष के दुःख के प्रति व्यंग्य-निर्मम शून्यमनस्कता से व्यवहार करता प्रतीत होता है, इस रहस्यानंद के अनुकूल पड़ता है। उसी तरह वातावरण को प्रतीक-लिङ्गों तथा परम्परा की अविच्छिन्न स्मृतियों से निर्मितकर उसे एक सहज-रहस्य-शील-विधाता प्रारब्ध का गौरव दे सकते हैं। जिस तरह रहस्य के नेपथ्य में छिपे प्रियतम के गीत में दार्शनिकता रहती है उसी तरह रहस्य के नेपथ्य में छिपे इस ईर्ष्या-बधिर अतिप्रबल भाग्य के प्रति एक शत्रु-भाव हो जाता है, जो हमें भय से भर देता है, विस्मय से भी; तथा कि एक विचित्र निर्वेद की अवस्था में छोड़ देता है। निर्वेद की यह अवस्था इसलिए कि उस विराट् के हम सभी अंग हैं, और ध्रुव-निश्चित, पक्षपात-शून्य विधान के प्रति हम सभी दार्शनिक-से हो जाते हैं। 'गोदान' का नायक होरी उस व्यवस्था के प्रति संघर्ष करता है जिसका प्रतिनिधित्व झिंगुरी सिंह, नोखे राम, आदि करते हैं। ये घृणा और विनोद, दोनों के पात्र हैं। यही हालत राय साहब, तंखा, खन्ना आदि की है। होरी के द्वारा ऐसा कोई संकल्प अथवा कर्म नहीं किया जाता, जिससे होरी के दुःख की चरम स्थिति का हेतु निरूपित हो सके। होरी विद्रोह नहीं करता, होरी शायद इसीलिए दुःख भोगता है कि वह और तरह हेय चलता है। होरी जिन्दगी से थक-सा जाता है। उसे जीवन की निस्सारता की अनुभूति जितनी नहीं होती, उतनी अपने भूत की दुर्दशा की स्मृति सताती है।

गोदान में बहुत-से पात्रों की भीड़ लग जाती है, सेमरी प्रायः एक स्वतंत्र केन्द्र है

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रूप में स्थित हो जाता है। बेलारी में होरी सबका मुँह जोहता फिरता है। इन सभी बातों से उसका व्यक्तित्व उन्नत-विशाल नहीं हो पाता। होरी करुणा का पात्र है और उसका प्रारब्धभूत, शत्रुभूत सामाजिक तथा आर्थिक आवेष्टन है उपहास का पात्र! यह विचित्र रस-विघात है। विस्तार के द्वारा यह युग के महाप्रबंध-सा तो दीखता है लेकिन बेचारे, नेक, भोले होरी के लिए मोह ही हो पाता है। शील का करुणोदात्त स्वरूप हाथ नहीं लगता।

'गोदान' के यश का बहुत बड़ा श्रेय उसके संकल्प-कथन, कथोपकथन, और भाषा को है। पात्रों के शील, मनोदशा, परिस्थिति, वर्ग, संस्कृति आदि के अनुसार उक्ति का सामंजस्य प्रबन्धकार का विशेष उत्तरदायित्व है। किसी वीर पात्र को लीजिए। प्रलापी शत्रु को देखकर यदि वह यह न कहकर कि तू इन भुजाओं को देख, तेरी छाती फाड़ डालने में उन्हें कितनी देर लगेगी, यह कहे कि 'आ बेटे, वह कबूतर-लोट लोटाऊँगा कि तू भी याद करेगा,' तो न शत्रु को ही भय होगा न पाठक को ही वीर रस का आनंद आयेगा।

किसी घोरसंकल्प न्यायाधीश ने यदि न्याय की उच्चतम पवित्रता के लिए अपने बेटे को ही फाँसी की सजा दे दी हो, और वह शोक-पश्चात्ताप-विगलित मनोदशा में हो, तो वह अपनी स्त्री से यह तो नहीं कहेगा कि 'मैंने जाब्ता फौजदारी दफा ३०३ के अनुसार अपने ही बेटे को फाँसी दे दी।' वहाँ तो कथोपकथन विक्षिप्त मनोदशा के स्फुट पदों के क्रिया-विहीन वाक्य का स्वरूप ले सकता है—

"आज तो आरती उतार···तेरा पति जज!···धारा ३०३···। हुँह् आज तो रोना ही पड़ेगा···तेरे लाल को प्राणदण्ड···!···कानून है, कोई खेल नहीं। बाहर की सर्दी···! देख तो···देख—वह बाहर मेरी चिता···। जलने दे न्याय की चिता···फाँसी···! आह! मेरे लाल!···तू माँ है न? तेरी छाती क्यों नहीं···।"

परिस्थिति के अनुसार कथोपकथन में मन्द्रता, क्षिप्रता, उदारता, द्रुतता, सरलता, तथा उत्कंठा आदि के धर्म आते-जाते रहते हैं। अनुशासनच्युत शिष्य के पतन पर, तपकुटुम्ब की भरी सभा में, तपोवन के कुलपति की प्रायश्चित्त-घोषणा में मन्द्र-मिताक्षरता रहेगी, —"गंगा के तट पर ज्वालाओं के बीच टँगे रहने की तुम्हें आज्ञा है, जब तक पाप की आँखें राख न हो जाएँ।"

इसमें 'ज्वालाओं के बीच' के पहले 'चतुर्दिक् अग्नि की'; 'टँगे रहने' के पहले 'उलटे'; 'राख न हो जाएँ' के पहले 'जलकर'; 'आँखें' के पहले 'तुम्हारी' का अध्याहार आशय स्पष्ट करने के लिए हमें करना पड़ेगा। लेकिन परिस्थिति की गंभीरता के साथ कुलपति के अविचल निश्चय की अभिव्यक्ति में आकांक्षा निहित होगी, कुछ अतिशय पूर्त्ति नहीं।

क्षिप्रता:—जहाँ किसी दुष्ट राजकुमार के दुर्व्यवहार से कोई शरीर ग्रामबाला रुष्ट हो जाय और राजकुमार का अपमान करने में शोखी से इठलाये तो वह कहेगी, "तू राज-कुमार नहीं, तू लुच्चा, तू पाजी, तू कोढ़ी···थू, हजार बार थू।"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कि वह पेड़ पर, जंगल में उन्मुक्त, स्वतंत्र तो रहेगा। पक्षी की स्वतंत्रता में वह परिवार के कारागार से अपनी मुक्ति का प्रतीक देखता है। ऐसा घिसा प्रतीक और ऐसी ऊँची कल्पना का दंभ! शेखर अन्यत्र कहता है, 'मेरा सारा जीवन एक बढ़िया उपन्यास है। मेरे जीवन में व्यक्ति और टाइप का वह अविश्लेष्य घोल है जिसके बिना कला नहीं है...।' यह कवि-पर्याय ध्वनि नहीं तो क्या है?

(१२) स्फुट पद्यांशों के, तैरते सौरभ जैसे, किसी-किसी मार्मिक परिस्थिति के स्नेह में भींग जाने के अच्छे उदाहरण भी हैं, जिन पर हम आगे विचार करेंगे। अस्वाभाविक तो तब लगता है जब शेखर की ही तरह बौद्धिक तटस्थता की रट लगाते-लगाते उसे निरर्थक तथा नीरस कर देनेवाले एलियट की कोई लाइन लेकर शेखर शशि के ऊपर एक मुक्तक गीत-सा कह डालता है। शेखर जब भावुक हो उठता है तो उसे अचानक झटका लगता है कि कहीं वह कवि न समझ लिया जाय, इसलिए दार्शनिक बन सारे रस को भाववाचक संज्ञाओं और प्रश्न-चिह्नों के सुपुर्द कर देता है। बाबा मदनसिंह तो शेखर की इसी सूत्र-वार्त्तिक दार्शनिकता के आदर्श हैं। उसी तरह सूत्रों से वह अचानक स्खलित हो कर कवि बन जाता है। चेतना के प्रवाह में वह दो किश्तियों पर पैर रखे हुए है।

'भोगनेवाले प्राणी में और रचना करनेवाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहता है। जितना ही बड़ा वह अलगाव है, उतना ही बड़ा कलाकार होगा—एलियट के शिष्य, त्रिशंकु के लेखक का यह वाक्य है। उसके बाद शेखर की सुनिए।

'लेकिन क्या मैं कलाकार हूँ? क्या मुझे कलाकार होने की परवा है, जब कि मैं उस जीवन को जी सकता हूँ जो कि तुम्हारे संसर्ग से बना है? अलगाव का मुझे क्यों मोह तटस्थता से मुझे क्यों प्रेम, जब कि मैं जीवन के एक अणु से भी अलग नहीं होना चाहता, जब कि उसका एक-एक अणु तुम से अनुप्राणित है! कलाकार मुझसे बड़े हैं, हुआ करें, मैं झुका हुआ हूँ, स्तब्ध हूँ प्रतीक्षमान हूँ और जानता हूँ कि तुम्हारा वरद हस्त मेरे ऊपर है।' इसे थोड़ा-सा और गला दीजिए, और टैगोर अथवा दिनेशनन्दिनी चोरड्या आ जाती हैं।

इसी तरह दार्शनिक भाषा में शेखर कहता है, 'शशि, तुम मर गई हो, अत्यन्त न-कुछ हो गई हो'...और साथ ही यह भी कि 'मैं तुमसे माँगता हूँ कि मुझे आज्ञा दो, मैं तुम्हें याद करूँ।' भावुकता के इस अमित शिष्टाचार की कल्पना कीजिए! याद भी शशि की पूजा को भ्रष्ट करती है!

(१३) शेखर की व्यापक दशा स्मृति की है। विरोधाभास और अनूठे चमत्कार के लोभ में पता नहीं शेखर में कितनी जगहों पर शील तथा परिस्थिति के औचित्य की हत्या हुई है। शेखर को स्मृतियाँ आती हैं अथवा वह उन्हें कुरेदता है और वह सोचता कहता जाता है। तब तक लगता है जैसे अज्ञेय को पाठकों का स्मरण हो जाता है और तब अन्तःकोष्ठ, विषयान्तरकोष्ठ में (दो Hyphens के बीच) उस चमत्कार को ठूँस दिया जाता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नमूना देखिए—'मुझे तो फाँसी की कल्पना सदा मुग्ध ही करती रही है। उसमें साँप-सा एक अत्यन्त तुषारमय किन्तु अमोघ सम्मोहन होता है···एक सम्मोहन, एक निमंत्रण जो कि प्रतिहिंसा के इस यन्त्र को भी कवितामय बना देता है, जो कि उस पर बलिदान होते हुए अभागे—या अतिशय भाग्यशाली—को जीवन की एक सिद्धि दे देता है।' अभागे—या अतिशय भाग्यशाली—वाली शैली हठ की, झटके की है। डायरी लिखने का बहाना होता तो वह चल सकती थी। साफ लगता है, जैसे 'या अतिशय भाग्यशाली' में शेखर का ही दंभ नहीं, अज्ञेय का लिप्त 'स्व' भी निरावृत हो जाता है। शेखर को यह भय है कि वह कायर अथवा दीन न समझ लिया जाय, अज्ञेय से 'अभागे—भाग्यशाली' के विरोधाभास का मोह नहीं छूटता। ऐसे उदाहरण बहुत मिलेंगे। साथ ही 'निमंत्रण' तथा 'कवितामय' की रुचि का खयाल कीजिए। शेखर की हिन्दी ऐसे स्थलों पर अंगरेजी के वमन जैसी लगती है।

(२)

शेखर का व्यक्तित्व एक ओर रागरंजित है तथा दूसरी ओर सहसा खण्डित। व्यक्तित्व के कल्परांग पक्ष के सौन्दर्य में प्रकृति के सुषमा-वैभव तथा हृदय के भाव-मुक्तक का बहुत बड़ा योगदान है। उसमें सुदूर कश्मीर, श्वेत कमल, परिमल, शरद में सेंकी-गरमाई, वीणा के स्वर-सम्मोहन, आह से खिंची तान, रात में धोखा दे कर सर्द हो जानेवाली चट्टान, झील, पंजरे, स्वप्न-लोक की नील कन्या, चिनार, अंजीर तथा युकलिप्टस के वृक्ष, मराल, चकोर, उन्मुक्त आकाश की विराट् विशालता, शारदीय नभ की नग्न ज्योत्स्ना, चन्द्रलोक, व्योम-गंगा की स्वप्निल छवियाँ रह-रह कर हृदय, स्मृति, कल्पना तथा अनुभूति बनती रहती हैं। इन सबसे हमारे हृदय में शेखर के लिए एक अद्भुत राग हो जाता है। शेखर के व्यक्तित्व में जीवन का कला-विलास, जीवन की काव्यात्मक अनुभूति है। भिन्न-भिन्न दृश्य-खण्डों में बँट जाने से यह वर्णन शील की आदर्श प्रतिमा नहीं लगता। एक दृश्य जब बीत जाता है, दूसरा दृश्य उसे पुष्ट करता है, फिर तीसरा प्रसंग छिड़ जाता है जिसमें व्यंजना-माधुर्य उतना नहीं रहता। कुछ घटनाएँ होती हैं, अथवा बुद्धि द्वारा किसी बात पर विचार होता है। तब तक पहले श्रृङ्गारिक दृश्य संस्कार बन चुकते हैं। उसके बाद फिर कभी एक सदृश धर्म का दृश्य-खंड आ जाता है, सोये सहधर्मी संस्कार जग उठते हैं, और शेखर का व्यक्तित्व मकरंदोच्छ्वास से भर जाता है। बन्दा वीर के समय में बने मकानों के खँडहर के इर्द-गिर्द बैठे शेखर की कल्पना कीजिए। गोलियों के निशान और मोर्चे, पीले-पीले पीपल के पत्ते, शिरीष के पेड़ की फुनगियाँ···। दूर भग्नावशेष के गहरे अवसाद की सौंदर्य-भावनाओं के बीच शेखर। शशि गाती है तो शेखर को उसमें शरत्काल में सेंकी हुई आग की मीठी गरमाई, बेले के स्वर-सा घनत्व तथा यौवन के गहरे और ढूँढ़ने की सीमा तक आकर न टूटनेवाले स्वर की ललकार सुनाई पड़ती है। यह है भावुकता जिसकी अतिशयता से, काल्पनिकता से, कुछ पाठकों का व्यर्थ ही जितना झगड़ा हो, लेकिन यह भावुकता शेखर के मर्म को

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रेमचन्द जी ग्रामीणों के वार्त्तालाप, विवाद अथवा कथोपथन में एक तरफ तो प्रचलित कहावतों, मुहावरों, चित्र-वाक्यों की भरमार रहने देते हैं, दूसरी ओर शब्दों के प्राकृत-जन-संस्करण, या ग्राम्य-रूपान्तर भी प्रयुक्त करते जाते हैं, जिससे उनकी ग्रामीणता की चेतना बनी रहे।

पात्रों की बातचीत में उर्दू की तर्जियत है। बातचीत में उदारता अधिक है। ऐसा मालूम होता है कि रस लेने के लिए अथवा रस ले-लेकर वे बातें करते हैं और सभी शैली में बोलते हैं। गम्भीर तथा कर्मठ लोगों का संयम, और फलतः उत्कंठा, नहीं के बराबर है। जहाँ चार जने जुट जाते हैं, वहाँ या तो हास लीला, या गोष्ठी (विवाद के अवसरों पर) या मित्रमण्डली का आनन्द रहता है।

"तू जो बात नहीं समझती, उसमें टाँग क्यों अड़ाती है, भाई! मेरी लाटी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये।...जब दूसरों के पावों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

अन्तिम वाक्य को पढ़ते-पढ़ते लगता है जैसे किसी परीक्षार्थी को कई मुहावरों का प्रयोग करने के लिए कहा गया हो, और उसने ऐसी बन्दिश बाँध दी हो कि सभी एक ही जगह खप जायँ। ऐसे उदाहरण, अनेक मिलेंगे। ध्यान से देखिए। होरी दूसरों के पाँव-तले नहीं कहता जो परिष्कृत रुचि के लिए भी काफी था, बहुवचन का आग्रह रखता है। फिर दिहाती लोगों का कुछ ऐसा धँधा-धँधाया अभ्यास होता है कि 'जब यह बात तब या तो यह बात' कहकर ही वाक्य-शान्ति पाते हैं।

होरी कहता है 'जब दूसरों के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, उन पाँवों के...।' 'उन पाँवों' के पहले 'तब' या 'तो' को उड़ा देने की संस्कृति भी, पता नहीं कैसे, होरी की हो गई है। धनिया या पुनिया के लिए झगड़ने, व्यंग्य करने ताने कसने या रोष-प्रलाप करने की जो स्वभाव-सिद्ध आवश्यकता है उसमें अगर थोड़ी किरकिरीदार भाषा और शब्दों का बवंडर रहे तो बात उचित मालूम होती है। लेकिन भोला, होरी, झुनिया, सिलिया आदि की तबीयत और राय साहब, मिर्जा की तबीयत में केवल छोटे-बड़े शब्दों का भेद हो तो यह बात खटकती है। ढाँचा प्रायः एक ही है। बीच-बीच में 'परसाद', 'असनान', 'रस-बस', 'इनफ़िजा', 'मिरजई', 'मेहरिया' आदि के आ जाने से बात कुछ विशेष नहीं सुधरती।

रस की बात और बात के रस में भेद है। पहले में परिस्थिति-निबद्ध पात्रत्व का विचार रहता है, दूसरे में शब्दराग की स्वच्छन्दता होती है। सब कुछ कह लेने के बाद भी चमत्कार का कुतूहल बना ही रहता है। बात यह है कि उपन्यासकार के हृदय-कमल की पंखुड़ियों का उड़-उड़कर पात्रों के मुँह को ढक लेना तो बुरा मालूम होता है, लेकिन उसके पराग के सूक्ष्म सौरभ की विशेषता, जो अन्य उपन्यासकारों से उसे पृथक् करती है, पहचान

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के लिए जरूरी है। प्रेमचन्द जी प्रसंगों की उद्भावना कर सकते हैं तो अवश्य, लेकिन जितना पात्रों के कर्मों के द्वारा नहीं, उतना बातचीत के द्वारा उनमें प्राण डालकर। यदि प्रेमचन्द के उपन्यास में सिकन्दर एक पात्र होता तो उसकी खुली मुट्ठियाँ मूक संकेत नहीं करतीं कि लोग संसार से खाली हाथ जाते हैं, इस पर जरूर कुछ न कुछ शैली की ठिठोली होकर रहती। प्रेमचन्द जी सामान्यतः उपन्यासकार नहीं, विशेषतः 'गल्प'-कार हैं। उनके किसी उपन्यास या आख्यायिका को इसीसे पहचाना जा सकता है। और इसमें उनकी बराबरी करने वाला कोई नहीं।

ध्यान देने की बात है कि 'मुदा' और 'लिलाम' के साथ-साथ होरी की बातों में—'सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है, उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं'—के तत्सम—प्रयोग का आदर्श भी है।

फिर भी सामान्यतः प्रेमचन्दजी शील-परिस्थिति और भाव-मुद्रा का बड़ा ही सरल सामंजस्य उपस्थित करते हैं। भोला को भूसा देने के लिए होरी धनिया को फुसलाना चाहता है। कहता है—'मैंने तो कह दिया, भैया, वह नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती, गालियों से बात करती है; लेकिन वह यही कहे जाय कि वह औरत नहीं, लक्ष्मी है। बात यह है कि उसकी घरवाली जबान की बड़ी तेज थी। बेचारा उसके डर के मारे भागा-भागा फिरता था। कहता था, जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुँह सबेरे देख लेता हूँ, उस दिन कुछ न-कुछ जरूर हाथ लगता है। मैंने कहा—'तुम्हारे हाथ लगता होगा, यहाँ तो रोज देखते हैं, कभी पैसे से भेंट नहीं होती।'

यहाँ 'नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती' मुहावरे की शिक्षित विशेषता 'गालियों से बात करती है' की दुहरी वास्तविकता में घुल-मिल जाती है। दुहरी इसलिए कि भोला की कल्पित स्त्री गालियों से बात करती थी, इधर झुनिया का भी तो यही स्वभाव है। होरी का यह दैनिक सौभाग्य है।

लेकिन वह यही 'कहे जाय' और वह यही कहता जाता था में भेद है। बार-बार कहने के आग्रह का कितना सुंदर धोखा है यह! लाख मना करने पर भी न मानने की ध्वनि है। धनिया औरत नहीं है, लक्ष्मी है, यह कहकर तुरत होरी यह नहीं कहता कि सबेरे मुँह देख लेने से कुछ-न-कुछ मिल जाता है, क्योंकि यह तो साध्य और प्रमाण की शृङ्खला जैसा लगता। बीच में भोला की घरवाली की जबान के तेज होने की बात कही जाती है। धनिया भी तो ऐसी है। धनिया लजायेगी, इस बार कम-से-कम पति का विरोध नहीं करेगी। अथवा प्रशंसक भोला की दृष्टि में जबान की तेज होकर गिरना नहीं चाहेगी। ऐसी हालत में सबेरे मुँह देखने के फल की बात, और तब होरी के द्वारा की गई निंदा भी, कह दी जाती है, जिसमें होरी से चिढ़कर भोला से धनिया और अधिक प्रसन्न हो जाय।

गाय को हीरा विष देता है, उस समय के प्रसंग को देखिए। प्रेमचंदजी ने इस प्रसंग

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लेकिन अनुभव का दूसरा पक्ष यह भी है कि ऐसी स्मृति से राम-भरत की कल्पना कुछ सजीव हो जाती है, और आपका द्रव भी बढ़ जाता है। भाई-भाई के प्रेम में शीतलता होती है, वासना का ताप नहीं होता। लेकिन यदि किसी नायक-नायिका के संयोग के अंशों को पढ़ते समय आपको अपनी प्रेयसी की छवि अथवा संयोग की स्मृतियाँ आ जायँ और प्रतिक्रिया उत्तेजना का रूप धर ले तब तो बात बिगड़ जायगी। ऐसे प्रेम में ताप होता है। एक ही शृङ्गार के भीतर श्रद्धा, स्नेह, वात्सल्य आदि के गुण-भेद हो जाते हैं; इसलिए स्मृति सदा तो बाधक नहीं ही होती। यदि वात्सल्य के भीतर कृष्ण के 'घुटरन चलत रेणु तन मंडित' को पढ़ कर किसी पिता की अपने मृत बच्चे की स्मृति जग जाय, तो वह शोक के संचरण के कारण रोने लगेगा। यहाँ स्मृति मृत्यु के संदर्भ में प्रतिकूलधर्मा हो जाती है। काव्य की नायक-नायिका और अपनी प्रेयसी का संयोग इसलिए बेमेल होता है कि प्रेयसी के प्रति प्रेम में वासना का ताप है। दूसरे उदाहरण में स्मृति अपने जीवित शिशु की नहीं, बल्कि उसी शिशु से संबंधित घटना की है। पहले में स्मृति का आलंबन, दूसरे में आश्रय सदोष है। लेकिन भाईवाले उदाहरण में तो आप में भी चित्रकूट की आकुलता आ जाने से भाव में तीव्रता आ जाती है। स्मृति में यदि प्रभाव-साम्य हो तो वह थोड़ी रसपोषक होगी ही।

मान लीजिए आप कहीं पढ़ते हैं, 'एक राजा था। उसने अपने मंत्री से कहा—तुम बिना कुछ कहे मुझे गाली दो, नहीं तो फाँसी चढ़ा दूँगा।' मंत्री ने कहा, 'अच्छा महाराज, मैं चुप हूँ।'

इसके पढ़ते-पढ़ते यदि आप को एक दिन की अपनी स्मृति जग जाय जिसमें, मान लीजिए, आपके किसी मित्र से इस तरह बातें हुई थीं:—

'मित्र—आप मुझे शरीफ समझते हैं या लुच्चा ?

आप—शरीफ।

मित्र—आप बड़े लुच्चे हैं, आप झूठ बोलते हैं।

आप—तो क्या आप सही बात ही कहलाना चाहते हैं ?'

इससे प्रस्तुत और स्मृत दोनों के हास्य को बल मिलेगा। संक्षेप यह कि स्मृति अपने वैयक्तिक जीवन से भी संबंध रखती हो, तब भी कोई आवश्यक नहीं कि वह सदा रसास्वादन में तड़तड़ाने लायक तम्बाकू की गट्टी डाल दे। वह घुलमिल जा सकती है, और साथ-साथ स्वानुभूति की स्मृति भी काव्यगत परिस्थिति के भाव-संयोग से साधारणीकृत हो जायगी।

यह तो हुई स्वानुभूति की स्मृति की बात। अब यदि स्वानुभूति ही प्रस्तुत हो, और परानुभूति अप्रस्तुत स्मृति के रूप में आये, तो प्रभाव-साम्य रहने पर भाव के उत्कर्ष का क्या कहना ! आप लाख अपनी दीनता और वेदना पर मुक्तक लिखा करें, उसका उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना लोक-वेदना के कवि की एक पंक्ति की साक्षी-स्मृति का।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जो उदासी हड्डी में घुस जाती है उसका स्वागत या सुहृद्-कथन उतना प्रभावशाली नहीं होता, जितना ग्रामोफोन पर एक दुःख के गीत रख आपके मूक बैठ जाने से। इस तरह आपका दुःख व्यक्ति का न हो कर लोक-प्रारब्ध की पुंजीभूत करुणा अर्जित कर लेता है। शेखर में मार्मिक क्षणों के अवसर पर ऐसे उद्धरणों की सांस्कृतिक स्मृति पीड़ा का एक ओर मानस-परिष्कार करती है, दूसरी ओर उसमें लोक-प्रारब्ध के गौरव, निर्वेद, दार्शनिक गांभीर्य तथा व्याप्ति के गुण ला देती है। मस्तिष्क की आदर्श कल्पना भाव को एक संयत, सूक्ष्म, सुकुमार अवसाद से भर देती है। जीवन की अस्ताचल-वेला की आसन्न हूक लिये शान्ति की रुचि के उस पद्य की कल्पना कीजिए। क्षय से ग्रस्त शान्ति अपना अंत निश्चित जानती है। फिर आशा के नहीं रहने पर भी उमंग क्यों है उसके भीतर? कल्पना के कारण, सांस्कृतिक स्मृतियों के कारण, अपने को कवि की नायिका के रूप में देख सकने के कारण।

रोजेटी के 'ग्लोरी आव डेथ' तस्वीर की 'ग्लोरी' उसकी भी होगी, यह बात उसकी रीढ़ को गुदगुदाती है। जीवन के अवसान की विषादपूर्ण हँसी के साथ वह वीर लड़की अपने में मस्त है। वहाँ वह यह कविता शायद सस्वर पढ़ती है—

Break, break, break
On thy cold grey crags, o sea!
And I would that my tongue could utter
The thoughts that arise in me.

स्वयं टेनिसन की कविता की करुणा कितनी बढ़ जाती है, शान्ति का अवसाद कितना संस्कृति-समृद्ध, कितना सूक्ष्म तथा कितना तलस्पर्शी हो जाता है! इसी तरह गरुड़-नीड़ में लौटकर शेखर शारदा को नहीं पाता और सीढ़ियों पर बैठ जाता है।

उस चोट की पूर्व भूमिका के रूप में इस कविता का मानस-गुंजन कितना उत्कर्ष-विधायक है!

Dead, long dead,
Long dead
And my heart handful of dust···
And the wheels go over my head,
And my bones are shaken with pain
And the hoofs of the horses beat.

लेकिन यदि अँगरेजी की पंक्तियों को ही पढ़ें तब ही। हिन्दी में इनके अनुवाद ऐसे हुए हैं जिन्हें दिखा कोई भी परीक्षक लड़कों का उपहास करता फिर सकता है!

अनुवाद की ऐसी स्थूलता कवि-हृदय की नहीं, शब्द-वणिक् की है जो भाषा का विनिमय जानता है, लेकिन भाव का 'हीर' नहीं जानता।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसी तरह घर से भगा शेखर गंगा की धारा पर बहता है। 'वह बंधनों के देश आया है और बंधन से निकल भागना चाहता है। पर वह देश तो दूर है। उसे पहुँचने में तो दिनों लग जायेंगे—गंगा इतनी धीमी बहती है।'

'आकाश के मुक्त वातावरण की अबाध विशालता उसके प्राणों में आ गई थी और यथार्थता पीछे थी'। और तब एक गूँज उठ पड़ती है—

O mother Ganges, vast and slow.

ऐसे और भी उदाहारण दिये जा सकते हैं। इन सभी शेखर के विद्या-प्रदर्शन तथा उद्धरणों के पश्चात् फैशन की शंका भी सर्वथा निर्मूल तो नहीं होगी; पर ये पद्यांश खप गये हैं। वे सभी अनुभूति-दान के द्वारा शीलगत, परिस्थिति मनोदशाओं की व्यंजना को पुष्ट-परिष्कृत करते हैं, चाहे उनमें लेखक का दंभ कितना ही क्यों न हो। असल में फांसी के पहले जैसी स्मृतियाँ आ सकती हैं, इसका विचार तो है नहीं। छूट तो यह है कि यदि कलात्मक ढंग से रखने की क्षमता होती, अवकाश होता, तो स्मृतियों का रूप यही होता!

शेखर के अहंकार, भय और सेक्स के स्वरूप सामान्य वृत्तियों अथवा विकारों के उदाहरण के रूप में दिखाए गए हैं। इन सभी में दमन के अशिव प्रभाव को दिखलाने का प्रयोजन ही अभीष्ट-सा लगता है। भय और सेक्स का रेचन अथवा मुक्ति तो माता-पिता अथवा समाज के कारण नहीं होती, लेकिन पता नहीं शेखर में इतने घोर अहंकार का बीज कहाँ से आया? पुत्र-जन्म के समय से ही कोई कहता है—'बालक बुद्ध का अवतार है', कोई कहता—'अहिंसा का पुजारी होगा', पिता ने कहा—'बुद्ध', माँ ने कहा 'टाऊ', पिता ने कहा Engineer, माता ने कहा Barrister, इस तरह बोध के पहले, बालक का जीवन रूढ़ि में बँध जाता है। किसी बालक की स्वाभाविक रुचि, प्रतिभा तथा क्षमता का विचार किये विना उसके ऊपर एक रूढ़ मर्यादा लाद देते हैं, उसकी गति-स्वतन्त्रता सीमित कर देते हैं, इसीकी आलोचना तो है इसमें! तीन वर्ष के उस बालक में लाख वर्ष तक विजयी रहनेवाले नेपोलियन से भी अधिक दर्प है। अहंकार ही शेखर के स्वभाव की तालिका है। शीला से प्रेम छूट भी जाता है तो भी शेखर को यह दुःख नहीं होता कि उसने कुछ खोया था, बल्कि यह कि शीला पर क्या बीती होगी! बहुत-से ऐसे लोग खूबसूरत होते हैं जो लड़कियों पर दया करते हैं। उनसे संबंध टूट जाने पर, किसी का दिल टूट जायगा इसकी कल्पना से, उनके अहं को एक गूढ़ तृप्ति होती है।

भूसे से भरे बाघ को देख बालक डरता है। वह डर दबकर धर लेता है। चांस देखिए। वैसा ही बाघ शेखर के घर रखा जाता है। यम-वृद्ध जिज्ञासा का यह बालक चाम को फाड़ देता, लेकिन डर नहीं रहने देता। शिशु ने जाना, 'डर डरने से होता है'। ऐसा बहुत से वृद्ध भी नहीं समझ पावें। शेखर में पक्षपात कुछ ऐसा असाधारण हो जाता है कि मालूम होता है जान-बूझकर शेखर का Intelligence Quotient बढ़ाने के लिए,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसका मानसिक और सांकल्पिक विकास दिखाने के लिए, ऐसे ढीठ उदाहरण रखे जाते हैं।

शेखर को दण्ड मिलता है। डर देनेवाला परिवार वह समाज है जिसका अस्तित्व डर के बिना रह ही नहीं सकता। 'ऐसा वे ही समझ सकते हैं जो वासना से उत्पन्न पाप-कर्म के किनारे तक जाकर लौट आये हैं'। सामाजिक नियन्त्रणों के प्रति शेखर की यह चिढ़ इतनी किताबी, इतनी रूढ़-सामान्य है कि कहते नहीं बनता। सबसे अधिक चिढ़ तो उसे इस बात से है कि ऐसे नियन्त्रण, ऐसे पुण्य-पाप-विधान संस्कार बनकर भीतर से ग्लानि पैदा करते हैं, बाहर से रुकावट नहीं। शेखर प्रेम को मैथुन तक ले जाना चाहता है, लेकिन कुछ प्रेम-कथाएँ तो यों ही समाप्त हो जाती हैं—शीला के साथ शेखर के अहंकर के ही कारण, शारदा के साथ उसके चले जाने से, और शशि के साथ सख्य की आदर्श कल्पना तथा (सूक्ष्म रूप से ही सही) भाई-बहन की चेतना के कारण। शेखर की पढ़ाई शुरू होती है। वहाँ भी मालूम होता है जैसे शेखर यह पढ़कर गया हो कि गुरु शिष्य पर रोब जमाकर, शिष्य को दण्ड देकर उसके मानसिक स्वास्थ्य को पंगु करते हैं। इसलिए कोई माष्टर 'थुक्कू' कह कर अपमानित किया जाता है, किसी माष्टर के Mr. Gass नाम से g हटा दिया जाता है, और किसी माष्टर पर हुमक कर लात चला दी जाती है। लगता है जैसे शेखर का प्रत्येक व्यवहार शिक्षण-सिद्धान्तों की अपान-सिद्धि है। पिता साहब हैं। उन्हें आमों में रुचि नहीं। शेखर को खाने में मजा आता है। तो शेखर क्यों नहीं खायगा? शेखर खाने लगता है। जिज्ञासा जोर मारती है तो उल्लू तक की बोली का अभ्यास करता है। 'मैं ईश्वर को नहीं मानता; मैं प्रार्थना भी नहीं मानता', जैसे वाक्य कहने की सामर्थ्य पाकर वह अपने को हिमालय की तरह ऊँचा समझता है। उसके भाई उससे चुपके से कह देते हैं कि वे भी ईश्वर में विश्वास नहीं करते। स्पष्ट हो जाता है कि यह नास्तिकता किसी की गम्भीर आस्था नहीं बल्कि दुनिया को चिढ़ाने तथा वास्तव में दुनिया की आस्था को खोखला सिद्ध करने का ही प्रयास है।

कहीं-कहीं जहाँ हृदय के बालोचित आग्रह की झाँकी मिल जाती है वहाँ अलबत्ता शेखर मनोविज्ञान के दमन, रेचन, विद्रोहवाले झमेलों से निर्बन्ध होकर स्नेहन हास का पात्र हो जाता है। पपीहे की 'पीऊ-पीऊ' सुनने पर शेखर का मन करता है कि पपीहा नीले रंग का होगा और उसकी छाती लाल होगी। 'क्यों' से क्या मतलब हृदय को, और वह भी बालक के हृदय को! यहाँ काव्य-सुकुमारता तथा हृदय के हास्यकर आग्रह की निरपेक्षता के कारण शेखर का शील विचित्र होते हुए भी मोहक मालूम पड़ता है। कभी-कभी विचित्र शील ही दबी इच्छाओं की अभिव्यक्ति के कारण अनायास साधारणीकृत हो जाते हैं। रूढ़ सामान्यशील इस तरह की किसी बात को मानने की जिद नहीं कर सकते। हर आदमी में यह छिपी दुर्बलता होती है कि बुद्धि के समुचित परीक्षण के बिना ही वह हृदय से किसी को या किसी बात को मान ले। जाने बिना मानने का जो मोह हृदय के आलस्य को पसंद है,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसके लिए सब को साहस नहीं होता। यदि किसी बालक को यह जिद हो जाती है तो वह सब के मन की बात कर देता है, मूर्ख होते हुए भी बन्धु हो जाता है। शेखर पेड़ से उतर रहा है और शायद दण्ड देने के लिए उसके पिता नीचे खड़े हैं, तो शेखर मन में सोचता है—'कितने आम फी थप्पड़, या कितने थप्पड़ फी आम।' ऐसी हिसाबी शरारत में चमत्कार ही अधिक है, फिर भी शील स्वभाव के कुछ निकट हैं। लेकिन मेरी आलोचना के प्रयोजन से की गई मद्रास की यात्रा, क्लब की सदस्यता, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर लम्बे वाद-विवाद, हरिजनों का साथ, कांगरेस-कैम्प में अनुशासन-भ्रष्टाचार तथा अहिंसकों की हिंसा की छानबीन आदि की बातें दूर की पड़ती हैं।

(४)

शेखर के व्यक्तित्व का बहुत कुछ मोह पाठकों के हृदय में एक व्यापक उदासी को लेकर है। वह एकाकी है, खोता है और कभी-कभी घायल होकर बैठ जाता है। लेकिन शेखर जब दार्शनिक मनोदशा में होता है तो उसकी इस अन्तर्व्याप्त उदासी का संस्पर्श उसकी दार्शनिकता को नहीं मिलता। चिन्तन के क्षणों में शेखर को दर्शन के इतिहास की स्फुट स्मृतियाँ सताने लगती हैं। एक दार्शनिक मनोदशा होती है, चित्त की एक तटस्थ भवरस-विरति की दशा होती है, जिसके निर्वेद में भी एक मीठी-मीठी उदासी होती है जिसमें आदमी अपने पर, औरों पर, जीवन पर, मुस्कुराता है, कुछ दया भी करता चलता है। ऐसा दर्शन एक भावना है। इसमें स्वप्नभंग, उपराम, पराजय, क्लान्ति, भ्रान्ति, सहज लोकदृष्टि, आदि का योग रहता है। लेकिन शेखर का दर्शन तो दर्शन-शास्त्र के इतिहास की रेखाङ्कित पंक्तियाँ हैं, वह कुछ इस तरह की बात करता है—'मैं कुछ नहीं, मेरा कार्य कुछ नहीं···पर मेरी विद्रोह-चेष्टा कहाँ जायेगी? मैं न रहूँ, पर क्या मेरा कंपन भी खो जायगा? विज्ञान कहता है, कुछ होता नहीं, होगा नहीं, गति की एक ही दिशा···काल कुछ नहीं। तब मैं मर कर भी जीता रहूँगा, पर जीते हुए भी मर चुका हूँ। शक्ति और पदार्थ एक ही कुछ के दो आकार हैं। तो क्या मेरी विद्रोही शक्ति कल किसी विद्रोही की लौह-शृङ्खला बनेगी?' हेमलेट के श्मशान-चिंतन की गहरी हार्दिकता से इसका मिलान कीजिए)। 'हाय मानव के छोटे मस्तिष्क, और हाय भव के विराट् सत्य! अनन्त नश्वरता...अनन्त पुनर्जन्म...निर्जीव धूमकेतु से लेकर उद्भिज, अंडज, स्वेदज, पिंडज जीवों की छाप···मैं अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ का नया संशोधित, संवर्धित, सटीक, सटिप्पण संस्करण, जिसके मूल लेखक का पता नहीं···।'

'यह नृवंश—विकास की मेरे नाम, और मेरी नृवंश-विकास के नाम, वसीयत है··· Will to revolution की गाथा।'

वही शेखर जब शशि के घर जाता है और शशि की शादी हो चुकी होती है, और शशि पूछती है 'देख लिया मेरा घर;' और शेखर कहता है, 'हाँ देख लिया, बहुत कुछ देख लिया', तो गंभीर संयत अनुभवों से एकान्त मौन-मरण की वेदना कितनी मार्मिक, कितनी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मूर्त्तिमान् हो जाती है। घायल पंथी का वह रूपक, प्रकृति का इस घुटती हुई पीड़ा के साथ वह सामंजस्य कितना सफल, कितना हृदयग्राहक हो जाता है।

'मेघाच्छन्न आकाश, प्रकाशहीन सायंकाल, पवन अचंचल, चंचला भी अदृश्य। उड़ते-उड़ते सहसा पंख टूट जाने से विवश गिरता अकेला ही अकेला एक पक्षी गिरता है, फिर अपनी उड़ान, अपना स्थान पा लेने के लिए छटपटा रहा है…'। बहुत गहरी अनुभूति के रूपक तथा परिस्थिति के मर्म के साथ प्रकृति-सामंजस्य का यह अनुपम उदाहरण है।

जेल के जीवन में शेखर की प्रेम-भावना, वीर-पूजा, आत्मीयता, क्रान्ति-भावना तथा जिज्ञासा के स्वरूप देखने को मिलते हैं। अधःपतित, अनुशासन-भ्रष्ट कॉगरेसियों के अनुभव के बाद जेल में रहनेवाले इन बन्दियों की आमरण आदर्शनिष्ठा, वीरोचित त्याग, कष्टसहिष्णुता तथा रूढ़ संकीर्णताओं से मुक्ति शेखर के लिए आदर तथा बन्धुत्व की चीजें हैं। जेल का वातावरण इतना संकुचित, हृदय का विस्तार इतना अधिक। बाहर हिन्दुस्तान फूटा, भीतर एक। राष्ट्रीयता तथा आदर्शवाद की ऐसी सहज और सबल प्रेरणा बाहर संभव न थी।

शेखर का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से संपर्क होता है। सूत्रबद्ध भाषा की दार्शनिक गुरुता लिये बाबा मदन सिंह शेखर के सहज गुरु-से दीखते हैं। बाबा मदन सिंह के पास सूत्रों की पूरी शताब्दी है। बाबा की शैली का नमूना देखिए—

'दासता क्या है! अप्रिय तथ्य का ज्ञान नहीं, असत्य का ज्ञान भी नहीं, दासता है सत्य या असत्य की जिज्ञासा को शान्त करने में असमर्थ होना; वह बन्धन, वह मनाही जिसके कारण हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छिन जाता है।'

देश के अपमान पर रुष्ट होकर बम फेंकना अथवा राष्ट्र-संग्रह के लिए अपने देश के विद्रोहियों को मारना हम समझ सकते हैं, लेकिन 'हिंसा' को अज्ञान के विरुद्ध धर्म-युद्ध कहना बहुत ही बनाकर कही गई बात है। कहीं ऐसा पता नहीं चलता कि इन बुद्धिमानों के सत्य-ज्ञान पर किसी ने प्रतिबन्ध लगा दिया हो, शेखर को उस बुड्ढे के धवल-जूट शैशव के लिए मोह है। इक्कीस वर्ष रहने के बाद भी वह जेल में हँस सकता है। कहीं अपनी किसी विचित्रता अथवा विशेषता की बात आप खुद कहने लगें तो प्रभाव शील के लिए उतना अच्छा नहीं होगा, विशेषतः जहाँ आपका पात्रत्व श्रद्धेय है। ऐसे मौके पर किसी दूसरे आदमी की अपने से मिलती-जुलती बात के प्रति हार्दिक उल्लास प्रकट कर देने से आपके शील की अभिव्यक्ति भी उपचार से हो जाती है। ऐसा शील संकेत की सूक्ष्मता, ध्वनि के सौंदर्य से और भी रमणीय हो जाता है।

बाबा मदन सिंह शेखर से कहते हैं—

"आपने उस पठान की कहानी सुनी है न, जो जेल में तीस साल काटकर अपनी आयु अट्ठाईस बताता था। जब वह जेल से लौटा तो किसी ने पूछा, 'खान, तुम्हारी उम्र कितनी है?' बोला, 'अट्ठाईस'। पूछनेवाले ने फिर कहा, 'जेल में कितनी देर रहे', तो जवाब दिया,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पता नहीं'। 'जेल गए तब कितनी थी ?' बोला, 'अट्ठाईस'। पूछनेवाले ने जब उसके गणित पर आपत्ति की तो बोला, 'जेल क्यों जोड़ते हो ? उन दिनों तो कुछ हुआ ही नहीं तो उम्र कैसे बीत गई'। दोष यही है कि बाबा मदन सिंह स्पष्ट कह देते हैं, वही हाल मेरा है पर बाल तो पक ही जाते हैं।"

जेल के भीतर चरित्र की दृढ़ता तथा दुःख को सहने की ऐसी असीम क्षमतावाले लोगों के शील को कुछ बहुमान-सा मिल जाता है।"

फिर दूसरी बार शेखर हिंसा को लेकर उनसे विवाद शुरू करता है, लेकिन एक संयत नम्रता लिये हुए। शेखर को ऐसा लगता है जैसे मदन सिंह की नम्रता एक अजस्र झरना है, और उनके चरण छूने के लिए रह-रह कर मन करता है लेकिन शेखर का अहंकार उसे रोकता है। शायद बौद्धिक संस्कृति ही बाधक होती है, नेहरू भी तो स्वभाव की इस मौलिक इच्छा को विलायती ढंग से दबाते हैं और दूसरों को ऐसा करते डाँटते हैं। मदन सिंह शेखर को भी सूत्रबद्ध भाषा बोलते टोक देते हैं। वे सोचते हैं जेल की एकान्त-एकाग्रता तथा दुःख ही इसके मूल में हैं। बात तो यह है कि शेखर सदा का वैसा है। सूत्रबद्ध दार्शनिकता अथवा दार्शनिक आडम्बर, बोलने में भी डायरी की भाषा, के लिए शेखर को तो सदा की ललक है; शेखर बड़े ही वैदग्ध्य के साथ तर्क करता है, लेकिन हमें उसके शील-निरूपण में इससे कतई सहायता नहीं मिलती। शील-निरूपण की दृष्टि से बाबा मदन सिंह जैसे वज्रधीर, चरित्र-कठोर तथा बालवृद्ध के प्रति उसकी एक अस्पष्ट वीरपूजक की भाव-मुद्रा ही अभीष्ट है। शेखर को बाबा मदन सिंह के लिए जो श्रद्धा तथा आदर है, उससे उसके शीलगत आदर्श-भावना की झाँकी मिल जाती है।

बाबा मदन सिंह का काम आक्रामक हिंसा, पारिभाषिक हिंसा-अहिंसा आदि के रूप को रख देना है। यदि शेखर को कोई निष्कर्ष हाथ नहीं लगता तो इससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। अचानक वार्डर के आने पर बाबा इन बौद्धिक बातों के उच्च धरातल से साधारण कोटि के मनुष्यों की व्यावहारिक कायरता के साथ प्रत्युत्पन्नमतित्व का प्रयोग करते हैं। हिंसा की बात बदल कर कहते हैं, साहब क्या कहता ! अपना-सा मुँह लेकर चला गया।

और तब रास्ते में वार्डर कहता है, 'बुड्ढा भी कभी तूफान ही रहा होगा। पर है बिचारा बड़ा सन्त आदमी-तबीयत का बिल्कुल गरीब है'।

वार्डर के हृदय में बाबा की जो रौद्र-भयानक तथा साथ ही श्रद्धेय दयनीय मूर्त्ति है, उससे बाबा का शील बहुत ही कोमल ढंग से स्निग्ध हो जाता है। ऐसे राग-स्पर्शों से बाबा का शील निर्मित होता तो और भी सजीव तथा मुग्धकारी होता। [क्रमशः]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपभ्रंश के विषय में संस्कृत के आचार्यों का मत

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य

आजकल भाषाविज्ञान-सम्बन्धी आलोच्य विषयों में अपभ्रंश का विचार एक मुख्य विषय है। वर्त्तमान पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री तथा उनके अनुयायी अपभ्रंश के विषय में अनेक अश्रुतपूर्व वादों का प्रचार कर रहे हैं, जो हमारे प्राचीन आचार्यों के मतों से पृथक् तथा कहीं-कहीं पूर्णतः विपरीत हैं। हम दोनों मतों की सर्वंकषा चर्चा कर इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जहाँ आधुनिक नवीन मत प्राचीन आचार्यों के मतों से विपरीतगामी या पृथक् है, वहीं वह स्वकपोलकल्पित भी है, क्योंकि उसके पक्ष में कुछ भी निश्चयकारक प्रमाण नहीं मिलता। भारत में प्रचलित शब्द-व्यवहार के ऐतिहासिक विवरण के लिए हमें स्वभावतः अपने प्राचीन आचार्यों की शरण में जाना पड़ता है, और उनके मतों को सत्य मानना पड़ता है, क्योंकि प्राचीन शब्द-व्यवहार की परम्परा के विषय में प्राचीन आचार्य ही प्रमाणभूत हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न काल और देश के सभी आचार्य भाषा-सम्बन्धी जिन तथ्यों के विषय में एकमत हैं, उनकी सत्यता में सन्देह करने से किसी भी प्रमाण की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। आचार्यों के भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्तों की एक विशिष्टता यह है कि वे भारतीय इतिहास से भी सिद्ध होते हैं।

इस विषय में यह संशय प्रायः उठाया जाता है कि पुराण, इतिहास तथा ब्राह्मणग्रन्थ आदि के वर्णित भारतीय इतिहास वास्तव इतिहास नहीं हैं, और आधुनिक दृष्टि के अनुसार उसके परिमार्जन की अपेक्षा है। उत्तर में वक्तव्य है कि किसी के संशयमात्र से किसी भी प्रतिष्ठित सिद्धान्त का बाध नहीं होता। किञ्च पुराणादिवर्णित भारतीय इतिहास में जो असंगति प्रतीत होती है, वह आजकल के शक्तिहीन दुर्मेधा व्यक्ति की बुद्धि की अक्षमता है। आजकल की अशक्ति के अनुसार प्राचीनकाल की प्रजाओं की महती शारीरिक और मानसिक शक्ति की समंजसता दिखना उपशक्य है, पर इससे उसकी अवास्तविकता सिद्ध नहीं होती।

उन जितेन्द्रिय, ऊर्ध्वस्रोत, सत्यवादी मनीषियों के मत में आदिम मानवीय सृष्टि अमैथुनी थी, और वर्त्तमान जीवविद्या में भी सहसाजीवोत्पत्तिवाद क्रमशः स्थान लाभ कर रहा है। उनका यह भी मत था कि भाषा अव्यक्त ध्वनियों से नहीं निकली, प्रत्युत परमोत्कृष्ट वेदवाक् सर्गादि में आविर्भूत हुई थी, जिसके आश्रय से मनुष्यों में वाग्व्यवहार प्रवर्त्तित हुआ। नियतानुपूर्वीयुक्त वेदवाक् से, ऋषियों के उपदेशबल से, व्यवहार-सिद्धि के लिए वेदवाणी से मिलती-जुलती जो वाणी प्रवर्त्तित हुई, उसके नाम संस्कृत, भारती, भाषा, वाणी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आदि हैं। दीर्घकाल तक उस दैवी वाक् का ही प्रवर्त्तन था। भारत का जो इतिहास सुरक्षित है, उससे इस सिद्धान्त का बाध नहीं होता, न-ही शारीरविज्ञान या जीवविज्ञान से इसको कुछ भी असंगति होती है। हम पृथक्-पृथक् निबन्धों में इन विषयों का यथासंभव प्रतिपादन करेंगे।

यहाँ अपभ्रंश के विषय में प्राचीन आचार्यों का मत दिखाया जा रहा है। अपभ्रंश की उत्पत्ति, उसका काल, उसका कारण इत्यादि विषय यहाँ आलोचित होंगे। हम यहां केवल पूर्वाचार्यों के मतों का ही प्रतिपादन करेंगे, विज्ञान और इतिहास से उसकी जो संगति या समर्थन है, उसका विवेचन स्वतन्त्र निबन्ध में किया जायगा। भिन्न-भिन्न शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने इस विषय पर जो कुछ कहा है, उनका संकलन कर यहाँ उनकी व्याख्यामात्र की जा रही है, जिससे प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोण का ज्ञान हमारे पाठकों को हो जाय।

पहले अपभ्रंश शब्द का अर्थ और उसके पर्यायों की आलोचना की जा रही है। उपलब्ध कोषों में प्राचीनतम अमरकोष में कहा है—'अपभ्रंशोऽपशब्दःस्यात्' (१।५।२) इसकी व्याख्या में क्षीरस्वामी ने कहा है—'संस्कृतादपभ्रश्यते इति अपभ्रंशः; अपभ्रष्टः शब्दः अपशब्दः।' इससे सूचित होता है कि संस्कृत वाक् प्राचीनतर है, और उच्चारण-विकलता आदि दोष से उत्पन्न शब्द अपभ्रंश है। जिसका नाम ही अपभ्रंश या अपशब्द है, वह किसी से उत्पन्न या किसी का विकार होगा ही, इसमें सन्देह नहीं है।

अपभ्रंश को प्राकृत भाषा भी कहा जाता है, और यह 'प्राकृत' शब्द भी उक्त मत को ही विज्ञापित करता है—प्रकृति (=संस्कृत) से जात=प्राकृत। हमारे पूर्वाचार्य ऐसा ही समझते थे, पर आजकल एक नया वाद यह उठाया गया है कि प्राकृत शब्द का उपर्युक्त अर्थ कल्पित है और उसका वास्तविक अर्थ है—'मनुष्यों के प्रकृति-सिद्ध होने के कारण अपभ्रंश को प्राकृत कहा गया है और प्राकृत का संस्कार कर जिस भाषा का निर्माण किया गया, उसको संस्कृत कहा जाता है'। हमारे मत में यह सिद्धांत केवल कपोलकल्पित ही नहीं है, भारतीय इतिहास के भी विपरीत है, क्योंकि:—

(क) प्रकृति शब्द का जो नया अर्थ दिखाया गया, वह अपेक्षाकृत नवीन है, और दर्शन आदि प्राचीनतम ग्रन्थों में प्रकृति का एकमात्र अर्थ 'उपादान कारण' है, अतः प्राकृत का अर्थ होगा 'किसी कारण से उत्पन्न'।

(ख) यदि वस्तुतः प्राकृत का संस्कार कर संस्कृत का निर्माण होता, तो संस्कृत शब्दों के निर्वचन में प्राचीन आचार्य कहीं न कहीं उसकी प्राकृतमूलकता अवश्य दिखाते[1]।

१—हम मानते हैं कि अनवधानता से कुछ अपभ्रंश शब्द संस्कृत भाषा में प्रयुक्त हो चुके हैं, या अर्वाचीनकाल के कुछ ग्रन्थों में अपशब्दों का कुछ परिवर्त्तन कर संस्कृत में प्रयोग अर्वागदर्शी ग्रन्थकारों ने किया है। पर ऐसे शब्द

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विपरीत पक्ष में यही देखा जाता है कि प्राकृत शब्दों को प्राचीन आचार्यों ने बार-बार मूलतः संस्कृतमूलक कहा है (जैसा बाद में दिखाया जायगा)।

(ग) हमारे आचार्यों के अनुसार जिस संस्कृत शब्द के जितने अपशब्द हैं, उन शब्दों का उच्चारण संस्कृत के उच्चारण से सहज है। यही प्रमाणित करता है कि संस्कृतवाक् से अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि भारतीय इतिहास के अनुसार मनुष्यों के मन, इन्द्रिय तथा शरीर की सामर्थ्य, धृति आदि कालक्रम के अनुसार क्षीण होती आ रही है, और हम आज भी वर्णोच्चारण के विषय में प्रत्यक्षतः देख रहे हैं कि प्राचीन लोग जितने सूक्ष्म उच्चारण सहजतः कर सकते थे, आज शक्तिक्षीणता के कारण वे कष्ट-साध्य हो रहे हैं और उच्चारण-क्रिया क्रमशः शिथिल हो रही है। सुतरां सिद्ध होता है कि संस्कृत शब्दों के सम्यक् उच्चारण के लिए जो शारीरिक या मानसिक सामर्थ्य चाहिए, वह प्राकृतिक नियमानुसार जब क्षीण होने लगी, तब संस्कृत शब्दों के स्थान पर अपभ्रंश शब्दों का उच्चारण होने लगा।

अपभ्रंश का अन्य नाम 'म्लेच्छ' भी है। श्रुति कहती है—'न म्लेच्छितवै नापभाषितवै' (पस्पशाह्निक में उद्धृत) धातुपाठ से भी यही अर्थ विज्ञात होता है। वहाँ कहा गया है—'म्लेच्छ म्लेच्छने; म्लेच्छनं अपशब्दनम्' (धातुवृत्ति, पृ० ३८६)। कभी-कभी अपशब्द को अव्यक्त वाक् भी कहा जाता है, जैसा आचार्य सायण ने कहा है—'अव्यक्तवाक् अपशब्दनम्' (तत्रैव)। धातुपाठ में म्लेच्छ एक धातु भी है। धातुपाठ में इसका अर्थ दिया है—'अव्यक्त शब्द'। यहाँ अव्यक्त शब्द का अर्थ अपशब्द भी है ('इह अव्यक्तशब्दः अस्फुटशब्दः अपशब्दश्च'—धातुवृत्ति, पृ० ६७)

इन अर्थों से भी पता चलता है कि अपभ्रंश का कारण उच्चारण-वैकल्य है, और इसका अन्य नाम 'अव्यक्तवाक्' था [1]।

अतिप्राचीन नहीं हैं; और चूँकि जब ऐसा मिश्रण हुआ था, तब संस्कृत व्यवहार्य भाषा नहीं थी और अपभ्रंश की सुप्रतिष्ठा हो गई थी, अतः अनवधानता की वृद्धि के साथ-साथ ऐसा होना अनिवार्य भी था। हमारा तो अति स्पष्ट मत यह है कि जब से अपभ्रंशों का आरंभ हुआ, उसके कुछ काल बाद शब्दोच्चारण में शुद्धि न रही, शाब्दबोध की सूक्ष्मता भी क्रमशः नष्ट हो गई, और आज संस्कृत भाषा के जिस रूप को हम देखते हैं वह महाभारतकाल के आसपास प्रवर्त्तित हुआ था और वह अति विशाल तथा असंकुचित संस्कृत वाणी का एक संकुचित रूप है। एक दिन संस्कृत उच्चारण-दोषशून्य, अपभ्रंश शब्द से सर्वथा अमिश्रित तथा प्रयोग की दृष्टि से असंकुचित थी वही यथार्थ संस्कृत थी। उस संस्कृत का एकांश पाणिनि व्याकरण से विज्ञात होता है।

१—शक्ति-विकलता से अस्फुट शब्द निकलता है, और अपभ्रंश भी, अतः दोनों को अव्यक्तवाक् कहा गया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'प्रकृति' शब्द का वादी से दर्शित अर्थ (=स्वभाव) भी यदि लिया जाय, तो भी हमारा पक्ष बाधित नहीं होता, क्योंकि भारतीय जनों की प्रकृति से जो भाषा सिद्ध है, वह 'प्राकृत' होगी। वादी कहता है कि 'अपभ्रंश' प्रकृति-सिद्ध है, पर भारतीय इतिहास कहता है कि एक दिन संस्कृतवाक् प्रकृति-सिद्ध थी। प्रकृति एक नित्य परिवर्त्तनशील तत्त्व है, अतः आज के मनुष्यों की वाक् तथा शक्ति आदि देखकर प्राचीनतम काल की वाक्, शक्ति आदि विषयों में अविशुद्ध अनुमान करना उचित नहीं है। हमारी सिद्ध व्याप्ति है—'युग-युग में मनुष्यों की सर्वप्रकार की शक्ति क्षीण होती आ रही है', और यह इतिहास से भी सिद्ध होता है, अतः चूँकि संस्कृतोच्चारण के लिए ऐन्द्रियिक शक्ति की अधिकतर विशुद्धि तथा सामर्थ्य अपेक्षित है (जैसा अपभ्रंशों के लिए आवश्यक नहीं है), अतः संस्कृतवाक् के स्थान पर बाद में अपभ्रंशों की उत्पत्ति हुई। 'ह्रासवाद' की न्याय्यता की उपपत्ति हम स्वतन्त्र निबन्ध में करेंगे।

हमारा मत है, प्राचीन काल में मनुष्यमन अधिक सूक्ष्मार्थग्राहक था। संस्कृतभाषा स्वयं इसका एक पुष्ट प्रमाण है। संस्कृत-शब्द-प्रयोग में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जैसे लिंग, क्रियापदों में लिंगयोगाभाव, द्विवचन, क्रियापद से उपमान न देना, क्रियामुख्य विशेष्यक बोध, अखण्डवाक्यार्थ इत्यादि। हम आगामी निबन्धों में प्रमाणित करेंगे कि ये सिद्धान्त अतिसूक्ष्म जड़विज्ञान तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के द्योतक हैं, और अपभ्रंश में इनकी सार्थकता नहीं है। चूँकि अपभ्रंशवाक् के मूल में शक्ति-विकलता है, अतः संस्कृभाषा के सूक्ष्मार्थद्योतक नियमों का प्रयोग उसमें घटता नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अपभ्रंश से संस्कार कर संस्कृत नहीं बनी है।

अब हमें देखना है कि पूर्वाचार्यों ने अपभ्रंश शब्दों का लक्षण क्या किया है। लक्षण से भी अपभ्रंश का उत्पत्ति-रहस्य विज्ञात हो सकता है।

अपशब्द का प्राचीनतम उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है—'तेऽसुरा आप्तकामा हेलवो हेलव इति वदन्तः पराबभूवुः; तस्माद् ब्राह्मणो न म्लेच्छेत्' (शतपथ ३।२।१२३)। पहले कहा जा चुका है कि म्लेच्छ शब्द और अपभ्रंश पर्यायवाची हैं, अतः यह श्रुति अपभ्रंश-विषयिणी है, इसमें सन्देह नहीं है। इस विषय में अन्य अनुपलब्ध मूल श्रुति पातञ्जल महाभाष्य में है—'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवः; तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै; म्लेच्छो हवा एष यदपशब्दः' (पस्पशाह्निक)।

इन दोनों श्रुतियों से अपशब्द का स्वरूप निम्नाङ्कितप्रकार होता है:—

(क) किसी वर्ण के उच्चारण में तज्जातीय अन्य वर्ण का उच्चारण यदि इन्द्रियविकलता (वागिन्द्रिय की अशक्ति) के कारण हो जाय, तो वह अपशब्द है। जैसे पूर्वोद्धृत शतपथ-वचन में 'य' के स्थान पर 'व' का उच्चारण (हेलयः के स्थान पर हेलवः)। भट्टोजिदीक्षित ने भी इसको माना है (शब्दकौस्तुभ, १ आ०)। भाष्योद्धृत श्रुति में भी वर्णोच्चारण में विकलता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है, अर्थात् 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण करना [१] (अरयः होना चाहिए, अलयः नहीं, क्योंकि शब्द अरि है) अपभ्रंश का उदाहरण है।

(ख) व्याख्याकारों ने भाष्योद्धृत श्रुति में एक अन्य म्लेच्छन का विवरण भी दिया है। वे कहते हैं कि पद का द्वित्व होता है (८।१।१ का भाष्य द्रष्टव्य), वाक्य का नहीं, और असुरों के वचन में वाक्य का द्वित्व किया गया है, अतः वह अपभ्रंश है। यह उच्चारण-विकलता नहीं है, प्रत्युत अनवधानताप्रयुक्त शब्द-प्रयोग है। अतः सिद्ध हुआ कि उच्चारण-विकलता-प्रयुक्त तथा अनवधानता से अनिष्ट शब्द-प्रयोग अपभ्रंश है।[२]

अपभ्रंश संस्कृत शब्द से बनता है, इसका स्पष्ट उल्लेख शब्दवित्तम आचार्य व्याडि ने भी किया है। वाक्यपदीय टीका में उनका एक वचन उद्धृत है—'शब्दप्रकृतिः अपभ्रंशः' (लाहौर संस्करण, पृ० १३४) अर्थात् अपभ्रंश शब्द की प्रकृति शब्द है। यह प्रकृति का अर्थ है जो विकृत होकर अपभ्रंश बनता है, जैसे घट की प्रकृति मृत्तिका। शब्द का अर्थ है साधु शब्द (=संस्कृतवाक्)। प्राचीन आचार्य शब्द से साधु शब्द ही लेते थे, और साधु शब्द संस्कृतवाक् के अर्थ में ही आता है, यह पहले जान लेना चाहिए।

व्याडि का यह मत आचार्य पतञ्जलि का भी अनुमत है। उनका कथन है—'न

१—कुछ लोग कहते हैं कि संस्कृत व्याकरण में तो ड तथा ल और र तथा ल का अन्योन्यविनिमय होता है (डलयो रलयोश्च व्यत्ययो बहुलम्) पर ऐसे नियम परवर्त्तिकाल की उपज हैं। उच्चारणविकलता सर्वप्रसिद्ध हो जाने से ही ऐसे नियम बने होंगे। आज हमें संस्कृतप्रयोग-सम्बन्धी जितने अनुशासन मिलते हैं, उनमें कुछ कृत्रिम अवश्य हैं। शब्द, अर्थ, उच्चारण आदि सभी क्षेत्रों में प्रजाओं की शक्तिहीनता के साथ-साथ संस्कृत भाषा संकुचित होती आ रही है, जिसके फलस्वरूप संस्कृत में कदाचित् असंख्य शब्द मिल गये हैं (अनवधानता से)। प्राचीनतम काल में जितने असंकुचित तथा विशद रूप से संस्कृत का प्रयोग होता था, उतना बाद में नहीं, तथा अन्य विषयों में भी कुछ कृत्रिमता आ गई। संस्कृत भाषा में प्रवेशशून्य वर्त्तमानकालिक भाषाविदों को यह बात खटकती होगी, पर सत्य यही है, जिसका सोदाहरण निरूपण बाद में किया जायगा।

२—अपभ्रंश का कारण जैसे ऐन्द्रियिक विकलता है, वैसे ही मानसिक प्रमाद भी उसका कारण होता है। श्रुति कहती है—'तस्मात् न ब्राह्मणो म्लेच्छेत् असूयी हि एषा वाक्' (शतपथ ३।२।१।२४) और इस असूयी वाक् के विषय में ऐतरेय-ब्राह्मण में कहा गया है—'मनसा वा इषिता वाग् वदति, यां हि अन्यमना वाचं वदति, असूयी वै सा वाक् अदेवदुष्टा' (६।५)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चापशब्दः प्रकृतिः[1] (ऋ-ऌक् सूत्रभाष्य) अर्थात् अपशब्द किसी शब्द (यहाँ शब्द= संस्कृतवाक्) की प्रकृति नहीं है।

वर्णोच्चारण में दोष क्या है, ऐसा प्रश्न हो सकता है। प्रातिशाख्य में वर्णोच्चारण-सम्बन्धी अनेक दोषों का उल्लेख है, और वे मानसिक अस्वस्थता (चुतरां अशक्ति) से ही उत्पन्न होते हैं। विभिन्न दृष्टियों से वर्णदोषों का श्रेणीविभाग हो सकता है, और वर्णदोष से अर्थबोध में कुछ न कुछ बाधा होती ही है, यह मानना पड़ेगा।

पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है—'मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह' (कारिका ५२), जिसकी टीका में कहा गया है—'स्वरत उदात्तादिभेदतः, वर्णतः श्रिषष्टिरित्यादिभेदतः मिथ्याप्रयुक्तः यः स्वरो यो वर्णः तमज्ञात्वैव प्रयुक्तः' (पञ्जिका)। इससे सूचित होता है कि मन्त्रोच्चारण में दो प्रकार के दोष होते थे—स्वरोच्चारण-सम्बन्धी और वर्णोच्चारण-सम्बन्धी। इनमें स्वरदोष में मानसिक अनवधान ही अधिक कारण है, ऐसा प्रतीत होता है। वर्णदोष के लिए उच्चारण-प्रयत्न (जो मूलतः शारीरिक है) में अन्यथाभाव कारण है, ऐसा विवेचन करना असंगत मालूम नहीं पड़ता। काल, स्थान, या प्रयत्न में अन्यथा करने से वर्णदोष होता है, ऐसा मानना होगा।

वर्णोच्चारण में दोष क्यों होता ही है—इसके उत्तर में वक्तव्य है कि वर्णोच्चारण एक वैज्ञानिक सूक्ष्म प्रक्रिया है, अतः जिस सावधानी से उच्चारण करना चाहिए, उस सावधानी में कुछ भी कमी होने से वर्णोच्चारण में दोष होना अनिवार्य होगा। शबरस्वामी ने इस सूक्ष्मता को इस रूप से दिखाया है—"महता प्रयत्नेन शब्दमुच्चरन्ति—वायुर्नाभेरुत्थितः, उरसि विस्तीर्णः, मूर्धानमाहत्य परावृत्तः, वक्त्रे विचरत् विविधान् शब्दान् अभिव्यनक्ति। तत्र अपराध्येतापि उच्चारयिता। यथा शुष्के पतिष्यामीति कर्दमे पतति, सकृद् उपस्प्रक्ष्यामीति द्विरुपस्पृशति। ततः अपराधात् प्रवृत्ता गाव्यादयो भवेयुः न नियोगतः अविच्छिन्नपारम्पर्या एवेति' (मीमांसा भाष्य १।३।२५)।'

शबरस्वामी के इस कथन से भी पूर्वोक्त मत प्रमाणित होता है। यथा गावी आदि शब्द शक्तिविकलता रूप अपराध से उत्पन्न होते हैं, तथा वे संस्कृत शब्द की तुलना में आधुनिक हैं।

मीमांसा-दर्शन में अपभ्रंश का स्वरूप-विचार 'तदशक्तिश्चानुरूपत्वात्' (१।३।२८) सूत्र में किया गया है। इस सूत्र में अपभ्रंश-स्वरूप के विषय में दो बातें कही गई हैं। (१) गो शब्द के उच्चारण में अशक्ति के कारण 'गावी' का उच्चारण होता है; (२) ये नूतन शब्द शब्दतः तथा

१—यदि अपभ्रंश संस्कृत शब्द का प्रकृति होता, तो अपभ्रंश का उच्चारण संस्कृत से क्लिष्ट होता, क्योंकि कार्य कारण से स्थूल तथा सहज रूप से व्यवहार-योग्य होता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थतः दोनों रूपों से मूल शब्द के अनुरूप होते हैं; अर्थात् गावी और गो में ध्वनिगत साहश्य है तथा दोनों का अर्थ समान है। साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द के अर्थ में साधारणतः भेद नहीं होता, पर अपभ्रंश शास्त्रान्वित नहीं है। चूँकि अर्थ में अभेद है, अतः पता चलता है कि कौन किसकी प्रकृति है, अन्यथा यह निर्धारण दुष्कर होता।

श्रुतिदर्शित अपभ्रंश-सम्बन्धी मत का अभ्युपगम आचार्य भरत ने भी किया है, यथा—'एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितं, विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्' (१८।२), अर्थात् संस्कृत शब्द जब संस्कार-गुण से वर्जित होता है, तब वह अपभ्रंश बनता है। आचार्यों से व्यवहृत इस 'संस्कार' [1] शब्द ने एक विवाद खड़ा कर दिया है कि देववाणी संस्कार-हेतुक है। सुतरां यह भी सिद्ध होता है कि उसके पहले कोई अन्य भाषा थी, जिसका संस्कार कर देववाणी का प्रवर्त्तन किया गया। यह मत भारतीय इतिहास से विरुद्ध है, और पूर्वाचार्यों के शब्दों को ठीक से न समझने का ही यह फल है। 'संस्कार' शब्द का तात्पर्य न जानना ही इस मत का कारण है। 'संस्कार' शब्द से प्राचीन आचार्यों का तात्पर्य क्या था, इसको जानने के लिए इन आलोचकों ने कुछ भी चेष्टा नहीं की है, अतः अपने असम्यक् दर्शन से पूर्वोक्त मत प्रतिष्ठित कर दिया है। 'संस्कार' की सविशेष आलोचना (ऐतिहासिक और शास्त्रीय दृष्टि से) बाद में की जायगी; यहाँ एक सामान्य विवरण दिया जा रहा है:—

हमारे किसी भी क्रान्तदर्शी आचार्य ने यह कहीं नहीं कहा कि देववाणी अन्य-भाषा-संस्कार-पूर्वक बनी है, प्रत्युत सर्वत्र यही कहा गया है कि देववाणी जब संस्कार-शून्य होती है तब अपभ्रंश बनता है, या साधु शब्द के उच्चारण में जो संस्कारहीन शब्द प्रयुक्त होता है, वह अपभ्रंश है। अतः संस्कार का अर्थ हुआ—जिस रूप से उच्चारण या प्रयोग करना चाहिए, वह रूप या प्रयोग-पद्धति। सांख्यीय दृष्टि के अनुसार दृष्टान्त दिया जा सकता है कि बद्ध जीव शाश्वत चित्तरोध होने पर मुक्त होने से 'पुरुष' को मुक्त कहा जाता है, यद्यपि पुरुष नित्यमुक्त है, बुद्धि का ही बन्ध-मोक्ष होता है, और औपचारिक दृष्टि से पुरुष को भी मुक्त कहा जाता है, उसी प्रकार एक वाणी है, जिसके उच्चारण में प्रमाद होने से जो शब्द उच्चारित होता है, वह 'असंस्कृत' होता है, सुतरां औपचारिक दृष्टि से यह कहा जाता है कि 'मूल वाणी संस्कृत है'। वस्तुतः किसी असंस्कृत वाणी का संस्कार कर वह वाणी नहीं बनी।

वाक्यपदीय १।१५५ की हेलाराजीय टीका में एक श्रुति उद्धृत है, जो कहती है कि पुराकल्प में मनुष्यों की वाणी अपभ्रंश से संकीर्ण नहीं थी (सर्वैः अपभ्रंशैः असंकीर्णा) और बाद में अपभ्रंशों की उत्पत्ति हुई तथा देववाणी संकीर्ण हो गई। भाषा के इतिहास में यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है, और इस सत्य को मानकर ही भाषा-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों की

१—श्रुति में कहा गया है—'ऋजीषमेतद् वाचो यः संस्कारहीनः शब्दः।' ब्राह्मणग्रन्थों की रचना से पूर्व ही संस्कारशून्यता का आरंभ हो गया था।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विनिगमना करनी होगी, अन्यथा भाषातत्त्व-सम्बन्धी सभी निर्णय अप्रतिष्ठित हो जायेंगे। हम भलीभाँति जानते हैं कि प्राचीन शिक्षाग्रन्थों में वागुच्चारण-सम्बन्धी जितने सूक्ष्म प्रयत्न-साध्य नियम है, उन सभी का सम्यक् प्रयोग आजकल के अपकृष्ट शरीरधारियों से संभव नहीं है, और जब तक आधुनिक भाषाशास्त्री इस तर्क को अप्रतिष्ठित नहीं कर सकता, तब तक यह श्रौत मत प्रतिष्ठित ही रहेगा।

कुमारिल ने भी अपभ्रंश का लक्षण दिया है। यथा—'म्लेच्छो हवा एष यदपशब्द इति प्रमादादिनिमित्तविनाशेन शब्दकार्यादर्शसाधनादपेतोऽयं म्लेच्छः ××× तस्मादेषा व्याकृता वाग् उद्यते इति च विधिः अविनष्टप्रयोगनियमार्थः।' (तन्त्रवार्त्तिक, पृ० २८३, आनन्दाश्रम संस्करण)। इस वर्णन से स्पष्ट विज्ञात होता है कि प्रमाद से अपभ्रंशों की उत्पत्ति होती है, छतरां यह भी सिद्ध हुआ कि पहले अपभ्रंश नहीं था। अपभ्रंश प्रमादहेतुक है (तत् कथं नाम यत् किञ्चित् स्यादपभ्रंशकारणम्—तन्त्रवार्त्तिक, तत्रैव)। इस अपभ्रंश वाक् को 'व्याकृता वाक्' भी कहा गया है। जो पदार्थ किसी से विकृत होकर उत्पन्न होता है, उसको 'व्याकृत' कहा जाता है, और जो किसी का विकार नहीं है, उसको 'अव्याकृत' कहा जाता है, जैसे सांख्यीय प्रकृति को 'अव्याकृत प्रकृति' कहा जाता है। संस्कृत की मूल वेदवाक् व्याकृत नहीं—स्वयंभू से उत्सृष्ट है।

महाभाष्य में 'अपशब्द' और 'दुष्टशब्द' में कुछ भेद किया गया है, क्योंकि उसमें पृथक् प्रकरण में अपशब्द और दुष्टशब्द का विवेचन किया गया है। हो सकता है कि उदात्त आदि स्वरोच्चारण में जो दोष होता है वह अपशब्दोच्चारण नहीं है, पर पतञ्जलि ने वर्णदोष को भी अपशब्द से पृथक् कर कहा है (यद्यपि उदाहरण नहीं दिया), यद्यपि वर्णदोष की अपशब्दरूपता सर्वजनमान्य है।

वस्तुतः पतञ्जलि ने उदाहरण देकर इस अशक्तिज सिद्धान्त को कहा है, यथा—'अशक्त्या कयाचिद् ब्राह्मण्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये लृतक इति प्रयुक्तम्' (ऋ-लृक्भाष्य)। और उन्होंने संस्कृत की अपभ्रंशप्रकृतिता को भी माना है, अतः अपशब्द के विषय में उनका सिद्धान्त भी प्राचीन आचार्यों के अनुसार ही है। दुष्टशब्द और अपशब्द में शायद कुछ सूक्ष्म भेद किया जाता था, जो आज विज्ञात नहीं है।

इस विषय में आचार्यप्रवर हरदत्त का मत भी द्रष्टव्य है। कौन साधु शब्द हैं, और कौन असाधु शब्द हैं, इसके लिए एक विचित्र स्वरूपलक्षण हरदत्त ने दिया है। उनकी युक्ति निम्नांकित प्रकार की है—"यद्यपि गाव्यादयोऽपि लोके विदिताः, तथापि न ते सर्वलोकविदिताः, प्रतिदेशं भिन्नत्वादपशब्दानाम्। लोकशब्दश्चायं सर्वस्मिन् लोके वर्त्तते संकोचकाभावात्, अतः सर्वलोक-प्रसिद्धानां गवादीनां ग्रहणम्"। इस वाक्य से निम्नांकित सिद्धान्त निर्गलित होते हैं:—

(क) अपभ्रंश देश से अवच्छिन्न होता है, अर्थात् देशभेद से उच्चारण-प्रयत्न के भेद के अनुसार अपभ्रंशों के उच्चारण में भेद होता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(ख) साधु शब्द सर्वत्र समान है। देशभेद से उसके उच्चारण में भेद नहीं होता, न-ही प्रयोग में।

(ग) गो आदि साधु शब्द सर्वलोकप्रसिद्ध हैं। अर्थात् एक समय संस्कृत भाषा ही मनुष्य की भाषा थी, सुतरां सिद्ध होगा कि परवर्त्तीकाल में उच्चारण में विकलता होने से अपभ्रंशों की उत्पत्ति हुई।

अन्यत्र भी हरदत्त ने अपभ्रंश शब्दों के स्वरूप को यथावत् खोला है, यथा—"अपशब्दा हि प्रतिदेशं[1] प्रतिगृहं प्रतिपुरुषं प्रत्यवस्थं भिन्नाश्च अनवस्थिताश्च। न ते लक्षणेन अनुगन्तुं शक्यन्ते" (पदमञ्जरी, पृ० १०), अर्थात् देश, गृह, पुरुष और अवस्था के भेद से अपभ्रंश में भिन्नता होती है और इसीलिए अपभ्रंश अनवस्थित है और संस्कृत का स्वरूप देश आदि भेद से विभिन्न नहीं होता, सुतरां संस्कृत व्यवस्थित है। अपभ्रंश शब्द में विकृति इतनी अधिक तथा इतने प्रकार की है कि उन सभी का लक्षण करना अशक्य है।

यह सिद्धान्त मौलिक भारतीय सिद्धान्त का परिदर्शन करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम जानते हैं कि सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम परमोत्कृष्ट वेद-वाक् ब्रह्मा से आविर्भूत हुई थी[2] और दीर्घकाल तक वह वेदवाणी ही मनुष्य-समाज के शब्द-व्यवहार की मूल थी।

१—वृद्धमनु का सिद्धान्त था–'वाचा यत्र विभिद्यन्ते तद् देशान्तरमुच्यते' (अपरार्क, पृ० ६०५)। क्या इससे हरदत्त के सिद्धान्त का बाध नहीं होता? उत्तर—इस वाक्य के 'वाक्' तथा 'विभिद्यन्ते' पद का अर्थ जानना होगा। चूँकि संस्कृत शब्द नियत था ऐसा सर्वमान्य सिद्धान्त है, अतः इस वाक्य का अर्थ होगा वाक्=उच्चारित ध्वनि का भेद (जलवायु-भेद-जनित कण्ठरव में जो उच्चावचता होती है) जहाँ-जहाँ हो, वह-वह पृथक्-पृथक् देश है। उच्चारण में कुछ भी दोष न होता हुआ भी ध्वनि का भेद (जलवायुप्रकर्षाप्रकर्षजनित भेद) होता है। आगामी निबन्धों में इसका विचार किया जायगा।

२—वाक् के विषय में हमारा परममान्य सिद्धान्त है—"अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥" (महाभारत शान्ति० २३१।५६)। स्वयंभू ब्रह्मा से वाग्व्यवहार योगजशरीरी ऋषियों ने सीखा। यह वाक् अव्यक्त ध्वनियों से क्रमशः विकसित होकर नहीं बनी। संस्कृत भाषा के शब्द-व्यवहार में ऐसे अनेक रहस्य हैं, जो अनन्य-साधारण प्रज्ञा के द्योतक हैं। यदि इस वाणी के मूल में सर्वज्ञकल्प वेद नहीं रहता, तथा सर्वज्ञ ब्रह्मा से इसकी प्रवर्त्तना नहीं होती, तो वे नियम संस्कृतवाक् में नहीं घट सकते थे। नानाविध असंयत आचरण से चंचलचित्त आजकल के सभ्यमान्य व्यक्ति इस रहस्य को समझ नहीं पाते। मैं यह भी मानता हूँ कि अर्वाचीन काल में

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उस वेदवाणी से संस्कृतवाणी का प्रचलन हुआ, जिसकी आनुपूर्वी नित्य नहीं थी। दीर्घकाल तक यह संस्कृतवाक् अविकृत रूप से उच्चारित होती हुई चली आई। वस्तुतः संस्कृत चिरकाल से उपदिष्ट मातृभाषा रही और उसके उच्चारण में किसी प्रकार की भी शिथिलता न हो, इसलिए बड़ी सावधानी रखी गई। किस प्रकार की शिथिलता कब आई इस विषय का सप्रमाण विचार बाद में किया जायगा।

अपभ्रंश के विषय में हरदत्त की कुछ कारिकाएँ मधुसूदन ठक्कुरकृत तत्त्वचिन्तामणालोक (अभी तक अमुद्रित) में उद्धृत है। उनको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :—

"अनिदं प्रथमाः शब्दाः साधवः परिकीर्त्तिताः।
त एव शक्तिवैकल्यप्रमादालस्यतादिभिः॥
अन्यथा विवृता पुम्भिरपशब्दा उदीरिताः।
स्मारयन्तश्च ते साधून् अर्थधीहेतवः स्मृताः॥"

अर्थात् सबसे पहले साधु संस्कृत शब्द ही थे। शक्ति-विकलता आदि के कारण वे विकृतोच्चारित होकर अपशब्दों में परिणत हुए। पर वे अपशब्द साधुशब्दों का स्मरण करा कर अर्थज्ञान कराते हैं। वस्तुतः जब पहले-पहल अपभ्रंशों का उच्चारण होता था, तब साधु शब्द का स्मरण भी हो जाता था (वक्ता तथा श्रोता को)। यह विषय अब विवृत होगा।

अशक्तिज उच्चारण से उत्पन्न शब्द अपभ्रंश है, इस विषय में प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि ने कहा है—

"शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥ (वाक्यपदीय १।१४६)

अर्थात् गो शब्द के उच्चारण में संस्कारहीन जो गावी आदि शब्दों का उच्चारण होता है, वह अपभ्रंश है। इस कारिका में जो 'संस्कार' तथा 'विशिष्टार्थ-निवेशी' शब्द हैं, उनका तात्पर्य बाद में दिखाया जायगा। आचार्य ने इस कारिका के बाद यह भी कहा है कि यद्यपि अपभ्रंश उच्चारण-दोषज है, पर अपने स्वरूपमात्र से सहसा कोई शब्द अपशब्द नहीं होता, जैसे 'गो' शब्द के स्थान पर यदि 'गावी', या 'अश्व' शब्द के स्थान पर इन्द्रिय-विकलता के कारण कोई 'अस्व' का उच्चारण करता है, तभी वे 'गावी' तथा 'अस्व' शब्द अपशब्द होंगे, अन्यथा 'गावी' शब्द आवपन अर्थ में साधु शब्द है, तथा 'अस्व' शब्द निर्धन अर्थ में साधु है। उच्चारण-विकलता मूलतः दो प्रकार की हो सकती है, एक—एक साधु

संस्कृत के शुद्ध रूप में असावधानता के कारण कुछ अशुद्धता आ गई है, पर यह अशुद्धि संस्कृत की अपनी चीज नहीं है, यह तो व्यवहर्त्तृजनों के प्रमाद से हुई है और अनवबोध के कारण ऐसा मान लिया जाता है कि यह अशुद्धि संस्कृत की अपनी है। अनभिज्ञ भाषाशास्त्रियों ने ही ऐसा प्रतिपादित किया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वर्ण के स्थान पर तज्जातीय अन्य साधु वर्ण का उच्चारण होना (स के स्थान पर श आदि) तथा दूसरे—वर्ण के विकृत उच्चारण होने से (जैसे आजकल अधिकांश पाश्चात्त्यभाषीय वर्णों के उच्चारण में दीख पड़ता है)। इस कारिका से यह भी ध्वनित होता है कि पहले-पहल जब अपभ्रंशों का आरंभ हो रहा था, तब वर्णों का विकृत उच्चारण नहीं होता था, एक वर्ण के स्थान पर उससे मिलता-जुलता (पर अपेक्षाकृत सहजतर प्रयत्न से उच्चारण-योग्य) वर्ण उच्चारित होता था (पर वह संस्कारहीन था, जैसा बाद में दिखाया जायगा) और बाद में शक्तिक्षीणता अत्यधिक होने पर वर्णों का विकृत उच्चारण भी होने लगा।

अतः यह प्रमाणित हुआ कि अपभ्रंश मूलतः उच्चारण की विकलता से उत्पन्न होता है। तब निम्नोक्त प्रश्न स्वतः उठता है कि अपभ्रंश शब्द साधु शब्द की तरह अर्थवान् है या नहीं।

भर्तृहरि तथा कुमारिल आदि ने इस प्रश्न का जो समाधान दिया है, वह शब्द व्यवहार के विषय में एक ऐतिहासिक रहस्यपूर्ण विषय है। अपभ्रंश शब्दों में, उत्पत्तिकाल में, जैसी दृष्टि थी, बाद में अपभ्रंशों की ही सर्वव्यवहारसिद्धता होने के कारण वह दृष्टि बदल गई, तथा जो अपभ्रंश एक दिन असाधु और अवाचक समझा जाता था वह बाद में साधु और वाचक माना गया इत्यादि विषय आचार्यों के वाक्यों से अविसंवादी रूप से प्रमाणित होते हैं।

अपभ्रंश की वाचकता के विषय में भर्तृहरि ने दो मत उपस्थित किये हैं। यथाः—

"ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।
तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः॥" (१।१५०)

अर्थात् गावी आदि अपभ्रंश शब्द से ही अर्थबोध नहीं होता, पर साधु शब्द स्मरणपूर्वक अर्थबोध होता है। तात्पर्य यह है कि जब श्रोता गावी शब्द (गो शब्द के स्थान पर) सुनता है, तब वह यह सोचता है कि वक्ता ने 'गो' के स्थान पर 'गावी' कहा है, अतः गो और गावी का अर्थ (=जिस मनोभाव के लिए शब्द-प्रयोग किया गया है) समान होगा, और वह गावी से गोशब्दार्थ का बोध करता है। पहले अपभ्रंश शब्द से साधु शब्द का स्मरण होकर दोनों का तादात्म्य होता है (यद्यपि यह तादात्म्य यथार्थ नहीं है, जैसा भर्तृहरि ने कहा है) और उसके बाद शाब्दबोध होता है।

किस प्रकार से यह बोध होता है, आचार्य ने उदाहरण देकर समझाया है—जैसे, शिशु 'अम्बा' शब्द के उच्चारण में अशक्ति के कारण 'वम्बा' इस प्रकार उच्चारण करता है, पर श्रोता समझता है कि वह 'अम्बा' कहना चाहता है, और उसको 'अम्बा' शब्दार्थ का ही बोध होता है, ठीक उसी प्रकार अपशब्द से साधु शब्द का स्मरण होता है, और तब शाब्दबोध होता है।

शबरस्वामी ने भी ऐसा ही कहा है। यथा—गो शब्द कहने के लिए किसी ने अशक्ति के कारण 'गावी' कहा। श्रोता ने समझा कि सास्नादिमान् गो शब्द ही इसका विवक्षित है, अतः गो का अर्थ और गावी का अर्थ समान है इत्यादि (१।३।२८ भाष्य)। वस्तुतः प्राचीन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आचार्यों का सिद्धान्त यही था कि उच्चारण-विकलता के कारण अपशब्द कहे जाते हैं, पर वक्ता और श्रोता दोनों ही विवक्षित अर्थ तथा शब्द को समझते भी हैं, अतः साधु शब्द से ही उनका बोध हो जाता है।

यदि अपशब्द से भी साधु शब्द की तरह बोध होता तो अपभ्रंश भी साधु माने जाते, क्योंकि जिस समय अर्थबोध का एकमात्र साधन संस्कृतवाक् थी, उस समय जिस शब्द से बोध होता, वही साधु शब्द माना जाता; पर चूँकि उस समय उच्चारण-विकलता-जनित शब्द सुनने से बोध होता था कि वक्ता का विवक्षित शब्द वह नहीं है जो उच्चारित हुआ, पर मनोभाव (=अर्थ) वही है, तब अपभ्रंश शब्द वस्तुतः अवाचक ही था (तस्मात् साक्षात् अवाचकाः—वाक्यपदीय १।१५१)।

कालक्रम के अनुसार शब्द-व्यवहार में परिवर्त्तन हो रहा है। आज 'साधु शब्द कौन है' इसके उत्तर के लिए कोष, व्याकरण आदि देखना पड़ता है, क्योंकि आज अपभ्रंशवाक् और संस्कृतवाक् की पृथक्-पृथक् सत्ता प्रतिष्ठित हो गई है और अपभ्रंश शब्द के अर्थज्ञान के लिए साधु शब्द का स्मरण अणुमात्र भी अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि अनेक शताब्दियों से अपभ्रंश ही मनोभाव के आदान-प्रदान का माध्यम प्ररूढ़ हो गया है; परन्तु जब पहले-पहल अपभ्रंश का उच्चारण आरंभ हो रहा था (भारतीय इतिहास का यह मौलिक सत्य है, जिसके अस्वीकार का अर्थ है भारतीय शब्दविद्या पर अनाश्वास) तब अर्थवत्ता ही साधुशब्द की नियामिकार्था, और तब अर्थवान् को ही पद कहा जाता था (अर्थः पदमित्यैन्द्राणाम्—दुर्ग-निरुक्त-वृत्ति १।१) और पद साधु शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और अपभ्रंश से साक्षात् बोध नहीं होने के कारण वह अवाचक =असाधु समझा जाता था। भर्तृहरि ने इस ऐतिहासिक सत्य को निम्नमुद्रित शब्दों में कहा है:—

"एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥" (१।१५३)

प्राथमिक उत्पत्तिकाल में अपभ्रंश का साधु शब्द स्मरण-पूर्वक बोध होता था और यह परंपरा दीर्घकाल तक चलती आई। पर उच्चारण-प्रयत्न की यह अशक्ति जब बढ़ती ही गई, और सर्वत्र अपभ्रंश ही प्रसिद्धतर होता गया और ऐसा समय आया कि अपभ्रंश शब्द का अर्थबोध अपभ्रंश से ही होने लगा, साधु शब्द का स्मरण होता ही न था, न आवश्यक ही था, और न यही पता था कि किस अपशब्द का मूल कौन साधु शब्द है, तब अपभ्रंश भी वाचक शब्द की तरह सम्मानित हुआ। एक दिन साधुव्यवहित बोध कराने के कारण जो 'अवाचक' था, व्यवहारसिद्धता के कारण वह बाद में 'वाचक' हो गया, और तब यह भी मत प्रसिद्ध हो गया कि संस्कृतवाक् तथा अपभ्रंशवाक् दोनों समान रूप से वाचक हैं; और यह भी कहा जाने लगा कि संस्कृत शब्द के अर्थबोध के लिए अपभ्रंश की सहायता ली जाती है, इत्यादि।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस वास्तव सत्य को भर्तृहरि ने भी माना है। यथा—

"पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः॥" (१।१५४)

अर्थात् वक्ताओं में उच्चारण वैकल्यदोष-संजात होने के कारण जो अपभ्रंश परम्पराक्रम से व्यवहृत होने से प्रसिद्ध (सर्वत्र सिद्धवत् व्यवहृत) हो गए, वे स्वयं वाचक हैं। उनके प्रकृतिभूत साधु शब्द के स्मरणपूर्वक उनका अर्थबोध नहीं होता। स्थूल दृष्टि से भर्तृहरि की पूर्वकारिका से इसकी कोई संगति प्रतीत नहीं होती, और प्रचलित व्याख्यान-ग्रंथों में भी दोनों श्लोकों का कोई वास्तव समन्वय नहीं किया गया है, पर यहां यह दिखाया जायगा कि दोनों मत समान रूप से युक्त हैं।

अशक्ति के कारण जब अपभ्रंशों की उत्पत्ति का आरम्भ हो रहा था, तब सभी को अपभ्रंशों के साथ-साथ साधु शब्द का भी बोध होता था, और अर्थबोध भी साधु शब्दजन्य ही स्वीकृत होता था। आज भी किस शब्द का गलत उच्चारण करने से श्रोता को विवक्षित मूल का ही स्मरण होता है, और तब मूल शब्द का अर्थबोध ही होता है, न कि उस 'असम्यक् उच्चारणजन्य शब्द का वह अर्थ है'—ऐसा कोई सोचता है। उस समय यही मत प्रचलित था कि अपभ्रंश वस्तुतः वाचक नहीं है। पर बाद में जब इन्द्रियविकलता सर्वत्र प्ररूढ़ हो गई, और अपभ्रंश से ही अर्थबोध होने लगा, साधुशब्द स्मरण की कुछ भी आवश्यकता नहीं रही, तब अपभ्रंश वाचक रूप से सम्मानित हुए। आज भी हम देखते हैं कि जब किसी शब्द के स्थान पर शब्दान्तर का व्यवहार प्रचलित होने लगता है, तो कुछ दिनों तक प्राक्तन शब्द स्मरणपूर्वक नवीन शब्द का अर्थबोध किया जाता है, पर दीर्घकाल व्यतीत होने से वह नवीन शब्द ही वाचक हो जाता है और प्राक्तन शब्द के स्मरण की कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती। जैसे, आज वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द के हिन्दीकरण में जो शब्द बनाये जा रहे हैं, उन शब्दों के अर्थबोध के लिए मूल पाश्चात्त्य शब्द अपेक्षित होते हैं और वस्तुतः उस विषय के विद्वान् हिन्दी शब्द सुनकर तन्मूलस्वरूप पाश्चात्त्य शब्द जानकर ही नूतन शब्द का अर्थबोध आज करते हैं, और कुछ दिनों तक ऐसा ही चलेगा, पर जिस दिन ये नवीन शब्द व्यवहार में आते-आते सुप्रतिष्ठित हो जायेंगे, उस दिन इन नवीन शब्दों से ही अर्थबोध होगा, मूल पाश्चत्त्यभाषीय शब्द की या उसके स्मरण की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जायगी, बल्कि उन मूल अँगरेजी शब्दों का कोई प्रयोग यदि करेगा तो हिन्दी शब्दों से उनका अर्थ तब समझाया जायगा, जैसे आज संस्कृत शब्दों का अर्थ-ज्ञान कराने के लिए अपभ्रंश शब्दों की सहायता ली जाती है।

व्यवहार्य शब्द की वाच्य-वाचक-शक्ति वास्तव नहीं है, अध्यासमूलक है, अतः जिससे व्यवहार सिद्ध होगा यह शब्द वाचक माना जायगा (स्वतः अर्थबोध कराने के कारण)। जब अपभ्रंश शब्द सुनते ही साधु शब्द का बोध स्वाभाविक रूप से हो जाता था, तब संस्कृत

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शब्द ही व्यवहारसिद्ध था, संस्कृत शब्द स्मरणपूर्वक बोध होता था, अतः संस्कृतशब्द का वाचक माना जाता था; पर कालानुसार अशक्ति इतनी बढ़ती गई कि अशक्ति ही स्वाभाविक शक्ति हो गई, अपभ्रंश ही व्यवहारसिद्ध हो गया, उसके श्रवणमात्र से साधु शब्द का ज्ञान होना बन्द हो गया (जैसा प्रत्यक्षतः दीख पड़ता है), अतः अपभ्रंश को वाचक कहना—इस काल में—असंगत नहीं हुआ।

इस विषय में कात्यायन के भ्राजाख्य श्लोक में कहा गया है—"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥"—इस श्लोक से अपशब्द से दोषयुक्त होना कहा गया है। इस श्लोक की व्याख्या में अपभ्रंश-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है, जो निम्नमुद्रित प्रकार है:—

(क) 'अपशब्द संख्या में अनेक हैं, साधु शब्द अल्प हैं, जैसे 'गो' एक साधु शब्द है, पर उसके कई अपभ्रंश हैं, यथा, गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका, इत्यादि। आचार्य की इस बात से भी प्रमाणित होता है कि साधु शब्द अपभ्रंशों का उपादान कारण है, क्योंकि दर्शन शास्त्र का अविसंवादी नियम है कि कार्य की संख्या कारण की संख्या से अधिक होती है। संख्याधिक्य के साथ विकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है, और विकृति कार्य पदार्थ का अविनाभावी गुण है, सुतरां सिद्ध हुआ कि संस्कृत शब्द विकृत होकर अपभ्रंश बना है। उच्चारण-दोष कितने हो सकते हैं, इसका निर्धारण नहीं हो सकता, क्योंकि विकृति नियमित नहीं होती, अतः एक शब्द के अपशब्द नियमतः अनेक होंगे (देश-काल-पुरुष-तदीयशक्तिवैकल्यानां भूयस्त्वात्—छायाटीका)।

(ख) अपभ्रंश का प्रयोग वर्जित है, पर कहीं-कहीं उसका प्रयोग किया गया है, जैसा पतञ्जलि ने दिखाया है—'यर्वाणस्तर्वाण' नामक ऋषि थे, जो अपशब्द का प्रयोग करते थे, पर याज्ञ कर्म में अपशब्द का प्रयोग नहीं करते थे। अन्य श्रुति में भी कहा गया है—'ब्राह्मणेन यज्ञशालाप्रविष्टेन नापभाषितवै न म्लेछितवै'। इससे यह सूचित होता है कि किसी-किसी अवस्थाविशेष में अपशब्द का प्रयोग हो सकता है, पर साथ-साथ यह भी कहा गया है—'न म्लेच्छभाषां शिक्षेत, म्लेच्छो हवा एप यदपशब्दः' इत्यादि। ऐसे भिन्नार्थक वचनों का कारण ऐतिहासिक है, अर्थात् भिन्न-भिन्न काल में शब्द-व्यवहार के प्रति किसी कारण से आचार्यों का जैसा दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, तदनुसार ये अनुशासन किये गए, और ऐतिहासिक दृष्टि से ही इन अनुशासनों का समन्वय हो सकता है। हम अपभ्रंश-प्रयोग-सम्बन्धी विधि-निषेध तथा उनकी सार्थकता के विषय में बाद में आलोचना करेंगे।

यहाँ अन्त में पुनः यह जानना चाहिए कि अपभ्रंश का सम्बन्ध मुख्यतः उच्चारण से है, और जिस प्रमाद से उच्चारण का सम्बन्ध है, वह प्रमाद ही अपभ्रंश के प्रसंग में गृहीत होगा, अन्य प्रकार का प्रमाद नहीं, जैसे—कोई 'गृहीत्वा' के स्थान पर यदि 'गृह्य' का प्रयोग

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करता है, तो वह अपभ्रंश नहीं होगा, उसका नाम अपशब्द है, पर अपशब्द का प्रयोग 'अपभ्रंश' में भी होता है। शास्त्र में दोनों का संकीर्ण प्रयोग है और कहीं-कहीं दोनों में भेद करना भी दुष्कर हो गया है। हम इन दोनों के विषय में भी पूर्णांग आलोचना करेंगे। अपभ्रंश के साथ 'यदृच्छा' शब्द भी आलोच्य है, और इन दोनों का साम्य-वैषम्य भी इस प्रसंग में जानना चाहिए। इसका विवेचन भी यथास्थान किया जायगा।

अपभ्रंश के विषय में और भी कुछ मत आलोचनीय हैं। यथा—किस समय से अपभ्रंशों का उच्चारण आरंभ हुआ था, तथा किस प्रकार के व्यक्ति पहले अपभ्रंश का उच्चारण करते थे। अर्थात् पहले स्त्री में अशक्ति का आविर्भाव बहुल मात्रा में हुआ या पुरुष में। इसके साथ-साथ यह भी आलोच्य है कि जब पहले-पहल अपभ्रंश का आरंभ हुआ था, तब किस प्रकार का उच्चारणदोष होता था, तथा स्वभावतः किन वर्णों के प्रयोग में प्रमाद या अशक्तिज उच्चारण बहुल मात्रा में होता था। साथ-साथ यह भी विचार्य है कि अशुद्ध उच्चारण के निवारणार्थ आचार्यों ने कुछ उपायों का आविष्कार क्यों नहीं किया? क्या वागिन्द्रिय की इस अशक्ति का प्रतीकार नहीं हो सकता था? क्या कारण है कि इन अशक्तिज शब्दों को ऋषियों ने संस्कृतवाक् में अन्तर्भुक्त नहीं किया, और 'असंस्कारज' कहकर उन शब्दों का बहिष्कार किया। शब्द किस रूप में संस्कारयुक्त होता है, तथा किस परिस्थिति में वह संस्कारहीन होता है, और इस संस्कार का नियामक तत्त्व क्या है, इसका भी सविशेष विचार अपभ्रंश के प्रसंग में करना चाहिए। हम आगामी निबन्धों में इन विषयों की यथाशास्त्र आलोचना करने का प्रयास करेंगे।

●

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन*

[मनोविश्लेषण और कलाकार]

श्री कलीमुद्दीन अहमद, एम्० ए०, (प० वि०), बी० ए० (केम्ब्रिज)

(वर्ष ४, अंक ४ से आगे)

कला, मनोविश्लेषक हमें बताते हैं, एक प्रकार की मनःकल्पना (Phantasy) है। मनःकल्पना, फ्रायड का कहना है, 'सामान्य मानवीय सहमति से अनुमोदित है, और प्रत्येक बुभुक्षित आत्मा सुख और सांत्वना के लिए इसकी ओर देखती है।' वह व्यक्ति के जीवन में इसकी प्रगति और इसके उपयोग की व्याख्या करता है : "तुम जानते हो कि यथार्थता की परिशंसा और यथार्थता-सिद्धांत के अनुसरण की बाह्य आवश्यकता के प्रभाव से मनुष्य में

* Psycho-Analysis and Literary Criticism—मूल अँगरेजी पुस्तक के एक अंश का अनुवाद। —सं०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अहंभाव क्रमशः निर्धारित होता है और ऐसा करने में उसे, अस्थायी या स्थायी रूप से, अपनी आनंद की कामना के अधिकांश लक्ष्यों और उद्देश्यों—केवल मौन ही नहीं—का परित्याग करना पड़ेगा। किंतु आनंद का परित्याग सदैव ही मनुष्य के लिए कठिन सिद्ध होता है; बिना किसी प्रकार की क्षति-पूर्त्ति के वह ऐसा कर नहीं पाता। यही कारण है कि उसने अपने लिए एक ऐसा मानसिक (Mental) क्रिया-कलाप विकसित कर लिया है जिसमें आनंद के समस्त परित्यक्त स्रोत और सुख-प्राप्ति के सभी उज्झित मार्ग अपने अस्तित्व को बनाए रखने की छूट पाते हैं, इस प्रकार का अस्तित्व जिसमें वे यथार्थता की माँगों से, और जिसे हम 'परीक्षमाण यथार्थता' (Testing reality) कहते हैं उसके व्यायामों से, मुक्त रहते हैं। प्रत्येक आकांक्षा शीघ्र ही उसकी संपूर्त्ति के भाव में रूपांतरित हो जाती है; इसमें कोई संदेह नहीं कि मनःकल्पना में आकांक्षा-संपूर्त्ति का सहारा लेने पर संतोष की प्राप्ति होती है, मगर यह ज्ञान कि वह यथार्थता नहीं है अनावृत बना रहता है। अतः मनःकल्पना में मनुष्य बाह्य जगत् के बंधन से मुक्त रहने का एक ऐसा आनंद उठा सकता है जिसका वह वास्तविकता में बहुत पहले परित्याग कर चुका रहता है। वह ऐसी व्यवस्था कर लेता है कि वह बारी-बारी से आनंदान्वेषी जीव और विवेकशील प्राणी बना रह सके; क्योंकि यथार्थता से वह जो स्वल्प संतोष निचोड़ पाता है उससे वह बुभुक्षित बना रहता है।"[1]

जीवन का अर्थ होता है हमारे अनेक आवेगों का बलिदान। हमारी महत्त्वाकांक्षा की अहंभावपूर्ण भूख, हमारी प्रभुत्व की लालसा, हमारी रिरिंसा (Erotic desires) सब की सब तो पूरी नहीं हो सकतीं; हमें बाह्य आवश्यकता के दबाव के फलस्वरूप उनका परित्याग कर देना पड़ता है। जीवन, कहने का तात्पर्य है, ऐसा महोत्सव नहीं है जहां हम अपने हृदय की समस्त आकांक्षाओं की पूर्त्ति पा ले सकें। हमें प्रचुरता के बीच भूख से विकल बने रहना पड़ता है। यह बाध्यतापूर्वक किया गया परित्याग हमें संतुष्ट नहीं करता; यह हमें बहुत कठोर और न्याय-रहित लगता है। हम उस यथार्थता से मुँह मोड़ लेते हैं जो हमारे आवेगों और आकांक्षाओं की संपूर्त्ति नहीं होने देती, और संपूर्त्ति अन्यत्र ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं—"ऐसे मानसिक क्रिया-कलाप में जिसमें आनन्द के समस्त परित्यक्त स्रोत और सुख-प्राप्ति के सभी उचित मार्ग अपने अस्तित्व को बनाए रखने की छूट पाते हैं। यह मानसिक क्रिया-कलाप मनःकल्पना कहलाती है, और यही मानसिक क्रिया-कलाप जीवन को हमारे लिए लक्ष्य बनाता है। जीवन हमें जो नहीं पाने देता, वह मनःकल्पना से हमें मिल जाता है। यह मनःकल्पना ही है, यही वह 'मधुर वंचक' (Sweet cheat) है, जो ऐसी स्वतन्त्रता का भ्रम उत्पन्न करती है जो अब हमारे लिए सुलभ नहीं रह गई है। यह मनःकल्पना ही है—एक 'माया-परी'—जो हमारे आवेगों और कामनाओं के अवरोध के लिए हमें क्षति-पूर्त्ति प्रदान करती है। यह क्षति-पूर्त्ति बहुत

१—मनोविश्लेषण पर प्रारंभिक भाषण।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ठोस नहीं होती; भ्रम कभी वस्तुतः पूर्व नहीं होता। हम इस आत्म-प्रवंचना का सदैव बोध करते रहते हैं—यह ज्ञान कि यह एक यथार्थता नहीं है कभी आवृत नहीं होता। हमें तो संतोष मिलता है वह अत्यल्प होता है; फिर भी हमारी बुभुक्षित आत्मा इसे लोलुपता के साथ ग्रहण करती है।

इस क्षति-पूर्त्ति के विना, हमारे इन दिवा-स्वप्नों के विना जीवन बहुत ही कठिन और अप्रिय हो जायगा। हम अपने दिवा-स्वप्नों में ऐसे दृश्य ऐसी घटनाएँ निर्मित कर ले सकते हैं जो हमारी अहंभावपूर्ण आकांक्षाओं और रिरिंसाओं को संतुष्ट कर सकती हैं। फ्रायड के अनुसार ये दिवा-स्वप्न ही काव्यात्मक सर्जन के लिए कच्चे माल हैं, क्योंकि इन्हें ही रूपांतरित, वेषांतरित या संक्षेपित कर लेखक अपने दिवास्वप्नों से वे घटनाएँ निर्मित कर लेता है, जिन्हें वह अपनी कहानियों, उपन्यासों और स्वप्नों में रूपायित करता है। किन्तु दिवा-स्वप्नों का नायक सदैव उनका आलंबन ही रहता है, या तो प्रत्यक्ष रूप से अंशतः कल्पित या स्पष्टतः किसी दूसरे के साथ प्रत्यभिज्ञात।"[1] फलतः फ्रायड यह मानता है कि प्रत्येक कला-कृति दिवा-स्वप्न है—आवश्यकतानुसार रूपांतरित, वेषांतरित या संक्षेपित तो जरूर किंतु फिर भी दिवा-स्वप्न ही। वह एक साधारण दिवा-स्वप्न से बिलकुल भिन्न लग सकता है किंतु भिन्नता ऊपर की होती है, यथार्थ नहीं। दिवा-स्वप्न को एक ठोस रूप दिया जाता है; उसे नंदतिक (aesthetic) गुणों से मंडित किया जाता है और ये नंदतिक गुण ही उस ऊपरी भिन्नता के लिए कारण बनते हैं। इसे इस प्रकार विशद बना दिया जाता है कि इसका 'अपरिचित कानों को खटकनेवाला व्यक्ति स्वर' लुप्त हो जाता है और यह दूसरों के लिए हृद्य बन जाता है। एक कला-कृति में दिवा-स्वप्न पर्याप्त रूप से परिवर्त्तित भी होता है और यह परिवर्त्तन उसके उद्भव और यथार्थ स्वभाव को छिपा देता है। किंतु जो लोग कलात्मक विशदीकरण और परिवर्त्तन के पार देख सकते हैं उनके लिए कला-कृति के उद्भव के वर्जित स्रोत स्पष्ट दृश्यमान रहते हैं।

मनःकल्पना की तरह कला भी 'यथार्थता-परीक्षण' से मुक्त रहती है। इसका उद्देश्य है ऐसी आकांक्षाओं की परिपूर्त्ति जो वास्तविक जीवन में दुष्प्राप्य होती हैं। मनुष्य, फ्रायड लिखता है, "आनंद ढूँढ़ते हैं, वे आनंदित होना (positive) और बने रहना चाहते हैं। इस प्रयत्न के दो पहलू हैं, एक विधेयात्मक और दूसरा निषेधात्मक; एक ओर तो यह कष्ट और असुविधा दूर करने की चेष्टा करता है, और दूसरी ओर गंभीर आनंदों के अनुभव के लिए।"[2] मनुष्य के इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति में कला सहायता पहुँचाती है। अस्थायी रूप से ही किंतु यह हमें कष्ट और असुविधा भूलने में सहायता देती है और यह स्थायी आनंद का स्रोत

१—मनोविश्लेषण पर प्रारंभिक भाषण।
२—सभ्यता और उसके असंतोष।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी है। कला-कृतियों के निर्माण रसास्वादन को फ्रायड मनःकल्पना केआनंदों में सर्वोच्च स्थान देता है। जो कलाकार नहीं हैं, जो स्वयं निर्माण नहीं कर सकते, वे कलाकार की सहायता से इन मनःकल्पना के उन आनंदों का रसास्वादन कर सकते है जो उसे जीवन की कठिनताओं से कुछ देर के लिए शरण देते हैं। जो कला के प्रभाव को समझते हैं, फ्रायड लिखता है, "वे नहीं जानते कि जीवन में आनंद ओर सांत्वना के स्रोत के रूप में, वे किस तरह इसका मूल्य आंक सकते हैं।"[१] औसत आदमी की तरह कलाकार भी जीवन में आनंद और सांत्वना ढूँढ़ता है और वह इस आनंद और सांत्वना को अपनी कृति में पाता है। और न केवल कलाकार बल्कि वे सभी लोग, जो जानते हैं कि किस प्रकार मानसिक और बौद्धिक कार्यों से आनंद-प्राप्ति की सामर्थ्य को प्रखर बनाया जा सकता है, इस सुख और सांत्वना को पा सकते हैं! फ्रायड लिखता है, "दैव इनके विरुद्ध कुछ खास नहीं कर सकता।...इस प्रकार के संतोष में—उदाहरण के लिए, निर्माण में कलाकार के, या समस्याओं के समाधान या सत्यान्वेषण में वैज्ञानिक के उल्लास में—एक ऐसा गुण रहता है जिसे हम दार्शनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी दिन अवश्य परिभासित कर पाएँगे। तब तक हम रूपकात्मक शैली में यही कह सकते हैं कि ये हमें 'उच्चतर और सूक्ष्मतर' प्रतीत होते हैं।"[२]

फ्रायड एक सीमा का भी निर्देश करता है। कला सिद्धांत रूप से सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ बनी रह जाती है। इससे प्राप्य इच्छा-पूर्त्ति (gratification) कुछ सुसंस्कृत लोगों के लिए ही सुलभ रहती है। फ्रायड का कहना है 'कला प्राचीनतम सांस्कृतिक उत्सर्गों के लिए प्रतिनिवेशित (Substitutive) इच्छा-पूर्त्ति सुलभ बनाती है।' वह आगे कहता है, "अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence) के दबाव के फलस्वरूप, आदिम आवेगों की पूर्त्ति के परित्यागों द्वारा, सभ्यता का निर्माण हुआ है, और बहुत दूर तक इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है, क्योंकि हर नई पीढ़ी का प्रत्येक व्यक्ति, जो समाज में सम्मिलित होता है, सामान्य लाभ के लिए अपने प्रकृतिगत आनंदों का परित्याग करता है। इस प्रकार व्यवहृत प्रकृतिगत शक्तियों में यौन-शक्तियाँ सर्व-प्रमुख हैं वे इस रीति से समुन्नीत (Sublimated) होती हैं, अर्थात् उनकी क्षमता अपने यौन लक्ष्य से विमुख हो जाती है और ऐसी दूसरी दिशाओं में प्रवर्त्तित होती हैं जो यौनेतर हैं और सामानिक दृष्टि से मूल्यवान्।'[३] जन-साधारण 'जो क्लांत करनेवाले श्रम-कार्य में लगा रहता है और जिसे वैयक्तिक शिक्षा नहीं मिली है' इस प्रकार की इच्छा-पूर्त्ति का आनन्द नहीं उठा सकता। जो हो, जो लोग कला से प्राप्य मनःकल्पना के आनन्द का महत्त्व समझ सकते हैं उन्हें कला उन उत्सर्गों के प्रति प्रसादित (Reconcile) कर सकती है जिन्हें वे कला के लिए कर

१—सभ्यता और उसके असन्तोष।
२—वही।
३—मनोविश्लेषण पर प्रारंभिक भाषण

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चुके होते हैं। 'दूसरी तरफ', फ्रायड आगे कहता है, "कला-कृतियाँ प्रत्यभिज्ञान (Identification) की उन भावनाओं का संवर्धन करती है, जिनकी सभी सुसंस्कृत वर्गों को अत्यधिक आवश्यकता रहती है। इसके लिए कला-कृतियाँ ऐसा अवसर उपस्थित करती जब अतिशय मूल्यवान् माने जानेवाले रागात्मक अनुभवों का मिलजुल कर आनंद उठाया जा सके। और जब कला-कृतियाँ एक संस्कृति-विशेष की उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करती हैं तब, एक प्रभावोत्पादक रीति से उसे उसके आदर्शों का स्मरण दिलाकर, वे एक स्वरततिक (Narcissistic) इच्छा-पूर्त्ति का साधन भी बनती हैं।"[२]

कला हमारे यौन और अन्य आदिम आवेगों का उन्नयन (Sublimation) है; वह इन आवेगों के उत्सर्ग के लिए प्रतिनिवेशित इच्छा-पूर्त्तियों को सुलभ बनाती है, और जब वह एक संस्कृति-विशेष की उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करती है तब इच्छा-पूर्त्ति स्वरततिक प्रकृति की हो जाती है। यहाँ पर अभी मेरा यह उद्देश्य नहीं कि मैं इन विचारों के सत्यासत्य का विवेचन करूँ। वे स्वीकार्य नहीं हैं क्योंकि, यह स्पष्ट देखा जा सकता है, उनमें असत्य और अर्ध-सत्य का अंश है। वहाँ उनकी एक दृष्टि से आलोचना की जा सकती है। फ्रायड उन नंदतिक मूल्यों के संबंध में कुछ नहीं करता जो साहित्यलोचक के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। फिर भी हर्बर्ट रीड इस अभियोग से फ्रायड को बचाना चाहता है। उसके अनुसार फ्रायड ने इस विषय को अछूता नहीं छोड़ा है; 'फ्रायड नंदतिक मूल्यों की निस्संदेह ही उपेक्षा नहीं करता, और यह तो वह कहता ही नहीं कि मनःकल्पना का प्रत्येक उन्नयन कला-कृति है। कलाकार में ऐसी अतिरिक्त क्षमता रहती है (जिसे फ्रायड रहस्यपूर्ण कहता है) कि वह इस प्रकार से अपनी मनःकल्पनाओं के बाह्याकार (Objective form) को रूपांतरित कर दे कि उसका परिणाम निश्चित रूप से आनन्द प्रदान कर सके—एक ऐसा आनंद जो मनःकल्पना से स्वतन्त्र रहता है और जो वस्तुगत अनुपात, गठन, ध्वनि, समंजसता आदि उन बाह्य विशेषताओं से उद्भूत होता है जिन्हें हम एक कला-कृति में देखते हैं। एक कला-कृति में यह बाह्य शक्ति कहाँ से आती है इसका एकमात्र समाधान उसके पास यही है कि किसी न किसी प्रकार कलाकार का कौशल वह साधन बन जाता है जिससे वैयक्तिक अहंताओं (Individual egos) के बीच की दीवारें टूट जाती हैं और वे एक प्रकार की सामूहिक अहंता (Collective ego) में अन्वित हो जाती हैं। उसका सुझाव यह है कि किसी कला-कृति के विशुद्ध रूपात्मक या नंदतिक तत्त्व एक प्रकार का आनन्द-लाभ (pleasure premium) या प्रारंभिक आकर्षणोपाय (Preliminary seduction) संभव बनाते हैं जो, एकबार हमारी संवेदनाओं को परिचालित करने लग जाता है तो, एक ऐसे अनुषंगी (Secondary) और श्रेष्ठ आनन्द का मोक्षण (liberation) कर देता है जो अपेक्षाकृत

२—एक भ्रम का भविष्य (The future of an Illusion)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गंभीरतर स्तरों से फूटता है। "मेरा विश्वास है', वह कहता है, सर्जनक्षम कलाकार के द्वारा हममें जो आनन्द उत्पन्न किया जाता है उसकी एक प्रारंभिक प्रकृति होती है, और कि किसी कला-कृति का यथार्थ आनन्द तो इस कारण संभव होता है कि वह कुछ मानसिक तनावों को ढीला कर देती हैं।"[1]

यह सच है कि फ्रायड यह नहीं कहता कि मनःकल्पना का प्रत्येक उन्नयन कला-कृति है और यह भी सच है कि वह कलाकार की किसी ऐसी रहस्यपूर्ण क्षमता की चर्चा करता है, जिसके द्वारा वह अपनी मनःकल्पनाओं के बाह्य रूप को इस प्रकार परिवर्त्तित कर सकता है इसका परिणाम निश्चित आनन्द प्रदान करनेवाला सिद्ध होता है। किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। वह हमें यह नहीं बताता कि एक कलाकृति का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाए, विभिन्न कला-कृतियों का सापेक्ष मूल्य कैसे निर्धारित किया जाए। और, वह रहस्यपूर्ण क्षमता जिसका अधिकारी कलाकार बताया जाता है रहस्य ही बनी रह जाती है—वह किस तरह कार्य करती है इसका समाधान नहीं किया जाता; और एक कला-कृति की बाह्य शक्ति का समाधान विशेष विश्वासोत्पादक नहीं है। फ्रायड कला-कृति की वस्तुगत शक्ति को स्वीकार करता है; वह यह भी स्वीकार करता है कि कला-कृति से हमें आनंद और संतोष की प्राप्ति होती है। वह अपने इस सिद्धांत के प्रति भी निष्ठावान् है कि एक कला-कृति एक प्रकार का उन्नयन है। फलतः उसे इसका समाधान करना है कि किस प्रकार एक व्यक्तिगत और निजी आवेग या आकांक्षा का उन्नयन चिरंतन सुख ('joy for ever') बन सकता है। फ्रायड का कहना है कि समाधान कलाकार की रहस्यपूर्ण क्षमता के हैं; यह समाधान संतोषजनक समाधान नहीं है।

[क्रमशः]

हिन्दी में उपनिषद्-साहित्य

श्री साँवलिया विहारीलाल वर्मा

उपनिषद् वेदान्त के नाम से अभिहित है। इसका अभिप्राय यह है कि उपनिषद् वेदों में प्रतिपादित ज्ञान का सार है। उपनिषद् की सारी छानबीन इस प्रश्न के हल के लिए है कि वह कौन-सी वस्तु है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है? और जिसके जान लेने पर और कुछ भी जानने की जरूरत नहीं रहती है। भिन्न-भिन्न रीति से इस प्रश्न का एक

१—संगृहीत निबंध।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही उत्तर हम भिन्न-भिन्न उपनिषदों में पाते हैं—वह उत्तर है 'ब्रह्म'। यथार्थतः सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म सर्वदा-सर्वथा परिपूर्ण है।

छान्दोग्य उपनिषद् (३।१४।७) में कहा है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इस ब्रह्म के जानने में ही जीवन की सार्थकता है। इसको जानने से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसके विना मृत्युञ्जय होने का दूसरा कोई उपाय नहीं है (कठोपनिषद् ६।१५)।

तब, यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म है क्या वस्तु। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।८।८) कहती है कि यह न तो स्थूल है न सूक्ष्म, न छोटा न बड़ा, न छाया न अन्धकार, न वायु न आकाश; न स्वाद न गंध; नेत्र और कर्ण, वाणी और मन, प्राण और मुख, भीतर और बाहर से रहित यह वस्तु न तो किसी का भक्षक है और न भक्ष्य।

तब फिर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वह अद्भुत वस्तु है क्या ? उपनिषद् इसका उत्तर देती है कि वह तू ही है, मैं ही ब्रह्म हूँ, यह आत्मा ही ब्रह्म है, अतएव सब बातों का सार यही है कि आत्मा को पहचानो, आत्मज्ञ बनो।

इसी एक रहस्य को भिन्न-भिन्न उपनिषदों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। इन उपनिषदों की भाषा ओजस्विनी है। इनकी वर्णन-शैली रोचक है। मानव जाति की विचार-धारा के इतिहास में इन्हें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। जर्मनी का निराशावादी तत्त्व-चिंतक शोपनहावर भारतीय उपनिषदों से बहुत प्रभावित हुआ। उसका कथन है, "उपनिषद् की पंक्तियों से मौलिक, उच्च तथा गहरे विचार उठते हैं। ये ग्रन्थ पवित्र तथा उत्कृष्ट विचारों से ओत-प्रोत हैं। संसार में इनके सदृश लाभप्रद और उच्च भावनाओं को विकसित करनेवाले दूसरे ग्रन्थ नहीं हैं, ये ग्रन्थ गहन अनुभूति के परिणाम हैं। अतएव आज या कल मनुष्यमात्र की निष्ठा इनके प्रति होना निश्चित है।"

प्रसिद्ध वेदज्ञ मैक्समूलर का तो कथन है कि वेदान्त-दर्शन की उपनिषद् ही जननी है। इनमें मनुष्य का चिन्तन-मनन उस ऊँचाई तक पहुँच गया है जिसके ऊपर मानव-मस्तिष्क नहीं उठ पाया है।

इस प्रकार निस्सन्देह, उपनिषदें तत्त्व-ज्ञान का अमूल्य भाण्डार हैं, और समग्र भारतीय दार्शनिक विचार-धारा का आदि स्रोत हैं। इनमें हमें भारत के अद्वितीय तत्त्व-चिन्तक दार्शनिकों का साक्षात्कार होता है।

'मुक्तिकोपनिषद्' में १०८ उपनिषदों की सूची दी हुई है जिनका प्रकाशन अदयार लाइब्रेरी (मद्रास) से आठ जिल्दों में श्री ब्रह्मयोगी की टीका के साथ हुआ है। अँगरेजी अनुवाद भी अलग जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त उक्त लाइब्रेरी ने प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर 'अप्रकाशित उपनिषद्' के नाम से ७१ उपनिषदों का प्रकाशन किया है, इस प्रकार आज हमें मूल तथा अँगरेजी अनुवाद मिलाकर कुल १७९ उपनिषदें प्राप्य हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपनिषदों में दस उपनिषदों की प्रतिष्ठा सर्वमान्य है। दशोपनिषद् राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म-समाज का आधार-ग्रन्थ है। आर्य समाज को भी दशोपनिषद् ही मान्य है। कहा भी है:—

"ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीयः ।
ऐतरेयश्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥"

अर्थात् (१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य, तथा (१०) बृहदारण्यक, ये दस उपनिषदें हैं।

शंकराचार्य ने इन्हीं दस उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है, शंकराचार्य के बाद विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, तथा द्वैतमत के मान्य अचार्यों ने प्रस्थानत्रयी, अर्थात् ब्रह्मसूत्र, दशोपनिषद् तथा गीता को ही अपना-अपना आधार बनाकर अपनी विचार-धारा का प्रचार किया है। इन उपनिषदों में दार्शनिक चिंतन है। किसी देवी-देवता को ब्रह्म (ईश्वर) का प्रतीक नहीं माना गया है। बाद की उपनिषदों में धर्म और भक्ति के भाव आये हैं। उत्तर काल की उपनिषदों में दस उपनिषदों की गंभीरता और विचारों की उदारता नहीं पाई जाती है। इनमें अधिकतर उपासनापरक हैं जो बहुत बाद के धार्मिक सम्प्रदायों का प्रतिपादन करती हैं।

दशोपनिषद् के बाद श्वेताश्वतर उपनिषद् की प्रतिष्ठा है। इसमें परब्रह्म से शंकर का तादात्म्य स्थापित किया गया है। इस पर भी शंकराचार्य का भाष्य प्राप्य है; किन्तु भाषा तथा वर्णन-शैली के खयाल से, कुछ विद्वानों का मत है कि बाद के किसी प्रतिभाशाली शंकराचार्य की यह कृति है।

दशोपनिषद् में केवल ईशोपनिषद् मंत्र-उपनिषद् है, यह शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ काण्ड है, अन्य उपनिषदें ऋषि-प्रणीत हैं।

ईशोपनिषद् में केवल १८ मन्त्र हैं, सभी महत्त्वपूर्ण हैं, इसमें ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद का बीज पाया जाता है और इसके अनुसार आत्म-कल्याण के लिए ज्ञान और कर्म दोनों की आवश्यकता है। गीता के निष्काम कर्म की भावना का मूल यही उपनिषद् है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसके निम्नोद्धृत प्रथम दो मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या गीता में हुई है।

दशोपनिषद् पर अनेक हिन्दी टीकाएँ उपलब्ध हैं, शंकराचार्य के भाष्य को गीता प्रेस, (गोरखपुर) ने हिन्दी अनुवाद के साथ छपवाया है और वह प्राप्य है। गीता प्रेस से ही 'कल्याण' का उपनिषद्-विशेषांक बृहदाकार में निकला था। उसमें संग्रहणीय उपनिषद्-साहित्य प्रकाशित हुआ था। स्वामी विद्यानन्दजीने भी दशोपनिषद् की सुन्दर व्याख्या की है जो गीता-धर्म प्रेस (काशी) से तीन जिल्दों में प्रकाशित हुई है और आज भी गीता मन्दिर, अहमदाबाद (गुजरात) से प्राप्य है। आर्यसमाजी सन्त महात्मा नारायण स्वामी का सुबोध भाषा में दशोपनिषद् का हिन्दी में भाष्य सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि सभा (दिल्ली) से प्रकाशित

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होकर सुलभ मूल्य में प्राप्त है। नवल किशोर प्रेस (लखनऊ) ने भी श्री जालिम सिंह के हिंदी-अनुवादसहित दशोपनिषद् को प्रकाशित किया है और वे प्राप्य हैं।

ईशोपनिषद् का तो अनेक संत और विद्वानों ने हिंदी अनुवाद एवं व्याख्या की है,। इनमें श्री विनोबा भावे की ईशावास्य-वृत्ति तथा श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सूरत) का आत्मज्ञान (ईशोपनिषद्) पठनीय हैं।

विषय के अनुसार अदयार लाइब्रेरी, (मद्रास) ने निम्नलिखित प्रकार से उपनिषदों का वर्गीकरण किया है। (१) दशोपनिषद् (२) बीस योगोपनिषद् (३) चौदह वैष्णवोपनिषद् (४) पन्द्रह शैवोपनिषद् (५) आठ शाक्तोपनिषद् और (६) सत्रह संन्यासोपनिषद्।

उक्त लाइब्रेरी ने अप्रकाशित ७१ उपनिषदों का भी वर्गीकरण इसी प्रकार किया है। इन अप्रकाशित उपनिषदों में एक अल्लोपनिषद् है जो मुसलमानों के अल्लाह के विषय में है। इसके कुछ अंशों में अरबी के शब्द हैं और कुछ में संस्कृत के। ऐसा कहा जाता है कि यह अकबर के राज्य-काल में बनी थी।

इस प्रकार जब कि दशोपनिषद् की रचना वैदिक काल में, ब्राह्मणग्रन्थों के बाद हुई, वहीं अनेक उपनिषदें अपने-अपने सम्प्रदायों की मर्यादा और प्रतिष्ठा को बढ़ाने के उद्देश्य से मध्ययुग तक रची गईं। किन्तु ब्रह्मबिन्दूपनिषद् सदृश कुछ उत्तरकालीन उपनिषदें भी मन को ब्रह्मलीन करने का साधन, आत्म-चिन्तन तथा ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय बतलाती है। यह उपनिषद् कहती है कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। मन को विषयार्थों से तब तक रोकने का प्रयत्न करना चाहिए जब तक वह आत्म-भावना में लीन न हो जाय। मन का आत्मभावस्थ हो जाना ही ज्ञान और मोक्ष है। जब न कोई चिन्तनीय रह जाता है और न अचिन्तनीय, दोनों में किसी के प्रति भी मन का पक्षपात नहीं रह जाता—तब साधक ब्रह्मभाव प्राप्त करता है। अतएव कहा गया है कि बुद्धिमान् पुरुष ग्रन्थ का अभ्यास करके उससे ज्ञान-विज्ञान के तत्त्व को ग्रहण कर ले, फिर समूचे ग्रन्थ को त्याग दे, ठीक उसी तरह, जैसे अन्न चाहनेवाला मनुष्य अन्न को तो ले लेता है और पुआल को खलिहान में छोड़ देता है।

नादबिन्दूपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, जाबालिदर्शनोपनिषद्, योगकुण्डलिन्युपनिषद् आदि में योग के महत्त्व का वर्णन है, इनका मनन कर लेने से जिज्ञासुजन के मन को पूर्ण समाधान मिलता है; और साथ ही साथ योगविषयक गुप्त रहस्यों का भी परिज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु योगोपनिषदों का सद्गुरु के मुख से श्रवण करके मनन करना चाहिए, क्योंकि इनमें बहुत-सी गुह्य क्रियाओं का वर्णन है, उनका शुद्धज्ञान क्रियावान्, विद्वान् गुरु के बिना नहीं हो सकता।

शाट्यायनीयोपनिषद् में कहा है कि मन ही बन्धन अथवा मोक्ष का कारण है। इस उपनिषद्में संन्यासियों का कर्त्तव्य बताया गया है और उनके पतन के कारण दिखाये गये हैं। सच्चे संन्यासी के लक्षण निम्नांकित प्रकार से कहे गये हैं :—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी।
यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन् मनुष्यादयाचितं याचितं वाऽथ भैक्षम्॥"

नारद-शौनिक संवाद के रूप में, संन्यास-ग्रहण का क्रम, संन्यास के अधिकारी, स्वरूप, विधि, नियम, एवं आचारादि का निरूपण किया गया है और प्रणव तथा ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए आत्मवेत्ता संन्यासी के यह लक्षण बताये गये हैं।

अतएव बाद की अनेक उपनिषदों के भी भाव अत्युच्च और हृदय को आकृष्ट करने-वाले हैं। इन्हें पढ़ने पर मनुष्य मुग्ध हो जाता है। किन्तु दुःख की बात है कि राष्ट्रभाषा में इन १७१ परवर्त्ती उपनिषदों का अनुवाद आजतक प्रकाशित नहीं हुआ। कुछ वर्ष पहले बम्बई से कुछ उपनिषदों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ था, किंतु वह प्राप्य नहीं है।

हाल में गीता प्रेस ने 'कल्याण' के २३ वें वर्ष के प्रवेशांक के रूप में दशोपनिषद् के साथ-साथ अन्य ४४ उपनिषदों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया था। किन्तु यह अमूल्य ग्रन्थ भी आज प्राप्य नहीं है। इन उपनिषद्-ग्रन्थों में अनेक रत्न बिखरे पड़े हैं। मद्रास के विख्यात प्रकाशन नौटेशन कम्पनी ने १०८ उपनिषदों से कुछ रत्नों का संकलन कर अँगरेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। किन्तु हिन्दी में तो ऐसा ग्रन्थ भी आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। हिन्दी-प्रेमी संस्कृत के विद्वानों को वैदिक तथा पौराणिक ग्रन्थों से हिन्दी का भाण्डार भरना चाहिए।

संत सूरजदास और उनकी रचनाएँ

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

(गतांक से आगे)

[४]

संत सूरजदास की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। अब हम उनकी काव्य-कला का विवेचन करेंगे।

रामजन्म के पढ़ते समय हमें अनेक ऐसे स्थल अनायास मिलते चलते हैं, जिनमें कवि की वर्णन-शैली से प्रभावित हुए बिना हम नहीं रह सकते। उदाहरणतः जब महाराज दशरथ श्रवणकुमार के पिता द्वारा अभिशप्त होकर अत्यन्त विषण्ण-वदन गुरु वशिष्ठ के आश्रम में आते

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं और उनसे पुत्र-प्राप्ति के लिए उपाय पूछते हैं, तब उस समय वशिष्ठ जिन शब्दों में तृष्णा के व्यापक प्रभाव का वर्णन करते हैं; वे ध्यान देने योग्य हैं :—

"कहे बसिष्ठ रिखे सत भाऊ।
पहिले निरधन धन गोहराऊ॥
धंन भए कलंत्र जो होई।
भए कलंत्र पुत्र फल सोई॥
सुत जो भए एक ब्याह के भांती।
भए विवाह जो होखे नाती॥"—६.१

दोहा

"नाती भए परनाती, तबहुँ ना पूजी आस।
अन्त म्रितु नहि जाने, काल लिए जम्ह फांस॥"—१०.

उपर्युक्त पंक्तियों की वर्णन-शैली से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि पुत्र-पौत्रादि को 'सन्तान' (सुविस्तार) की संज्ञा क्यों दी गई है। स्वयं पंक्तियाँ एक इस प्रकार की भाव-धारा का सर्जन करती हैं, जो द्रौपदी-दुकूल की तरह असंहार्य प्रतीत होती है।

इसी प्रकार एक दूसरा प्रसंग लीजिए :—

ऋषिराज विश्वामित्र राजा दशरथ के घर आते हैं और उनसे कहते हैं, 'राम के काज हमरे है भाई।' महाराजा अपनी आँखों के तारे राम को सौंपने में हिचकते हैं। इस अवसर का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में किया गया है:—

'सुनतहिं रिखी उठे रिसिआई।
परम क्रोध तब हिरदै बढ़ाई॥
ब्रम्ह क्रोध अकास ते ब्यापा।
सुर नर नाग देखिकै कांपा॥
सभ देवन्ह ब्रम्ह गोहरावा।
सुनि के ब्रह्म सभै समझावा॥
केहि कारन पुकार कियो आई।
तब देवन्ह अस कहा बुझाई॥
पार ब्रम्ह जो लीन्ह अवतारा।
सेष सहस्र फनी मनिआरा॥" इत्यादि—३१. १–६

पं० रामनरायण शास्त्री स्मारक पुस्तकालय
स्फ० सं०.....
तिथि.....
निजी पुस्तकालय

क्रोध की अलौकिकता और उसके व्यापक प्रभाव का वर्णन इस रूप में किया गया है, जिसमें पता चले कि उस क्रोध के पीछे कोई बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। नर-लोक, देव-लोक सर्वत्र एक प्रकार से आतंक छा गया। औरों को रहस्य का पता नहीं था, लेकिन ब्रह्मा को सब कुछ विदित था। ब्रह्मा ने और देवों को जब यह रहस्य बताया,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और जब उनको यह पता चला कि रामचन्द्र के द्वारा राक्षसों का संहार होनेवाला है और इससे उन सभी का उपकार होगा, तो उन सभी ने आकाश-मार्ग से आकर अयोध्या में राजा दशरथ को समझाया। राजा दशरथ को मानना पड़ा और उन्होंने विश्वामित्र से कहा :—

"तोहरे वचन सीस पर अहई।
.....॥"
लेहु रिखी अब जो मन भाई।"—३२.३

ऋषि विश्वामित्र अपने प्रण पर अटल थे।

"सुनि के बचन रिखे अस कहई।
राम छांड़ि मैं और न चहई॥"—३२.४

जिन चुभते हुए मर्मान्तक शब्दों में राजा दशरथ राम को अपने से अलग करते हैं, उनपर ध्यान दीजिए:—

"तब राजा अस बिनती लाई।
बहुरी दरस देहु रिखी राई॥
लेहु रिखी अब आँख हमारी।
जस जानो तस करो बिचारी॥
.....।"—३३.२

'राजा कहें रिखीसर सो, जिव सौं पतहों तोहि।'

रामचन्द्र केवल दशरथ की 'आँख' नहीं थे। माता कौशल्या और अयोध्यावासियों की भी वे 'आँख' थे। आज राम के जाने से वे सभी अंधे हो रहे हैं—राजा दशरथ, महारानी कौशल्या और अयोध्या की जनता!

"पाँव परी तिनि सें महतारी।
चले रिखी लै आँखि हमारी॥
सभ कै नैन राम संग धावा।
आँधर करिके सभे बइसावा॥"—३४.१

ऐसी प्रभावोत्पादक वर्णन-शैली, जिससे कवि के मानव-प्रकृति के अध्ययन का परिचय मिलता है, अन्यत्र कई स्थलों में पाई जाती है। ग्रंथ के अन्त का प्रसंग लीजिए। मिथिला में दशरथ के राजकुमारों का जनक की राजकुमारियों के साथ विवाह संपन्न हो गया। अब वहाँ से राम और सीता लौट रहे हैं :—

"मांझ राम और सिया पिआरी।
आस पास तिनि सौ महतारी॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिन्ह जिन्ह सीता के मुख जोआ।
अपना बदन लाज तिन्ह खोवा॥
गढ़ी विधाता तोहि संवारी।
पुनिआ के चाँद गगन ते बाढ़ी॥
मानो चंद बदन सो काढ़ी।"—७६.१

दोहा

"नख लहि रूप बनाय, ग्रिव लै बदन सुभाव।
सती मांहि सत सीता, रानिन्ह मंगल गाव॥"—७७.

चौपाई

"कनक मटुक सिर कंगन बाहां।
गाँठ जोरि राम नर-नाहा॥
तेहिं मों सोभे सुहागिनि सीता।
कसत कसौटी कंचन जीता॥—७७.२

[क्रमशः]

●

हस्त-लिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र ❀

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

१०१—राजनीति शत वचन—ग्रंथकार—श्री सत्य भोलास्वामी। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, देशी कागज, पूर्ण। पृष्ठ-सं०—७४। प्र० पृ० पं० लगभग—२४। आकार—८"×६"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ—"श्री गणेशाय नमः श्री गुरुभ्यो नमः श्री रंराज गुरुभ्यो नमः श्री हनुमंते नमः अथ रिखि नागर राजनेतिबानी लिख्यतेः श्लोकः॥

❀ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना की ओर से डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के तत्त्वावधान में हस्त-लिखित पोथियों का संग्रह और अनुसन्धान बिहार भर में होता है। परिषद् में संगृहीत १०० (एक सौ) पोथियों के विवरण का प्रथम खंड 'साहित्य' के पिछले अंकों में प्रकाशित होता रहा है। अब, दूसरा खंड क्रमशः दिया जा रहा है। —सम्पादक

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नेतिनेति विशुधारमुनिवरः रंगराजपदाम्बुजं ॥
जगूदेवं प्रश्न वाक्यं श्रृणुतं गुर अम्बुजं ॥१॥
पराचीनं चरित विदितंः कथितं गुरमसनं ॥
जगूदेवं प्रसन आननः हर्षितं उर संजननंः ॥२॥
वेद आदिकं नाद वादिकंः नेति सस्त्रंजथोमतंः
रिपीनागरप्रमविदितंः स्वामीभोलाकथीजतंः ॥३॥
सिख्यवाकं प्रसन्यश्रोनितः स्वामीभोला आनंदंः
जगूदेवं धार ऊरंः सर्वशास्त्र अंबुदं ॥४॥
मनुजकामवीना सहेत्वंः सज्जनं गुण हेतुनंः
भाखितं ममराजनेतं श्रवनरिपिसंम्वादनं ॥५॥

राजनेतवानीः जहां बहुततहथोरः थोरतहलागै ढेरीः
है नीच सो ऊचः ऊच है सोई नरचेरीः
कहै सत्यभोला पुकारिः गुण औगुण सन्मूखो है
दूनौको साथ दुख हैत है सूखो ॥१॥
केवड़ा और गुलाब फुलों में यहै बड़ाईः
तेहिसंगकांटा ला गये तनीय है बुराईः
कहै सत्यभोला पुकारिः वरै दीपक की जोती
तासों कज्जल हुवा फरन को चहिये मोतीः ॥२॥"

मध्य—पृ० ३७ "राज काज रोजगार विना मंत्री ना सोहे ॥
व्यौहर व्याह दरवार विना भेदीना मोहै ॥
कहै सत्यभोला पुकारिवातपट दोसर सांचै ॥
दान धाम गुर करत नष्ट गुन दोसर यांचै ॥१६५॥
उत्तम केदली वृक्ष पुनीत फूलिकरि नीचेनवता ॥
छुतिहारें उन पाप फुले उपर जवता ॥
कहै सत्यभोला पुकारि गरीबीनवैस्तेऊ ऊचा ॥
नवें ना काठ कुठार जात है फूंका कूंचा ॥१६६॥"

अन्त—"रम्य रहो शतलोक शोक भय छुटत शरीरा ॥
होय निज अमर अडोल ॥ वसो रंगराज मम तीरा ॥
कहै सत्य भोला पुकारि सुनो जगुदेव उहां वसिये ॥
भजन डोरि मनमोरि फोरि ब्रह्मांड नीजु कसियो ॥४१३॥
राजनीति शतवचन पढ़ै सुमै गहो चित धरिया ॥
सोई होई जग चतुर सयाना जियतभव सागर तरिया ॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कहै सत्य भोला पुकारि चारि शत चौदह वानी
जगुदेव सुनि नीति ग्रंथ रिपि सब गुणपानी ॥४१४॥

इतिश्र शुभमस्तु
फाल्गुणे नौकृत मासे सप्तमे प्रथ्वी श्रुतः
लिख्यते राजनीतिश्च नित्यानन्दस्य शर्मणे ॥"

विषय—सदाचारी जीवन, कर्तव्यनिष्ठा, परोपकार, सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म आदि का उपदेशात्मक विवेचन। साधु-असाधु, विद्वान्, मूर्ख आदि की परिभाषा। देखिए—"मित्रता सम नही धन दया सम धर्म न आनो। क्षेमा सम नहि तापसः संतोप सम नहि सुप जानो ॥ कहै सत्य भोला पुकारि चूप सम आन न वक्ता ॥ सूने सम नहि श्रोता आन गुन हृदय मे रक्खा ॥६७॥" प्रस्तुत पद में मित्रता, दया, क्षमा, संतोप, मौन, श्रवण आदि गुणों के हृदय में स्थान देने के लिए ग्रंथकार निर्देश कर रहे हैं। एक स्थान पर कवि वेश्या के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"वेश्या पतिको मारि आपनो लज्जा पोई ॥
करै यार सों प्रीति आपनो मतलब गोई ॥
कहै सत्य भोला पुकारि घात जा दिन करि पावै ॥
त्यागि आपनो शर्म यार को प्रान गवावै ॥७४॥
आपने बच्चा पाय बिली कब चूहा वराई ॥
वैश्या लज्जा छाड़ि कब आन बचाई ॥
कहै सत्य भोला पुकारि वैश्या को सतसंगी ॥
यह तन सो मलमुत्र गहै होय फिरियुग भँगी ॥७५॥"

इसी प्रकार, राजधर्म, प्रजाधर्म और सचिवों के साथ राजा के बर्ताव आदि विषयों पर भी कवि ने रचना की है। शत्रु-मित्र के सम्बन्ध में कवि की उक्ति—"हंसि कै बौलै यार ताहि दुशुमन करि जानो। डपटि कहै समुझाय ताहित आपन मानो ॥ कहै सत्यभोला पुकारि मित्र हिय रापै पीरा ॥ दुशमन मनसो हाल उपर हंसि बोलै धीरा ॥१९२॥" गृहस्थधर्म का भी उपदेश इस ग्रन्थ में दिया गया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टिप्पणी—इस ग्रंथ के ग्रंथकार श्री सत्यभोलास्वामी उत्तरप्रदेशीय गोंडा जिले के, बनकटवा स्टेशन के निकटस्थ नैनक टोली ग्रामस्थ ॐ जाववलपुर आश्रम के आचार्य हो चुके हैं। उक्त आश्रम में, इनके पूर्व ६ आचार्य और हो चुके हैं। जिनके नाम हैं :—

श्रीरंगराजस्वामी, श्रीउपरनन्दजी, श्रीउपनन्दजी, श्रीप्रनन्दजी श्रीअसनन्दजी और श्री दशारामजी। श्री सत्यभोलास्वामी श्री दशारामजी के उत्तराधिकारी थे। उक्त आश्रम में अनेक हस्त-लिखित ग्रंथ और दुर्लभ पोथियाँ सुरक्षित हैं। लगभग २० ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित हैं। 'श्रवण यंत्रावली' प्रकाशित है। 'ऋषिनागर' और 'चन्द्र सरोवर' नामक दो ग्रंथ महत्त्वपूर्ण बताए गए। पहला ग्रंथ २५४ पृष्ठों का (प्रारंभ गुरुखंड से और समाप्ति व्रतखंड में) और दूसरा १०२ पृष्ठों का है। पहली पोथी की पद्य-संख्या २१२४ दो हजार एक सौ चौबीस है।* 'ऋषि नागर' के कुछ पद:—

"रंग राज गुरु सुमिरि उर, रामचन्द्र हनुमान।
गणपति सज्जन मुनिगण, श्रवण हृदय गुणगान॥
.....॥

प्रथमै राम जन्म छबि भूला। सुनत कथा मेटत सब सूला॥
भौमवार मधुमास सुहाई। नौमी सित पुराण श्रुति गाई॥
पुनर्वसू मैथुन सुभ लगना। मध्य दिवस कोटिन सुभ गनना॥
चतुर्भुजी प्रभु रूप देखावा। मातु कौसिला अस्तुति लावा॥
तेहि तत्काल बाल तनु लीन्हे। सुन्दर स्याम मूरति प्रभु कीन्हें॥
रोदन करन लगे हरि तहँवाँ। मातु कौसिला बैठी जहँवाँ॥
.....॥

गुरु बशिष्ठ उपरोहित आये। सगुण सोधि गुर नाम धराये॥
रासि राम श्रीराम उचारा। तुला रासि करि नाम उदारा॥"

'चन्द्र सरोवर' (१८०७ पद्य) के भी कुछ पद देखिए :—

---

* श्री रामानन्द साहित्यालंकार, सोनपुर (सारन) द्वारा प्रस्तुत विवरण के आधार पर। —के०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"संतदेव जगदेव सो, विनय करौं करजोरि।
कृपा करो रंगराज गुरु, श्रवन देव निजतोर॥"

इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने उक्त आश्रम तथा अपने नाम का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

"धुरसति कुटिला निकट वट, झंजावलपुर धाम।
विम्वदेव यह लिखत कथा, सदा करत विश्राम॥"

इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने ग्रंथ-रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है। ग्रंथ की लिपि स्पष्ट और आधुनिक है। ग्रंथ-विवेच्य और अनुसंधेय है। यह ग्रंथ सोनपुरवासी पं० श्री रामानन्दजी साहित्यालंकार के सौजन्य से प्राप्त किया।

१०१ क—रंगराज पंजा—ग्रंथकार—श्री सत्य भोलास्वामी। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज, पूर्ण। पृष्ठ-सं०—३। प्र०पृ० पं० लगभग—३२। आकार—८"×६"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ—"श्री रंगराजाय नमः अथ रंगराजी पंजा प्रारंभ॥
श्री रामनामी वैष्णवा सर्वोपरी अविनाशी॥
समनाम महाविश्नू अविनाशी॥
आदि रंगराज गुरुमंत्रो अन्याशी अविनाशी॥
श्रवन्देव श्रीयुत् वीज अतीत पंथा अविनाशी मंत्र
सीष गुरउपदेशिकं॥
रंगराज मंत्र संपुट सुधार अविनाशी॥१॥
ररंकारा अहरंकारा निर्गुण सारा हरिहर पारा
सर्गुण पारा अलष अधारा
अद्भुत सकारा मुदित मकारा सोई ओंकार मकारा॥
सोई सकारा तत्व तकारा मुद्रा तत्व रंकारा॥
श्रवन्देव जी महामंत्र मणि जपत जक्तभव पारा॥२॥
गुर रोकर्ण पियाय जेहि दिन मंत्र सेवक जानि कै॥
कर्ण सूत्र सुधारि अंतर अमित उररवि आनि कै॥
षोडस अंगुल षोडस अनक्षर षोडस अंग संवारि कै॥
क्षत्रछाह अकाश भूमर मुकुट माल विराज कै॥
सहस्त्र पंक वरास आसन ध्रयते रंगराज के॥....."

मध्य-पृ० २—"अनंत जोती अनंत किरणी अनंत काशा भाशो॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अनंत रंका अनंत शक्ती अनंत रूप पंथ ॥
रंकार अनंत रंगराजधेनु ॥ रामरंग अनंत शीर्षजेनू ॥"

अन्त—"सुनह रे मनमूढ नर तुम गहहु गुरु मत धाय के ॥
भली अवसर फेरि भटको काहे अटको आई कै ॥
गुरु मंत्र महेश राघो रटत पुर सुर जाय कै ॥
जासु जस रंगराज पंजा सुफल तन गुर पाय कै ॥
श्रवनदेव शतवार पढ़ि है मुक्ति अग्रपुर पाय कै ॥१॥
इति श्री रंगराजपंजा सम्पूर्णम् ॥"

विषय—इस मत के प्रथम और प्रधान आचार्य श्री रंगराजस्वामी की स्तुति और महिमा के वर्णन में रचना की गई है।

टिप्पणी—इस लघुकाय पुस्तिका में कुल ११ पद्य हैं। इन पदों में श्री रंगराजस्वामी की वन्दना करते हुए कवि ने उनकी यशोगाथा गाई है और जीवन-चमत्कार का वर्णन किया है। ग्रंथ अप्रकाशित है। यह ग्रंथ सोनपुर (सारन) निवासी पं० श्री रामानन्दजी साहित्यालंकार के सौजन्य से प्राप्त किया।

१०१-ख—ज्ञानरत्न—ग्रंथकार—श्री सत्यभोलास्वामी। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, देशी कागज, पूर्ण। पृ०-सं०—७८। प्र० पृ० प० लगभग—२॥ आकार—८"×६" । भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—माघ, कृष्ण, प्रतिपदा, सोमवार, सं० १९३१ वि० (१८८२ ई०)।

प्रारम्भ—"श्री गणेशाम्बिकाभ्यानमः श्री सरस्वतैनमः श्री रामचन्द्रायनमः श्री रंगराजगुरुभ्योनमः श्री हनुमते नमः ॥ अथ ज्ञानरत्न नाम ग्रंथ ऋषिनागरमते प्रारंभ ॥ सवैया ॥ प्रथम ॥ गुरवाच ॥

श्री गुरगणपति ज्ञान निधानो आदि शक्ति जग माता है।
सरस्वती लक्ष्मी सती सुप ब्रह्म विष्णु शिवदाता है।
वरुण कुवेर शशि सुरशेषा धर्म ऋषी मुनि लवंता है।
स्वामी भोला ध्वनि साहेब डोमा गुर संतदेव गहि गवता है॥१॥
सुमिरो निशु दिन गुरुपद अंतर जो गुरु ज्ञान लषाई है।
आठो पहर शीशधरि चरणन नाम रटनि धुनि लाई है।
धनि गुर दीन दयाल दया करि निजु मोहि दास बनाई है।
स्वामी भोला धनि साहेब डोमा रूप संत देव दरशाई है॥"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

धनि धनि सत गुर सामरथदाता रामनाम पद दीन्हा है ॥
निजुजन जानि रूप देपलाई दास आपनो कीन्हा है ॥
देषि रूप गुर भयों मगन मन छरति मुरति रस लीन्हा है ॥
स्वामि भोला धन साहेब डोमा पद संत देव मन चीन्हा है ॥३॥"

मध्य—पृ० ३८—"एक शब्द एक सार शब्द निजु नाम नाम मे भेदा है ॥
सत गुर भेद जक्त सों न्यारा जासे प्रगट जग वेदा है ॥
संतदेव है सार शब्द गुर जासे शब्द उमेदा है ॥१८०॥
सार शब्द से शब्द प्रगट बहु सार शब्द गुर संता है ॥
कथा पुराण ग्रंथ नहु बानी निगमागम्य कहंता है ॥
आपी होय निरंतर उठे सती शब्द तरंगा है ॥
संत देव सो नाम निअक्षर जाके रूप न रंगा है ॥१८१॥"

अन्त—"राम नाम एक नाम अनूपा गुरु सुमिरन जग न्यारा है ॥
रामायण शत कोटि में शंकर नाम रकार निकारा है ॥
सोई नाम प्रगट अंतर गुर उठत सदा रंगरारा है ॥
स्वामि भोलाधनि साहेव डोमामिलो संतदास गहिप्यारा है ॥३६१॥
तीनि सो साठि वार एक सम्वत प्रगटवानी गुरनीता है ॥
बार बार बानी पहंचानी गुर समिरण मन प्रीता है ॥
समय समय गुर रूप नाम गुण देषत कहत दिन बीता है ॥
स्वामि भोला धनि साहेब डोमा संग संतदेव गुरहीता है ॥३६२॥
इतिश्री सवैया सम्पूर्ण ॥"

विषय—संत-साधना का साहित्य । नाद, बिन्दु, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, चक्र, अनाहतनाद, ध्यान, शब्द, नाम, रूप, दुःख, सुख आदि का विवेचन और व्याख्या । निर्गुण विचारधारा का प्रतिपादन । कबीर-दर्शन से प्रभावित । देखिए :—

"रामरूप देषी उर अंतर आपि में उलटि समानी है ॥
आपन रूप पाय आपुहि मां आपु आपु निर्वानी है ॥
... ... ॥८६॥
आपन रूप आपुमे देषै जब गुर ध्यान लगाया है ॥"

यह कबीर के 'उलटि समाना आपमै प्रगटे ज्योति अनन्त' का छायानुवाद-सा प्रतीत होता है । और देखिए—'आपन पिया हिया में पाये ।' मनुष्य साधना में रत रहने के बाद जब सिद्ध हो जाता है, अमरपुर में वास करता है—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"होय अमर अमरपुर जावै अमर रूप पिय पावै जी ॥
जरा मरण छूटै दुष संकट गर्भवास नहि आवै जी ॥"

अधोलिखित पदों में योग-सम्बन्धी चर्चा देखिए—

"नाभि कमल निज है अष्टदल रूप बारह नीलरंगा है ॥
विश्नु लक्षिमी संग सदा निजवास दोऊ एक संगा है ॥
शंख चक्र गद पद्म विराजै वाहन गरुड़ निजु अंगा है ॥
ताहां छौ हजार एक नामा संत देव जपि चंगा है ॥१०॥
हृदय कमल अनहद देषु मन बारह दल रूप श्वेता है ॥
सीवशती वसत है तहपर नंदी वाहन वृषकेता है ॥"

इस प्रकार लोक, परलोक, भजन, नाम-महिमा आदि की विस्तृत चर्चा इस ग्रंथ में है।

टिप्पणी—इस ग्रंथ के ग्रंथकार यद्यपि श्री सत्य भोलास्वामी प्रतीत होते हैं, किन्तु ग्रंथ में (पदों में) यत्र-तत्र ग्रन्थकार के उत्तरवर्ती आचार्यों का भी नामोल्लेख है। उक्त आश्रम में श्री सत्य भोलास्वामी का स्थान सातवाँ है, किन्तु इनके बाद श्री धनीदेव जी, श्री सन्तदेवजी, श्री डोमा प्रसाद जी की चर्चा प्रायः सभी पदों के अन्त में ('स्वामि भोला धनि साहेब डोमा संग संतदेव गुर हीता है।') आया है। यह भी संभव है कि उपर्युक्त महात्मागण इनके समकालीन हों।

ग्रंथ में यद्यपि रचनाकाल का संकेत नहीं है तथापि 'तीनि सो साठि वार एक सम्बत प्रगट बानी गुरनीता है।' में संवत् के सम्बन्ध में कुछ अस्पष्ट संकेत है। सम्पूर्ण ग्रंथ में ३६२ पद हैं। ग्रंथ की पुष्पिका में लिपिकार ने लिखा है—

"ज्ञान रतन ग्रंथ यह पढै प्रीति करि कोइ, जागे ज्ञान बुधि भक्ति मन जीवन मुक्ति फल होइ तीनि सौ बासठिवाचन गुरज्ञानरत्न है नाम, पढै गुणै सो साधुजन सुनी समुझै पावै सुषधाम ॥" पढै लिषै समुझै बुझै होय साधु सो संत, ज्ञान दृष्टि जागै उर दीख परै आदि अन्त।

इतिश्री ऋषि नागर मतें ज्ञान रत्न श्री संतदेवजी कृत्ये समाप्तम् शुभमस्तु ॥

सम्वत १९३९ माघ मासे कृष्णपक्षे प्रतिपदायां चंद्रवासरे ॥ ज्ञानरत्नमीदं लिखितं भवन्देवस्य हेतवे ॥"

ग्रंथ की लिपि स्पष्ट और प्राचीन है। अवश्य, इस ग्रंथ और ग्रंथकार तथा आश्रमस्थ अन्य ग्रंथों के अध्ययन-उद्धार से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि होगी। यह ग्रंथ सोनपुर (सारण) निवासी पं० श्री रामानन्द शास्त्री, साहित्यालंकार के सौजन्य से प्राप्त किया। [क्रमशः]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्री मन्नूलाल पुस्तकालय (गया) में संगृहीत हस्त-लिखित प्राचीन पोथियों का विवरण

सं०—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

(गतांक से आगे)

(४६)—सप्तसतिका—ग्रन्थकार—गो० तुलसीदासजी। लिपिकार—×। अवस्था—अच्छी, हाथ का बना, मोटा, देशी कागज। पृ०-सं०—८। प्र० पृ० पं० लगभग २०। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×।

प्रारंभ०—"तिनहि पठे तिनहि सुनै० तिनहि सुमति प्रगास ॥
जिन्ह आसा पाछै करै० गहे अलंब निरास ॥१॥
तब लगि योगी जगत गुरु० जब लगि रहत निरास ॥
जब आसा मन मे जगी० जग गुरु योगी दास ॥२॥
हित पुनीत स्वारत सबहि० अहित अशुचि विन चाड ॥
निज मुख माणिक सम दशन भूमि परत भौ हाड ॥३॥
निज गुण घटत न नाग नग० हरषि परित हर कोल।
गुंजा प्रभु भूषण करे० ताते बढ़े न मोल ॥४॥"

अन्त०—"वर माला बाला सुमति उर धारौ युत नेह०
सुख शोभा सर साय नित० लहै राम पति गेह ॥१२७॥
भूप कहहि लघु गुणिन कह० गुणी कहहि लघु भूप ॥
महि गिरि गत दोऊ लपत० जिमि तुलसी पर्व रूप ॥१२८॥
तुलसी चारू विचारि वलु० परिहरु वाद विवाद ॥
सुक्रित सीम स्वारथ अवधि० परमारथ मर जाद ॥१२९॥

इति श्रीमद्गोस्वामी तुलसी दास विरचितायां सप्त सतिकायां राजनीति प्रस्ताव वर्णनो नाम सप्तमः सर्ग्गः॥७॥"

विषय—उपदेशात्मक साहित्य।

टिप्पणी—इस नाम की पोथी पहले भी आई है, किन्तु यह पूर्ण नहीं है। इसमें केवल 'राजनीति प्रस्ताव वर्णन' नाम का सातवाँ सर्गमात्र है। पोथी की लिपि स्पष्ट और सुंदर है। ग्रन्थ सुपठ्य है। लिपिकार का नाम नहीं दिया हुआ है। अंत में लिपिकार ने लिखा है:—

"रगण (॥रामजो॥) चरण कोमल बिसद० (॥उज्ज्वल॥) यगण (॥कपाली शिव॥) धरै नित ध्यान ॥ नगण (॥भजन॥) करो तुम

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नगण (॥करण॥) षल० कटे भगण (॥पातक॥) सब जान ॥१॥"
यह पोथी श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क—६२ है।

(५०) युगल-सुधा—ग्रंथकार—विद्यारण्यतीर्थ। लिपिकार—×। अवस्था—अच्छी है। पृष्ठ-सं०—१००। प्र० पृ० पं० लगभग—२७। लिपि—नागरी। रचनाकाल—चैत्र, शुक्ल, ९ नवमी, सं० १८९८, बुधवार। लिपिकाल—×।

प्रारंभ—"अथ श्याम सुधा काफी ॥ स्याम चरित है रंगरंगीलो ॥
जामे करन झलकि रहा है पुरुष पुरातन छैल छबीलो ॥१॥
रामचरित पाही पूरन होत दिनहुँ दिन बनत रसीलो ॥
जैसे भारत से श्रुति को रस पुलत प्रकासतगरु अग भीलो ॥२॥"

अन्त०—"बसंत ॥ —मंगल नाम रूप जग मंगल मंगल गुनगन मंगल धाम॥
मंगल चरित साधुजन मंगल जग हितकारक पूरन काम
मंगल श्री वसुदेव देवकी नंद जसोदा गोकुल ग्राम ॥
मंगल जमुना मंगल हुके मंगल सुन्दर स्यामा स्याम ॥३०१॥
होरी ॥ जा दिन बजत बधाई ॥ श्री रामजनम की ॥ तादिन कृष्ण सुधा पूरन भइ संतन की प्रभुताई ॥१॥
संवत आठ अंक अष्टादश ॥१८९८॥ बार परो बुधआई॥
राम स्याम मे भेद नही कछु असिमति गुरुन्ह सिपाई ॥२॥
श्रीमत्काशिराज के अति प्यारे मान बुद्धि अति पाई॥
बाबू राम प्रसन्नसिंह के यह रुचि हेतु बनाई ॥३॥ जो रस कहत शेष श्रुति सारद बड़ देवहु सकुचाई ॥ सो रस ढीठहोह कै कहनो यह केवल वतराई ॥४॥३०१॥"

विषय—श्री कृष्ण और श्री रामचन्द्र के, जीवन पर आधारित कविता।
टिप्पणी—इस ग्रंथ में विविध रागों—कहरवा, मालश्री, धनाक्षरी, होरी, सोरठहोरी आदि, के गीत हैं। ग्रंथ अनुसंधेय है।
वर्णनशैली और भाषा भी अच्छी है। ग्रंथ सुपठ्य है। ग्रंथ में लिपिकार का नाम नहीं है किंतु प्रतीत होता है, ग्रंथकार स्वयं लिपिकार हैं।
यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में संगृहीत है। पु० क्र० सं० क-६४ है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(५१) रसकल्लोल—ग्रंथकार—कर्णकवि। लिपिकार—×। अवस्था—अच्छी, हाथ का बना मोटा देशी कागज। पृष्ठ-सं०—१८। प्र० पृ० पं० लगभग—२१। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—माघ, शुक्ल, ८ अष्टमी, सं० १९०६, (१८४९)।

प्रारंभ—"श्री गणेशायनमः श्री महादेवाय नमः अथरस कल्लोल लिख्यते

दोहा सुमनवंत शोभासदनवारन वदन विचारि
वितरत फलनित रत चतुर सुरतरवर कर चारि १
जगरानि बानी चरण दीपति सुरसरिपूर
सुर पुरनरपुरनागपुर पूरतिगरिमगरूर २
अरुणोदय शोभित चरण शंभु तिहारे
मंजु पाइ तिन्है निशि दोसहूं फूलोहीतल कंजु ३"

मध्य—"विलास हाव लक्षण—पतिविलोकि मनहरनको तरुणी विरवति हाव
सो बिलास पहिचानिए कबिकुल सरल सुभाव १६०
यथा—उझकि उझकि सकुचति दवति झझिकति लकि मुसकाइ
भूरि भाय अति के लये सके न पति कहु जाइ १६१॥"

अन्त०—"प्रसाद यथा—सरदचन्द सारद कमल भारद होत विशेषि
छवि छलकत झलकत बहुत ललकत मुनि मन देषि ॥२८३॥
या में पुरुषा कोमला उपनागरिका होइ
उदाहरण कीन्है नमै क्रमते भानो सोई ॥२९३॥
रीत चारइ देसकी सो समासते होइ
भाषा मे या तैन मै बरणी सुमति बलोइ ॥२९४॥
इति श्रीमद्वंशीधरात्मजे कविकरणे विरंचिते रशकल्लोल रस धनिव्यंगादि निरूपन नाम सपूर्णम् ॥"

विषय—रसादि निरूपण—लक्षण।

टिप्पणी—ग्रंथ सुपठ्य, विवेच्य और अनुसंधेय है। इसमें रस और भाव-युक्त उत्कृष्ट लक्षण और उदाहरण तथा बीच-बीच में उदाहरण के अर्थ भी लिख दिये गए हैं। ग्रंथ में लिपिकार का नाम नहीं है। यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क-६६ है।

(५२) रसचन्द्रिका—ग्रंथकार—इस्वी खाँ। लिपिकार—हरिवंश त्रिपाठी। अवस्था—अच्छी है, हाथ का बना देशी कागज। पृष्ठ-सं०—२१७। प्र० पृ० पं०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लगभग—२२। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—संवत्—१८८ (१८२४)

प्रारंभ०—"श्री गणेशाय नमः ॥ अथ पोथी रस चंद्रिका लिष्यते ॥
मूल ॥ अपने अपने मत लगे ॥ बादिम जावत सोर ॥
ज्यौं त्यौं सबई सेईये ॥ पकै नन्द किसोर ॥
टीका ॥ इस जगह बाद को अर्थ वृथा को है: हेतार्थ दोहे का यह है ॥ की अपने मत का झगरा करना वृथा है ॥ क्यौंकि जिननै सेआ तिननै मानौ नन्द किसोर ही को सेया है ॥ क्यौंकि ब्रह्मा शिवसनकादि सब बिस्नु ही हैं ॥ तौ जिनने जिसको पूजी तिन मानो विश्नु ही को पूजा ॥ प्रमानालंकार ॥ तिसकालन्क्षण ॥"

अन्त०—"मूल ॥ हा हा बदन उघारि द्रिग ॥ सफल करै सब कोइ ॥
रोज सरोजनिके परे ॥ हंसी ससी की होइ ॥७११॥
टीका ॥ सबेर का समै है सारी रात मनावते सवेरा हो गया ॥ सो सषी नाइ का सोकह है ॥ की हा हा वदन उघारि हम सबसषीयां द्रिग सफल करो ॥ और सकारे हुए सों जो ए कमलषले है । सो तेरामुषचन्द देपेसोंमूंदि जाहि ॥ और सकारे हुए सों जो चान्द मन्द हुआ है ॥ ति से हंसी होइ ॥ क्योंकी तेरा मुषचन्द ऐसा है ॥ की सवेरा हुएं भी उसकी जोति मन्द नही होती ॥ और जो सषीसें चन्दमुषी लीजै ॥ औ सरोज सों कमल नैनी लीजै ॥ तौ अर्थ तो होते है ॥ पै ब्यंग सो छिपै होते हैं ॥
अ(लं)कार प्रतीपः ॥ चौथो ॥ उपमेय की समता लाइक उपमान न होइ ॥ इहां मुष आगैं ससि की हंसी कही ॥ और नेत्रनिके कमलनि की कमी कही ॥७११॥
मूल ॥ किय प्रसंग नर वर नृपति ॥ छत्रसिंह भुअमान ॥ पढत बिहारी सतसई ॥ सभ जग करत प्रमान ॥ कवि न कीए टीका प्रगट ॥ अर्थ न काहु कीन्ह ॥ अपने कविता के लिए अधिक कठिन करि दीन्ह ॥ कछुक रहै सन्देह नहीं ॥ अैसी टीका होइ ॥ बांचि वचन को पद अरथ ॥ समुझि लेइ सब कोइ ॥ तब सब को हित को सुगम ॥ भाषा वचन बिलास ॥ उदिते इस बिषां कियो ॥ रस चन्द्रिका प्रकास ॥"

विषय—बिहारी सतसई की टीका।

टिप्पणी—यह ग्रंथ श्री इस्वी खाँ का है। इन्होंने श्री बिहारीलाल कृत 'सतसई' की श्री राजा छत्रसिंह की आज्ञा से बड़ी अच्छी टीका की है। इसके पद अच्छे बन पड़े हैं। भाषा प्राचीन, कुछ-कुछ 'रामचरित मानस' जैसी भाषा है। उदाहरण अच्छे और अर्थगर्भ हैं। ग्रंथ सुपठ्य है। लिखने की शैली

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और अक्षर पुराने हैं। टीका में मूल विषय का समीचीन प्रतिपादन है। अलंकारों का विवेचन भी अच्छा है। यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क-६७ है।

(५३) तुलसी सतसई—ग्रंथकार—गो० तुलसीदास। लिपिकार—×। अवस्था अच्छी, मोटा, हाथ का बना, देशी कागज। पृ०-सं०४४। प्र० पृ० पं० लगभग—१६। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—श्रावण, कृष्ण, तृतीया, सं० १९७४, गुरुवार॥

प्रारंभ०—"श्री रामो विजयतेतराम्

नमो नमो श्री राम प्रभु परमातम पर ध्याम
जेहि सुमिरत सिधि होत है तुलसी जनमन काम १
राम वाम दिशि जानकी लखण दाहिनी ओर
ध्यान सकल कल्याण कर सुलसी सुरतरु तोर २
परम पुरुष पर धाम वर जापर ऊपरन आम
तुलसी सो समुझत शुनत राम सोई निर्वान ३
सकल सुखद गुणजाछ सो राम कामना हीन
सकल काम प्रद सर्वहित तुलसी कहहि प्रवीन ४"

अन्त०—"भूप कहहिलहु गुणिन कह गुणी कहहि लहु भूप
महिगिरिगत दोउ लषत जिमि तुलसी षर्वस्वरूप १२८
दोहा—चारु विचारिचलु परिहरिबाद बिबाद
सुकृत सीम स्वारथ अवधि परमारथ मरजाद १२९
इति श्री मन्नोस्वामी तुलसीदास विरचितायां सप्त सतिकायां राज नीति प्रस्ताव वर्णनो नाम सप्तम स्वर्गः ॥७॥"

विषय—दर्शन।

टिप्पणी—(यह ग्रंथ पहले भी आ चुका है।) इसमें ७ सर्ग हैं जिनमें—१ प्रेम-भक्ति निर्देश, २—.....। ३—संकेत वक्रोक्ति, ४—आत्मबोध निर्देश, ५—कर्मसिद्धान्त योगो नाम, ६—ज्ञानसिद्धान्तयोगो नाम, ७—राजनीति प्रस्ताव वर्णनोनाम, विषय हैं। इनमें, १—११०, २—१०३, ३—१०१, ४—१०४, ५—९९, ६—१०१ और ७ में १२९ पद हैं। ग्रंथ में लिपिकार ने अपना नाम नहीं दिया है। यह ग्रंथ अस्तव्यस्त रूप में हैं। इनके सभी पृष्ठ पृथक्-पृथक् बिखरे हैं। ग्रंथ अनुसंधेय है। लिपि पुरानी है। यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया, में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क-७२ है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(५४) रसराज—ग्रंथकार—श्री मतिराम। लिपिकार—सुसिग्रिफ लाल। अवस्था—अच्छी है। पृ०-सं०—३८। प्र० पृ० पं० लगभग—४१। रचनाकाल—अ० लिपिकाल- भाद्र, शुक्ल, एकादशी, सं० १९२१, सोमवार।

प्रारम्भ—"श्रीगणेशायनमः ॥ अथ रसराज मतिराम कृत लिख्यते ॥ यथा कवित्व ॥ ध्यावै सुरासुर सिद्ध समाज महेशहि आदि महामुनि ज्ञानी ॥
जोग मे यंत्र मे मंत्र मे तंत्र मे गावैं सदा श्रुति शेष भवानी ॥
संकट भाजन आनन की दुति सुन्दर दंडउ दण्ड सो जानी ॥
ध्याय सदा पद पंकज को मतिराम तबै रसराज बखानी ॥१॥
दोहा ॥ श्रीगुरुचरण मनाइके गणपति को उर ल्याई ॥
रसिक हेत रसराज किय सुकविन को सुखदाइ ॥२॥
प्रार्थना दोहा ॥ कवित्तार्थ जानौं नहीं कछुक भयो संबोध ॥
भूल्यौ भ्रमते जो कछु सुकवि पढ़ेंगे सोध ॥३॥
वरनि नायिका नायकनि रच्यो ग्रंथ मतिराम
लीला राधारमन की सुन्दर जश अभिराम ॥४॥
दोहा ॥ होत नायिका नायकहि आलंबित शृंगार ॥
ताते बरनो नायिका नायकमति अनुसार ॥५॥
उपजत जाहि विलोकि कै चित्तवीच रसभाव ॥
ताहि वखानत नायिका जे प्रवीन कविराव ॥६॥
उदाहरणम् सवैया ॥ कुन्दन को रंग फीको लगे झलकै अति अंगनि चारु गुराई ॥
आंखिनि मे अलसानि चितौनि मे मंजु विलासन की सरसाई ॥
को विन मोल विकात नहीं मतिराम लहै मुसुक्यानि मिठाई ॥
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सीनिकाई ॥७॥"

अन्त—"दोहा ॥ ऊनमिख लोचन बाल के ॥ याते नन्दकुमार
मीच गईजरिवीच ही ॥ बिरहानल की झार ॥४२७॥
समुझि समुझि सब रीषि हैं ॥ सज्जन सुकवि समाज ॥
रसिकन को रस को कियो नयो ग्रंथराज ॥४२८॥
इतिश्री सुकविमतिरामविरचितायांरसराज समाप्तः ॥"

विषय—नायक नायिका, रसादिलक्षणग्रंथ।

टिप्पणी—ग्रंथ की लिपि अच्छी है। भाषा परिमार्जित और उदाहरण भावपूर्ण हैं। ग्रंथ के लिपिकार ने अंत में लिखा है—
"महिनर कर निधि इन्दुयुत॥ सम्बत विक्रम राय ॥
भादो शुक्ल यकादसी ॥ चन्द्रवार सुखदाय ॥१॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कवि मतिराम सुजान कृत ॥ यह रसराज रसाल ॥
पढ़त सुनत आनंद लहत ॥ लिख्योसुसिग्रिफ लाल ॥ इति शुभमस्तु ॥"

यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क-६८ है।

(५५) रस रहस्य—ग्रंथकार—दिनेश कवि। लिपिकार—जुगल किशोर लाल। अवस्था—अच्छी। पृ०-सं० ६७। प्र० पृ० पं० लगभग—३६। लिपि—नागरी। रचनाकाल-माघ, शुक्ल, बसंत पंचमी, १८८३ सं०। लिपिकाल—चैत्र, शुक्ल पंचमी, सं० १९३७ (सन् १२८७ साल)।

प्रारंभ—"श्री गणेशाय नमः दोहा—जै जै जै गज बदन जै॥ जै गिरिनंदिनिनंद॥
जै सिंदुर सोभाधरन जै जग आनंद कंद।
बरवै—जेकर दनद्वैमातुर त्रिभुवन सांई॥ जै भुजचारि पचैकर पटमुष भाइ
कवित्त—सोहै भालबाल इंदु सुंदर सिंदुर सोभा एक रद करवर चारिपाइयत है॥
नंद जगदंब को उदरलंब चारुतन मूषक प्रसिद्ध जाको जान गाइयत है॥
जाहिर अनाथनि सनाथ के करणहारे अैसे गणनाथ तिन्हें माथ नाइअत है॥
चारि छौ अठारह दिनैस सद ग्रंथ आदि जाको नाम पीठ पठियार पाइयत है॥३॥"

अन्त—"दोहा॥ ताकों मन मोहन कियो करी विकल चलि जोहि
वह मोहन मोहन हरे मोहन मोहन मोहि
जाहु सवारी सोभलषी भई बावरी बाल
आवै चलिहैं रैन तूं सषी न है नंदलाल
ऐक छंद में छंद बहुभासत आय अनेक
ताहि सर्वतो भद्र कहि जिनके बड़ी विवेक॥ इति सम्पूर्णम्॥"

विषय—नायक-नायिका-रसादिलक्षण।

टिप्पणी—यह ग्रंथ टिकारी राज के श्री दिनेश कवि का है। इसमें नायक-नायिका आदि के लक्षण-उदाहरण के अतिरिक्त टिकारी राज्य, राजवंश, फल्गुनदी, मगधगौरव आदि पर बड़ी ही सुन्दर रचना है। कवि ने स्वयं लिखा है—"रस रहस्य वरनत रसिक सुषद गौरिपद ध्याइ। संवत अठारह सैत्रिजुत असी माघसित चारु। ऋतुपति पंचमि को भयो रस रहस्य अवतार॥" इसमें टिकारी के राजा कवि 'खान बहादुर' की भी चर्चा है। ग्रंथ अनुसंधेय है।

यह ग्रंथ श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित है। पु० क्र० सं० क-७० है।

[क्रमशः]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिहार के दो स्वर्गीय हिन्दी-कवि

[१]

महात्मा जीवनराम उपनाम रघुनाथ कवि

महात्मा जीवनराम की गणना प्राचीन हिन्दी कवियों में होगी। आपके समकालीन थानकवि, वेनीबंदी, करणकवि, गुरुदीन पाण्डेय, ब्रह्मदत्त, पद्माकर भट्ट, बैताल, गोकुलनाथ मिश्र, खुमान, मुंशी सदासुख, लल्लूलाल, सदल मिश्र आदि थे।

आपका घर मुजफ्फरपुर जिले के कटरा थाने के 'शिवदहा' ग्राम में है। आपके पूर्वज गोरखपुर जिले से यहाँ आकर बस गये थे। आपके पुत्र श्री रामवल्लभ सिंह पटना कचहरी में ईष्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी थे। उस समय कम्पनी का शासन-प्रबन्ध था। कहा जाता है कि आप दरभंगा के महाराज माधव सिंह के आश्रित थे। संयोग से कम्पनी से बिगड़ कर महाराज बहादुर की जमींदारी दूसरे के हाथ बन्दोवस्त करनी चाही। इससे महाराज बहादुर घबराये और पटना आये। अचानक गंगा-स्नान करते समय इन्होंने सारी रामकहानी आप से कह सुनाई। उस समय आप राजाश्रित नहीं थे। आपने आश्वासन दिया और कहा कि कम्पनी से आपकी जमींदारी, जो दूसरे के हाथ बन्दोबस्त हुई है, वापस हो जायगी। अन्त में आपकी कोशिश-पैरवी पर कम्पनी के कर्मचारियों से सुलह हो गयी। महाराज बहादुर बहुत प्रसन्न हुए और आधा राज्य देना चाहा, पर आपने नहीं लिया। बहुत कहने-सुनने पर एक विशाल जंगल 'लंढ़ा' को लेना स्वीकार किया। वह वन अब हरिहरपुर गाँव में परिवर्त्तित हो गया है।

आप भगवद्भक्त थे। बँसहा कागज पर लिखी, आपकी दो पुस्तकें उपलब्ध हैं। एक हिन्दी में 'अनुभव-कल्पतरु' और दूसरी, उर्दू में 'बहर-तबील'। हिन्दी और उर्दू दोनों में ही अक्षर बड़े सुन्दर तथा स्पष्ट हैं।

एक किंवदन्ती चली आती है कि एक बार महाराज माधव सिंह दरबार में बैठे थे। आप भी उपस्थित थे। संध्या का समय था। एकाएक आप अपनी चादर की खूंट पकड़ कर मलने लगे। यह व्यापार देख महाराज ने पूछा—'महात्माजी आप यह क्या कर रहे हैं? आप पागल तो नहीं हैं?' उत्तर मिला—'नहीं। मेरी अन्तरात्मा से ध्वनि निकली है कि इस समय जगन्नाथ जी की चादर में आरती से आग लग गई है। इसलिए चादर मल रहा हूँ।' महाराज बहादुर आश्चर्यान्वित हो बोले—'यह तो मनुष्य का काम नहीं, देवता का काम है!' महाराज की ओर से आदमी 'पुरी' भेजा गया। बात ठीक निकली। उस दिन से आप

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महात्मा समझे जाने लगे। जगन्नाथ जी के मन्दिर में आपके नाम से अब भी 'अँटका' चढ़ता है। सम्प्रति आपके परिवार की दशा सन्तोषजनक नहीं है। आपने अपने घर पर जगन्नाथजी के मन्दिर के सदृश एक मन्दिर बनवा कर पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्रजी की मूर्त्ति की स्थापना की थी।

'अनुभव-कल्पतरु' में चार विश्राम अथवा विभाग हैं। प्रथम विश्राम में १०२ पृष्ठ हैं, जिसका प्रथम श्लोक नमस्कारात्मक मंगलाचरण के रूप में है। द्वितीय विश्राम में सन्त-स्वरूप-वर्णन है। तृतीय में उपदेश-पत्र और चतुर्थ में 'प्रज्ञा-चिन्तामणि-जटा-वर्णन' है। एक और विभाग है, जो पंचम विश्राम के नाम से प्रसिद्ध है। इसके चार उपविभाग हैं, जो प्रथम, द्वितीय प्रकाश के नाम से अंकित है। यह विश्राम विष्णुपुराण से लिया गया है। आपने इस पुस्तक में कई स्थलों पर अपने गाँव और सुपुत्र का उल्लेख किया है।

यथा—"पट पचास सत अष्ट दस, संवत् सुख सुभ धाम।
भावचन्द्रिका नित उदै, सिवदा सिवदह ग्राम॥"

× × ×

"तुलै न कोई संपदा, सब धन याके साथ।
रामवल्लभहिं दियो सो रत्नमाल रघुनाथ॥"

पुस्तक-रचनाकाल इस प्रकार है:—

"संवत् सुभ सत अष्टदस, ऊपर अष्ट पचास।
सिवदा अनुभव कल्पतरु, निज रघुनाथ बिलास॥
केसवादि पर आदि पर, अपर भुवन मन गोय।
एते गगनहिं राम मिलि, संवत् मन्दिर होय॥"

प्रथम विश्राम के उदाहरण:—

श्लोक:—"इन्दीवरदलश्यामं सर्वाभरणभूषितम्। श्री भूलीलासहितं हि नमामि भक्त-वत्सलम्॥१॥ श्रीरामाय श्रीकृष्णाय नृसिंहाय वामनाय। अंसकलावराय केशवाय नमोनमः॥२॥"

सोरठा, दोहा, कवित्त, राग ईमन, राग भैरव, राग बिलावल, राग पर्ज, राग बिहाग, ध्रुपद आदि छंद और राग इस पुस्तक में प्रयुक्त हुए हैं। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

राग पर्ज:—

"वेदोद्धरन कमठ धरनीधर हे हरि हे।
नर हरि करुना सागर वामन द्विजवर हे हरि हे॥
राम रमापति केसव रघुवर हे हरि हे।
बासुदेव बलिराम महाबल हलधर हे हरि हे॥
बुद्ध कल्कि करुनाकर भव भय भंजन हे हरि हे।
परम पुरुष परमेश्वर राम निरंजन हे हरि हे॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आदि अंत अरु मध्य एक हरि सोई हे हरि हे।
लीला विग्रह प्रगटन दूजो कोई हे हरि हे॥
नारायन पर ब्रह्म सकल घटवासी हे हरि हे।
स्वामी श्रीरघुनाथ अलख अबिनासी हे हरि हे॥"

भूषणास्त्र-स्वरूप-वर्णन का एक उदाहरण यह है:—

राग बिहागः—

"परमातम पर ब्रह्म बिराजै। आयुध भूषन मय जग छाजै॥
श्रीवत्स माया पर धानं। सर्वाधार सकल संस्थानं॥
आतम निर्मल अंस कवस्तुभ। ताहि सदा हरि कंठ बास सुभ॥
गदा बुद्धि द्विविधा हंकारा। संख चापगुन कृत बिस्तारा॥
मन सो चक्र विष्णु कर सोहे। भक्तन के रछ्या पर जोहे।
पंचतत्त्व वैजन्ती माला। विद्या खर्ग अविद्या ढाला॥
इन्द्री ज्ञान कर्म जानहु सर। जग समस्त आयुध भूषन पर॥
अैसो ध्यान ग्यान मय पूजा। हरिमय जगत नहीं कोउ दूजा॥
सर्व ईस सर्वंऽतरयामी। भजु रघुनाथ सकल के स्वामी॥"

श्री रामचन्द्र के स्वरूप-वर्णन में निम्नलिखित रागों का प्रयोग है:—

कवित्त, राग ईमन, बिलावल, राग कामोद, राग सारंग और धनाश्री। बधाई के अन्तर्गत राग विभास में २४ पद हैं।

अन्तिम पद—"पुरुष सकल पुरुषारथ दायक, जाके उर यह चिन्ह रहाई॥
जन रघुनाथ सनाथ भये, अब चरन सरोज चिन्ह जस गाई॥"

राम-रहस्य में श्लोक तथा दोहा-चौपाई हैं—

"सखा संग भ्राता सहित, बिहरत मनिमय धाम।
सदा बसौ रघुनाथ मन, दासरूप श्रीराम॥"

'तीर्थमाल' में भारतवर्ष के प्रायः समस्त तीर्थों का वर्णन है।

सज्जन मिलि उर धारिहैं, तीर्थरत्न को माल॥
ज्ञान प्रकाशक पुण्यमय, सोभा सुखद बिसाल॥१॥
पुष्कर यमुना मार्ग पुनि, तंदुलिकाश्रम जान॥
कणुखाश्रम या तपत न, सकल मोद को खान॥२॥"

इसमें दोहा, चौपाई और सोरठा छन्द हैं।

'मधुर मंजरी' में आठ कवित्त हैं। प्रारम्भ का प्रथम श्लोक है:—

"ससखी सीतयायुक्तं संतानकवनांतरे। तस्मिन्नष्टदले कंजे रत्नसिंहासनस्थितम्।
इन्दीवरदलश्यामं सर्वाभरणभूषितम्। माधुर्यमयरूपं तं रामचन्द्रं भजाम्यहम्।"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसके बाद तीन दोहे हैं। दो इस प्रकार हैं :—

"कुसुमाकर रितु मधुर अति, पुनि मधुमय मधुमास।
मधुर मंजरी ग्रंथ यह, कियो रघुनाथ प्रकास॥
संवत् सत दस अष्ट के, ऊपर पंच पचास।
बरन्यौ जन रघुनाथ तब, राम अनुग्रह भास॥"

राग चैत्री, राग ईमन, राग टोड़ी, राग पलासी, राग मलार, राग धनाश्री, गौड़ मालव, राग बिलावल आदि भी प्रयुक्त हुए हैं।

राग ईमन का एक उदाहरण है:—

"देखो कोऊ तिहुँलोक सोभा लिये मगु पगु जात हैं।
तीनो बरन धरि देह कै श्री सेस नितयुत ख्यात हैं॥
कोऊ कहे नृप के कुँअर, मुनिवेस सोभित गात हैं।
देखैं सुनैं ध्यावैं सकल, पुरलोक भवन भुलात हैं॥
पगु धरत जेहि मारग अवनि, तेहि सुमन सुख बरखात हैं।
प्रति चिह्न चरन सरोज के फूले मनोज लजात हैं॥
बहत त्रिविध समीर नभ घन ओर ते किये छात हैं।
रितुराज काम समाज मिलि, मगु द्रुमहि पत्र समात हैं॥
सिय रामलखन सुरूप लखि बन, सुनत सब अकुलात हैं।
रघुनाथ बिनु कंचन भवन बन सो भवन जहँ जात हैं॥"

एक अन्य उदारहण भी :—

कवित्त—"भानुकुल कुमुद चंद चंद कुल कमल भानु,
दोऊ को उदै जासो नारायन ध्याईऐ।
कमल मध्य कुमुद आदि नामरूप सुख सरूप
लीला गुन कर्म काहे पृथक करि गाइऐ॥
सबरी के आँगन इन कुबरी के भौन गौन
दीनबन्धु सील सिंधु चरन मनाइऐ।
परमधाम राम स्यामरूप कृष्णनाम
राम एही रघुनाथ द्वैतभावनो मिटाइऐ॥"

राग जाजवंती में श्रीकृष्णजी का वर्णन किया है। इसमें २१ पद हैं।

"× × × कथा ध्यान गान जप व्रत नेम प्रेम रस
एक ही न होत बस एक संग इहाँ सब प्रगट जनाया है।
गावै यह पद जोई, पावै चार फल सोई,
जन रघुनाथ इहाँ भक्तिभर पाया है॥"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"अष्ट मंजरी जानिये, अष्ट सखिन के साथ।
अष्ट कमल दल अष्ट हू, वरनत जन रघुनाथ॥"

अन्तिम पद है:—

"अप्राकृत धामवास वृजा आनन्द रास
श्रीपति पद पद्म में प्रगटो सकल तारिनी।
प्राकृत मंडल कमंडल केरि राखि विधि
भई लोक लोकन्ह की तू दुरित निवारिनी।
श्री देवीजू को सिंगार भूदेवीजी को उरतार
लीला देवी सहस्र धार जगत विहारिनी।
करुनासिंधु द्रवित होए दीनन्हि की दसा जोए
भई मातु तूँ ही पै पतित उधारिनी॥१॥"

द्वितीय विश्राम में संतस्वरूप का वर्णन है। यह विश्राम छोटा है। कुल १२ पृष्ठ हैं।

एक उदाहरण है:—

"धनुर्वेद आयुर्वेद वेदांग सकल नीति कला चतुराई नीके करि जानिवो।
युक्ति व्यूह दुर्गबल जाननो शत्रु छल प्रकृत सकल को प्राकृतहि पहिचानिवो॥
बोली सब देसन को वेस सब बूझिवो है अंतर गुन जेतो सो कहाँ और बखानिवो।
कह रघुनाथ दास सब गुन को राज राजा कृष्ण भक्ति बिना सकल वृथा करि मानिवो॥"

तृतीय विश्राम में उपदेश-पत्र है। इसमें राजधर्म का वर्णन है। चतुर्थ विश्राम 'प्रश्न-चिंतामणि-जटा-वर्णन' नाम से प्रसिद्ध है।

पंचम विश्राम का वर्णन विष्णुपुराण से लिया गया है। इसमें 'ज्ञानरत्नावली वल्ली' संस्कृतश्लोकबद्ध है—

इनके साथ साधनावलम्बन, ध्रुवोपदेश आदि भी हैं जो इसके विभाग-प्रकाश के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उपसंहार—"स्वर्ग बिराजे कल्पतरु, चिंतामनि हरि धाम।
यह तत-अनुभौ-कल्पतरु, पर सरूप सब ठाम॥"

—श्री देवनारायण लाल कृत

[२]

बाबा रामेश्वरदास

बाबा रामेश्वरदास के पिता का नाम चिन्तामणि ओझा था। आप सरयूपारीण काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। आपका जन्म बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले के बड़हरा थाने में, 'कवलपट्टी' नामक ग्राम में, विक्रम-संवत् १७७५ में हुआ था। मृत्यु विक्रम-संवत् १८८५ ज्येष्ठ कृष्णाष्टमी को हुई। चूँकि आप एक सिद्ध महात्मा थे, इसलिए अपने मृत्युकाल के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्बन्ध में आपने स्वयं लिख दिया था। आपके पिता जी का देहावसान आपके बाल्यकाल में हुआ, इसलिए आप अपने नानिहाल में माता के साथ बभनगाँवाँ में रहने लगे जो बड़हरा थाना में ही आरा से ६ मील की दूरी पर अवस्थित है। आप अपने धनाढ्य मामा के पास अपनी युवावस्था तक रहे और वहीं आपका विवाहादि संस्कार भी संपन्न हुआ। आप बड़े लम्बे-तगड़े और पहलवान थे। सत्यवादी और भगवद्भक्त थे। अपने मामा की छोटी-मोटी सेना के सेनापति भी थे। आप प्रायः अपने पास के मकई के खेतों की रखवाली भी किया करते थे। एकबार आप अपने मामा के एक 'दुबरिया' नामक नौकर के साथ मकई के खेत में मचान पर बैठे थे। बड़ी रात तक भोजन न आने पर नौकर ने कहा कि आज हमलोगों कों भोजन नहीं मिलेगा, क्योंकि घर पर सब लोग सत्यनारायण की कथा में व्यस्त होंगे, किन्तु आपने उसको समझाया कि ईश्वर की इच्छा होगी तो भोजन अवश्य आवेगा। थोड़ी देर बाद ही भोजन लिये हुए एक व्यक्ति आया।

दूसरे दिन आपने अपने मामा के घर यह चर्चा की तो पता लगा कि भोजन तो गत रात्रि भेजा ही नहीं गया था। बस आपको विश्वास हो गया कि भगवान् ने ही भोजन पहुँचाया था। यही घटना आपके वैराग्य का मूल कारण है।

घर छोड़ने के बाद बारह वर्ष तक आप पर्यटन करते रहे। तीर्थस्थानों में भ्रमण करते-करते आपको महात्मा पूर्णानन्द जी स्वामी से भेंट हुई। वे एक श्रेष्ठ योगी थे। योग-जिज्ञासुओं की पात्रता की पूर्व-परीक्षा लेकर ही योग-शिक्षा प्रदान करते थे। उनका आश्रम शाहाबाद जिले के 'कर्जा' नामक गाँव में गंगातट पर था। आप की अलौकिक श्रद्धा को देखते ही उन्होंने आपको योग-दीक्षा दी। थोड़े ही दिनों में आपकी योग-सिद्धि हुई। उसके अनन्तर अपने नानिहाल 'बभनगाँवाँ' के निकट 'गुरुडी' ग्राम के सुदूर वन में आप जाकर गुप्त रूप से तपस्या करने लगे। कई वर्षों के बाद आपके घरवालों ने आपसे घर लौटने का आग्रह किया, पर जब आप सहमत नहीं हुए तो उन लोगों ने आपके लिए वहीं मठ बनवा दिया। आपकी स्त्री भी वहीं आकर भगवद्भजन करने लगी और फिर सारा परिवार आकर वहीं बस गया। आपके चार पुत्र थे:—गोपाल ओझा, परशुराम ओझा, ऋतुराज ओझा तथा कपिल ओझा। परशुराम ओझा के वंशधर आज भी वहीं बसे हुए हैं।

आपने अपना परिचय यों दिया है—

"कवलपटो' कैलास है, जो नर कर विश्वास
रामेश्वर उपजे जहाँ रामचन्द्र के दास॥"

आपके सम्बन्ध में कई चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि आप नित्य पाँच छन्दों की रचना करके ही भोजन किया करते थे। आपकी कविताएँ उपदेशमयी हैं। आपकी रचनाओं का संग्रह आपके ही घर के किसी व्यक्ति ने किया था पर खेद है कि आपके नामधारी भक्तों ने उसे आपस में बाँट लिया। हर्ष की बात है कि बभनगाँवाँनिवासी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पं० कस्तूरी रंगनारायण सांख्य-व्याकरणतीर्थ को, जो आपके वंशधरों में हैं और जो मेरे परिवार के गुरुकुल के हैं, आपकी रचनाओं का बड़ा अंश उपलब्ध है और वे उसे प्रकाशित करने का विचार कर रहे हैं।

आपने एक सतसई की रचना भी की थी। पर, वह संगृहीत रूप में अब तक किसी को प्राप्त नहीं हुई है। आपके एक कायस्थ शिष्य ने अपनी स्मरण-शक्ति से आपकी कुछ रचनाओं का संकलन किया था जो आज भी आपके वंशजों के पास वर्त्तमान है। उसीकी एक प्रतिलिपि पं० कस्तूरी रंगनारायण जी के पास है, जो मुझे उनके सुपुत्र पं० रघुवीर ओझा, बी० ए०, साहित्य-व्याकरणाचार्य्य, साहित्यरत्न से देखने को मिली। उसमें कुल १८०० छन्द हैं। पांडुलिपि की मुख्य भाषा हिन्दी है। भोजपुरी की भी उस पर छाप है।

आपके जीवन की कुछ चमत्कारिक घटनाएँ खड्गविलास प्रेस (पटना) की अन्तर्गत साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' के दो अंकों (२२-२९ अक्तूबर १९२५ ई०) में आपके परिचय के साथ प्रकाशित हो चुकी हैं।

एक बार आवश्यक कार्यवश आप गंगा पार जा रहे थे। पश्चिमी हवा जोर-शोर से बह रही थी। घटवार ने नाव खोलने से इनकार किया। निदान आपने एक सवैया बनाकर वायुदेवता से प्रार्थना की। हवा शान्त हुई। नाव खोली गई। आप सकुशल पार हो गये।

एक बार आपके पुत्र के ज्वर आ गया। आपकी पत्नी ने बड़ी व्याकुलता व्यक्त की। आपने पुत्र के सिर पर हाथ रखा। इसके बाद ही अनायास ज्वर शान्त हो गया।

गृहस्थ होने के कारण आपकी परीक्षा लेने बहुत लोग आया करते थे। एक बार आपकी प्रशस्ति सुन एक मंत्रतंत्र-विदुषी संन्यासिनी आपकी परीक्षा लेने आपके निकट आई और नंगी हो गई। आपके निकट ही एक स्थानीय जमींदार काशीदास बैठे हुए थे। उन्होंने दृष्टि बचाने के लिए अपनी रेशमी चादर फेंक दी। परन्तु वह उसके निकट पहुँचते ही जल गई। इस पर आपने अपना पीताम्बर फेंका, पर वह नहीं जला। वह आपकी सिद्धि का लोहा मान गई।

आपने भगवान् रामचन्द्र का सौन्दर्य-वर्णन इस प्रकार किया है:—

"सरद चन्द अनन्द पूरन बदन इव रघुनाथ।
झक उड़गन सरस कुण्डल स्रवन सुर गुरु साथ॥
मौर मुकुतन मनिन झलकत सुभगतन छवि छाये।
मनहुँ रवि ससि सकल उडुगन मिलि जमुनि जल आये॥
भाल लाल विशाल झलकत तिलक सुभग सुदेस।
मनहुँ छवि शृंगार सोभा प्रकट कीन्हों वेस॥
भौंह आयत सुमनसर के बने जुगल कमान।
नैन अम्बुज बान तीछन धरै मनसिज तान॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अधर अरुन सुवेस नासा बिम्बफल मुख कीर।
दसन दाड़िम-बीज से कवि कहत मानिक जीर॥
मुकुर मनि के आरसी जुग बने पुष्ट कपोल।
चारु चिबुक जीव तारा मधुर बिहँसनि बोल॥
ग्रीव छवि मृगराज के सितकंठ वृषभस्कंध।
सुंड कुंजर सरिस श्यामल सुदृढ़ बर भुज दंड॥
श्याम तन घन अमिय पूरन पीत पट झलकाय।
सकल दामिनि बसन बीने चन्द्रकिरनन लाय॥
मनि मुक्त मानिक लसित बर ससि महा छत्र अनूप।
सक्रधनुष लगाय दण्डन लिये जलचर भूप॥
सिन्धु भँवर गँभीर नाभी, तीन रेख सुरंग।
भक्ति मुक्ति निधान बर सोपान सरस अभंग॥
कटि खीन तरकस किंकिनीरव होत उपमा ठीक।
हंस कलरव कोकिला अलि मधुर बोलहिं पीक॥
जंघ मानिक-नील-कदली मनहुँ जुग असतंभ।
चरन अरुनऽरबिन्द पदनख हरत मन को दंभ॥
करत असतुति सेस सारद संभु नारद संत।
कल्पकोटि न पार पावहिं गुन अपार अनन्त॥
श्री रामचन्द्र सुरूप बरनत करै पल भरि कोय।
कह 'रमेस' उतान पद सुत सम अचल सो होय॥"

आपका एक भोजपुरी पद :—

"सूर्य छिपे अदरी-बदरी अरु चाँद छिपे जो अमावस आई।
पानी के बूँद पताल छिपे अरु पाप छिपे हरि के गुन गाई॥
अन्हारिहुँ रात में चोर छिपे अरु मोर छिपे वन खेलन पाई।
'रमेसर दास' बिचारि कहे एक चंचल नारि छिपे ना छिपाई॥"

—श्री दुर्गाशङ्कर प्रसाद सिंह

———

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संकलन

चित्रकला रेखा और रंग की एक पृथक् भाषा

चित्रकला रेखा और रंग की एक अलग भाषा है। इसका फोटोग्राफी से कोई मुकाबला नहीं। वह दूसरी वस्तु है। चित्रकला में मन का भाव समुचित रूप से प्रकट किया जा सकता है।

हमको ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व के चित्र मिले हैं। यों तो चित्रकला के बारे में डाक्टर कुमारस्वामी ने बतलाया है कि यह कला वेद के समय से प्रचलित है। इसका पहला काल हमको अजन्ता की गुफा से मिलता है। यह कला ईसा से एक सौ पचास वर्ष पूर्व की है। कुछ लोग गलती से इसको बौद्ध कला बतलाते हैं, पर उस समय यही शैली प्रचलित थी। अजन्ता की चित्रकला अंसों की भाषा है। इसमें हाथ-पैर, आँख, नाक इत्यादि की बनावटों, भावों और आदर्शों पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रायः इसमें बुद्ध के पूर्वजन्म याने जातक की कथा है। अधिकतर गोबर, मिट्टी और चूना का पलस्तर करके उस पर चित्र खींचा गया है।

छठी और पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस कला में विशेष उन्नति नहीं हुई। अब हम अकबर के समय में आते हैं। इस समय का चित्र साहित्यिक, ऐतिहासिक और हिन्दू धर्म-ग्रंथों का है। अकबर ने इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। इस कला को डायनेमिक कला कहते हैं। मुगल-कला ईरान और भारत की कलाओं का मिश्रण है। जहाँगीर काल के प्रायः १००० चित्र हमको मिले हैं। इस समय के सबसे बड़े कलाकार विशनदास थे।

शाहजहाँ के समय के चित्रों में शान-शौकत अधिक दिखलाई पड़ती है। इसके बाद हम राजस्थान-काल में आते हैं। इस कला को डिकोरेटिव कला कहते हैं। इस कला में रागमाला के चित्रों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

दक्षिण की कला के बाद हमारे बड़े भारी कलाकार रवि वर्मा हुए हैं। उनके चित्र आप स्थान-स्थान पर देख सकते हैं। इसके बाद रेनेसाँ-काल में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र विख्यात हैं। बसु तथा शैलेन्द्रनाथ के चित्र पर भी हमारा ध्यान आकृष्ट होता है।

—श्री रायकृष्णदासजी

['आज', काशी; २८ जुलाई '५४ ई०] (बनारस-रोटरी-क्लब में भाषण)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हिन्दी एवं राष्ट्रीय प्रतिष्ठा

श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित ने काशी में आपसी बातचीत में बताया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में अथवा अन्य देशों में जब भारतीय हिन्दी में बोलते हैं तो वे अधिक प्रभावित कर पाते हैं, उन्हें अधिक गौरव प्राप्त होता है, किन्तु अँगरेजी अथवा अन्य विदेशी भाषा का प्रयोग करने पर यह बात नहीं होती है। श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित का कथन बहुत महत्त्व का है। भारत सरकार को इस पर ध्यान देना चाहिए। उसे राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रयोग केन्द्रीय सरकार के सारे कार्यों में यथाशीघ्र कराने की व्यवस्था तो करानी ही चाहिए, साथ ही अन्तर-राष्ट्रीय व्यवहार में भी अधिकाधिक मात्रा में हिन्दी को प्रोत्साहन देने की, नीति अपनानी चाहिए। खेद तो इस बात का है कि विदेशों में हमारे नेताओं के अनुभव की, देश में सरकारें और अधिकारारूढ़ नेता एवं अँगरेजीदाँ, उपेक्षा कर अँगरेजी का गुणगान करने एवं हिन्दी की कमियाँ दिखाने में ही अपने-आपको धन्य मानते हैं। उच्चपदस्थ नेता यह सोचते प्रतीत होते हैं कि अँगरेजी के लिए संविधान में १५ वर्ष की जो अवधि दी गई है वह कभी समाप्त ही न होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति केन्द्रीय सरकार की नीति विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा घटाने में सहायक हो रही है। जितनी जल्दी राष्ट्रीय एवं अन्तर-राष्ट्रीय व्यवहार में हम अँगरेजी के स्थान पर राष्ट्रभाषा का उचित प्रयोग प्रारम्भ कर देंगे, अन्तर-राष्ट्रीय जगत् में हमारी प्रतिष्ठा कुछ और बढ़े बिना न रहेगी। अँगरेजी का प्रयोग जहाँ-तहाँ हमारी गुलामी की मनोभावना का दिग्दर्शन करता है। जब तक हम अन्तर-राष्ट्रीय भाषा का मोह छोड़कर अपनी भाषा का ही प्रयोग करने का आग्रह न रखेंगे, तब तक राष्ट्रभाषा का विकास, प्रचार एवं उन्नयन कैसे होगा ?

[दैनिक 'आज', काशी, २ मार्च '५४ ई०] —सम्पादकीय

●

विरोधी वातावरण और हिन्दी के सच्चे साधक

[मानभूमि-जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (सिन्दरी) के द्वितीय अधिवेशन के अध्यक्ष, 'युगान्तर'-सम्पादक श्री मुकुटधारी सिंह के भाषण का एक अंश]

हिन्दी आज समग्र भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकृत हो चुकी है, भले ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम की तरह उसे भी, चौदह ही नहीं पन्द्रह वर्षों के लिए वनवास का वरदान, अभिषेक की घोषणा के साथ ही, दे दिया गया है। किन्तु राष्ट्रभाषा घोषित हो जाने के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बाद से उसका जो विरोध हो रहा है और उपेक्षा हो रही है, वह अभूतपूर्व है। आज केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रणालय तक में भी उसके खिलाफ षड्यंत्र हो रहा है। जन्मकाल से आजतक हिन्दी को किसी भी राज्य का पूरा-पूरा सहयोग नहीं मिल सका है और उसका जो भी प्रचार या प्रसार हुआ है वह उसकी सुगमता के कारण ही। आज यदि हिन्दी भारत के अधिकांश हिस्सों में बोली और समझी जाती है तो उसका प्रधान कारण यह है कि एक मात्र उसीमें राष्ट्रभाषा की संभावनाएँ मौजूद हैं और वह बड़ी सरलता से सीख ली जा सकती है। आश्चर्य की बात है कि हिन्दी का विरोध उन अञ्चलों से हो रहा है, जिन अंचलों के लोग अँगरेजी जैसी विदेशी भाषा को अपनाने और उसपर अपना अधिकार स्थापित करने में सबसे आगे रहे थे और जिनके पूर्वजों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उपयुक्त माना था और उसके प्रचार और प्रसार के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न किया था। यह तो और भी आश्चर्य की बात है कि जिन बँगलाभाषी आदरणीय सज्जनों ने आज से प्रायः सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उपयुक्त माना था और उसके प्रचार और प्रसार के लिए पूरा यत्न किया था, आज उन्हीं के पदचिह्नों पर चलनेवाले हिन्दी का सबसे अधिक विरोध कर रहे हैं। सर्वश्री ब्रह्मानंद, केशवचन्द्र, राजनारायण बसु, भूदेव मुखोपाध्याय, अरविन्द घोष, चारुचन्द्र दत्त, सुबोधचन्द्र मैत्र, तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बंगाली सज्जनों ने विगत सौ वर्षों के भीतर हिंदी के उत्थान के लिए जो प्रयत्न किया है उसके लिए हिंदी भाषा-भाषी सदैव उनके ऋणी रहेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि जिस ढंग से आज हिंदी का विरोध किया जा रहा है वह राष्ट्रीय एकता के लिए भी घातक है और राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास के लिए भी।

कुछ लोगों को यह आशंका है कि हिंदी के प्रसार से विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का क्षेत्र संकुचित हो जायगा। किंतु यह आशंका सर्वथा निर्मूल है। सच तो यह है कि हिन्दी के विकास से क्षेत्रीय भाषाओं को लाभ ही पहुँचेगा। हिंदी के विरुद्ध जिस विरोधाभास का वातावरण पैदा हो रहा है उसका एक कारण हिंदी का रूप-निरूपण भी है। जहाँ आज डाक्टर रघुवीर 'चाय' जैसे प्रचलित शब्द के लिए 'पर्वतोत्पन्न बाष्प-पेय' जैसे अनबूझ शब्द की रचना कर रहे हैं वहाँ दूसरी ओर केंद्रीय शिक्षा-मंत्रणालय की सहायता से शिवली अकादमी 'प्रधान मंत्री' जैसे प्रचलित शब्द के लिए 'पहलुआ' जैसे विचित्र शब्द की। यह प्रसन्नता की बात है कि इस वातावरण में भी हिंदी के सच्चे साधक इसकी स्वाभाविक गति में बल प्रदान करने के लिए जागरूक हैं।

●

मार्क्सवाद और साहित्य

नाटकों और निबंधों के क्षेत्र में हमारे साहित्य में पर्याप्त विनोद-प्रियता की कुछ कमी है। हम या तो अत्यधिक गंभीर चिंतन करते हैं या फिर चिंतन करते ही नहीं, निरे अकर्मण्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बन जाते हैं, नाटक के लिए इन दोनों की मध्यवर्त्ती मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। इधर सिनेमा ने हमारे लिए नेत्राकर्षण की प्रचुर-सामग्री एकत्र कर साहित्यिक नाट्य-विकास की रही-सही संभावना को भी चौपट कर दिया है।

न केवल मानसिक और कलात्मक उन्नयन की दृष्टि से बल्कि सिनेमा के दुष्प्रभाव से बचने के लिए भी, नाट्य प्रदर्शनों की आवश्यकता है और जब हम राष्ट्र-भाषा की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो कम-से-कम एक राष्ट्रीय रंग-मंच का होना हमारी न्यूनतम आवश्यकता प्रतीत होती है। निबंध-साहित्य की भी करीब-करीब यही दशा है।

सन् १९३५ ई० से प्रारंभ हुई साहित्य की नई धारा को हमारे यहाँ प्रगतिवादी कहा जाता है। इस प्रगतिवादी धारा का मुख्य दार्शनिक सूत्र है मार्क्सवाद; किन्तु मार्क्सवादी गणित और हिन्दी-साहित्य में उसके—फलित रूप में समानता ढूँढ़ निकालना कठिन कार्य हो गया है। इसके कई कारण हैं; जिनमें मुख्य यह है कि मार्क्सवाद के साथ दूसरे अनेक विज्ञानों का जो पच्छिम में आये हैं, हमारे साहित्य में एक साथ ही प्रयोग होने लगा है। हमारी साहित्यिक परंपरा इन वादों के आक्रमण से बुरी तरह झकझोर दी गई है जिसके कारण हमारे साहित्यिक मान थोड़े से समय के लिए विश्रृंखल हो गये हैं। इस साहित्यिक अराजकता का लाभ उठाकर कुछ लोगों ने नग्न और अनैतिक चित्रणों को साहित्य में प्रधानता दे रखी है जो यर्थाथवाद और अथवा वर्गविद्रोह के नाम पर उन्हें खपा रहे हैं। जहाँ तक मार्क्सवाद के इस मूल मंतव्य का प्रश्न है कि हमारा साहित्य व्यक्तियों या वर्गों के हितों का संरक्षक न बनकर जनवादी बने और समाज की प्रगतिशील शक्तियों का साथ दे, मुझे निश्चय है कि प्रेमचन्द और प्रसाद की परंपरा का कोई भी लेखक इस उद्देश्य से असहमत न होगा, परन्तु प्रश्न केवल उद्देश्य का नहीं बल्कि आज की स्थिति का भी है।

आज की स्थिति क्या है? हमारा राष्ट्र स्वतंत्र हो चुका है किन्तु उसका बृहद् अंश आज भी अशिक्षित है, अर्धनग्न है और आधे पेट खाकर जीवन-यापन कर रहा है। उसके लिए हम क्या करें, आज का जनवादी लेखक क्या करे? मुझे तो एक ही रास्ता दिखाई पड़ता है। आज के जनवादी लेखक को व्यक्तिगत त्याग और कष्टसहिष्णुता अपनानी होगी। उसे प्रेमचंद और टालस्टाय के मार्ग पर चलना होगा। वह किसी मार्क्सवादी नुस्खे को लेकर काम नहीं कर सकता। उसके लिए मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान या दूसरी ऐसी ज्ञान की बात काम नहीं दे सकती। उसे अब भी चरित्र और आचरण की आवश्यकता है।

आर्थिक स्वतंत्रता की लड़ाई ही जनवादी लड़ाई नहीं है। हमें जनजीवन के सभी पहलुओं पर समान ध्यान देना होगा। हम जिस जनवादी मानव-समूह की कल्पना करते हैं वह केवल आर्थिक दृष्टि से सुखी नहीं होगा। उसे पूर्णतः सांस्कृतिक और नैतिक मानव होना चाहिए। यहाँ भी मार्क्सवादी शिक्षाएँ और उपचार अधूरे ही जान पड़ते हैं। उनसे तो गाँधी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जी का सर्वोदय सिद्धांत मुझे भारतीय जीवन के अधिक अनुरूप जान पड़ता है। यदि तुलसी, सूर और मीरा के आत्मोन्मुखी काव्य, उपनिषदों का दिव्य ज्ञान, शंकर, कबीर और विवेकानन्द का उदात्त आदर्श हमारे तथाकथित जनवादी संघर्ष का अंग नहीं बन सकते, तो ऐसे जनवादी संघर्ष की सार्थकता ही मेरे लिए संदिग्ध होगी।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों के साथ समीक्षा के क्षेत्र में भी पच्छिम की नित्य नई उद्भावनाएँ हमारे समक्ष आ रही हैं। उनका समझदारी के साथ अध्ययन करना और उनके उपयोगी अंशों को आत्मसात् कर अपने साहित्य के कार्य में लाना हमारा कर्त्तव्य है। हमारे समीक्षकों को इस क्षेत्र में प्रयत्नशील रहना होगा। इस साहित्य-चेतना को निरन्तर परिवर्द्धित और परिष्कृत करने तथा साहित्य-संबंधी अनेकमुखी सैद्धांतिक उद्भावनाओं का सम्यक् अध्ययन और अनुशीलन करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम साहित्य की समीक्षा और साहित्य-शोधकार्य को दो स्वतंत्र और निरपेक्ष विभागों में रखकर चलें। ऐसा न करने पर दोनों ही कार्यों को क्षति पहुँच सकती है।

['आज', काशी; १० मार्च '५४ ई०] —श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी-प्रचार के लिए कवि-सम्मेलन हो

"यह स्पष्ट है कि कवि-सम्मेलन हिन्दी-प्रचार का बहुत उपयोगी साधन है। आज जब अहिन्दी प्रान्तों में हिंदी का प्रचार करने और वहाँ के बुद्धिवादी वर्ग में हिन्दी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की आवश्यकता है, यह उचित होगा कि हमारे दस-पाँच चुने हुए कवियों की सहायता से अहिन्दी प्रान्तों में ऐसी गोष्ठियों या सम्मेलनों का योजनाबद्ध आयोजन किया जाय।"

['आज', काशी; ९ मार्च '५४ ई०] —श्री नारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर'

साहित्य का मानदण्ड

[१]

"देश-काल के अनुसार कर्त्तव्य-मार्ग का निर्देश करना ही साहित्य का लक्ष्य है। साहित्य को कर्त्तव्य की स्फूर्ति देनी चाहिए। कर्त्तव्य का मानदण्ड निर्धारित करते समय आनंद

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्कृति का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। प्रभु-सम्मित उपदेश सर्वसाधारण के लिए अनुपयुक्त होता है अतः साहित्य सुहृत्सम्मित उपदेश देता है। साहित्य क्रोध, करुणा, शृंगार, हास्य आदि स्थायी भावों को जगाकर चित्त को रसोन्मिक्त कर देता है। रसोद्रवण की इस स्थिति में मन संस्कारों को सहज ही ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार रसचिंतन को एकतान और एकाग्र करते हैं। विज्ञान यदि राष्ट्र का मस्तिष्क है तो साहित्य हृदय। साहित्य के बिना कोई राष्ट्र जी नहीं सकता। चित्त को रसाविष्ट एवं वशीकृत करते हुए औचित्य की प्रतिष्ठा ही साहित्य का एक मात्र मानदण्ड है। रसावस्था, विच्छित्ति और चमत्कार को नष्ट करने का एकमात्र कारण अनौचित्य है। इसलिए कहा गया है कि अलंकार वहीं तक अलंकार है जहाँ तक वे रस के उपकारक हैं। अतः साहित्य-प्रेरणा को औचित्य की सीमा का कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।"

—श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

[२]

"भारतीय साहित्य-शास्त्र ने रस द्वारा अनुभूति और ध्वनि द्वारा कल्पना की विवेचना की है। उन्होंने आनन्द को ही काव्य की आत्मा और लक्ष्य माना है। दृष्टियाँ दो प्रकार की होती हैं—स्थूल तथ्य-परक और सूक्ष्म तत्त्वपरक। भारत में दूसरी दृष्टि की ही प्रधानता रही है। इन्हीं दोनों दृष्टियों ने यूरोप में सौन्दर्यमूलक सिद्धांतों को जन्म दिया। इन दोनों सिद्धांतों में विरोध हो सकता है, किन्तु कल्याण और आनन्द में विरोध नहीं है। रसवाद ने उदात्त नैतिक मूल्यों का प्रबल समर्थन किया है। आनन्द से अधिक उपयोगी वस्तु की कल्पना मनुष्य अभी तक नहीं कर सका है। साहित्य का चरम मान 'रस' ही हो सकता है जिसमें उपयोगिता और आनन्द का समन्वय हो जाता है।"

—डा० नगेन्द्र

[३]

"साहित्य का चरम लक्ष्य मनुष्यत्व ही' है और सारे वाद-विवाद व्यर्थ हैं। जब साहित्यकार का चित्त मनुष्यत्व की पावन गंगा में स्नान करके स्वतः स्फूर्ति से रचना की ओर प्रवृत्त होता है तो उस समय काव्य कवि में अन्तर्भूत हो जाता है। उसकी वाणी के अजस्र प्रवाह में संसार के सारे दोष उसी तरह बह जाते हैं जैसे गंगा की धारा में गन्दे नाले।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आदिम प्रवृत्तियों को सहलाकर जगा देना काव्य का काम नहीं है। तपस्या, निष्ठा और साधना से मनुष्य को पशुत्व की अवस्था से सतत ऊपर उठाते जाना ही साहित्य का एकमात्र लक्ष्य है—'नहि मानुषात् परतरं हि किञ्चित्'। मनुष्य को मनुष्य बनाना ही साहित्य का मानदंड है।'

['आज', काशी; १० मार्च '५४ ई०] —आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्य-मूल्याङ्कन की समस्या

मूल्याङ्कन की समस्या के दो पहलू हैं। (१) साहित्य और कला की प्राचीन कृतियाँ आज भी क्यों मूल्यवान् हैं अर्थात् हमें सौन्दर्य-बोध कराने और प्रेरणा देने में क्यों समर्थ हैं, आगे भी रहेंगी, तथा (२) आधुनिक युग में इतनी प्रचुर मात्रा में जो साहित्य रचा जा रहा है उसमें कौन-सी कृतियाँ स्थायी महत्त्व की हैं, अर्थात् समग्र रूप से जीवन का वैविध्यपूर्ण, गंभीर यथार्थ और मूर्त्त चित्रण करने के कारण महान् हैं। उनकी पहचान करके उनके सही-सही मूल्य को कूतना। मूल्यांकन की वास्तविक समस्या यही है। आज की तरह प्राचीन युगों में भी, एक ही समय में सैकड़ों कवि और कलाकार साहित्य-कला के निर्माण में संलग्न रहे हैं, लेकिन जिनमें श्रेष्ठ कलाकार की प्रतिभा न थी, उनकी मात्रा सामयिक महत्त्व की कृतियाँ अपने-आप ही काल-कवलित हो चुकी हैं और आज हमें प्राचीन से विरासत के रूप में जो कृतियाँ प्राप्त हैं, उनमें से कौन स्थायी महत्त्व की हैं और कौन केवल सामयिक महत्त्व की—यह प्रश्न आज हमारे सामने नहीं है। यदि कोई प्रश्न है तो केवल यह कि जो कृतियाँ हमें प्राप्त हैं उनकी सच्ची महत्ता क्या है? या फिर खोज का प्रश्न है, ताकि सामयिक अरुचि के कारण कोई वास्तविक रूप से महान् कृति उपेक्षित न पड़ी हो या खो न गई हो। परन्तु, जिस साहित्य और कला का निर्माण इस युग में हो रहा है, इसमें कौन वास्तव में श्रेष्ठ और स्थायी महत्त्व की है और कौन केवल सामयिक महत्त्व की, साहित्य और कला के आलोचक के ऊपर उन्हें पहचान कर—बताने का दायित्व है। तभी वह श्रेष्ठ कला के विकास में और इस प्रकार मानव-संस्कृति और मनुष्य-मात्र के मुक्ति-संघर्ष की प्रगति में सक्रिय योग दे सकता है।

किन्तु मूल्यांकन की यह समस्या दो कारणों से जटिल बन गई है। एक ओर तो कलावादी हैं जो रूपगत सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, दूसरी ओर कुछ समाजशास्त्री हैं जो कला के वर्ग-आधार के सिद्धान्त को विकृत करके एक दूसरे ही प्रकार का सापेक्षतावाद प्रचारित करते हैं। इन दोनों के कथन या दृष्टिकोण एकांगी हैं, इसीलिए असत्य हैं।

['आलोचना', दिल्ली; (इतिहास-विशेषाङ्क); जनवरी १९५३ ई०] —श्रीमती विजय चौहान

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नवीन....और....उल्लेख्य

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रकाशन

समीक्षक—प्रो० श्री नलिनविलोचन शर्मा, एम्० ए०; 'साहित्य'-संपादक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्थापना हुए अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं, किंतु उसने जो प्रगति की है वह अत्यन्त संतोषजनक है। परिषद् के कार्य-क्रम में गवेषणात्मक पुस्तकों का प्रकाशन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। परिषद् के मंत्री आचार्य शिवपूजन सहाय ने कार्य-भार ग्रहण करते ही जो योजना बनाई थी उसका एक अंश कार्यान्वित हो गया है और हमारे सामने प्रायः एक दर्जन ग्रन्थ वर्त्तमान हैं। ये ग्रन्थ ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय विद्वानों के चिंतन-मनन के प्रतीक हैं। सभी ग्रंथ न केवल विषय और प्रतिपादन की दृष्टि से ही, अपितु मुद्रण आदि को ध्यान में रखते हुए भी, हिंदी के साहित्य-भांडार को समृद्ध करते हैं। इधर आचार्य शिवपूजन सहाय की अस्वस्थता के कारण परिषद् का संचालन उसके स्थानापन्न मंत्री डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री कर रहे थे। उन्होंने प्रशंसनीय कुशलता के साथ आचार्य जी की योजना कार्यान्वित करने में योग दिया है।

परिषद् का प्रथम प्रकाशन है श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित हिंदी-साहित्य का आदिकाल। इस पुस्तक में द्विवेदीजी ने हिंदी-साहित्य के उन युगों से संबद्ध सामग्री का चयन और विश्लेषण किया है जिन्हें हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में अपभ्रंशकाल और परिगाथाकाल के नामों से अभिहित करने की परिपाटी है। द्विवेदीजी ने श्रम-साध्य शोध के द्वारा प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में विकीर्ण स्वल्प-परिमित किंतु विस्तृत साहित्य का अवगाहन किया है और उसके आधार पर अनेक नवीन निष्कर्ष उपस्थापित किये हैं। ये निष्कर्ष विवादग्रस्त हैं और इन्हें लेकर हिंदी के विद्वानों में जो विवाद छिड़ गया है, उनसे हम परिचित हैं। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि द्विवेदीजी ने हिन्दी के उस प्रारंभिक काल पर पर्याप्त नया प्रकाश डाला है, जो अब तक हिंदी-साहित्य का अंधकारकाल बना हुआ था।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा-विरचित यूरोपीय दर्शन परिषद् का दूसरा प्रकाशन है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण १९०५ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित हुआ था और कालांतर में दूसरा संस्करण भी किंतु, जाने क्यों, मूल लेखक के स्थान पर एक दूसरे व्यक्ति का नाम देकर। परिषद् ने संप्रति पुस्तक के मूल संस्करण का पुनर्मुद्रण कर उसके लेखक के प्रति तो न्याय किया ही है साथ-ही-साथ आज से आधी शताब्दी पहले लिखी गई एक ऐसी पुस्तक को हिन्दी के पाठकों के लिए सुलभ बना या है जो आज भी विषय-निरूपण की दृष्टि से अद्वितीय है। पुस्तक का ऐतिहासिक

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महत्त्व भी है, क्योंकि आज भी जो काम हिंदी में अधूरा पड़ा हुआ है उसकी ओर यह पचास वर्ष पहले किया गया व्यावहारिक संकेत है और हमारे लिए अनुसरणीय पथ-निर्देश। पुस्तक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका प्रो० हरिमोहन झा ने लिखी है और उसमें उन्होंने यूरोपीय दर्शन के उस अवधि के विकास की रूप-रेखा उपस्थित की है जो मूल पुस्तक की रचना के बाद आती है।

परिषद् का तीसरा प्रकाशन है विश्व-धर्म-दर्शन। इसके लेखक श्री सांवलिया विहारीलाल वर्मा ने संसार के प्राचीन तथा आधुनिक समस्त धर्मों के संक्षिप्त परिचय और विवरण साधारण पाठकों के लिए सहज अवगम्य बना दिये हैं। यद्यपि यह पुस्तक शोध की दृष्टि से विशेष महत्त्व की नहीं है, फिर भी इसमें एकत्र ही सभी धर्मों की रूप-रेखा मिल जाती है और उनके तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक अध्ययन का प्रथम सोपान सुलभ हो जाता है। सर्व-धर्म-समन्वय का आदर्श आज के युग में वस्तुतः शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्तियों का अभीष्ट है। इस अभीष्ट-प्राप्ति में विश्व-धर्म-दर्शन प्रारंभिक आधार-पुस्तक का काम करेगा।

परिषद् के इन पुस्तकों के बाद के प्रकाशनों में श्री वासुदेव का हर्ष-चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति से संबद्ध महार्घ शोध-कृति है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास के लिए बाणभट्ट का हर्ष-चरित अतिशय प्रामाणिक और मूल्यवान् आधार है। इस आधार-ग्रंथ के सहारे वासुदेवशरणजी ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित किया है और उसे इतिहास के अन्य स्रोतों के साक्ष्य की सहायता से पूर्णतः प्रमाणित करने की सफल चेष्टा की है। पुस्तक में अनेक उपयोगी चित्र भी हैं, यद्यपि उसका मुद्रण संतोषजनक नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त पुस्तक की कोटि में ही परिगणनीय है डा० मोतीचन्द्र लिखित सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ-पद्धति)। यद्यपि इस पुस्तक में केवल प्राचीन पथ-पद्धति का ही सांगोपांग विवरण दिया गया है, फिर भी इससे प्राचीन भारतीय सभ्यता पर भी सामान्य रूप से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वैदिककाल से लेकर गुप्तकाल तक भारत में, तथा भारतीय व्यापारियों के द्वारा विदेशों के साथ, जो विपुल वाणिज्य-व्यवसाय होता था उसकी कथा पहली बार इतने विशद रूप में प्रस्तुत की गई है। व्यापार के जल और स्थल के पथ, साधन तथा अन्य विषयों पर लिखा गया यह गवेषणात्मक ग्रंथ गल्प की तरह रोचक है। इस ग्रंथ में भी अनेक उपयोगी चित्र हैं।

इन पाँच पुस्तकों के अतिरिक्त परिषद् ने छै और पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं, जिनकी संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

श्री रामावतार शर्मा-निबंधावली महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा की यह दूसरी कृति है जिसे परिषद् ने प्रकाशित किया है। निबंधावली में शर्मा जी के हिन्दी के निबंधों का संकलन किया गया है। इन निबंधों से लेखक की बहुपथीन प्रतिभा, प्रगाढ़

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पांडित्य, मौलिक चिंतन, उदार दृष्टि तथा सामाजिक सहानुभूति का कियत् परिचय मिलता है। यों तो शर्मा जी की और भी हिन्दी की रचनाएँ हैं, किन्तु परिषद् ने कर्मठ शोधकर्त्ताओं की सहायता से जितनी रचनाओं का संग्रह कराया है उनके लिए ही हिन्दी-संसार इस संस्था तथा उसके शोधकर्त्ताओं के प्रति ऋणी रहेगा। शर्मा जी द्विवेदी-युग के महारथियों में परिगणित होते थे। उनके निबंध हिन्दी के उच्च कोटि के निबंध-संग्रहों की शोभा बढ़ाते रहे हैं। किन्तु इनके एकत्र सुलभ न होने के कारण हिन्दी-गद्य के अध्येताओं को महत्त्वपूर्ण साहित्य से वंचित रहना पड़ता था। अब इस अभाव की पूर्त्ति हो गई है और हिन्दी-गद्य के इतिहास-लेखक के लिए प्रभूत नवीन सामग्री प्राप्य हो गई है। पुस्तक के प्रारंभ में डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री और श्री उमानाथ जी ने शर्माजी के विलक्षण व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला है। श्री उमानाथ जी के ही शोध-प्रयास के फलस्वरूप यह बहुमूल्य साहित्य संकलित हो सका है, ऐसा परिषद् के मन्त्री के विवरण से पता चलता है।

डा० सत्यप्रकाश की वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा नामक पुस्तक भी परिषद् की प्रतिष्ठा के अनुरूप ज्ञानवर्धक प्रकाशन है। इसमें विद्वान् लेखक ने भारतीय गणित और ज्यौतिष, जनपदनिवेश, धातु और रत्न-विज्ञान, रसायन, विभिन्न तंत्रों तथा आयुर्वेद आदि के उद्भव और विकास का गवेषणात्मक और विशद निरूपण किया है। इस विषय पर स्वर्गीय ब्रजेंद्रनाथ शील की पुस्तक The Positive Sciences of the Ancient Hindus का महत्त्व अनिवार्य आकर-ग्रंथ के रूप में, आज भी अक्षुण्ण है। डा० सत्यप्रकाश ने इस ग्रंथ के अतिरिक्त उपर्युक्त विषयों पर जो परवर्त्ती अनुसंधान हुए हैं उनका भी प्रचुर उपयोग किया है। किंतु पुस्तक में स्वयं लेखक के विस्तृत अध्ययन-अनुशीलन के भी पर्याप्त प्रमाण हैं। यद्यपि डा० सत्यप्रकाश के निष्कर्ष कहीं-कहीं प्राचीनता की संकीर्ण श्लाघा (Chauvinism) की सीमा तक पहुँच गए हैं, फिर भी वे बहुधा संगत और आधार-सम्मत सिद्ध होते हैं और प्राचीन भारत की मनीषा का प्रेरणाप्रद रूप सामने रखते हैं।

डा० अनंत सदाशिव अलतेकर की गुप्तकालीन मुद्राएँ परिषद् की भारतीय इतिहास विषयक पुस्तकों में विशिष्ट है। पुस्तक में गुप्त सम्राटों की मुद्राओं और उनके विभिन्न प्रकारों का प्राचीन-मुद्रा-शास्त्र-सम्मत वर्णन तो है ही, इसके आधार पर गुप्तों के इतिहास का भी तथ्यपूर्ण निर्माण किया गया है। गुप्तों की मुद्राओं पर अलन आदि विद्वानों के आकर-ग्रंथ अँगरेजी में विद्यमान हैं, किंतु लेखक का भूमिका में यह कथन सर्वांशतः ठीक है कि संप्रति वे दुष्प्राप्य हैं। इस क्षेत्र में इन ग्रंथों की रचना के बाद प्रचुर नवीन सामग्री भी उपलब्ध हुई है। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्व निर्विवाद है। पुस्तक मूलतः अँगरेजी में लिखी गई थी और उसका प्रकाशन दूसरी संस्था करेगी। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने उसका हिंदी रूपांतर प्रकाशित किया है। लेखक के वक्तव्य से ज्ञात होता है कि प्राचीन-मुद्रा-शास्त्रविषयक पारि-भाषिक शब्दों का निर्माण उसकी सहायता से हुआ है। इनका निर्माण जैसे भी हुआ हो, वह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तोषजनक नहीं है। एक उदाहरण लीजिए Bust का हिंदी प्रतिशब्द दिया गया है वक्ष-चित्र। यह शब्द नितांत निरर्थक है। कला की आधुनिक भारतीय आलोचना में 'आवक्ष चित्र या मूर्त्ति' शब्द प्रचलित है और यह काफी अच्छा शब्द है। इसी प्रकार Pear head ornament के लिए मँगटीका, Wig-like hair के लिए लंबे केश, Circular के लिए वर्त्तुलाकार, Muscular के लिए स्नायुयुक्त जैसे अशुद्ध और भ्रामक प्रतिशब्दों का प्रयोग सर्वथा चिंत्य और अवांछनीय है। परिषद् का एक बहुत बड़ा कार्य, जो ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन के व्याज से अनायास हो जा सकता है, यह भी है कि विभिन्न शास्त्रों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के हिंदी प्रतिशब्द बनते चलें। किंतु ऐसे प्रतिशब्द परिषद् के द्वारा प्रकाशित ग्रंथ के अनुरूप नहीं हैं, पुस्तक में मुद्राओं के जो चित्र हैं, अथवा उसके परिशिष्ट के अन्तर्गत जो सूचियाँ आदि हैं—उनसे पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।

प्राङ्मौर्य बिहार परिषद् का एक अन्य इतिहासविषयक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इसके लेखक हैं डा० देवसहाय त्रिवेद। मौर्यकालीन तथा मौर्योत्तरकालीन बिहार के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए न तो सामग्री का ही अभाव है न उसके आधार पर लिखित ग्रंथों का ही। किंतु मौर्यों के पूर्व के बिहार के इतिहास के उपकरण बिखरे पड़े थे। त्रिवेद ने अक परिश्रम और सूक्ष्म शोध-दृष्टि का परिचय देते हुए इन बिखरे उपकरणों को ग्रथित कर उनके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। डा० त्रिवेद के कुछ मौलिक निष्कर्ष से, उदाहरणार्थ—भारत के आदिवासियों और आर्यों के धर्मों की समानता, मुलतान में प्रथम मनुष्य का उद्भव, द्रात और आर्य सभ्यताओं का एक ही स्रोत, बिहार में ही अधिकांश वैदिक साहित्य का रचित होना इत्यादि, विद्वानों का मतभेद हो सकता है, किंतु इससे पुस्तक की महत्ता घटती नहीं। पुस्तक में विषय से सम्बद्ध अनेक चित्र हैं जो सुमुद्रित हैं, किन्तु कुछ-एक मसिलेपमात्र हैं।

काव्य-मीमांसा पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत द्वारा संपादित और अनूदित राजशेखर की तन्नामक पुस्तक का अत्यंत उपयोगी संस्करण है। हिन्दी में भारतीय साहित्य-शास्त्र का जो चर्वित-चर्वण होता रहता है, उससे कहीं लाभदायक कार्य यह है कि सभी उत्कृष्ट साहित्य-शास्त्रविषयक ग्रन्थों के सुसंपादित और सानुवाद संस्करण प्रकाशित किये जायँ। इधर इस दिशा में कुछ प्रयत्न भी हुए हैं, किन्तु वे बहुत संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। केदारनाथ जी ने काव्य-मीमांसा का अनुवाद कर साहित्य-शास्त्र के उन अध्येताओं का बड़ा उपकार किया है जो हिंदी के माध्यम से ही एतद्विषयक प्राचीन मत-मतांतरों से परिचित होना चाहते हैं। अनुवाद साधिकार किया गया है। उसका कियदंश भी 'असूल' या 'अनपेक्षित' नहीं है। विशेष रूप से उल्लेख के योग्य यह बात है कि यद्यपि अनुवाद शब्दशः हुआ है फिर भी वह नीरस या अस्पष्ट नहीं है। अनुवादक की भूमिका अनतिबृहत् है, किंतु उससे राजशेखर के समय आदि विषयों पर तथा काव्य-मीमांसा के प्रतिपाद्य विषय पर भी यथोचित प्रकाश पड़ता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिषद् के द्वारा अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकों में अंतिम है संत-कवि दरिया : एक अनुशीलन। इस शोध-ग्रंथ के लेखक हैं डा० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री। इधर शोधकर्त्ताओं ने अनेक विस्मृतप्राय और नाम-शेष निर्गुण संतों के जीवन और कृतियों को प्रकाश में लाने का स्तुत्य कार्य किया है। इस दिशा में डा० ब्रह्मचारी की कृति अग्रदूत का काम करती है। वस्तुतः संत-साहित्य अथवा निर्गुण विचार-धारा का पिष्ट-पेषण करते चले जाने से—जैसा कि हिंदी में आज खूब हो रहा है—यह कहीं अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य है कि संतों की वाणियों के सुसंपादित संग्रह प्रकाशित किये जायँ और उनकी जीवनी तथा रचनाओं के विवरण उपस्थित किये जायँ। इनके अभाव में संत-साहित्य का विषयगत या साहित्यिक अनुशीलन और मूल्यांकन अपूर्ण और निराधार बना रहेगा। आलोच्य पुस्तक का भी वही अंश महत्त्व का अधिकारी है जिसका प्रत्यक्ष संबंध संत दरिया की वाणियों से है। जहाँ तक पुस्तक के विपुल प्रारंभिक अंश का प्रश्न है, जिसमें संतों की साधना या साहित्य का सामान्य विवेचन है, वह कथित-कथन (rechauffe) मात्र है; और शोध-ग्रंथ के नहीं बल्कि पाठ्य-पुस्तक के अनुरूप है। उससे पुस्तक की कलेवर-वृद्धि तो हुई है, ज्ञान के किसी नवीन क्षेत्र का उद्घाटन नहीं हुआ है, जो शोध का मुख्य लक्ष्य होता है।

दशकुमारचरित

समीक्षक

मूल लेखक—दण्डी कवि

श्रीरञ्जन सूरिदेव

अनुवादक—पं० निरञ्जनदेव आयुर्वेदालंकार

प्रकाशक—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई

मूल्य—पाँच रुपये, आठ आने।

संस्कृत के कथा-साहित्य में दण्डी का दशकुमारचरित अन्यतम कथा-ग्रन्थ है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें दस कुमारों का मनोरंजक एवं ज्ञानोन्मेषक चरित्र-चित्रण है। दस कुमारों का अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व रहते हुए भी सब का विषय-सामञ्जस्य एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित है। दसों कुमार राजकुल से संबद्ध हैं। उनके नाम हैं—राजवाहन, सोमदत्त, पुष्पोद्भव, अपहार वर्मा, उपहार वर्मा, अर्थपाल, प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त और विश्रुत। पुस्तक में दो पीठिकाएँ हैं—पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका।

दशकुमारचरित के प्रधान पात्र तो बड़े ही सजीव और जागरूक हैं पर उसके साधारण पात्र भी गतिशील हैं। ऋषि मारीचि, व्यापारी वसुपालित, वेश्या काममंजरी, ब्राह्मण पांचाल शर्मा, राजकुमारी की प्रणय-प्रवञ्चना में प्रमत्त शहरकोतवाल कांतक, इन सब के चित्र बड़ी कुशलता से अंकित किये गए हैं। दशकुमारचरित के उत्तम या अधम सभी पात्र अपने-अपने कार्यों की पूर्णता में सदैव उद्यत दीखते हैं। परन्तु, धर्म-अधर्म का कोई विचार न रहने के कारण उनके कर्त्तव्य पाठकों को हँसाते हैं। तपस्वी मारीचि और वेश्या काममंजरी की कहानी हास्यरस से भरी है। अपहारवर्मा की तो पूरी की पूरी कहानी ही हास्यमय है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दशकुमारचरित में भारतीय समाज के निम्न स्तर का चित्रण है और साथ ही राजाओं के षड्यंत्र एवं राजभवनों में होनेवाले दुराचारों की ओर संकेत भी। इस पुस्तक में वर्णित सभी राजा और राजकुमार कामवासना से आबद्ध, विषय-वासना के सुलभ आखेट हैं सभी अपने मतलब के यार हैं। स्वार्थ-सिद्धि के लिए जघन्यतम कार्य भी इन लोगों को ग्राह्य हैं। जुआ, वेश्या और शराब के फेर में पड़कर किस तरह राजा और प्रजा की हानि होती है, रानियाँ किस तरह आचारभ्रष्टा हो जाती हैं, इनका इतना सटीक चित्र साहित्य में अन्यत्र कहीं प्राप्य नहीं जितना दशकुमारचरित में है। प्राचीन युग के जासूसों (स्त्री-पुरुष) के कारनामों का जो वर्णन दण्डी ने किया है, वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी वर्णित है। दण्डी के समय समाज में वेश्याओं का प्रमुख स्थान था। वेश्या-जीवन का जो वर्णन हमें कामशास्त्र में मिलता है वही दशकुमारचरित में भी चित्रित है।

अन्त में, मैं अनुवाद के सम्बन्ध में कहूँगा कि पं० निरञ्जनजी का हिन्दी-अनुवाद अक्षरानुवाद और भावानुवाद के बीच का है, जिसके पढ़ने में, हिन्दी के एक स्वतन्त्र मौलिक कथा-ग्रन्थ जैसा, आनन्द आता है। भाषा पर्याप्त परिष्कृत है। पारिभाषिक शब्दों के लिए प्रचलित शब्दों का प्रयोग करके अनुवाद को अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न यद्यपि प्रशंसनीय है, फिर भी मूल पारिभाषिक और भौगोलिक शब्दों की पादटिप्पणी में अपेक्षा है। मुद्रण निर्दोष और बहिरावरण अभिराम है।

समीक्षक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

पञ्चतन्त्र
मूल लेखक—विष्णु शर्मा
अनुवादक—डा० मोतीचन्द्र
प्रकाशक—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई
मूल्य—चार रुपये, आठ आने।

पञ्चतन्त्र संस्कृत-साहित्य की एक महार्घ कथा-कृति है। भारतेतर देशों के विशेषतः इस्लामी और यूरोपीय देशों के कहानी-साहित्य को पञ्चतन्त्र से बहुत बड़ी देन मिली है। जातक की कथाएँ सीधी-सादी और अशृङ्गारित अवस्था में मिलती हैं, उन्हीं का सुसज्जित रूप पञ्चतन्त्र में दृष्टिगत होता है, जो एक बड़े कलाकार की कुशाग्र और उत्कृष्ट रचना-शक्ति का पूर्णतम कलात्मक प्रतीक है।

पञ्चतन्त्र के लेखक विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण थे। विष्णु शर्मा के मूलग्रंथ के आधार पर रची हुई पञ्चतन्त्र की वाचनाओं में उनका नाम ग्रंथकार के रूप में दिया हुआ है, जिसके सत्य होने में सन्देह का कोई कारण नहीं दीखता। ईरानी सम्राट् खुसरो के प्रमुख राजवैद्य और मन्त्री बुर्जुए ने पञ्चतन्त्र को अमृत की संज्ञा दी है जिसके प्रभाव से मृत व्यक्ति भी जीवित हो उठते हैं। अरबी भाषा में अनूदित यह ग्रन्थ उस भाषा के सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थों में अन्यतम है। अँगरेजी और लैटिन में भी इस ग्रन्थ का बड़ा सफल अनुवाद हुआ है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भारतवर्ष में पञ्चतन्त्र की लम्बी परम्परा पाई जाती है। मूल ग्रन्थ तो अब लुप्त हो गया है, किन्तु उसके आधार पर रचे हुए अन्य कई संस्करण उपलब्ध हैं। ये प्राचीन परम्पराएँ गिनती में आठ हैं—(१) तन्त्र आख्यायिका; (२) दक्षिणभारतीय पञ्चतन्त्र; (३) नेपाली पञ्चतन्त्र; (४) हितोपदेश; (५) सोमदेवकृत कथा-सरित्सागर के अन्तर्गत पञ्चतन्त्र; (६) क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी के अन्तर्गत पञ्चतन्त्र; (७) पश्चिमभारतीय पञ्चतन्त्र और (७) पूर्णभद्र-कृत पञ्चाख्यान।

पञ्चतन्त्र में पाँच तन्त्र हैं, लेकिन हितोपदेश में केवल चार विभाग हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। पञ्चतन्त्र का पहला 'मित्रभेद' नामक तन्त्र हितोपदेश में दूसरे स्थान पर हैं। दूसरा 'मित्र-संप्राप्ति' नामक तन्त्र हितोपदेश में पहले स्थान पर 'मित्रलाभ' नाम से है। पञ्चतन्त्र का तीसरा 'काकोलूकीय' तन्त्र उस रूप में हितोपदेश में नहीं मिलता। चौथा तन्त्र 'लब्धप्रणाश' भी हितोपदेश में नहीं मिलता पाँचवें तन्त्र 'अपरीक्षित कारक' की कथाएँ हितोपदेश के तीसरे और चौथे भाग में मिली हुई हैं। नारायण भट्ट ने हितोपदेश की रचना में दक्षिणभारतीय पञ्चतन्त्र से सहायता ली है। मूल पञ्चतन्त्र के गद्यभाग का कम-से-कम तीन-बटा पाँच और पद्यभाग का कम-से-कम एक तिहाई अंश हितोपदेश में आ गया है।

डा० मोतीचन्द्र का प्रस्तुत अनुवाद पश्चिमभारतीय पञ्चतन्त्र की वाचना के अनुसार प्रकाशित निर्णयसागर संस्करण पर आधारित है। आधुनिक समय में भी पञ्चतन्त्र के कई हिन्दी-अनुवाद हुए हैं। प्रस्तुत अनुवाद की विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी भाषा के मुहावरे अधिकाधिक प्रयुक्त हुए हैं जिससे संवादों और ओजस्वी प्रसंगों का सौन्दर्य बहुत ही खिल गया है। हिन्दी अनुवाद में मौलिकता-सी आ गई है, वह संस्कृताधारित-सा कतई नहीं जान पड़ता। ख्यातनामा प्राक्साहित्यगवेषी डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्रस्तुत पुस्तक के प्रारंभ में बहुत ही शोध-समीक्षात्मक अतएव महत्त्वपूर्ण आमुख उपस्थित किया है। उनके ही शब्दों में—'आशा है, यह अनुवाद पञ्चतन्त्र के हिन्दी-अनुवादों के लिए एक नई शैली और दिशा का निर्देशन करेगा। बढ़िया कागज पर छपाई बड़ी अच्छी है।

खेल-खिलौने

समीक्षक

लेखक—श्री राजेन्द्र यादव

प्रो० श्री शिवनन्दन प्रसाद, एम्० ए०

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

खेल-खिलौने तरुण कलाकार राजेन्द्र यादव की बारह कहानियों का सद्यःप्रकाशित संग्रह है। इसकी पहली कहानी का शीर्षक है—'मेरा तन-मन तुम्हारा है'। शीर्षक के शब्द सुधारक के प्रति लीला के हैं, और विवाह के पूर्व उसकी मनोवृत्ति के परिचायक हैं। एक दूसरे धनी युवक से विवाह हो जाने पर धीरे-धीरे उसका हृदय-परिवर्त्तन हो जाता है और तब वह सुधारक के स्पर्शमात्र से लज्जित और त्रस्त हो उठती है। दो-ढाई पृष्ठों की इस छोटी कहानी में प्रवृत्ति के ऊपर परिस्थिति की जीत दिखलाई गई है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'खेल-खिलौने' शीर्षक दूसरी कहानी में नलिनी और नीरजा समानान्तर चरित्र हैं और बुद्ध की मूर्त्ति इनका प्रतीक। बलात् व्याह दी गई प्रतिभाशालिनी नलिनी का जीवन ना-समझ पति के हाथों उसी प्रकार टूट जाता है जैसे बच्चे के हाथों बुद्ध की कलापूर्ण मूर्त्ति। उसकी आत्महत्या का समाचार नीरजा के परिवारवालों को सुधीन्द्र तब देता है जब विरोध करने पर भी उसके विवाह का आयोजन हो रहा है और भावी ससुरालवाले उसे देख गये हैं। नीरजा का विवाह प्रश्नवाचक बनकर रह जाता है—अपनी अर्थवत्ता से दीप्त और कलात्मक प्रभाव में प्रखर! 'खेल-खिलौने' शीर्षक विवाह-सम्बन्धी सामान्य मनोवृत्ति पर एक तीखा व्यंग्य है। वर्त्तमान विवाह बच्चों का खेल है और नारी खिलौना—इस मन्तव्य की मार्मिक व्यञ्जना प्रस्तुत कहानी में मिलेगी। नीरजा के चरित्र की पीठिका में नलिनी का चरित्र-चित्रण वैयक्तिक विशिष्टता से पूर्ण है—नलिनी की आत्महत्या की सूचना के साथ ही बच्चे के हाथों बुद्ध की मूर्त्ति का टूटना सांकेतिक है।

तीसरी कहानी 'कुतिया' भी दो-ढाई पृष्ठ की है। प्रेमी द्वारा कुतिया की तरह परित्यक्ता स्त्री समानधर्मिणी कुतिया से ही स्नेह पा पाती है—जानवर से भी निकृष्ट कामान्ध पुरुषों से संसार भरा है! इस कहानी में भी समानान्तर चरित्रों की योजना हुई है।

'नास्तिक' कहानी में व्यक्ति के अन्दर धर्म के नाम पर होनेवाली विभीषिकाओं की प्रतिक्रिया का दिग्दर्शन है। 'यथार्थवादी कहानी लेखक' शीर्षक कहानी में दुःखी लोगों के प्रति कलाकार की व्यापक सहानुभूति की यथार्थता के स्वरूप की समस्या है। दूसरों की पीड़ा से प्रेरणा पा विश्व को करुणार्द्र करना जरूरी है या पीड़ितों की स्थूल वैयक्तिक सहायता करना—इस प्रश्न को ध्रुव और अनन्त की प्रतिक्रियाओं द्वारा उपस्थित किया गया है।

'आज कल के लड़के' शीर्षक कहानी में भैया-भाभी द्वारा तिरस्कृत नवल पढ़-लिखकर जब आदमी बन जाता है तो भैया-भाभी का तिरस्कार का बदला लेता है। पुराने अपमान की बात न जाननेवाला लोकमत नवल को ही दोषी ठहराता है।

'वे नरभक्षी' कहानी में करुणा के मनोविज्ञान का प्रकाशन है। शेष कहानियों के शीर्षक हैं-'और मेरा प्रश्न सरल हो गया', 'जब कला मर गई थी', 'अंगारों का खेल', 'रहस्यमयी', खानदानी घर'। अन्तिम कहानी प्रथम पुरुष में लिखित है—उस नारी के तीव्रतम मनोवेगों की व्यञ्जना इसमें हुई है जो बड़े घर की बहू होकर भी परिवारवालों द्वारा और स्वयं पति द्वारा उपेक्षित-प्रताड़ित है। रूढ़ समाज के अन्तर्विरोधों पर निर्मम आघात लेखक की अन्य कहानियों में भी दृष्टिगत है।

कहानियों में जिस मौलिकता, मर्म-स्पर्शिता और अभिव्यञ्जना-कौशल का परिचय दिया है उससे लेखक की प्रतिभा और उसके भविष्य के प्रति आस्था होती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्मेलन के भूतपूर्व सभापतियों और स्वागताध्यक्षों के भाषण
हिन्दी-प्रेमियों और पुस्तकालयों से नम्र निवेदन

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से, बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को, उसके भूतपूर्व सभापतियों के भाषणों का संग्रह प्रकाशित करने के लिए, ३००० तीन हजार रुपये का जो अनुदान मिला है, उससे सभी सभापतियों के भाषणों का संग्रह छपवाया जा रहा है। पाँच भाषण छप चुके हैं। शेष उन्नीस भाषणों में जो भाषण नहीं मिलते थे वे निम्नलिखित सज्जनों से प्राप्त हो गए हैं, जिनके लिए उन उदार सज्जनों को सादर धन्यवाद है—

प्रो० श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, मिथिला कालेज, दरभंगा; श्री जगन्नाथ प्रसाद साह, हिन्दी-हितैषिणी सभा लालगंज, मुजफ्फरपुर; श्री रामावतार यादव 'शक्र', श्रीरामप्रेस, बेगूसराय; श्री केदारनाथ अग्रवाल, राजेन्द्र पुस्तकालय, छपरा; श्री राधाकृष्ण शाह, मन्त्री, सरस्वती पुस्तकालय, भागलपुर। किन्तु, अब भी तीन भाषणों की कमी है—आचार्य श्री बदरीनाथ वर्मा (१९२७ के आठवें गया-अधिवेशन में); रायबहादुर श्री रामरण विजय सिंह (१९२९ के नवें मुंगेर-अधिवेशन में); महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन (१९३८ के सोलहवें राँची-अधिवेशन में)।

उदार सज्जनों से अनुरोध है कि उपर्युक्त तीन अधिवेशनों के सभापतियों और स्वागताध्यक्षों के भाषण शीघ्र ही सम्मेलन को भेज दें। भेजनेवालों के नाम 'साहित्य' में और भाषण-संग्रह की भूमिका में प्रकाशित कर दिये जायेंगे तथा ग्रंथ निकल जाने पर मूल प्रतियाँ भी सुरक्षित लौटा दी जायँगी।

प्रधान मन्त्री
बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना—३

—:—

'साहित्य' की फाइल

'साहित्य' के विगत चार वर्षों के दुर्लभ अंकों की कुछ फाइलें प्राप्य हैं। विद्वानों ने शोध और साहित्यालोचन के क्षेत्रों में इन अंकों को प्रतिष्ठा का अधिकारी माना है। विद्यानुरागी सज्जन तथा स्थायी साहित्य के संग्रहालय एवं पुस्तकालय इन फाइलों को मँगा सकते हैं।

एक वर्ष के चार अंकों की पूरी फाइल का मूल्य, सात रुपये और डाकखर्च अलग।

चार वर्ष के सोलह अंकों की पूरी फाइल का मूल्य, अट्ठाईस रुपये और डाकखर्च अलग।

'साहित्य' के अंक उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों और अध्यापकों तथा अनुसंधानशील विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें प्रकाशित निबन्धों और समीक्षाओं को पढ़कर साहित्य का प्रत्येक जिज्ञासु सफलमनोरथ और संतुष्ट होगा।

'साहित्य'-व्यवस्थापक
बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
कदमकुआँ, पटना-३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित बारह अनमोल ग्रंथ-रत्न

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—ले०—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
[आदिकालीन हिन्दी-साहित्य का शोधपूर्ण विवरण] सजिल्द, ३)

२. यूरोपीय दर्शन—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा; सजिल्द, ३)

३. विश्व-धर्म-दर्शन—श्री सांवलिया विहारीलाल वर्मा
[संसार-भर के प्रमुख धर्मों का इतिहास] सजिल्द, १२)

४. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
[दो तिरंगे और लगभग एक सौ इकरंगे आर्ट पेपर पर छपे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र] सजिल्द, ६)

५. सार्थवाह (प्राचीन भारतीय पथ-पद्धति)—डा० मोतीचन्द्र
[आर्ट पेपर पर छपे एक सौ अलभ्य ऐतिहासिक चित्र तथा प्राचीनतम व्यापार-पथों के दुरंगे मान-चित्र। भूमिका-लेखक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल] सजिल्द, ११)

६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा० सत्यप्रकाश
[प्राचीन भारत की वैज्ञानिक उन्नति का दिग्दर्शन] सजिल्द, ८)

७. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री,
[बढ़िया आर्ट पेपर पर सात तिरंगे और बारह इकरंगे चित्र] सजिल्द, १४)

८. काव्य-मीमांसा—अनु०—श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत; ('सुप्रभातम्'-संपादक)
[गवेषणापूर्ण प्रामाणिक भूमिका और परिशिष्ट के साथ] सजिल्द, ६)

९. श्री रामावतार शर्मा-निबंधावली-स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा० देवसहाय त्रिवेद
[प्राङ्मौर्यकालीन बिहार के मान-चित्र के साथ ग्यारह इकरंगे ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण चित्र] सजिल्द, ७)

११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर
[आर्ट पेपर पर छपे गुप्तकालीन मुद्राओं और लिपियों के सत्ताईस सविवरण फलक] सजिल्द, ६)

१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी
[भोजपुरी वैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण] सजिल्द, १२)

मंत्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन, पटना-३

मुद्रक—योगी प्रेस, पटना-१ : : प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

134

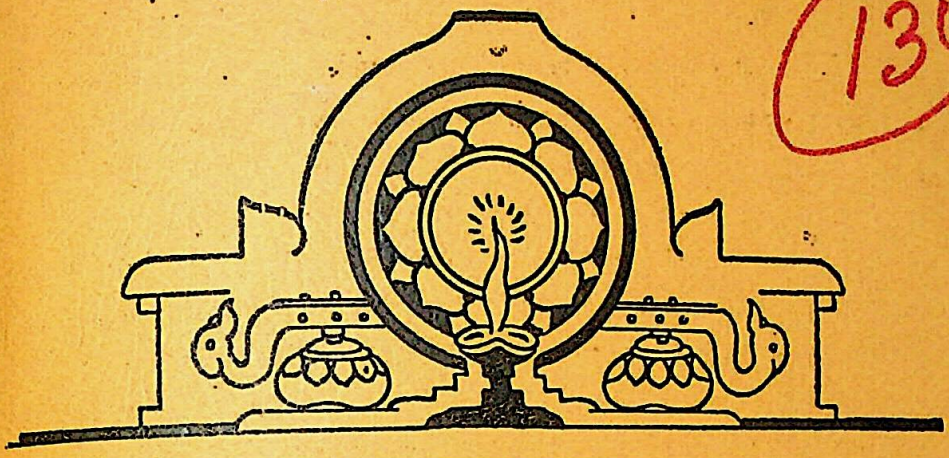

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का

सम्मिलित शोध समीक्षा-प्रधान मुखपत्र

वार्षिक ७)] [एक प्रति २)

वर्ष ५ } आश्विन, संवत् २०११ :: अक्टूबर, १९५४ ई० { अंक ३

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सम्पादकीय

डा० देवसहाय त्रिवेद ९ भारतीय तिथिक्रम

श्री अगरचन्द नाहटा १७ गौतम स्वामी का रास और उसके रचयिता

श्री कलीमुद्दीन अहमद २७ मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य ३२ पाणिनि के ग्रन्थों से प्राक्पाणिनीय अंशोद्धार के उपाय

श्री मुनि कान्तिसागर ५२ उन्नीसवीं शती के लेखक की दृष्टि में बंगाल और बिहार

प्रो० श्री जगदीश पाण्डेय ५८ शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धांत

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ८० हस्त-लिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र

समीक्षा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिहार की साहित्यिक प्रगति

यह निश्चय किया गया है कि 'साहित्य' के प्रत्येक अंक में बिहार की साहित्यिक प्रगति का त्रैमासिक विवरण नियमित रूप से प्रकाशित किया जाय। उसमें जो विवरण दिये जायँगे वे यथासम्भव ऐसे ही होंगे, जिनसे यह पता लगता रहे कि आलोच्य तीन महीनों के अन्दर बिहार में साहित्य, कला और संस्कृति से सम्बन्ध रखनेवाले कितने प्रकार के कार्य कहाँ-कहाँ हुए या हो रहे हैं। किन्तु ऐसे विवरण को प्रकाशित करने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी पूरी-पूरी जानकारी 'साहित्य'-कार्यालय को हो। वह जानकारी प्रामाणिक रूप में तभी हो सकती है, जब बिहार-राज्य के सभी हिन्दी-प्रेमी और साहित्य-सेवी तथा साहित्यिक संस्थाएँ बराबर सब तरह के साहित्यिक कार्यों का प्रामाणिक विवरण भेजा करें। इसके लिए निम्नाङ्कित प्रकार के विवरणों की आवश्यकता होगी—

(१) प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित साहित्यिक पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण।

(२) लेखकों और कवियों द्वारा रचित (प्रकाशित और अप्रकाशित) साहित्यिक कृतियों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण।

(३) साहित्य-परिषदों और साहित्य-गोष्ठियों के कार्य-कलाप का दिग्दर्शन।

(४) पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की सूचना।

(५) साहित्यिक संस्थाओं के महत्त्वपूर्ण कार्यों और महोत्सवों की सूचना।

(६) कवि-सम्मेलन, पुस्तकालय-संघ, नाटकाभिनय, सांस्कृतिक उत्सव, कला-प्रदर्शनी आदि के विवरण।

(७) हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाओं के संक्षिप्त विवरण।

(८) अन्य आवश्यक बातें, जिनसे साहित्यिक प्रगति की सूचना मिल सके।

विश्वास है, बिहार-राज्य के सभी हिन्दी-प्रेमी और साहित्यानुरागी इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य में हार्दिक सहयोग प्रदान करने की कृपा करेंगे। सब तरह की सूचनाएँ कार्यालय के लिखे पते से भेजने की उदारता प्रदर्शित करें।

'साहित्य'-सम्पादक
सम्मेलन-भवन, पटना-२

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

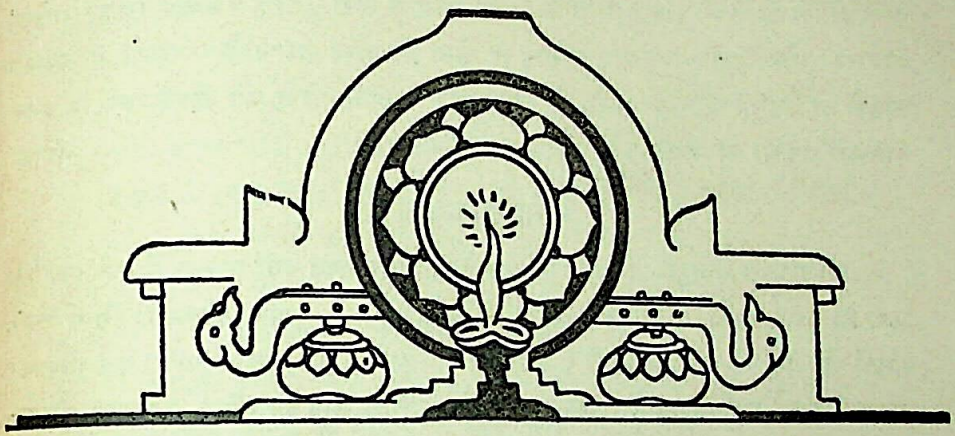

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान मुखपत्र

वार्षिक ७)] [एक प्रति २)

वर्ष ५ } आश्विन, संवत् २०११ :: अक्टूबर, १९५४ ई० { अंक ३

सम्पादकीय

बिहार के दो साहित्यकारों का राष्ट्रीय सम्मान

भारत-सरकार के शिक्षा-विभाग ने बिहार के दो प्रमुख साहित्यसेवियों को दो-दो हजार रुपये पुरस्कार देकर सम्मानित किया है। श्री दिनकर जी को उनकी सुप्रसिद्ध कविता-पुस्तक 'कुरुक्षेत्र' के लिए और श्री बेनीपुरी जी को उनकी अनूठी गद्य-रचना 'माटी की मूरतें' के लिए यह पुरस्कार मिला है। हिन्दी-संसार के सात साहित्यकारों की पुस्तकें पुरस्कृत हुई हैं, जिनमें दो बिहार की हैं। यह बिहार के लिए बड़े गर्व-गौरव और आनन्दोल्लास का विषय है। अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से बिहार को गौरवान्वित करानेवाले दोनों आदरणीय बन्धुओं का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। साहित्य-जगत् में, अपनी अनवरत साहित्य-सेवा के कारण, दोनों ही विख्यात हैं। समस्त देश में दोनों की ख्याति फैली हुई है। बिहार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के बाहर भी दोनों की प्रतिष्ठा-प्राप्ति से बिहार का सिर ऊँचा हुआ है। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के दोनों ही मान्य सदस्य हैं। दोनों की कमनीय कृतियों से हिन्दी-साहित्य समृद्ध हो रहा है। भगवान् दोनों को दीर्घायु करें कि उनकी यशस्करी प्रतिभा का प्रसाद सदैव साहित्य को मिलता रहे।

—शिव

बेनीपुरी-ग्रन्थावली

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपनी ग्रन्थावली का पहला खण्ड बड़ी सजधज से स्वयं प्रकाशित किया है। उसमें उनकी छह पुस्तकें हैं—माटी की मूरतें, गेहूँ और गुलाब, लालतारा (शब्द-चित्र); पतितों के देश में, कैदी की पत्नी (उपन्यास); चिता के फूल (कहानियाँ)। सब मिलाकर लगभग छह सौ सुमुद्रित पृष्ठ हैं। प्रत्येक रचना के मार्मिक भाव का संकेत करनेवाले शीर्षक-लङ्कार-चित्र प्रसिद्ध कलाकार श्री विजयवर्गीय के अंकित किये हुए हैं। जिल्द के रंगीन आवरण का नेत्ररंजक चित्र भी उन्हीं की तूलिका का चमत्कार है। अन्त में उन उदार दाताओं की नामावली दी गई है जो एक-एक सौ रुपये पेशगी देकर ग्रन्थावली के स्थायी ग्राहक बने हैं। ग्रन्थावली दस भागों में निकलेगी। प्रत्येक भाग का मूल्य दस रुपये होगा। दूसरा भाग भी निकट भविष्य में निकलनेवाला है। उसमें बेनीपुरीजी के नाटकों का संग्रह है। उस नाटकावली के लिए उन्होंने कुछ नये नाटक भी लिखे हैं। विश्वास है कि कथा-साहित्य की तरह वे नाट्य-साहित्य में भी लब्धकीर्त्ति होंगे। ग्रन्थावली-प्रकाशन का यह विराट् आयोजन बेनीपुरीजी की उद्योगशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः' कहावत को सार्थक करके उन्होंने जो साहस प्रदर्शित किया है, वह निराश लेखकों के लिए उत्साह-वर्द्धक है। कम-से-कम बिहार के निराधार लेखकों के लिए तो यह एक अनुकरणीय आदर्श है। बिहार के इस शुभ प्रयास को परमात्मा सफल करे।

—शिव

बिहार के साहित्यकारों की नई कृतियाँ

हम 'साहित्य' के प्रत्येक अंक में नियमित रूप से बिहार की साहित्यिक प्रगति का दिग्दर्शनमात्र कराना चाहते हैं। इसके निमित्त प्रामाणिक सूचनाएँ भेजते रहने के लिए हमारा निवेदन अन्यत्र प्रकाशित है। तब तक हम इसी अंक से संक्षिप्त विवरण देना शुरू करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं के सम्बन्ध में हम अगले अंक में लिखेंगे। यहाँ केवल उन्हीं पुस्तकों की चर्चा की गई है, जो वर्त्तमान वर्ष में प्रकाशित हुई हैं और जिनको हमने अपनी आँखों देखा है। अतः प्रस्तुत विवरण अधूरा हो सकता है। आगे जो विवरण प्राप्त होंगे वे क्रमशः प्रकाशित किये जायँगे। इसमें सहृदय सज्जनों की सहायता अपेक्षित है।

इधर बिहार के कवियों की कई सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। श्री दिनकरजी की 'दिल्ली' और 'नीम के पत्ते' तथा श्री प्रभातजी की 'तप्तगृह' नामक पुस्तकें अजन्ता प्रेस (पटना-४) से निकली हैं। 'दिल्ली' में कवि की पुरानी और नई चार कविताएँ संगृहीत हैं

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और 'नीम के पत्ते' में व्यंग्यविनोदपूर्ण सरस कविताएँ हैं, तथा 'तप्तगृह' बिम्बसार-सम्बन्धी एक भावपूर्ण ऐतिहासिक काव्य है। 'दिल्ली' की भूमिका में कवि की जो मर्मस्पर्शी उक्तियाँ हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं:—

"दिल्ली का वर्त्तमान रूप भी विलासिनी का रूप है, जिससे कर्मठता की प्रेरणा नहीं मिलती, उलटे, बाधा पड़ती है। देश के नवनिर्माण का कार्य जो इतनी धीमी गति से चल रहा है, उसका भी मुख्य कारण यही है कि कार्याधिकारी देश की आकुलता से अपरिचित हैं। दिल्ली हमारी सारी शिराओं का केन्द्र है। लेकिन, विषमता की बात यह है कि देश की बेचैनी केन्द्र को बेचैन नहीं कर पा रही है। यदि दिल्ली में उपलब्ध सुख और सुविधाओं की मात्रा समस्त देश की सुख-सुविधाओं की मात्रा के अनुपात से घटती-बढ़ती रहती, तो निर्माण के कार्य इस मन्दता से नहीं चलते। किन्तु, स्थिति ठीक इसके विपरीत है। गाँवों में वज्र गिरे या बाढ़ आये, मगर, दिल्ली के आराम का पारा चढ़ता-उतरता नहीं। वह ज्यों का त्यों स्थित है। इस स्थिति में जो क्षोभ उठता है, वही इन कविताओं का मूल भाव है।"

उक्त अजन्ता प्रेस से ही श्री आरसी प्रसाद सिंह के प्रेम-गीतों का संग्रह निकला है और उन्होंने स्वयं अपने प्रकाशनगृह (तारामण्डल, पटना-३) से 'नन्ददास' नामक अपनी नई कविता-पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमें अष्टछाप के कवि नन्ददास का जीवन-चित्र अंकित है। समस्तीपुर (दरभंगा) से श्री रामावतार 'अरुण' ने अपना नया काव्य 'विदेह' प्रकाशित किया है, जिसके निमित्त वहाँ एक सांस्कृतिक महोत्सव का भी आयोजन हुआ था। चाणक्य-प्रकाशन (पटना-४) से पाँच कविता-पुस्तकें निकली हैं—श्री रुद्र की 'शिञ्जिनी' का नवीन संस्करण और 'मूर्च्छना' तथा 'हिमशिखर'—जिनमें उनके भावात्मक गीतों और चुनी हुई नई कविताओं का संग्रह है। वहीं से श्री 'आलोक' का गीत-संग्रह 'आरोह' और श्री 'नवल' का गीत-संग्रह 'मंजीर' भी प्रकाशित हुआ है। फारबिसगंज (पूर्णिया) से श्री भोलाप्रसाद सिंह ने श्री नागेश्वर शर्मा 'नगेश' का हास्यरसात्मक कविता-संग्रह 'रंग और व्यंग' निकाला है और भागलपुर के ज्योत्स्ना-निकुञ्ज से श्री उमाशङ्कर वर्मा, एम्० ए०, का 'स्पन्दन' नामक कविता-संग्रह निकला है तथा खगड़िया (मुँगेर) के अलका-प्रकाशन से श्री जितेन्द्रकुमार का 'स्वर के दीप' नामक गीत-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनमें से तीन काव्य विशेष उल्लेखनीय और मननीय हैं—'तप्तगृह', 'विदेह' और 'नन्ददास'; बाकी सब गीत-कविता-संग्रह हैं—उनमें भी दिल्ली, प्रेम-गीत, मूर्च्छना, हिमशिखर और 'स्वर के दीप' बड़े आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। विश्वस्त सूत्र से पता लगा है कि दिल्ली के राजकमल-प्रकाशन से बिहार के यशस्वी कवि श्री हंसकुमार तिवारी-कृत 'गीताञ्जलि' का हिन्दी-पद्यानुवाद निकलनेवाला है, अभी तक हमने उसे देखा नहीं है।

इसी साल के अन्दर बिहार से कई लेखकों की सुन्दर गद्य-रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। कुछ उत्कृष्ट रचनाएँ बिहार के बाहर प्रसिद्ध प्रकाशकों द्वारा भी प्रकाशित की गई हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिहार के शिक्षा-सचिव श्री जगदीशचन्द्र माथुर, आइ० सी० एस्०, का नया एकांकी-संग्रह 'ओ मेरे सपने' प्रयाग के नीलाभ-प्रकाशन से निकला है, जिसकी खासी चर्चा हिन्दी-जगत् में हो रही है। डालमियानगर (शाहाबाद) के श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय की सर्वप्रिय पुस्तक 'शेर ओ सुखन' के शेष तीन भाग (२, ३, ४) काशी के भारतीय ज्ञानपीठ से हाल में ही निकले हैं। गोयलीय जी ने हिन्दी में उर्दू-शायरी पर अधिकारपूर्वक काफी अच्छा लिखा है। श्री नागार्जुन जी का नया उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' दिल्ली के राज-कमल-प्रकाशन से हाल ही निकला है, जो भाषा की मौलिकता की दृष्टि से अच्छा बन पड़ा है। मेरठ (उत्तरप्रदेश) के शिक्षा-साहित्य-प्रकाशक श्री केदारनाथ रामनाथ ने पटना-कालेज के हिन्दी-विभाग के प्रोफेसर श्री राजारामजी रस्तोगी की 'हिन्दी काव्य की अन्तश्चेतना' नामक अनूठी पुस्तक बड़ी सुन्दरता से प्रकाशित की है, जिसको साहित्यशास्त्रियों ने बहुत पसन्द किया है और जिससे विद्वान् लेखक के स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन की गम्भीरता प्रकट होती है। अजन्ता प्रेस (पटना-४) से श्री दिनकर जी का एक नया निबन्ध-संग्रह 'रेती के फूल' नामक निकला है। उनके दो ऐसे संग्रह पहले निकल चुके हैं—'मिट्टी की ओर' और 'अर्द्धनारीश्वर'। किन्तु हमें उनके इन नये निबन्धों में पूर्वापेक्षा अधिक निखार नजर आया और उनके विचारों में भी चिन्तन-वन्दन की सुरभि मिली। एक साहित्यशास्त्रीय पुस्तक और भी देखने में आई है, जो गया के 'मानसरोवर' से निकली है। वह है पण्डित हंसकुमार तिवारी की 'कला'। यह सचमुच तिवारी जी के अनवरत अध्ययन का सुपरिणाम है। पूर्णिया जिले के निवासी श्री फणीन्द्रनाथ 'रेणु' का अभिनव मौलिक उपन्यास 'मैला आँचल' यूनिवर्सल प्रेस (पटना-४) से निकला है। कथा-साहित्य के मर्मज्ञों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। रेणु जी को अपने प्रथम प्रयास में ही आशातीत सफलता मिली है। ग्रामीण दृश्यों और चरित्रों के अंकित करने में जैसी स्वाभाविक भाषा का प्रयोग लेखक ने किया है वैसी अन्यत्र नहीं देखी जाती। श्री बेनीपुरी जी का नया विदेश-यात्रा-वर्णन 'उड़ते चलो, उड़ते चलो' प्रभात प्रेस (पटना-१) से प्रकाशित हुआ है, जिसमें फ्रांस, इङ्गलैंड, स्वीजरलैण्ड और इटली की यात्राओं के रोचक विवरण दिये गये हैं। लेखक की फड़कती हुई भाषा और विदेशों के निरीक्षण की पैनी दृष्टि बड़ी सुहावनी है। अशोक प्रेस (पटना-६) से बिहार के यशोधन कथाकार राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के दो नये सामयिक नाटक निकले हैं—(१) अपना-पराया, (२) धर्म की धुरी। वहीं से श्री योगेन्द्र प्रसाद सिन्हा का नया कहानी-संग्रह 'पहाड़ की पुकार' निकला है, जिसमें जंगली-पहाड़ी जीवन का प्रकृत चित्रण है। वयस्क-शिक्षा-संघ (पटना-४) से भी एक नया नाटक निकला है—श्री भागवत शरण सिंह का 'राम-वनवास'। महाकवि विद्यापति के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ इधर अच्छा निकला है। बिहार-विश्वविद्यालय के कालेज-निरीक्षक डाक्टर विमानविहारी मजुमदार ने बड़ी खोज से उसे तैयार किया है। दूसरा बड़ा ग्रन्थ आरा के जैनबाला-विश्राम से निकला है—'ब्रह्मचारिणी पंडिता चन्दाबाई-अभिनन्दन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्रन्थ, जिसमें स्थायी साहित्य-सामग्री संकलित है। इन दो बड़े ग्रंथों के सिवा दो छोटे कहानी-संग्रह भी नये दीख पड़े हैं। एक श्री सिद्धेश्वर प्रसाद चौधुरी 'मंजु' का है 'मिलन के दो क्षण' और दूसरा है श्री नगेन्द्रकुमार जी का 'दृष्टिकोण'। पहले संग्रह के प्रकाशक हैं श्री रामसलोना प्रसाद सिंह (रौनागढ़, चाकन्द, गया) और दूसरे का प्रकाशन पुस्तक-भवन (पटना-४) से हुआ है। दूसरे में केवल मैथिली भाषा की मनोरंजक कहानियाँ हैं।

यहाँ हमने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रकाशनों का उल्लेख नहीं किया है। 'साहित्य' में अन्यत्र प्रकाशित उनकी नामावली ही पर्याप्त है। —शिव

प्रेमचंद की देन

ज्यादातर ऐसा होता है कि जब हमें किसी से कोई बहुत बड़ी चीज मिलती है तो हम न तो देनेवाले को, न उस पाई हुई चीज की ही कद्र कर पाते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम यह महसूस करते हैं कि हमें कोई बड़ी चीज हासिल हुई है और हम उसके प्रति कृतज्ञता से भर जाते हैं जिससे हमें बहुत कुछ मिलता-सा प्रतीत होता है, हम भले ही ठीक-ठीक यह समझ न पायें कि वह है क्या, जो हमें मिला है। प्रेमचंद के सम्बन्ध में हिंदी के विद्वानों की जो कृतज्ञता की भावना है वह बहुत कुछ इसी तरह की है: वह अबोध कृतज्ञता है।

प्रेमचन्द ने उपन्यास या कहानी के माध्यम से वह किया जो महात्मा गाँधी अपने आंदोलनों से करते थे। यह अच्छी बात हो सकती है, राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी। किंतु यह साहित्यकार की देन नहीं मानी जा सकती। कहते हैं, सामंतवादी युग के कवि शांति के समय जिन उँगलियों से लेखनी पकड़ते थे उन्हीं से युद्ध में तलवार भी उठाते थे। हम मानते हैं कि यदि कोई साहित्यकार किसी आंदोलन में विश्वास करता है तो उसे सीधे उसमें शामिल होना चाहिए, साहित्य की बीरबली खिचड़ी पकाने की कोशिश से होता ही क्या है! तो, गाँधीवाद हो या आर्य-समाज के सिद्धांत, मार्क्सवाद हो या मानवतावाद, प्रेमचंद की उनके अनुरूप कोई देन हो, तो वह संयोग की बात है, और उसके लिए वे वाद और सिद्धांत चाहे जितने कृतज्ञ हों, साहित्य नहीं हो सकता। प्रेमचंद किसी भी सामाजिक या राजनीतिक दल के पिछलगुआ नहीं थे, यह तो इसीसे सिद्ध हो जाता है कि 'सेवासदन' की स्थापना की कल्पना करनेवाला आर्यसमाजी 'कायाकल्प' की बातें भी करता है, सूरदास का स्रष्टा होरी की मिट्टी की मूरत भी गढ़ता है, और वह गाँधीवादी और साम्यवादी दोनों के द्वारा एक साथ ही प्रशंसित और आलोचित होता है कि यह है तो हमारा ही आदमी, लेकिन हमारा पूरा साथ नहीं देता। इन तथ्यों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि प्रेमचंद में प्रचुर सामाजिक सहानुभूति थी। किंतु यह तो उनकी प्राप्ति है, साहित्य को उनकी देन नहीं।

पं० राम... सं०
तिथि.....
निजी पुस्तकालय

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विशुद्ध रूप से साहित्य को उनकी क्या देन है, इस पर भी जो विद्वान् विचार करते हैं, वे भी यह ठीक-ठीक समझ नहीं पाते कि निश्चित रूप से वे क्या चीजें हैं जो हमें केवल प्रेमचन्द से ही मिली हैं और, इसलिए, जिनके कारण हमें प्रेमचन्द का आभार मानना है। सरल, मुहावरेदार भाषा ? अवश्य यह प्रेमचंद का एक बहुत बड़ा गुण था, किंतु उन्हीं के समकालीन सुदर्शन और कौशिक उनसे उन्नीस भले पड़ते हों, किंतु इस दृष्टि से प्रेमचंद से कम महत्त्व के अधिकारी नहीं हैं। केवल सरलता की बात ली जाय, तो देवकीनंदन खत्री, आज की प्रचलित शब्दावली में, जनता के लेखक थे और उनकी बराबरी प्रेमचन्द भी नहीं कर सकते। एक प्रश्न भी अनुत्तरित रह जाता है : वह यह कि क्या एक पत्रकार की भाषागत सरलता और उपन्यासकार की भाषागत सरलता में कोई अंतर नहीं है ? यदि नहीं है, तब तो प्रेमचन्द के समकालीन अनेक प्रसिद्ध हिंदी-पत्रकारों की भी वही देन है जो प्रेमचंद की मानी जाती है।

एक दूसरी बात गोलमटोल ढंग से प्रेमचंद की देन मान ली जाती है, गरचे वह है उनकी संदेहात्मक सफलतामात्र। वह बात है कि प्रेमचंद हिंदी के बहुत लोकप्रिय लेखक थे। देन के रूप में विचार किया जाय, तो यह बात शायद यों रखी जायगी कि प्रेमचन्द ने उपन्यास-कहानी को और हिंदी भाषा को लोकप्रिय बनाया। लेकिन इस दृष्टि से भी देवकीनन्दन खत्री की देन प्रेमचंद से कहीं ज्यादा है : यह खत्री जी के लिए ही कहा गया है कि हजारों अहिंदीभाषी किसी जमाने में हिंदी इसलिए पढ़ते थे कि 'चन्द्रकांता-सन्तति' पढ़ सकें। और, जहाँ तक इस प्रकार की लोकप्रियता का प्रश्न है, मेरा ऐसा विश्वास है कि शरत्चन्द्र के उपन्यास अनूदित होकर जितनी संख्या में हिन्दी-क्षेत्र में बिके उतने प्रेमचन्द के हिन्दी के उपन्यास नहीं, और बाद के भी आँकड़े लिये जायँ, तो हिन्दी के ही कुछ साधारण उपन्यासकार प्रेमचन्द से बाजी मार ले जायँगे। लेकिन मैं नहीं मानता कि किसी को यह कोई साहित्यिक देन है कि वह किसी साहित्यिक रूप को या किसी भाषा को कहाँ तक लोकप्रिय बनाता है।

यदि ये बातें प्रेमचन्द की देन नहीं हैं, तो हैं क्या ? उनकी देन है, और महत्त्वपूर्ण देन है, यह तो सभी मानते ही हैं।

मेरी दृष्टि में प्रेमचन्द की जो देन है, वह साहित्यिक है, समाजशास्त्रीय या राजनीतिक नहीं। उनकी यह महत्त्वपूर्ण देन उपन्यास के स्थापत्य से संबद्ध है। प्रेमचन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले खेवे के अँगरेजी उपन्यासकारों के द्वारा विकसित उपन्यास-स्थापत्य को उतना अधिकृत किया था, जितना उनके समकालीन हिन्दी के दूसरे उपन्यासकार नहीं कर पाये थे। उपन्यास में घटनाओं के यौगपदिक संक्रमण (साइमल्टेनियस प्राग्रेशन) का कौशल आज औसत सफल उपन्यासकार के बाएँ हाथ का खेल है, किन्तु प्रेमचन्द ने उसे तब सिद्ध कर लिया था, जब न केवल हिन्दी के, बल्कि बँगला के उपन्यासकार भी, पाठकों से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्मीयता स्थापित कर, उन्हें कभी आगे बढ़ने और कभी पीछे मुड़ने के लिए लाचार करते थे। दूसरी तरफ, प्रेमचन्द ने बीसवीं शताब्दी के अग्रेसर पाश्चात्य उपन्यासकारों के चेतना के प्रवाह, कैमरा की आँखें, अन्तरालाप (इन्टीरियर मोनोलाग) वाले स्थापत्य-कौशल से अपने को दूर ही रखा। और अवश्य ही न तो पहले प्रकार की कुशलता ही देन है, न दूसरे प्रकार का प्रतिषेध ही। देन तो वह स्थापत्य है, जिसे प्रेमचन्द ने 'गोदान' में परिपूर्ण कर दिखाया है और जिसकी ओर मैंने एकाधिक प्रबन्धों में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराया है। इस स्थापत्य को मैं पूर्णतः समानान्तर स्थापत्य-शैली के नाम से अभिहित करता हूँ, जो स्वयं प्रेमचन्द के ही 'सेवासदन' को सुसंघटित स्थापत्य-शैली और 'प्रेमाश्रम' या 'रंगभूमि' की अंशतः समानान्तर स्थापत्य-शैली से भिन्न है; उपन्यास में चित्रणीय जीवन की तरह शिथिलबंध-सी दीख पड़ने पर भी अनिर्देशनीय योजना में निबद्ध है; और महाकाव्य जैसी उदात्तता, 'ग्रैण्डनेस', का प्रभाव उपन्न करती है।

मैं अभी-अभी कह चुका हूँ कि प्रेमचन्द की वास्तविक देन को हिन्दी के विद्वान् समझ नहीं सके हैं। उनकी इस स्थापत्यात्मक देन के विषय में प्रेमचन्द पर लिखी किसी पुस्तक में प्रतिकूल आलोचना या, कम-से-कम, उदारतापूर्वक क्षमा-दान की भावना मिल सकती है।

स्थापत्यविषयक इस देन की मौलिकता इस बात में है कि वह चित्रणीय जीवन के लिए अनिवार्य आविष्कार है। जैसा कि अँगरेजी कहावत में कहा गया है, इस आविष्कार की भी जननी एक बहुत बड़ी आवश्यकता ही है। वह यह है कि प्रेमचन्द को भारतीय जीवन को उसकी समग्रता में चित्रित करना अभीष्ट था और इसके लिए वे प्रचलित स्थापत्य-शैलियों के माध्यम से प्रयत्न कर भी चुके थे, जैसे, 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' आदि में, किंतु गोदान के इन पूर्व-प्रारूपों की अपूर्णता देखकर, मानों कई बार प्रयोग करने के बाद, वह उसे पा लेते हैं, जिसके लिए वे भटक रहे थे। उनकी यह उपलब्धि 'गोदान' का स्थापत्य है, जिसमें एक साथ ही एक दूसरे से विच्छिन्न-से लगनेवाले ग्राम-भारत और नगर-भारत बलात् ग्रथित भी हो जाते हैं और विकलांग भी नहीं होते।

स्थापत्य का वास्तविक महत्त्व तभी है, जब वह चित्रणीय वस्तु के लिए अनिवार्य परिणाम हो, किन्तु साथ ही साथ विशिष्ट दृष्टिकोण का कारण भी बन सके। अनिवार्य परिणाम और आविष्कार के रूप में 'गोदान' के स्थापत्य का महत्त्व समझने की कोशिश हम कर चुके हैं। इस स्थापत्य के कारण ही 'गोदान' में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण भी बदल जाता है।

दृष्टिकोण, जो स्थापत्य का अनिवार्य अंग है, प्रेमचन्द के उपन्यासों में, धीरे-धीरे, स्थापत्य के परिवर्त्तन के साथ-साथ, एकदम बदल जाता है। आधुनिक युग में, महाकाव्य या प्राचीन आख्यायिकाओं की तुलना में, उपन्यासमात्र में सामान्यतः दृष्टिकोण-सम्बन्धी यह उल्लेखनीय परिवर्त्तन हुआ था कि राजा-रानी या अभिजात मनुष्यों के बदले सामान्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्तर के लोगों का चित्रण-वर्णन शुरू हो गया था। यह हम प्रेमचन्द में भी देखते हैं, जो बड़ी सूक्ष्मता के साथ मध्य-वित्त परिवारों या किसानों और मजदूरों के सुख-दुःख के बारे में लिखते हैं। किन्तु यह परिवर्त्तन स्तर-सम्बन्धी परिवर्त्तन था, दृष्टिकोण-सम्बन्धी नहीं, हालाँकि ऊपर से देखने पर लगता ऐसा ही है और मान भी लिया गया है। हम प्रेमचन्द को ही लें, तो पायेंगे कि समाज के निम्नतम स्तर के पात्रों को भी जब वे अपने पात्रों के रूप में चुनते हैं, तो उनके व्यक्तित्व की विलक्षणता और असाधारणता के लिए। 'रंगभूमि' का सूरदास भिखमंगा तो है, लेकिन साथ ही साथ उसी उपन्यास की रानी जाह्नवी या उनके अभिजात वर्ग के अन्य सदस्यों से भी कहीं अधिक विलक्षण व्यक्तित्व से सम्पन्न है। कहने का मतलब यह कि जीवन का चित्रकार, अर्थात् आधुनिक उपन्यासकार, साधारण मनुष्य की उपेक्षा करता है। वह अब भी मानता है कि पद से कोई महान् हो या न हो, चरित्र और व्यक्तित्व से उसे होना पड़ेगा, अन्यथा वह औपन्यासिक पात्र नहीं बन सकता। किन्तु, 'गोदान' में हम पहली बार देखते हैं कि राय साहब जैसे अभिजात वर्ग के मनुष्य से ही नहीं, बल्कि मेहता और मालती जैसे असाधारण व्यक्तित्ववाले लोगों से भी, नितान्त साधारण ग्रामीण किसान होरी, उपन्यासकार की दृष्टि में, कम महत्त्व का अधिकारी नहीं है, जिसका परिणाम होता है कि पाठक की दृष्टि में भी वह वैसा ही हो जाता है और पाठक समझ भी नहीं पाता कि होरी से उसकी यह आत्मीयता हो कैसे गई।

इस आत्मीयता के स्थापन के लिए प्रेमचन्द होरी की वकालत नहीं करते, पाठक की अश्रु-ग्रन्थियों का संवाहन नहीं करते, उसकी आँखों में उँगलियाँ डाल कर उसे राजनीतिक पाठ नहीं पढ़ाते, वक्तृता नहीं देते, जैसा प्रेमचन्द के समय के अनेक प्रसिद्ध हिन्दीतर उपन्यासकार करते थे और आज हिन्दी के उपन्यासकार भी करते हैं। प्रेमचन्द ने किसानों-मजदूरों के बारे में लिखा है, यह समाजशास्त्रीय विवेचन और महत्त्व का विषय हो सकता है। उन्होंने, अपने ढंग से, फ्लाबेया, चेखव और तुर्गनेव की तरह, साधारणता (कामनप्लेस) को अपने उपन्यासों और कहानियों का उपकरण बनाने का साहस दिखाया है, यह उनकी एक विशिष्ट देन है।

प्रेमचन्द की भाषा की जो सरलता है, उसके पीछे उसके अंगभूत दृष्टिकोण की यही अनिवार्यता काम करती है। शैली की यह सरलता पत्रकारिता की सरलता नहीं है, जीवन की साधारणता को व्यक्त करने की मौलिक और वैशिष्ट्यपूर्ण प्रचेष्टा है। इसीलिए प्रेमचन्द के समकालीनों में से कुछ-एक ने, और बाद के अनेक उपन्यासकारों ने, सरल शैली में लिखा तो अवश्य, किन्तु उनकी सरलता प्रेमचन्द की सरलता नहीं है।

प्रेमचन्द की ये ही तीन देने हैं। वे अनुकरणीय हैं, पर अनुकरण के लिए अत्यन्त कठिन।

—न० वि० शा०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भारतीय तिथि-क्रम

डा० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

[हम 'साहित्य' के प्रस्तुत अंक से डा० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (जो भारतीय इतिहासवेत्ताओं में अपने मौलिक विचारों और नवीन उद्भावनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं) की एक लेखमाला 'भारतीय तिथि-क्रम' का, धारावाहिक रूप से, प्रकाशन आरम्भ कर रहे हैं।

इस प्रकार की तिथि-तालिकाएँ विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथों में अनिवार्य रूप से दी जाती हैं। ऐसी तिथि-तालिकाओं का, साहित्य के अध्येताओं के लिए, अतिशय महत्त्व होता है। डा० त्रिवेद ने राजाओं के साथ ही साथ संस्कृत और, हमारे अनुरोध पर, हिन्दी के प्रमुख लेखकों की तिथियाँ भी अपनी तालिका में सम्मिलित कर दी हैं, जिससे उसका महत्त्व और भी बढ़ गया है।

हमारा विश्वास है, इस उपयोगी लेख-माला का यथोचित स्वागत होगा।

—संपादक]

प्राचीन भारत की काल-गणना निम्नलिखित प्रकार से की जाती है:—

१०० त्रुटि	=	१ तत्पर
३० तत्पर	=	१ निमेष
१५ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
३० कला	=	१ मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ दिवारात्र
३० दिवारात्र	=	१ मास
६ मास	=	१ अयन (दक्षिणायन देवों की रात्रि और उत्तरायण देवों का दिन है।
२ अयन	=	१ वर्ष (देवों का १ दिन-रात)।
१२,००० देववर्ष	=	१ चतुर्युग (१,२०० वर्ष का सत्ययुग, २,४०० वर्ष का त्रेतायुग, ३,६०० वर्ष का द्वापर तथा ४,८०० देववर्ष का कलियुग होता है)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से यह शिक्षा मिले, 'चोरी करने का फल बुरा होता है' वह 'व्यक्ति-विशेष पर जो बीती', या 'संसार में एक व्यक्ति-विशेष की जैसी बीती' नहीं है। वह जीव-प्रधान नहीं, जीवन-प्रधान है, संसार-प्रधान है; जीवनी नहीं हित-गाथा है। इसी तरह जिस उपन्यास में किसी एक व्यक्ति-विशेष की अनुपस्थिति व्यापक ही नहीं बाधक भी हो जाय, अर्थात् जहाँ दूसरे पात्रों को बढ़ने-पनपने न दे, यदि पनपने भी दे तो साग की तरह खोंट कर खुद खा जाने के लिए; जहां पात्रों के विकास में थोड़ी भी भिन्नता तथा स्वतंत्रता न हो, और संसार में शील की, लोगों की, विविधता का पता न चलने पाये, वह उपन्यास जीवनी भी न रह कर विशुद्ध 'चरित' बन जाता है—व्यक्ति के जीवन का ऐसा और उतना ही प्रत्यक्ष जिससे उसके चरित का पता चले।

आश्रय शेखर आलंबन शेखर की कथा को ले कर कहता है, 'कथा का महत्त्व मेरे लिए नहीं है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसी का महत्त्व है।' 'शेखर' में कुछ ऐसे भी पात्र आ जाते हैं जो अपना निराला संस्कार छोड़ जाते हैं, लेकिन ऐसे सभी पात्र शेखर को आहार पहुँचाने वाले हैं। घटनाएँ इनी-गिनी हैं, प्रायः आवृत्ति के चक्र जैसी हैं और मानसिक हैं।

शारदा, सरस्वती, कुमार प्रायः आवृत्ति के चक्र जैसे हैं। मालूम होता है, शेखर के भीतर कोई रंग का बादल है जो एक के बाद दूसरे पर छा जाता है, कोई दोस्ती का मर्ज है जो देखते ही हो जाता है। बाबा मदन सिंह, महसिन, रामजी आदि रूप-भेद से प्रायः एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं। इनके माध्यम से जैसे शेखर अपनी वीर-पूजा कर रहा हो। शेखर में वीरता तथा मौलिकता का जो दंभ है वह जैसे मदन, महसिन और रामजी में साकार हो गया हो। उसमें रामजी ही कुछ थोड़ा अपने ढंग का आदमी है। मदन और महसिन तो शेखर के ढंग के आदमी हैं, भेद यही है कि शेखर इस वीरता के दंभ को विचारक के दंभ से छिपा देता है।

शेखर आद्योपान्त घुटता चलता है, लेकिन उसके लिये पाठक को तनिक भी सहानुभूति नहीं होती है। वह तो सहानुभूति करनेवाले पर ही दया करता, सहानुभूति को अपना अपमान समझता। वह सब को घसीट कर अपने अहं के कुंड में होम कर देता है। शशि, अन्त होते-होते, करुणा अर्जित कर लेती है, लेकिन शेखर कभी शशि को शशि न रहने दे कर शेखर की शशि, 'मैंने, मेरे मौलिक व्यक्तित्व ने पैदा की है यह सुसंस्कृत लाश, जिसे शशि कहते हैं' का इतना प्रकट, स्पष्ट आग्रह करता है कि लगता है घुमा-फिरा कर, सभी के हाथ-पैर तोड़ कर, फिर अपने में जोड़ कर, शेखर ने उन्नत तथा विराट्-विस्तृत होने का प्रयत्न किया हो।

घटनाएँ विशेषतः जिज्ञासा, असमंजस तथा वेदना की हैं। सभी अन्तःप्रधान जगत् की। इसलिए शेखर में एक व्यक्ति-विशेष तो है, लेकिन व्यक्ति-विशेष पर कैसी बीती, क्या बीती, नहीं के बराबर है। शेखर के चलते, उसके व्यक्तित्व की महामौलिकता की आँच में, बेचारे जीवन पर कैसी, बेचारे (अल्प या सामान्य संस्कृत) लोगों पर कैसी बीती, कुछ ऐसी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उल्टी कथा है। इसलिए शेखर काहे को जीवनी होने जाय? प्रयास तो है इसे चरित बनाने का। घटनाएँ बेचारी इसलिए होती हैं कि शेखर उनमें चरितार्थ हो सके।

शेखर आत्म-समीक्षा-प्रधान चरित है, या यों कहिए, रस की कृति नहीं, रासायनिक है। शेखर अपने को भी प्रज्ञा-चक्षु से, अन्तर्मुखी, समन्वित दृष्टि से नहीं देखता, चंचु-विश्लेषण करता है, चोंच से कुरेदता है। उसकी किसी परिस्थिति अथवा शील-व्यंजना पर पाठकों को अपनी कल्पना खर्च करने की आवश्यकता नहीं, अन्तर्यामी शेखर मन का कोना-कोना उनके लिए स्वयं छान डालता है, महल को चुन-चुन कर कंकड़ बना देता है। कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर घटनाएँ अथवा स्थितियाँ शील की भोग-दशा का द्योतक न हो कर शेखर की भाव्य-सामर्थ्य के अवसर जैसी लगती हैं। आत्म-मीमांसा कभी-कभी परिस्थिति से शील के संयत सम्बन्ध को भुला कर, चेतना में तत्क्षण आये दुनिया भर के विषयों की समीक्षा अथवा शताब्दी विचार-पिष्टी का रूप ले लेती है, जिसमें न रूप रह जाता है, न सौरभ, केवल घर्षण अथवा रगड़ का ताप रहता है—प्रवाल भस्म बन जाता है। समूचे 'शेखर' में केवल हम जलते माथे पर हाथ रखे रहते हैं।

किसी सहज हृदय की क्लिष्ट-से-क्लिष्ट जिज्ञासा भी रस-पोषक होती है। उदाहरण लीजिए। अपने अहंकार के क्षुब्ध आवेश में कोई अपने दरवाजे पर किसी का अपमान कर दे, और तब उसे यह झटका लगे, 'अरे, हमने क्या किया? अब इस कर्म का फल क्या मुझे मिल कर ही रहेगा? मिलेगा, तो वाजपेयी को क्यों नहीं मिला जिसने ऐसे कुकर्म किये, वैसे कुकर्म किये? लोग कहते हैं, पूर्वजन्म से प्रारब्ध बना रहता है, तब तो शायद मैंने भी अच्छे कर्म किये हों? क्या ईश्वर क्षमा नहीं करता? यदि ईश्वर क्षमा नहीं करता, तो क्या अपना कर्म ही ईश्वर है?' यहाँ यदि वह आश्वासन खोजता है तो प्रश्न छोड़ कर कहेगा—'नहीं, नहीं ईश्वर अवश्य क्षमा कर देगा। मैं रोऊँगा, हाथ जोड़ूँगा, विनय करूँगा।' उस मौके पर उसे कोई चौपाई सूझ जायगी, अथवा कोई श्लोक या कोई कहावत। यदि वह कुछ कठोर स्वभाव का है तो कहेगा, 'जब अपना कर्म ही है तो हटाओ ईश्वर को। कभी अच्छा कर्म भी करूँगा। जब बुरे कर्मियों को भी अच्छा फल मिलते देखता हूँ तो वाजपेयी की तरह मैं भी बच जाऊँगा। मृत्यु के बाद? मृत्यु के बाद क्या है? देखा जायगा।'

यह मन का एक स्थूल चित्र है, लेकिन प्रत्येक प्रश्न के साथ सहज हार्दिकता लगी हुई है। कभी ग्लानि, कभी बचने की आशा, कभी दूसरे के पतन को देख अपने को क्षमा करने की स्वाभाविक आत्म-प्रवंचना का मिथ्या तोष। लेकिन शेखर तो अपने बड़प्पन से हैरान है। अपनी जिस बौद्धिक संस्कृति पर शेखर को नाज है वह तो मस्तिष्क पर स्मृतियों का बोझ है। दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि के कच्चे कचरे से शेखर की दंभ-वायु कुपित-सी हो गई है। शेखर के ऊपर न तो संसार का बोझ दीखता है, न किसी विपत्ति, न किसी विशेष वेदना का। शेखर के ऊपर सबसे अधिक बोझ उसके माथे का है, इसी से शायद उसे फाँसी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिपूर्व		ई० पू०
२३३२	कुवलयाश्व, प्रांशु ।	५४३३
२३०४	दृढाश्व ।	५४०५
२२७६	प्रमोद, सुकेतु ।	५३७७
२२४८	हर्यश्व प्रथम ।	५३४९
२२२०	निकुंभ, प्रजनि ।	५३२१
२१९२	संहताश्व, देवव्रत ।	५२९३
२१६४	अकृशाश्व ।	५२६५
२१३६	प्रसेनजित् ।	५२३७
२१३१	याज्ञवल्क्य, शाकल्य ।	५२३२
२१०८	यौवनाश्व द्वितीय, खनित्र, बृहदुक्त	५२०९
२०८०	मान्धाता ।	१५१८
२०५२	पुरुकुत्स ।	५१५३
२०२४	त्रसदस्यु, महावीर्य ।	५१२५
२०२०	महामनस् का पश्चिमोत्तर से प्राची पर आक्रमण ।	५१२१
१९९६	संभूत, क्षुप ।	५०९७
१९६८	अनरण्य, उशीनर, तितिक्षु ।	५०६९
१९४०	त्रसदस्यु द्वितीय, धृतिमन्त ।	५०४१
१९१२	हर्यश्व द्वितीय ।	५०१३
१८८४	वसुमनस, विंश ।	४९८५
१८५६	त्रिधन्वा; सुधृति ।	४९५७
१८२८	त्रय्यारुण ।	४९२९
१८००	सत्यव्रत (त्रिशंकु), विश्वामित्र, विविंश, धृष्टकेतु ।	४९०१
१७७२	हरिश्चन्द्र, रुपद्रथ ।	४८७३
१७४४	रोहित ।	४८४५
१७१६	हरितचंचु, खनिनेत्र, हर्यश्व ।	४८१७
१६८८	विजय ।	४७८९
१६६०	रुरुक ।	४७६१
१६३२	वृक, करन्धय, मरु, सुतपस् ।	४७३३
१६१३	जुलियन संवत् का प्रारम्भ ।	४७१४
१६०४	बाहु, अवीक्षित ।	४७०५
१५७६	वैशाली का मरुत्त ।	४६७७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

त्रेतायुग का आरंभ

कलिपूर्व		ई० पू०
१५४८	सगर, नरिष्यन्त, बली, बक्सर में वामन का अवतार।	४६४६
१५२०	असमंजस, दम, दुष्यन्त-शकुन्तला।	४६२१
१४६२	अंशुमन्त, अंग ने अपने वंश की स्थापना की।	४५६३
१४६४	दिलीप प्रथम, राष्ट्रवर्द्धन, कीर्तिरथ।	४५६४
१४३६	भगीरथ[1] ने गंगा का परिष्कार किया, सुधृति।	४५३७
१४०८	श्रुत, नर।	४५०६
१३८०	नाभाग, केवल, देवमीढ, दधिवाहन।	४४८१
१३५२	अम्बरीष, दुर्वासा ऋषि, बन्धुमन्त।	४४५३
१३२४	सिंधुद्वीप, वेगवन्त।	४४२५
१२६६	अयुतायु, बुध, विबुध।	४३६७
१२६८	ऋतुपर्ण, नल-दमयन्ती, दिविरथ, हस्तिन्।	४३६६
१२४०	सर्वकाम, तृणबिन्दु।	४३४१
१२१२	सुदास, विश्रवस्, महाधृति, धर्मरथ।	४३१३
१२११	दाशराज्ञयुद्ध।	४३१२
११८४	कल्माषपाद, राजा विशाल ने अपनी राजधानी वैशाली बनाई।	४२८५
११५६	अश्मक, हेमचन्द्र।	४२५७
११२८	मूलक, सुचन्द्र, कीर्तिरथ।	४२२६
११००	शतरथ, धूमाश्व, चित्ररथ।	४२०१
१०७२	ऐडविड्, संजय।	४१७३
१०४४	विश्वसह, सहदेव, महारोमन्।	४१४५
१०१६	दिलीप (खट्वांग), कृशाश्व, सत्यरथ।	४११७
६८८	दीर्घबाहु, स्वर्णरोमन्।	४०८६
६६०	रघु, सोमदत्त।	४०६१
६३२	अज, जनमेजय, ह्रस्वरोमन्।	४०३३
६०४	दशरथ, प्रमति, सीरध्वज, लोमपाद, ऋष्यशृङ्ग, रावण।	४००५
८७६	भानुमन्त, वैशाली राज-वंश का अन्त; वाल्मीकि।	३६७७

द्वापर युग का आरंभ

८७५	राम का राज्याभिषेक।	३६७६

१—श्री गंगाजी, गीताधर्म; काशी, १६६५ देखें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिपूर्व		ई० पू०
८४८	प्रद्युम्न, चतुरंग, नीप ।	३९४९
८२०	कुश, च्यवन ।	३९३१
७९२	अतिथि, ऊर्जवाह ।	३८९३
७६४	निषध, सनध्वज, पृथुलाक्ष, सुदास ।	३८५१
७३६	बल, शकुनि ।	३८३८
७०८	नभास, अंजन, चम्प ने अपने नाम की चम्पा राजधानी बसाई ।	३८०९
६८०	पुण्डरीक, ऋतुजित् ।	३७८१
६५२	क्षेमधन्वन्, अरिष्टनेमि, हर्यङ्ग ।	३७५३
६२४	देवानिक, श्रुतायुष ।	३७२५
५९६	अहीनगु, सुपार्श्व, भद्ररथ ।	३६९७
५६८	परिपात्र, संजय ।	३६६९
५४०	बल, क्षेमारि ।	३६४१
५१२	उक्थ, अनेनस, बृहत्कर्मन् ।	३६१३
४८४	वज्रनाभ, सीनरथ, बृहद्रथ ने मगध में राज्य आरंभ किया और गिरिव्रज में राजधानी बसाई ।	३५८५
४५६	संखन, सत्यरथ, कुशाग्र ।	३५५७
४२८	व्युषिताश्व, उपगुरु, बृहद्रथ ।	३५२९
४००	विश्वसह, उपगुप्त, ऋषभ ।	३५०१
३७२	हिरण्यनाभ, स्वागत, बृहद्भानु, पुष्यवन्त ।	३४७३
३४४	पिष्य, सुवर्चस् ।	३४४५
३१६	ध्रुवसंधि, श्रुत, बृहन्मनस्, सत्यहित ।	३४१७
२८८	सुदर्शन, सुश्रुत, सुधन्वा ।	३३८९
२६०	अग्निवर्ण, जय, जयद्रथ ।	३३६१
२३२	शीघ्र, विजय, ऊर्ज ।	३३३३
२०४	मरु, ऋत, दृढरथ ।	३३०५
१७६	प्रसुश्रुत, सुनय, संभव, वृद्धशर्मन् ।	३२७७
१४८	सुसंधि, वीतहव्य ।	३२४९
१२०	अमर्ष, धृति, विश्वजित्, जरासंध, दन्तवक्त्र, गोनन्द[1] प्रथम । उग्रसेन वासुदेव, वंस ।	३२२१

१—काश्मीर-राज-वंशावली, जर्नल आफ इण्डियन हिष्ट्री, मद्रास, १९३६। पृ० ४९ देखें ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिपूर्व		ई० पू०
१०५	कृष्णजन्म ।	३२०६
६४	कंसवध ।	३१६५
६२	विश्रुतवन्त, बहुलाश्व, दामोदर ।	३१६३
४०	बृहद्बल, कृतक्षण, कर्ण, यशोवती ।	३१६५
५०	जरासंधवध, सहदेव[1] का राज्याभिषेक ।	३१५१
४६	चतुर्वेद का अंतिम सम्पादन[2] ।	३१४७
३६	महाभारत[3] युद्ध, परीक्षितजन्म, गोनन्द द्वितीय, कृष्ण, अश्वत्थामा धृष्टद्युम्न, सहदेव, शिशुपाल	३१३७
३५	बृहत्क्षय, कृपसेन, सोमाधि	३१३६
६	कृष्ण का वध	३१०२

कलियुग का आरंभ

कलि-संवत्		
०	पाण्डवों का राज्य-त्याग, परीक्षित का अभिषेक ।	३१०१
१०	शतपथ ब्राह्मण ।	३०६१
२१	यास्क का निरुक्त ।	३०८०
२	मार्जारि ।	३०६६
१६	हार्णदेव ।	३०८२
२२	श्रुतश्रवस्, अग्रतीपी ।	३०७६
२५	सप्तर्षि-संवत् का आरंभ ।	३०७६
२७	कुलशेखर अलवार ।	३०७४
४३	शठगोप ।	३०५८
४६	रामदेव ।	३०५२

१—मगध राजवंश 'साहित्य', पटना, १६५३ देखें ।

२—अन्यमत— मोक्षमूलर २३०० कलिसंवत्; मुग्धानल २१००; हाग १७०० ग्रिफिथ १६००; पार्जिटर ११००; तिलक ३०००: अविनाशचन्द्र दास २७०००; दीनानाथ शास्त्री चुलैट २०,०००; नारायण भूभावन राव पावमी २,४०,००० कलिपूर्व; दयानन्द १,६७,२६,४६,६६५ वर्षपूर्व ।

३-अन्य—ई० पू० ५७५ बेंटले; ६५० पार्जिटर: १३५१ प्रधान; १३७० विलसन; १४२४ जायसवाल; १६१३ शामशास्त्री; १८६७ (हिष्ट्री आफ बिहार) १६२२ विद्याभूषण; २४०० सत्यव्रत सभाश्रमी ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलि-संवत्		ई० पू०
८२	अयुतायु ।	३०१६
११८	निरमित्र, शर्ममित्र, व्यासदेव ।	२६८३
१५८	सुरक्ष ।	२६४३
१७४	द्रोण ।	२६२७
२१६	बृहत्कर्मा ।	२८८५
२३२	सिंहदेव ।	२८६६
२३६	सेनजित् ।	२८६२
२८६	गोपालदेव ।	२८१५
२८६	शत्रुंजय, महाबल ।	२८१२
२६६	विजयदेव ।	२८०२
३२४	सुखदेव ।	२७७७
३२६	विभु ।	२७७२
३२८	भरतनाट्यम् ।	२७७२
३५७	शुचि ।	२७४४
३६८	रमानन्द ।	२७३३
४२१	क्षेम ।	२६८०
४२५	संधिमान् ।	२६७६
४४६	क्षेमक, अनुवर्त ।	२६५२
४६०	महार्णदेव, कामन्ददेव ।	२६११
५१३	सुनेत्र ।	२५८८
५४५	चन्द्रदेव ।	२५५६
५४८	निवृति, एमन ।	२५५३
५५०	छान्दोग्योपनिषद् ।	२५५१
५६७	आनन्द ।	२५०४
६००	चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोला में गोमत स्थापित किया ।	२५०१
६०६	त्रिनेत्र, सुश्रम ।	२४६५
६२५	द्रुपददेव ।	२४७६
६४४	दृयुमत्सेन ।	२४५७
६७६	हरनाम देव ।	२४२५
६६२	महीनेत्र, सुमति ।	२४०६

[क्रमशः]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गौतमस्वामी का रास और उसके रचयिता

श्री अगरचन्द नाहटा

गौतम स्वामी का रास जैन समाज में बहुत प्रसिद्ध कृति है। मारवाड़ में, विशेषतः खरतरगच्छीय जैन श्रावक तो प्रतिदिन प्रातःकाल इसका पाठ बड़े ही भक्ति-भाव से करते हैं। ६०० वर्ष की प्राचीन रचना होने से यद्यपि यह रास अब सुबोध नहीं रहा, फिर भी इस रास का इतना अधिक प्रचार और लोकादर इसके रचना-वैशिष्ट्य का ज्वलंत उदाहरण है। नित्य स्मरणीय पाठ-संग्रह में और प्रतिक्रमण आदि की पुस्तकों में यह अनेकों बार छप चुका है। अधिक प्रसिद्धि के कारण इसकी भाषा में थोड़ा परिवर्तन हो गया है। भाषा और भाव उभय दृष्टि से यह रास बहुत ही सुन्दर है।

प्राचीन भाषा-कृतियों में सबसे पहले सम्भवतः यही रास प्रकाशित हुआ। सं० १९४४ में यति मोहनलाल जी संपादित 'रतनसागर' नामक ग्रंथ में संभवतः यह सबसे पहले छपा, फिर तो सं० १९४५ में भीम मणिक द्वारा प्रकाशित 'जैन-प्रबोध' में और अन्य अनेक ग्रंथों में यह छपता ही गया। इस रास के वास्तविक रचयिता, खरतरगच्छीय उपाध्याय विनयप्रभ हैं। पर कई हस्तलिखित प्रतियों में 'उदयवन्त मुनि इम् भणे' और कहीं 'विजयभद्र मुनि इम् भणे' पाठ भ्रमवश या स्मृति-दोष से लिखा मिलता है। इसलिए इसके रचयिता के सम्बन्ध में साहित्यिक विद्वानों में बड़ा भ्रम है। हिन्दी जगत् को इसका सर्वप्रथम परिचय देनेवाले पंडित नाथूराम जी प्रेमी हैं। उन्होंने जैन-प्रबोधादि ग्रंथों के अनुसार अपने 'हिन्दी जैन-साहित्य का इतिहास' नामक निबन्ध, जो कि सप्तम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, जबलपुर के अधिवेशन के लिए, सं० १९७३ में लिखा गया था, के पृष्ठ ३२ में इस रास का विवरण इस प्रकार छपा है :

"१—गौतमरास। १५ वीं शताब्दि का सबसे पहला ग्रंथ गौतमरास मिला है। इसे सं० १४१२ में उदयवंत या विजयभद्र नाम के श्वेताम्बर साधु ने बनाया है। पाटण में इसकी एक प्रति १५ वीं शताब्दि के उतरार्द्ध की लिखी हुई मिली है। यह ग्रंथ छप भी गया है पर शुद्ध नहीं छपा है।"

प्रेमी जी के अनुकरण में ही मिश्र-बन्धुओं ने भूल की और यह भूल कई अंशों में आज भी ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसलिए प्रस्तुत निबन्ध द्वारा उसका संशोधन कर देना आवश्यक समझा गया।

सन् १९४७ में प्रकाशित कामताप्रसाद जैन के 'हिन्दी जैन-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ ६५ में प्रेमी जी के ग्रंथ के अनुसार 'गौतमरास को सं० १४१२ वि० में उदयवन्त अथवा विजयभद्र नामक श्वेताम्बर साधुओं ने रचा था' लिखा गया है। सन्

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१९४८ में प्रकाशित रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के द्वितीय संस्करण के पृष्ठ १३५ और १४२ में गौतमरास के रचयिता का नाम 'विजयभद्र' दिया है। अभी-अभी प्राप्त जैन सिद्धान्त-भास्कर के भाग २०, किरण २ में प्रकाशित प्रो० रामकुमार जैन के 'अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक लेख में प्रेमीजी के उल्लेख के आधार पर इस भूल को पुनः दुहराया गया है। इसलिए इस लेख को प्रकाशित करना और भी आवश्यक हो गया। यद्यपि इस भ्रम को संशोधन स्वर्गीय मोहनलाल देसाई ने अपने 'जैन गुजर कवियो', भाग १, पृष्ठ १५ की टिप्पणी में सं० १९५२ में ही, कर दिया था। पर विद्वानों का ध्यान प्रायः उस ओर नहीं गया। उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि प्रसिद्ध 'गौतम स्वामी ना रासना कर्ता तरीके विजयप्रभ (उदयवन्त) ए नाम प्रचलित हेव। परन्तु वास्तविक रीते ते रास ना कर्ता नुं नाम विनयप्रभ उपाध्याय हवे।' प्रमाण के रूप में उन्होंने खरतरगच्छ-पट्टावली का उद्धरण भी दिया था, जिसमें बतलाया गया है कि जिन कुशल सूरि जी ने विनयप्रभादि-शिष्यों को उपाध्याय पद दिया। इन विनयप्रभ उपाध्याय ने अपने भ्राता के निर्धन हो जाने पर उसके सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए यह मंत्र-गर्भित गौतम रास बनाया। जिसके पाठ से उनका भाई धनवान् हो गया।

वास्तव में इस चमत्कार के कारण ही इस रास की इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई और यह नित्य पठनीय बना। इसकी सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। इस भाषा-काव्य पर संस्कृत में भी एक टीका रची गई, जिसकी अपूर्ण प्रति चित्तौड़ के यति बालभेद जी के संग्रह में, मेरे अवलोकन में आई है। इस रास की भाषा के प्राचीन होने से उसके अर्थ समझने में कठिनाई होने लगी तो, जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर ने इसका गुजराती में अर्थ भी प्रकाशित किया है।

हमें इस रास की सबसे प्राचीन प्रति, रचना के १८ वर्ष बाद की, सं० १४३० की कार्तिक शुक्ला प्रतिपद् को तेजकीर्त्ति महात्मा लिखित बीकानेर के बड़े ज्ञान भंडार में प्राप्त हुई है। उसमें ग्रंथ के रचयिता एवं रचना-समय और स्थान का उल्लेख इस प्रकार है—"देवह धुरि अरिहन्तु नमीजई, विजयप्पह उवझाई थूणी जई। इण मंत्रिहि गोयमु नमउ ॥४३॥"

"चउदह सय बरोतर बरसिहि, गोयम गणहर केवल दिवसिहि। किउ कवित्तु उपगार परो। आदिहि मंगलु से पभणि जइ, परवि महोच्छउ पहिलउ दीजइ, रिधि वृद्धि कल्याण करो ॥४५॥

इति श्री गौतम स्वामी रासः श्रीस्तम्भ तीर्थविहारे श्रीविनयप्रभोपाध्यायैः कृतः॥"

सं० १५०५ की प्रति में 'गोयम गणहर केवल दिवसिहि' पाठ के स्थान पर 'खंभ तयरि श्री पासह पसाइहि' पाठ मिलता है। अर्थात् सं० १४१२ की कार्त्तिक शुक्ला प्रतिपद्, जो कि गौतम स्वामी के केवल-प्राप्ति का दिवस है, के दिन खंभात में इसकी रचना विनयप्रभ उपाध्याय ने की। इस रास के भिन्न-भिन्न संस्करणों की पद्य-संख्या में बहुत अन्तर पाया

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाता है। किसी में ४५ गाथाएँ दी हैं तो किसी में ४७ से ६० तक का पद्यांक भी मिलता है। वस्तुतः पाठ में कोई अन्तर नहीं है। छंद को छोटा-बड़ा मानकर गाथाओं के संख्या-सूचक अंक लगाने में ही गड़बड़ी कर दी गई है।

रासकार-परिचय—

इस रास के रचयिता की दीक्षा सं० १३८२ की वैशाख सुदी पंचमी के दिन भीमपल्ली में जिनकुशल सूरि के करकमलों से हुई थी। सं० १४१२ के पूर्व आपको उपाध्याय पद मिल चुका था, यह तो रास से स्पष्ट है ही। खरतरगच्छीय 'विज्ञप्ति-महालेख' के अनुसार सं० १४३१ में इगुंजय के यात्री-संघ के साथ महोपाध्याय विनयप्रभ घोघाबन्दर में सम्मिलित हुए थे। इसके बाद उदयन्त (गिरनार) की यात्रा, उनके थोड़े समय पूर्व की होने से, शारीरिक अस्वस्थता-वश वे खंभात चले गये। अतः संभव है, सं० १४३२-३३ में आपका स्वर्ग-वास वहीं हुआ हो।

उ० विनयप्रभ की कृतियाँ—

आपकी 'नरवर्म-कथा' की रचना भी सं० १४१२ में खंभात में हुई थी। इसके अतिरिक्त आपके करीब २० स्तोत्र, संस्कृत और लोकभाषा में रचे हुए, उपलब्ध हैं। आपने अपना उपनाम कई स्तोत्रों में 'बोधिबीज' भी दिया है।

जैसा कि पहले कहा गया, गौतमरास बहुत सुन्दर भाषा-काव्य है और अनेकबार छप जाने पर भी वह बिल्कुल शुद्ध रूप में नहीं छपा। अतः सं० १४३० की प्रति की नकल हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

इस रास में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है—भगवान् महावीर के प्रथम एवं प्रधान शिष्य गौतमस्वामी का जीवन-चरित्र है। आपका मूल नाम इन्द्रभूति था, गौतम आपका गोत्र था। पर भगवान् महावीर ने आपको गोत्र के नाम से ही अधिक पुकारा है। जैन आगमों में अनेक जगह, विशेषतः भगवती-सूत्र में, महावीर ने 'गौतम' सम्बोधन के साथ आपके प्रश्नों का उत्तर दिया है। इसी से आपका मूल नाम इन्द्रभूति प्रसिद्ध न होकर गौतम स्वामी नाम विख्यात हुआ। आपकी अनेक स्थानों में मूर्तियाँ पूजी जाती हैं।

आपका जन्म मगध देश के राजगृह के समीप 'गुब्बर' गाँव में हुआ था। वसुभूति आपके पिता का नाम था और माता का नाम पृथ्वी था। आपकी देह की ऊँचाई सात हाथ थी। आप बड़े प्रभावशाली, रूपवान् और बुद्धिनिधान थे। पाँच सौ छात्र आपसे शिक्षा प्राप्त करते थे। आपका गृहस्थ-जीवन बड़ा सुखमय था।

एकबार, केवल-ज्ञानी भगवान् महावीर पावापुरी पधारे। समवसरण की रचना हुई। हजारों नर-नारी और देवता उनके उपदेश सुनने को एकत्र हुए। इसी समय आप भी (इन्द्रभूति) यज्ञ के प्रसंग में अपने साथियों एवं शिष्यों के साथ वहाँ आये हुए थे। आपने देव-विमानों को आते हुए देखकर सोचा कि ये हमारे यज्ञ के प्रभाव से मेरे पास आ रहे हैं। पर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जब वे देव सीधे समवसरण में पहुँचे तब आपके आश्चर्य एवं क्रोध का ठिकाना न रहा। आपने विचारा कि मेरे सामने यहाँ कौन ऐसा है, जिसके पास देवगण मुझे छोड़कर जा रहे हैं। अभिमानवश आप वाद-विवाद करके विजय प्राप्त करने के लिए भगवान् महावीर के समवसरण में अपने शिष्यों के साथ पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही महावीर ने आपको 'इन्द्रभूति' के नाम से पुकारा और आपके सारे संशय वेद के पदों द्वारा ही निवर्त्तित कर दिये। इससे पाँच सौ शिष्यों के साथ आप भगवान् महावीर के शिष्य हो गये। सबसे पहले आपने ही दीक्षा ली थी। इसलिए आप प्रथम गणधर कहलाए। इसके बाद आपके भ्राता अग्निभूति भी भगवान् महावीर के पास आए और प्रतिबोध प्राप्त किया। अनुक्रम से ११ प्रधान वेदज्ञाताओं ने भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया। इस प्रकार ११ गणधरों की स्थापना हुई।

आप दो-दो उपवास का तप करते हुए आहार-ग्रहण (पारणा) करते थे। जिस समय जो संशय उत्पन्न होता, भगवान् महावीर से पूछ कर निस्संशय बन जाते। (दोनों के पारस्परिक प्रश्नोत्तर भगवती-सूत्रादि में आज भी प्राप्त हैं) आपका यह एक अतिशय था कि आपके पास जो भी दीक्षित होते उन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हो जाता। पर आप स्वयं भगवान् महावीर के प्रति अनुराग रखने के कारण केवली न बन सके। भगवान् महावीर ने आपको राग-भाव छोड़ने को कहा, पर वह आजीवन न छूटा।

एकबार, 'अष्टापद के २४ जिनालयों की यात्रा करनेवाला इसी भव में मोक्षगामी होता है'—भगवान् महावीर का यह वचन सुनकर आत्मशक्ति के द्वारा आप उस पर्वत पर पहुँचे। पर्वत के रास्ते में १५०३ तापस तपस्या कर रहे थे। उन्होंने देखा कि आप सूर्य की किरण को पकड़ कर ऊपर चढ़ रहे हैं, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

अष्टापद पर प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के पुत्र भरत के बनाये हुए दंड-कलशाणध्वज-विभूषित जिनालय थे। २४ तीर्थंकरों के अपने-अपने शरीर के प्रमाण की मूर्तियाँ उन जिनालयों में चतुर्दिक् विराजमान थीं। आपने उनकी वंदना की और वहाँ वज्रस्वामी के जीव-तिर्यक् जृंभिकदेव का 'पुंडरीक' और 'कंडरीक' के अध्ययन द्वारा प्रतिबोध किया। लौटते समय वे १५०३ तापस भी आप से प्रबोध पाये। उनको साथ लेकर आप महावीर के निकट जा रहे थे। रास्ते में आपने एक पात्र में, अंगूठा डुबाकर सब तापसों को खीर, खाँड, और घी पान कराया। सच्चे गुरु का संयोग मिलने से ५०० तापस तो वहीं केवली बन गये। पाँच सौ को समवसरण देखते ही कैवल्य-ज्ञान हो गया और अवशेष को महावीर की वाणी सुनकर कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हुआ। इस तरह वे सब तापस केवली बनकर जहाँ उनके लिए स्थान नियत थे जाकर बैठ गये। आपको यह देखकर बड़ा ही विषाद हुआ कि मेरे सब दीक्षित केवली हो जाते हैं पर मुझे ही कैवल्य-ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तो भगवान् महावीर ने आपको आश्वस्त करते हुए कहा कि गौतम, खेद मत कर, भव में हम और तुम दोनों बराबर ही मोक्षगामी होनेवाले हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७२ वर्ष की आयु में एक दिन भगवान् महावीर पावापुरी पधारे और देवशर्मा के प्रतिबोध के लिए निकटवर्त्ती ग्राम में गौतम को भेज दिया। इधर भगवान् महावीर का निर्वाण (कार्तिक वदी १५ को) हो गया। यह सूचना मिलते ही आप उद्विग्न होकर विरह व्यक्त करने लगे कि हे प्रभो! लोक-व्यवहार में अन्त समय अपने कुटुम्बीजनों को पास बुलाया जाता है पर आपने मुझे उल्टा दूर भेजकर उस लोक-व्यवहार का भी पालन नहीं किया। आपने सोचा होगा कि गौतम बालक की तरह पीछा पकड़ कर मुझसे कैवल्य मांगेगा। आपने मुझे भुलावे में डाल दिया, सच्चा स्नेह प्रकट नहीं किया। इस तरह विलाप करते हुए आपमें ज्ञान का प्रकाश हुआ। आपने सोचा महावीर तो वीतराग थे, उनके साथ राग-भाव कैसा? बस, स्नेह का बन्धन टूटा और आपको कैवल्य-ज्ञान उत्पन्न हुआ। देवों ने इसकी महिमा गाई!

आप ५० वर्ष तक गृहस्थावास में रहे। ३० वर्ष तक संयम पालन किया। १२ वर्ष तक केवली के रूप में विचरे। कुल ९२ वर्ष की आयु में आप मोक्षगामी हुए।

गौतमरास का यही संक्षिप्त सार है। अन्त के पद्यों में गौतम की महिमा बड़ी सुन्दर उपमाओं के साथ वर्णित की गई है। भगवान् गौतम बिहार प्रान्त के ही निवासी थे और उनका उपदेश-क्षेत्र भी सबसे अधिक बिहार प्रान्त ही रहा।

गौतम स्वामी जैन समाज के लिए तो आदरणीय हैं ही, पर बिहार-निवासियों के भी वे वन्दनीय हैं। आज भी उनकी स्मृतिस्वरूप 'गुणावा' नामक जैन तीर्थ बिहार में विद्यमान है। हजारों यात्री प्रतिवर्ष पावापुरी और राजगृह की यात्रा के प्रसंग में वहाँ भी पहुँचते हैं। पावापुरी की भाँति गुणावा में भी जलपूर्ण सरोवर के बीच जैन-मन्दिर सुशोभित है।

गौतम स्वामी का पुण्यनाम बड़ा ही प्रभावशाली है। वे बड़े लब्धि-शक्ति-सम्पन्न थे। बिहार उनके नाम-स्मरण द्वारा पुनः गौरव प्राप्त करे, यही मंगल-कामना है।

गौतम-स्वामी-रास

उपाध्याय विनयप्रभ-रचित

[रचना-संवत् १४१२]

वीर जिणेसर चरण कमल, कमलाकय वासो।
पणमवि पभणिसु सामि साल, गोयम गुरु रासो।
मण तणु वयणु एकंतिकरवि, निसुणह भेभिविया।
जिम निवसहं तुम्ह देह गेहि, गुणगण गह गहिया ॥१॥
जंबू दीविसिरि भरह खित्ति, खोणितल मंडणु।
मगध देसु श्रेणिय नरेसु, रिउ दल बल खंडणु।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

धणवंर गुब्बर नाम गामु, जहि जण गुण सज्जा।
विप्रु वसइ वसुभूइ तत्थ, जसु पुहवी भज्जा ॥२॥
ताण पुत्तु सिरि इंदभूइ भूवलय पसिद्धउ।
चउदह विद्या दिविह रूव, नारी रसि विद्धउ॥
विनय विवेक विचार सार गुण गुणह मनोहरू।
सात हाथ सुप्रमाण देह, रूवि रंभावरू ॥३॥
नयण वयणकर चरणि जिणवि, पंकज जालि पाडिय।
तेजिहिं तारा चन्द सूर, आकासि भमाडिय॥
रूविहि मंयणु अनंग करवि, मेल्हिउ निद्धाडिय
धीरिम मेरु गंभीर सिंधु, चंगिमचय चाडिय ॥४॥
पिक्खवि निरुवम रूवु जस्स, जण जंपइ किंचिय।
एकाकी कलि भीत इत्थ, गुण मेल्हा संचिय॥
अहवा निश्चइं पुव्व जम्मि, जिणवरू इणि अंचिय।
रंभा पउमा गउरि गंग, रतिहा विधि वंचिय ॥५॥
नहि बुध, नहि गुरु, कवि न कोवि; जसु आगइ रहियउ।
पंचसयं गुण पात्र छत्रि, हिंडइ परिबरिउं॥
करइ निरन्तर जज्ञकरम, मिथ्या मति मोहिय।
इणि छलि होसिइ चरण नाण; दंसणह विसोहिय॥

वस्तु—जंबूदीवह २ भरह वस्तु वासंमि भूमीतल मडणउ।
मगध देसु श्रेणिय नरेसरू।
वर गुब्बर ग्रामुतहिं विप्रु वसइ वसुभूइ सुन्दर।
तस भज्जा पुहवी सयल, गुणगण रूव निहाणु।
ताण पुत्तु विद्या निलउ, गोयमु अतिहिं सुजाणु ॥७॥

भास— चरम जिणेसर केवल नाणी, चउविह संघ पथट्टर जाणि।
पावापुरि सामिय संपत्तउ, चउविह देव निकायह जुत्तउ ॥८॥
देवे समवसरणु तहिं कोजंइ, जिणि दोठइ मिथ्यामति खीजइ।
त्रिभुवन गुरु सिंहासणि वयट्ठउ, ततरिवण मोह दिगंति पइट्ठउ ॥९॥
क्रोध मान माया मद पूरा, जाइ नाट्टा जिम दिणि चूर।
देव दुंदभि आकासिहिं बाजी, धर्म नरेसरू आविउ गाजी ॥१०॥
कुसुमवृष्टि विरचइं तहिं देवा, चउसठिं इन्द्र समागय सेवा।
चामर छत्र सिरोवरि सोहइ, रूविहिं जिणवर जग संमोहइ ॥११॥
उपसम रस भरु भरि वरसंता; जोजन वाणि व वखाणु करंता।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाणवि बद्धमाणु जिण पाया, सुरतर किंनर आवइं राया ॥१२॥
कंत समूहिं झूल झलकंता, गयणि विमाणा रणरण कंता ।
पिक्खवि इंदभूइ मणि चिंतइ, सुर आवइं अम्हजन्य हुउंतइ ॥१३॥
तीरितरंडक जिमते वहता, समवसरणि पुहुता गह गहता ।
तउ अभिमानिहिं गोयमु जंपइ, इण अवसरि कोपिहिं तणु कंपइ ॥१४॥
मूढालोक अजाणिउ बोलइ, सुरजाणंता इमकाइ डोलइ ।
मूंआगइको जाणु भणिजइ, मेरह अवरि किंडपम दीजइ ॥१५॥

वस्तु—वीर जिणावरू नाण संपन्नु
पावापुरि सुरसहि उपन्नु नाहु संसय तारणु ॥
नहिं देविहि निम्मविउ समवसरणु बहु सुक्ख कारणु
जिणवरूजगु उज्जोयकरु, तेजिहिंकरि दिणकारु ॥१६॥
सिंहासणि सामिय ठियउं हूयउ जयजयकारु ॥

भास— तउ चंद्रियउ घणमान गजे, इन्द्रभूइ भुदेवु ।
हुंकारउ करि संचरिउ, कवण सुजिणवरु देवु ॥
जोजन भूमि समोसरणु, पेखइ प्रथमारंभि ।
दस दिसि देखइ विबुधवधू, आवंति सरंभि ॥१७॥
मणिमय तोरण दंड धज, कउसीसे नवघाट ।
वयर विवर्जितु जंतुगण; प्रातिहारिज आठ ।
सुरनर किन्नर अरवर, इंद इंद्राणि राय ।
चित्तिय मुक्किउ चींतव ए, सेवंता प्रभु पाय ॥१७॥
सहस किरण जिम वीर जिणु, पेखवि रूव विसालु ।
एहु असंमे भुसंभवए, साचउं अह इंद्रियालु ।
तउ बोलावइ मिजग गुरो, इन्द्रभुइ नामेण ।
श्रीमुख संसा सामि सवि, फेडइ वेदू पएण ॥१८॥
मानु मेल्हि मद ठेलि करे, भगतिहिं नामइ सीसु ।
त पंच सए सिउंव्रत लियए, गोयमु पहिलउ सीसु ॥
बंभव संजमं सुणवि करे, अगनिभूइ आवेइ ।
नामं लेइ आभाखि करे, तं पुण प्रति बोधेई ॥१९॥
इणि अनुक्रमि गणहर रयण, थाप्पा वीरि अग्यार ।
तउ उपदेसइ भुवन गुरो, संजम सउं व्रत बार ॥
बिहु उपवासहं पारणए, आदाण पइ विहरंति ।
गोयम संजमि जग सयलो, जयजयकारु करंति ॥२०॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वस्तु—इन्दभूईय २ चंद्रिय बहुमानि
हुंकारइ कंपतउ समवसरणि पहुतउ तुरंतउ ।
अह संसय समि सवि, चरमनाहु फेडइ फुरंतउ ।
वस्तु—बोध बीज संजायमनि, गोयमु भवह
दिक्ख लेइ सिक्खा सहिय, गुणहर पय संपत्तु ॥२१॥
भास—आज हूयउं सुविहाणु, आजु पचेलिम पुन्न भरो ।
दीठउ गोयमु सामि, जडनिय नयणे अमिय सरो ।
समवसरण मज्झारि, जे जे संसय ऊपजइं ।
ते ते पर उपगार, कारणि पूछइ मुनि पवरो ॥२२॥
जो यह दे अए दीख, तो यह केवलु ऊपजए ।
आप कन्हइ अणहूंतु, गोयमि दीजइ दाणु इम
गुरू ऊपरि गुरू भत्ति, सामिय गोयम ऊपनीय ।
इण छलि केवल नाणु, राग जु राखइ रंगु करे ॥२३॥
जो अष्टापदि सेलि, वांदइ चडिउ चउवसि जिण ।
आतम लवधि वसेण, चरम सरीरी सोजि मुनि ॥
ईय दंसण निसुणेवि, गोयम गणहरु संचलिउ ।
तापस पनर सएहिं, तउ मुनि दीठउ आवतउ ॥२४॥
तप सोसिय निय अंग, अम्हह सकतिन ऊपजइए ।
किम चडिसिह दढ़काय, गज जिम दीसइ गाजतउं ।
गरूइ इणि अभिमानि, तापस जां मनि चींतवइं ।
ता मुनि चडिउ वेगि, आलंबवि दिनकर किरण ॥२६॥
कंचण मणि निष्पन्न, दंड कलस धयवउ सहिउ ।
पेखइ परमांणदि जिणहरू भरथेसरू विहंडि ।
निय निय काय प्रमाणि, चहुदिशिं संठिय जिणह विंव ।
पणमवि मन उल्हासि, गोपन गणहरू तहिं वसिउं ॥२७॥
वयर समिनउ जीहु, तिजगुं जंभकु देवुतहिं ।
प्रतिवोधइ पुण्डरिक, कंडरीक अध्ययनु भणी ।
वलंता गोयम सामि, सवि तापस प्रतिबोध करे ।
लेइय आपण साथि, चालइ जिम जूथाधिपते ॥२८॥
खीर खंडु घीउ आणि, अमिय वूठ अंगूठ डवे ।
गोयमु एकइं पात्रि कारावयइं पारणउ सवे ।
पांचसयं सुभ भावु, उज्जल फुरियउं खीर मिसे ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साचागुरु संजोगि, कवलति केवल रूपि हुय ॥२९॥

पंचसय जिणनाह, समवसरणि, प्राकारत्रय ।
देखवि केवल मानु ऊपन्नउं उज्जोय करो ॥

जाणे जिणवि पीयूष, गाजंति घण मेघ जिम ।
जिनवाणी निसुणेवि, नाणी हूया पाँचसय ॥३०॥

वस्तु—इणि अनुक्रमि नाण संपन्न,
पनरह सयं परिवारिय, हरिय दुरिय जिणनाहु वंदइ ।
जाणे विणु जगगुरू वयणि, तीहंनाणु अघानु निदंइ ।

चरम जिनेसरू तउ भणइ, गोयम मकरिसि खेउ ।
छेहि जई आपणि सही, होमिउं तुल्ला वेड ॥३१॥

भास—सामिऊ ए वीर जिणिदं, पुन्निमचंद जिम उल्हसिउ ।
विहरऊ ए भरह वासम्मि, वारिस वाहुत्तरि संवसिउ ।

ठवतऊ ए कणय पउमेसु, पाय कमलि संघिहि सहिउ ।
आविऊ ए नयणाणंदु, नयरि पावाउरि छर महिउ ॥३२॥

प्रथीऊ ए गोयमु ग्रामि, देवसमी प्रतिबोध कए ।
आपणि ए त्रिसलादेवि, नंदणु पत्तउ परम पए ।

वलतऊं ए देव आकासि; पेखवि जाणिय जिन समउं ।
तउ मुनिए मनिहिं विषादु नाद भेद जिय ऊपनउ ॥३३॥

तउमुनि ए सामिय देखि, आप कन्हा हउ टालिउ ए ।
जाणतई ए तिहूयण नाहि लोक विवहारु न पालियउं ।

अति भलउं ए कोधउं सामि जाणिउं केवलु मागिसिए
चीतं विउं ए बालक जेम, अहवा केउइं लागिसिए ॥३४॥

हउं किमवोर जिणिदि, भगतिहिं भोलउं भोलविउं ।
आपण एउं चियउ नेहु नाहि न संपए सूचविउ ।

साचऊ ए अह वीतरागु, नेहु न जेहिलालिपउ ।
इणि समय ए गोयम चित्त, रागु वयरागिहिं वालिउं ॥३५॥

आवतउं एजो उलटि, रहतउं रागिहिं साहियउं ।
केवलूनाणूऊपन्नु, गोयम सोजि ऊंमाहियउं ।

तिहूयणि ए जयजयकार, केवलि महिमा छर करइ ।
गणधरु ए करइ वक्खाणु, भविया जिम भुव निस्तरइं ॥३६॥

वस्तु—पठमगणहरु वरिस पंचास
गिहि वसिहि संवसिउ, वीसवरिस संजमि विभासिय ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सिरिके वलनाणि पुन, वारवरिस तिहुयणि नमंसिय ।
रायगहि नयरिहि ठियउं, वाणवइ वरिसाउं ।
भास— सामिय गोयम गुणनिलउ, भूसइ सिवपुरिनिवु ॥१॥
जिम सहकारिहि कोयल टहकउ, जिम कुसुमह वनि परिमल बहकउ ।
जिन चंदनिसोगंध विधि ।
जिम गंगाजलु लहरिहि लहकइ । जिम कणयाचलु सेजिहि झलकइ ।
तिम गोयम सोभागनिधि ॥२॥
जिम मानससरि निवसइं हंसा । जिम सुरवरसिरि कणयवतंसा ॥
जिम महुकर राजीवकुल ।
जिम रयणायरू रयणिहि बिलसइ, जिम अंबरि तारागण विकसइ ।
तिम गोयमु गुण केलि खनि ॥३॥
पुन्निम दिणि जिम ससिहरू सोहइ । सुरतरु महिमा जिम जगु मोहइ ।
पूरब दिसि जिम सहसकरो ।
पंचाननु जिम गिरि वरि राजइ, नखर धरि जिम भयगलु गाजइ ।
तिम जिन सासनि मुनि पवरो ॥४॥
जिमगुरु तरुवरि सोहइं साखा । जिम उत्तमि मुखि महुरी भाखा ।
जिम वनिकेतकि महमहए ॥
जिम भूमिपति भुयवलि चमकइ । जिम जिन मंदिरि घंटा रणकइ ।
गोयमु लवधिहि गहगहए ॥१४१॥
चिन्तामणि करि चढ़ियउ आजु । सुरतरु लानइं वंछिम काजु ॥ काम कुंभ सो वसि हुउ
काम गवि पूरइ मन कामिय, अष्ट महासिद्धि आवइं धामिय । सामिय गोयमु अणुसरउं प्रभ
पहिलउं पभणीजाइ, माया बीजिहि संउंनिसुणीजइ श्रीमति सोभासंभवए । देवइ पुत्रि
हुंतु नमीजइ । विनयप्पह उवझाइ । नमउ थुणीजइ । इणी मंत्रिहि गोयम मुनि नमउ ॥५॥
परवस परता काइं कीजइं, देसदेसंतरकाइं भमीजइ । कवणु काजु आयाउ करे । प्रहउठी दे
समरोजइ । काजु समागू ततक्षण सीज्झइ । नवनिहि विलसइं ताह घरे ।
चउदहसय बारोत्तर वरसहिं । गोयमगणहर केवल दिवसिहिं ।
किउंकवित्तु उपगार परो ।
आदिहि मंगलु एहुभणीजइ, परविम हो छवि पहिलउं दीजइं ।
रिद्धि वृद्धि कल्याण करो । ॥४५॥

इतिश्री गौतम स्वामी रासः समाप्तः ॥६॥श्रीस्तंभतीर्थविहारे विनयप्रभोपाध्यायैः कृतः [illegible]

संग्रह प्रति, पत्र-संख्या एक से २०५ में लिखित । पुष्पिका इस प्रकार है—
१४३० कार्तिक सुदि प्रतिपदायां ॥ देवस्तवन पुस्तकं । (बड़ा ज्ञानभंडार, बीकानेर प्रति)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन*

[मनोविश्लेषण और कलाकार]

श्री कलीमुद्दीन अहमद, एम्० ए०, (प० वि०), बी० ए० (केम्ब्रिज)

(वर्ष ५, अंक २ से आगे)

सभी कलाएँ, कहा जाता है, मूलतः एक प्रकार का खेल थीं। 'जो एक गीत बनाता है और जो एक गीत सुनता है, दोनों ही एक प्रकार के खेल में संलग्न हैं। वे अपने मनोरागों के साथ खेलते हैं।'[1] हमलोग एक अभिनेता के बारे में कहते हैं कि वह 'नाटक खेल रहा है', और एक गायक के बारे में कि वह स्वर-ताल के साथ 'खेल' रहा है। 'खेलना' शब्द के प्रयोग से लगता है जैसे अभिनेता या गायक किसी खेल में लगे हुए हैं, वे जो कर रहे हैं वह उपयोगी नहीं है। कलात्मक क्रियाओं की इस ऊपरी व्यर्थता की ओर चिंतनशील लेखकों का, विभिन्न युगों में, ध्यान गया है। प्लेटो का भी यह तर्क था कि अभिनेता को हमारी नैतिकता को उन्नत बनाना चाहिए, और उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ लेखकों का यह तर्क था कि 'बिल्ली के बच्चों का खेल चूहे पकड़ने के लिए उपयोगी था।'[2] एक कला-कृति का महत्त्व इतना स्पष्ट है कि उसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता और यह भी समान रूप से स्पष्ट है कि यह दैनंदिन जीवन की प्राणिशास्त्रीय या कार्य-व्यापार-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती, कि यह प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से अनावश्यक है। इस विरोध का समाधान कैसे हो, यह एक समस्या है जो बहुतेरे लेखकों के लिए सर-दर्द साबित हुई है।

हमारे मनोरागों का, हमें बताया जाता है, अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है, वे हमें क्रिया की प्रेरणा के रूप में प्राप्त हैं; वे ऐसे व्यावहारिक परिणामों में फलित होते हैं जो उपयोगी हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। जब क्रिया उपयोगी होती है, तो उसे साधारणतः कर्म कहा जाता है, किंतु कभी-कभी वह अनुपयोगी भी प्रतीत होती है और उसे खेल कहा जाता है। उदाहरण के लिए फुटबाल की प्रतियोगिता खेल है, किंतु खेत काटना कर्म है। कोई क्रिया खूब उत्तेजक और आवेगपूर्ण हो सकती है, किंतु बिना उपयोगी हुए। और कोई उपयोगी क्रिया हो सकती है जो एकदम उत्तेजक या आवेगपूर्ण न हो। सान्तायाना का कहना है, "हम ऐसी सभी चीजों को खेल कह सकते हैं जो अनुपयोगी क्रियाएँ हैं, ऐसे

---

* Psycho-analysis and Literary criticism —मूल अंग्रेजी पुस्तक के एक अंश का अनुवाद।

१—सिरिल बर्ट : द्या इ द माइंड वर्क्स।

२—वर्नर डेलिले : होराइजन्स आव एक्सपेरियेंस।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्यायाम हैं जो शक्ति के निःसृत होने की उस शारीरिक प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, जिसकी [illegible] जीवन की आवश्यकताएँ नहीं करतीं। तब कर्म वैसी समस्त क्रियाएँ हैं जो जीवन के [illegible] आवश्यक पर उपयोगी हों।"[1] गीत गानेवाला ऐसे किसी कर्म में संलग्न नहीं है जो उसके लिए आवश्यक या उपयोगी हो। वह तो केवल शक्ति का कुछ ऐसा अंश निःसृत कर [illegible] लगा हुआ है जिसकी माँग जीवन की आवश्यकताएँ नहीं करतीं। "अपनी कोठरी में कवि [illegible] और अपनी मेज पर कवि," सिरिल बर्ट कहता है, "क्रीड़ागार में रहनेवाले शिशु से भिन्न [illegible] हैं। दोनों ही अपनी-अपनी कला-कृतियों का निर्माण करते समय ऐसे अतिरिक्त मनोवेग [illegible] बाहर ला रहे हैं जो वास्तविक जगत् में पूर्ण संतुष्टि नहीं पाता। पाठक, दर्शक और [illegible] श्रोता अपने लिए, कलाकार की उत्कृष्टतर कुशलता के सहारे, प्रायः यही काम करते हैं।"[2]

तो, कलाकार एक अनावश्यक प्राणी है जो अनावश्यक क्रिया में संलग्न रहता [illegible] कला-कृति का निर्माण कर्म नहीं है, खेल, अर्थात् अनुपयोगी प्रयास है। कलाकार को [illegible] नहीं होता कि वह अपनी पूरी शक्ति का क्या उपयोग करे; वह इसके कुछ अंश का एक [illegible] निरुद्देश्य और अनुपयोगी क्रिया में अपव्यय कर देता है जो कला है। यदि वह अपनी [illegible] शक्ति का उपयोग कर पाये, यदि उसके मन और शरीर का वातावरण के साथ पूर्ण सामंजस्य [illegible] रहे, तो शक्ति का अपव्यय नहीं होगा—दूसरे शब्दों में, कला नहीं होगी। एक शिशु [illegible] और शरीर से वातावरण का सामना करने में असमर्थ होता है; उसे, स्वभावतः अपनी [illegible] अतिरिक्त शक्ति का कुछ अंश ऐसी निरुद्देश्य गति में निःसृत करना पड़ता है जो खेल [illegible] किन्तु एक वयःप्राप्त मनुष्य अपने समय और शक्ति का अपव्यय निरुद्देश्य और प्राणिशास्त्र [illegible] दृष्टि से अनुपयोगी क्रिया में करे, यह एक दयनीय स्थिति है और यह इसका प्रमाण है [illegible] मानव स्वभाव का ह्रास हो गया है। इस निष्कर्ष से बच सकना संभव नहीं है, और [illegible] अग्राह्य भी है। इसलिए इससे निकल भागने की कोशिश की जाती है। ऐसा कहा जाता [illegible] है कि कलात्मक खेल हमारे लिए अप्रत्यक्ष रूप से लाभजनक हो सकता है: "यह घुमा-फिरा [illegible] कर अतीत से उद्भूत होता है, और भविष्य के लिए संदिग्ध आकांक्षा व्यक्त करता है। [illegible] उसके लिए क्षति-पूर्ति है जिसकी कामना हमने की है और पाने में हम असमर्थ रहे हैं। [illegible] असन्तुष्ट मनोरागों के परीवाह का उपाय प्रस्तुत करता है और साथ ही साथ, [illegible] कल्पित परिस्थितियों में उन्हें अभ्यस्त कर, उन्हें शासित और नियन्त्रित करने में [illegible] सहायता भी करता है।"[3] समाधान का यह प्रयास बहुत प्रभावोत्पादक नहीं है; इसका [illegible] स्वर और ऊपर-ऊपर का विवेचन पूर्णतः असन्तोषजनक हैं।

१—द सेंस आव ब्यूटी।
२—हाउ द माइंड वर्क्स।
३—हाउ द माइंड वर्क्स।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सांतायाना ने कलाओं की सार्थकता सिद्ध करने का अधिक प्रभावोत्पादक और शक्तिशाली प्रयास किया है, जो विस्तृत होने पर भी पूरा का पूरा उद्धरणीय है :—

"स्वतःस्फूर्त्त और आनन्ददायक क्रिया-कलाप को इसलिए व्यर्थ करार देना कि वे आत्म-रक्षा के लिए अनुपयोगी हैं, इस बात का प्रमाण है कि हमने जीवन का, उसके तत्त्वों का ध्यान रखे बिना, अविचारित मूल्यांकन किया है। इस प्रकार की प्रणाली के लिए विश्व की उत्कृष्टतम क्रिया होगी अविच्छिन्न गति की स्थापना। व्यर्थता का अभियोग ऐसे किसी कार्य के लिए घातक होता है जो उसकी परिकल्पित उपयोगिता के लिए किया जाता है, जो कार्य अपने ही लिए किये जाते हैं वे अपनी सार्थकता स्वयं ही हैं।

साथ ही साथ मनुष्य की उदार और कल्पनात्मक क्रियाओं को खेल कहने में भी असंदिग्ध औचित्य है, क्योंकि वे स्वतःस्फूर्त्त हैं, और बाह्य आवश्यकता या संकट के दबाव से नहीं की जातीं। आत्म-रक्षा के लिए उनकी उपयोगिता नितांत अप्रत्यक्ष या आकस्मिक हो सकती है, किंतु वे इस कारण मूल्यरहित नहीं हैं। इसके विपरीत, किसी जाति ने कितनी मात्रा में आनंद और सभ्यता उपलब्ध की है, इसका अनुमान हम उस अनुपात के अनुरूप कर सकते हैं जिसमें उसकी शक्ति का व्यय मुक्त और उदार कार्यों, जीवन के अलंकरण और कल्पना के विकास में हुआ है। कारण कि अपनी शक्तियों के स्वतःस्फूर्त्त खेल में ही मनुष्य अपने को और अपने आनंद को प्राप्त करता है। दासता वह अपकर्षविधायक स्थिति है जिस तक मनुष्य अपने को गिरा देता है, और वह उसी तरह एक प्रभु या संस्था का दास बन जाता है जिस तरह पृथ्वी की कृपणता या दैव-योग का दास बना रहता है। तब वह एक दास ही तो रहता है जब उसकी सारी शक्ति कष्ट और मृत्यु से बचने में ही चुक जाती है, जब उसकी सारी क्रियाएँ बाहर से आरोपित होती हैं, और उसके पास मुक्त सुखोपभोग के लिए समय और शक्ति नहीं रह जाती।

यहाँ कार्य और खेल एक दूसरा ही अर्थ ग्रहण कर लेते हैं, और दासता और स्वतंत्रता के पर्याय बन जाते हैं। यह परिवर्त्तन उस आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण में सन्निहित है जिससे संप्रति यह विभिन्नता उद्भावित होती है। हम अब यह नहीं मानते कि कार्य का तात्पर्य है वह सब कुछ जो उपयोगितापूर्वक किया गया है, बल्कि यह समझते हैं कि कार्य वह है जो अनिच्छा-पूर्वक और आवश्यकता से बाध्य होकर किया गया है। खेल से हम तब उसे अभिहित नहीं करते जो निरुद्देश्य किया जाता है, बल्कि उसे करते हैं जो स्वतः और अपने लिए किया जाता है, उसकी कोई बाह्य उपयोगिता हो या नहीं। खेल, इस अर्थ में, हमारा सबसे सार्थक कार्य-कलाप हो सकता है। वातावरण के साथ क्रमिक सामंजस्य इस खेल को लुप्त करने से इतनी दूर रहेगा कि यह कार्य को ही लुप्त करने की और खेल को ही सार्वभौम बनाने की चेष्टा करेगा। कारण कि प्रवृत्ति के सभी संघर्षों और भ्रांतियों के निःसारण के साथ ही साथ जाति-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विशेष स्वतः वह करेगा जो उसके लिए कल्याणकर हो, और हम लोग बिना बाहरी उत्तेजना और नियंत्रण के सुरक्षित और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकेंगे ."[१]

यह उतना प्रभावशाली समाधान है जितना संभव हो सकता है। बहिर्निष्ठ दृष्टि से कार्य और खेल उपयोगी क्रिया के रूप में एक दूसरे से पृथक् किये जाते हैं, और साधारणतः कार्य प्रशंसावाचक और खेल निंदावाचक माना जाता है। सांतायाना बड़ी कुशलता के साथ दोनों शब्दों के तात्पर्य में परिवर्त्तन ला देता है। 'कार्य और खेल एक दूसरा ही अर्थ ग्रहण कर लेते हैं, और दासता और स्वाधीनता के समानार्थक बन जाते हैं।' और अब खेल एक प्रशंसात्मक शब्द बन जाता है और कार्य निन्दात्मक। यह है तो बहुत संतोषदायक, किन्तु बाजीगरी की तरह लगता है—बहुत चतुरतापूर्ण किंतु अवास्तविक। और जब सांतायाना यह स्वीकार करता है कि सभी उदार और कल्पनात्मक क्रिया-कलापों को खेल का नाम देने में अनस्वीकार्य औचित्य है तो हमारा असन्तोष बढ़ जाता है। कलात्मक क्रिया-कलाप स्वतःस्फूर्त होता है और वह बाह्य आवश्यकता या खतरे के दबाव से संपादित नहीं होता और, फलतः, सांतायाना के अनुसार, उसे खेल का नाम दिया जा सकता है। दूसरे भी इस शब्द को उचित मानते हैं। "यह मानसिक क्रीड़ाप्रियता और गंभीरता के एक ऐसे सामंजस्य को संकेतित करता है", ड्यूई ने लिखा है, "जो कलात्मक आदर्श को परिभाषित करता है। जब कलाकार साधन और वस्तुओं के विषय में अत्यधिक सचेष्ट रहता है तो वह विस्मयजनक शिल्पण को तो उपलब्ध कर सकता है; किन्तु उत्कृष्टतम कलात्मक तत्त्व को नहीं। जब प्रेरक भाव प्रणाली के अधिकार से अधिक होता है तो नंदतिक संवेदना संकेतित हो सकती है, किन्तु उपस्थापन की कला दोषावह होने के कारण संवेदन को पूर्णतः अभिव्यक्त करने में असमर्थ सिद्ध होती है। जब साध्य का विचार इतना पर्याप्त हो जाता है कि वह उसे धारण करनेवाले माध्यम में रूपांतरण के लिए बाध्य करे, या जब साधनों का ध्यान सेव्यमान साध्य के अभिज्ञान से अनुप्राणित हो, तो हमें कलाकार के अनुरूप मनोवृत्ति प्राप्त होती है, एक ऐसी मनोवृत्ति जो सभी कार्य-कलापों में प्रदर्शित हो सकती है, हालाँकि उन्हें 'कला' के नाम से अभिहित करने की प्रथा नहीं पाई जाती।"[२]

सांतायाना और ड्यूई दोनों ही, भिन्न कारणों से, 'खेल' या 'क्रीड़ा' शब्द को अत्यधिक उचित पाते हैं। किन्तु यह तथ्य कि खेल साधारणतः निन्दात्मक अर्थ में प्रयुक्त होता है, इस शब्द को अनुचित बना देता है। सांतायाना की नई व्याख्या भी इसे वस्तुतः प्रशंसावाचक शब्द में परिवर्त्तित नहीं कर सकती। कला न तो क्रीड़ात्मक है न निरर्थक। यह एक अतिशय गंभीर कार्य-कलाप है और साथ ही शायद सबसे उपयोगी कार्य-कलाप भी। कलाकार सतह पर ही शिशु के समान होता है, और दोनों की

१—द सेंस आव ब्यूटी।
२—हाउ वी थिंक।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तथा-कथित समानता न केवल सतही है प्रत्युत निश्चित रूप से भ्रामक भी है। वस्तु-विशेष के लिए कला की सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ 'शाश्वत शिशुओं में उद्भूत होती हैं, जब कि क्रीड़ा के परिणाम हैं क्रांति और सुष्ठुतर संघटित स्वतःचालित यंत्र-विधान।'[1] कलाकार जिस वस्तु की ओर उन्मुख रहता है उसकी कल्पना भी शिशु नहीं कर सकता। क्रीड़ा एक ऐसी क्रिया है जो उसी के लिए होती है, स्वतःपर्याप्त, लक्ष्य-रहित। वह किसी उद्देश्य के लिए प्रयत्न नहीं करती, न पुरस्कार की अपेक्षा रखती है। 'क्रीड़ा की आवश्यकता उसी का अपना ही आनन्द और संतोष है।' कला लक्ष्य-रहित नहीं होती; उसका एक उद्देश्य होता है। और यह उद्देश्य केवल 'जीवन का अलंकरण' नहीं है जैसा सांतायाना ने कहा है। 'अलंकरण' शब्द में औचित्य नहीं है। क्रीड़ा की तरह यह भी ऐसे कुछ का संकेत करता है जो निरर्थक और अनुपादेय हो। कला केवल अलंकरण ही नहीं है; यह जीवन का सार-तत्त्व है।

फिर भी सांतायाना ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का संकेत किया है, यद्यपि दुर्भाग्य से उसने उसपर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना उसे मिलना चाहिए था। 'स्वतः स्फूर्त्त और आनंद-दायक कार्य-व्यापारों की भर्त्सना करना', वह कहता है, 'क्योंकि वे आत्म-रक्षा के लिए अनुपयोगी हैं, जीवन के ऐसे अविवेचित मूल्यांकन का द्योतक है जिसमें जीवन के तत्त्वों को ध्यान में नहीं रखा जाता।' उपादेयता का प्रश्न जीवन के संरक्षण तथा तत्त्व, दोनों ही के लिए संगत है। और हम जीवन के संरक्षण की समस्या को उसके तत्त्वों से पृथक् नहीं कर सकते। मनुष्य पशुओं से इस बात में भिन्न है कि वह मात्र अस्तित्व से सन्तुष्ट नहीं होता; वह जीवन को जीने योग्य बनाना चाहता है। वह अस्तित्व की समस्या पर जीवन के मूल्य का ध्यान रखे बिना विचार नहीं कर सकता, और जीवन के मूल्य का तब तक निर्णय नहीं कर सकता जब तक जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य का ज्ञान न हो। यह स्पष्ट है कि इस बात के लिए दार्शनिक विचारण आवश्यक होगा और मूल्यों का प्रश्न भी उठेगा।

जीवन के संरक्षण से कला का बहुत कम संबंध हो सकता है—असंगति कदाचित् बाह्य है, वास्तविक कम—किंतु कोई भी जीवन के तत्त्वों के साथ उसके घनिष्ठ संबंध को अस्वीकृत नहीं करेगा। कला जीवन को समृद्ध बनाती है और उसके मूल्य में वृद्धि करती है। मनोविज्ञान, जो मानवीय मूल्यों की अवहेलना करता है, कला की उपयोगिता या अनुपादेयता पर विचार करने की योग्यता नहीं रखता। इसके लिए एक अधिक व्यापक दृष्टिकोण आवश्यक है। [क्रमशः]

१—हाउ वी थिंक।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पाणिनि के ग्रन्थों से प्राक्पाणिनीय अंशोद्धार के उपाय

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य

पाणिनि के ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय आचार्यों की कृतियों का अंश अविकल रूप से विद्यमान है, ऐसा प्राचीन व्याख्याकार तथा आधुनिक समालोचक समान रूप से मानते हैं। पाणिनि की कृति के यथार्थ मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि उस प्राक्पाणिनीय अंश का ज्ञान प्राप्त किया जाय, जिसे स्वेच्छा से पाणिनि ने अपने ग्रन्थों में लिया है। चूँकि प्राक्पाणिनीय आचार्यों के ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से इसका निरूपण करना असम्भव है, ऐसा सहसा प्रतीत होता है, पर सूक्ष्म विचार करने पर प्राक्पाणिनीय अंश का कुछ ज्ञान प्रतिभासित होने लगता है। इस विषय की आलोचना के प्रसंग में ह्विटनी ने कहा था कि क्या और कितना अंश पाणिनि का अपना है, और कितना प्राक्पाणिनीय आचार्यों का है, इसके स्पष्टीकरण के लिए, यदि वह कभी संभव हो सका तो, दीर्घकाल की अपेक्षा होगी।[1] इस निबन्ध में प्राक्पाणिनीय अंश के ज्ञान के लिए कुछ उपायों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस विषय में यह जानना चाहिए कि व्याकरण में विषय और प्रमाण ये दो ही शब्द हैं, अतः परवर्त्ती वैयाकरणों के लिए पूर्वभावी आचार्यों की कृतियों का सम्पूर्ण त्याग सहसा संभव नहीं हो सकता। इसके साथ ही प्राचीन संस्कृत आचार्यों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यवहृत शब्द का सहसा परित्याग नहीं करते हैं। पतञ्जलि ने इसका एक स्पष्ट उदाहरण दिया है[2]। केवल शब्दानुपूर्वी में ही नहीं, उदाहरण में भी यही बात चरितार्थ होती है, अर्थात् परभविक वैयाकरण पूर्वभविक वैयाकरणों के उदाहरणों

---

(1) It will be long before we understand, if indeed we ever come to do so, what and how much of it is Paninis own, in addition to the work of his grammatical predecessors. (Whitney: the Veda in Panini, p.1.)

(२) 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (१ आह्निक) की व्याख्या में पतञ्जलि ने कहा है कि यहाँ सिद्ध का अर्थ है 'नित्य'; पर वार्त्तिककार ने 'नित्य' शब्द का ही व्यवहार क्यों नहीं किया है, इसके लिए उन्होंने कहा है कि 'संग्रह' ग्रन्थ में सिद्ध शब्द का ही व्यवहार था, अतः वार्त्तिककार ने 'सिद्ध' शब्द को ही ले लिया है। प्राचीन आचार्य की शब्दानुपूर्विता सहसा नवीन आचार्य से परित्यक्त नहीं होती—यह उदाहरण इस सिद्धान्त का पोषक है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का सहसा त्याग नहीं करता है। हरदत्त ने कई बार इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया है।[३] वैयाकरण अपनी इच्छा से सहसा प्राक्तन आचार्यों की शब्दानुपूर्वी का परित्याग नहीं कर सकता, क्योंकि जब तक लोक में प्राचीन काल की शब्दानुपूर्विता प्रचलित रहेगी, तब तक उसका त्याग कर नूतन व्याकरण की रचना करने से उसके प्रचार में बाधा होगी, जैसा नवीनतम व्याकरण के विषय में दीख पड़ता है।

इसके अनेक प्रमाण हैं कि पाणिनि ने एकाधिक स्थलों पर प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों का शाब्दिक अनुकरण किया है। वार्त्तिककार और भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कुछ सूत्रों के विषय में कहा है 'पूर्वसूत्रनिर्देशश्च' अर्थात् यह सूत्र प्राचीन आचार्य के सूत्रानुसार है। ऋक्तन्त्र के कुछ सूत्र अविकल रूप से पाणिनीय सूत्रों से मिल रहे हैं, जैसा 'आश्चर्यमनित्ये' सूत्र। यह सूत्र अष्टाध्यायी (६।१।१४७) और ऋक्तन्त्र (४।७।१) दोनों में है। 'कास्तीराजस्तुन्दे नगरे' (अष्टा० ६।१।१६५) सूत्र भी ऋक्तन्त्र (४।७।४) में मिलता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि के कुछ सूत्र अविकल रूप में निरुक्त, ऋक्-प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। पाणिनि का 'परः सन्निकर्षः संहिता' (१।४।१०९) सूत्र इसका एक उदाहरण है—यह निरुक्त में भी मिलता है। या तो पाणिनि ने प्राचीन ग्रन्थों से इन सूत्रों को अविकल रूप से ले लिया है या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने किसी प्राचीनतम ग्रन्थ से इन सूत्रों को लिया है। शब्दानुपूर्वी का इस प्रकार अविकल ग्रहण अन्य शास्त्रों में भी दीख पड़ता है, यथा 'हठयोगप्रदीपिका' तथा 'घेरण्डसंहिता' में अनेक श्लोक एक समान हैं, मेदिनी और विश्वकोष के अनेक वचन एक समान हैं। प्राचीन आचार्यों की यह एक विशेषता थी कि वे इस प्रकार शब्दानुपूर्वी का ग्रहण करते थे, पर उससे उनकी कृति सदोष नहीं मानी जाती थी।

केवल भाष्यकार ही नहीं, अर्वाचीन वैयाकरण भी मानता है कि पाणिनि की कृतियों में प्राक्पाणिनीय अंश की सत्ता है। काशिकाकार ने 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (१।२।५१) सूत्र के विषय में कहा है—'व्यक्तिवचने इति लिङ्गासंख्ययोः पूर्वाचार्य-निर्देशः, तदीयमेवेदं सूत्रम्', अर्थात् १।२।५१ सूत्र प्राक्पाणिनीय है, और पाणिनि ने अविकल रूप में अपने ग्रन्थ में उस सूत्र का समावेश किया है। केवल सूत्र ही नहीं, अष्टाध्यायी के कुछ प्रकरण भी पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से लिये गये हैं, जैसा नागेशभट्ट ने कहा है—'एवं च लिङ्गाप्रकरणं, जात्याख्यायामित्यादि संख्या-प्रकरणं च पूर्वाचार्यानुरोधेन कृतमिति ध्वनितं सूत्रकृता' (उद्योत १।२।५३)। इन उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि पाणिनि के ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय अंश है।

३—व्याकरण शास्त्र में अप्रसिद्ध उदाहरण क्यों दिया जाता है, इसके उत्तर में हरदत्त ने कहा है—'अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तनप्रयोगात्' (पदमञ्जरी २।१।६) अर्थात्, चूँकि यह उदाहरण परम्परागत है, अतः अप्रसिद्ध होने पर भी उसका त्याग नहीं किया गया।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आचार्यों के प्रति श्रद्धातिशय ही इस प्रकार की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का मुख्य कारण है। पाणिनि ने 'अनुशासन' किया है, (अथ शब्दानुशासनम्) और अनुशासन का अर्थ ही होता है, 'प्राक्सिद्ध वस्तु का विवरण' (शिष्टस्य शासनम् अनुशासनम्)। अतः पाणिनीय ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय अंशों का होना असंभव या दोषावह नहीं है। इसके साथ यह भी जान लेना चाहिए कि कहीं-कहीं इस प्रकार के शाब्दिक अनुकरण कुछ विशेष प्रयोजन के लिए किये गये हैं, अर्थात् यदि उस स्थल पर प्राक्पाणिनीय शब्द-व्यवहार का अविकल अनुकरण नहीं किया गया होता तो पाणिनि को कुछ अधिक यत्न करना पड़ता, या अन्य कुछ न्यायदोष होता। यद्यपि प्रत्येक स्थल के लिए हम ऐसा कारण दिखाने में अभी असमर्थ हैं, पर यह निश्चय है कि अनुकरण के कुछ स्थलों के लिए यह भी कारण रहा होगा, जैसा आगे दिखाया जायगा।[1]

अनुकरण दो प्रकार के होते हैं—शाब्दिक तथा आर्थिक। यहाँ शाब्दिक अनुकरणों के विषय में आलोचना की जा रही है, अर्थात् प्राक्पाणिनीय शब्द-व्यवहार का कितना अंश पाणिनीय ग्रन्थों में है। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, अतः अनुमान से गम्यमान फलों को हम प्रत्यक्ष नहीं दिखा सकते हैं, पर जहाँ तक संभव है हमने आनुमानिक फल को प्राचीन आचार्यों की धारणा से मिलाने का यत्न किया है।

जब यह निश्चय हो गया कि पाणिनीय ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय अंश हैं, तब तर्क सिद्ध उपायों से उन स्थलों को पहचान कर पृथक् करना भी असंभव नहीं है। प्राचीन व्याख्यान-ग्रन्थों का सूक्ष्म मनन करने के बाद जिन उपायों का आविष्कार किया गया है, उनसे कुछ हद तक प्राक्पाणिनीय अंश का उद्धार हो सकता है। वे उपाय निरपवाद हैं, ऐसा नहीं है; वे बहुत दूर तक ठीक हैं, केवल इतना कहा जा सकता है। आशा है, अन्य विद्वज्जन भी इस विषय की आलोचना करेंगे, जिससे इस आवश्यक विषय का पूर्णतः ज्ञान हो जाय।

१—पाणिनि की शैली से भिन्न शैली में रचित कोई अंश यदि पाणिनीय ग्रन्थों में हो, तो वह अंश प्राक्पाणिनीय है।

१—कभी-कभी पाणिनि यह भी चाहते हैं कि पूर्वाचार्य से निर्दिष्ट उपाधि भी मेरे शब्द में सार्थक रूप से लागू हो, और इसीलिए उनको वहाँ भी पूर्वाचार्य-व्यवहृत शब्दों का अविकल रूप में व्यवहार करना पड़ता है, जहाँ वे उन-उन शब्दों का त्याग कर सकते थे। कैयट ने इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया है—'पूर्वाचार्यविहितगुरुसंज्ञाश्रयणात् यदुपाधीनां पूर्वाचार्याः संज्ञां व्यधिषत तदुपाधीनामेव एता भवन्ति' (प्रदीप २।१।१६)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्रन्थ-रचना में मेधावी ग्रन्थकार एक निश्चित पद्धति को लेकर चलता है और स्व-संस्कार के अनुसार उसकी रचना-शैली में कुछ निजी उपज्ञा भी रहती है। ग्रन्थ-प्रणयन में एक सुविचारित शैली को अपनाने के बाद उसकी विरुद्ध शैली या पृथक् शैली का व्यवहार वह कभी नहीं करता। एक ही विषय के प्रतिपादन में कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न आचार्य भिन्न-भिन्न शैलियों का आश्रय लेते थे, इसका एक स्पष्ट उदाहरण वाजसनेयिप्रातिशाख्य[1] में है। अब यदि हम यह निरूपण कर सकें कि ग्रन्थ-रचना में पाणिनि की निजी शैली क्या थी, और यदि उस शैली की विरुद्ध शैली से लिखित कोई अंश उनके ग्रन्थ में मिल जाय, तो हम कह सकते हैं कि वह अंश पाणिनि का स्वोपज्ञभूत नहीं है। हम ऐसे स्थलों को प्रक्षिप्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि बहुत पहले से ही पाणिनिकृत ग्रन्थों का परिमाण निश्चित हो गया था, तथा व्याकरण-ग्रन्थों में प्रक्षेप होने की संभावना बहुत अल्प है, क्योंकि यह कोई सर्वजनग्रहणयोग्य व्यवहार में उपादेयभूत ग्रन्थ नहीं है। पाणिनि-सूत्रों में न्यूनतम सूत्रों का प्रक्षेप अवश्य हुआ है, जिसका निराकरण अन्यत्र किया गया है और गणपाठों में जो प्रक्षेप हुआ है, उन-उन शब्द-प्रयोगों की तात्कालीन अनिवार्यता ही इसका मुख्य कारण है।

व्याख्याकारों ने कई स्थलों पर पाणिनि की रचना-शैली के विषय में तर्क किया है, जैसा शब्दरत्नकार ने कहा है—'आचार्यशैली वा' (७।२।२२ प्रौढमनोरमा पर)। यदि सब प्राचीन ग्रन्थों से ऐसे स्थलों का संग्रह कर पाणिनि-शैली का निश्चय कर लिया जाय, तो उस शैली से विरुद्ध (पृथक् नहीं) शैली से रचित अंश प्राक्पाणिनीय हो सकता है। हम एक ही उदाहरण देकर इस विषय को प्रमाणित कर रहे हैं।

भाष्यकार ने कहा है—'एषा हि आचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत् तुल्यजातीयान् तुल्य-जातीयेषु उपदिशति, अचः अक्षु, हलो हलषु' (हयवरट् सूत्रभाष्य), अर्थात् पाणिनि की यह शैली है कि वे तुल्यजातीय पदार्थों का एक साथ उपदेश करते हैं। भाष्यकार ने साथ-साथ इसका उदाहरण भी दिया है। अष्टाध्यायी में वर्णित पदार्थों के उपदेश-क्रम में भी हम देख चुके हैं कि वहाँ तुल्यजातीय पदार्थों का एक साथ उपदेश है।[2] अब यदि कहीं पर ऐसा देखा जाय कि विजातीय पदार्थों का एकत्र उपदेश है (और इस प्रकार स्वशैली के विरुद्ध उपदेश के लिए कोई अन्य विशिष्ट प्रयोजन नहीं है) तो यह अनुमान करना असंगत नहीं

१—शाकल आदि आचार्यों के पदपाठीय ग्रन्थ-रचना की शैली के विषय में यह श्लोक प्रातिशाख्य में है—'पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः, अलोप इति गार्ग्यस्य का वस्यार्थवशादिति' (४।१७७)। आचार्य-भेद से शैली-भेद होने का यह एक स्पष्ट उदाहरण है। प्राचीन आचार्यों के विषय में इस प्रकार निश्चित शैली-प्रियता के कुछ उदाहरण मिलते ही हैं।

२—द्र० मेरा लेख 'अष्टाध्यायी के प्रकरण-क्रमों की संगति'—'साहित्य', पटना; वर्ष ४, अंक २-३।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होगा कि वह अंश अपाणिनीय है; और चूँकि वह अंश अर्वाक्पाणिनीय नहीं हो सकता (इसका निरूपण अन्यत्र किया गया है), अतः वह प्राक्पाणिनीय है।

उदाहरण के लिए हम पाणिनीय धातुपाठ को ले सकते हैं। इसमें कहीं-कहीं अनुरूप-जातीय पदार्थ-सन्निवेश दीख पड़ता है, अर्थात् उदात्त धातुओं के बीच अनुदात्त धातुओं का पाठ तथा अनुदात्त धातुओं में उदात्त धातुओं का पाठ देखा जाता है। पूर्वोक्त भाष्यवचन के अनुसार ऐसी रचना पाणिनि की शैली के विरुद्ध है और व्याकरण की प्रक्रिया-सिद्धि के लिए इस प्रकार विपर्यस्त पाठ की कुछ भी सार्थकता नहीं है। तब अनुमान हो सकता है कि इस प्रकार का पाठ प्राक्पाणिनीय है, अर्थात् प्राक्पाणिनीय धातुपाठ में इस प्रकार विसदृश स्वर-वाली धातुओं का एकत्र पाठ था, और पाणिनि ने उस अंश को अविकल अपने ग्रन्थ में ले लिया। यह निर्णय कपोल-कल्पित नहीं है। पाणिनीय धातुपाठ के सर्वप्राचीन वृत्तिकार क्षीर-स्वामी ने स्पष्टतः कहा है—'पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्, अनुदात्तोऽप्यु दात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः' (भ्वादिगणीय 'क्षि' धातु), अर्थात् पूर्वगामी आचार्यों के अनु-सरण के कारण पाणिनि ने कहीं-कहीं उदात्त धातु और अनुदात्त धातु का मिश्रित पाठ किया है।

जब हमारा अनुमान इस प्राचीनतम वृत्तिकार से भी समर्थित हो गया, तब प्रोक्त व्याप्ति के अनुसार अन्य स्थलों का भी निरूपण होना चाहिए। यहाँ शंका हो सकती है कि पाणिनि ने पूर्वतन मिश्रित पाठ का संस्कार कर ही क्यों नहीं अपना धातुपाठ बनाया, जब कि उन्होंने अनेक स्थलों में प्राचीन आचार्यों से भिन्न प्रक्रिया तथा सिद्धान्त का अवलम्बन किया है। उत्तर है कि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के धातुपाठ का यथासंभव अपनी रचना के अनुसार परिवर्तन कर ही अपना धातुपाठ बनाया, और अष्टाध्यायी के सूत्रों के अनुसार जहाँ-जहाँ उनको धातुपाठ में परिवर्तन करना चाहिए था, उन सब स्थलों का परिवर्तन भी उन्होंने किया,[1] प्राक्पाणिनीय आचार्य उदात्तानुदात्त धातुओं का पाठ पृथक्-पृथक् स्थान पर नहीं करते थे और पाणिनि ने भी पूर्वपाठ का सर्वथा परिवर्तन कर विजातीय धातुओं को पृथक्-पृथक् नहीं पढ़ा, क्योंकि प्राचीन पाठ को लेने पर भी कोई न्यायदोष, या प्रयोग में बाधा या अष्टाध्यायी के अनुसार कुछ विप्रतिपत्ति नहीं होती, अतः उन्होंने पूर्वपाठ को यथावत् लेना ही उचित समझा।

२—जो पारिभाषिक शब्द पाणिनि से अव्याख्यात होता हुआ भी अष्टाध्यायी में व्यवहृत हुआ है, वह प्राक्पाणिनीय है।

प्रत्येक शास्त्र के अपने पारिभाषिक शब्द होते हैं, तथा उस शास्त्र का प्रत्येक ग्रन्थकार भी, यदि चाहे तो, कुछ स्वशास्त्रमात्रव्यवहार्य शब्द का व्यवहार भी कर सकता है। धातु-नाम आदि व्याकरण शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, जो व्याकरण के विभिन्न संप्रदायों में भी

१—द्र० Structure of the Astadhyayi ग्रन्थ का दूसरा अध्याय।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्यवहृत हुए हैं, पर कुछ ऐसे भी पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका व्यवहार एक संप्रदाय में ही होता है, अन्य संप्रदायों में नहीं। इसलिए प्रत्येक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में पारिभाषिक शब्दों का अर्थ पहले ही विवृत कर देते हैं, जिससे ग्रन्थ के अर्थावधारण में बाधा न हो (अर्थ-ज्ञान के अभाव से), अथवा वह शब्द यदि अन्य संप्रदाय में भिन्न अर्थ में व्यवहृत हुआ है, तो उस अर्थ के साथ अपने सांकेतिक अर्थ का विपर्यास न हो। चूँकि एक ही शब्द एक शास्त्र की अवान्तर शाखाओं में पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त होता है, इसलिए प्रत्येक आचार्य पारिभाषिक शब्दों का अर्थ मूल ग्रन्थ में ही कह देता है, यद्यपि ऐसा हो सकता है कि किसी शब्द के अर्थबोध में सन्देह होने की संभावना भी न हो।[1]

इस दृष्टि से विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि पाणिनीय ग्रन्थ में ही कहीं ऐसा पारिभाषिक शब्द हो, जिसकी व्याख्या पाणिनि ने नहीं की है, तो यह निश्चित है कि वह पद प्राक्पाणिनीय है, और किसी विशेष कारण से पाणिनि ने उसे अविकल रूप में ले लिया है। पाणिनि यह भी समझते थे कि यह पद वैयाकरण-कुल में प्रसिद्ध तो है ही, अतः व्याख्यान से इसका अर्थावधारण हो ही जायगा, अतः इसके अर्थ-निर्देश की आवश्यकता नहीं है। सूत्रकार ने क्यों नहीं ऐसे स्थलों में अपने पारिभाषिक शब्द व्यवहृत किये, यह उदाहरण देकर दिखाया जायगा।

पाणिनि का सूत्र है 'ओङआपः' (७।१।१८) पाणिनीय संप्रदाय में 'ओङ्' एक अज्ञातार्थक शब्द है। यह पारिभाषिक भी है और पाणिनि से व्याख्यात भी नहीं है। अब पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार हम कह सकते हैं कि 'ओङ्' पद प्राक्पाणिनीय है (सुतरां पूर्ण सूत्र भी प्राक्पाणिनीय हो सकता है), और पाणिनि ने किसी कारणवश उस शब्द को ले लिया है। वस्तुतः यह अनुमान सत्य है, क्योंकि स्वयं पतञ्जलि ने भी कहा है—'पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्', अर्थात् प्राक्पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह निर्देश है।

पाणिनि ने यहाँ अपना शब्द बनाकर क्यों नहीं व्यवहृत किया (जैसा अन्यत्र उन्होंने किया है), जिससे इस शब्द के अर्थबोध में सन्देह ही न होता—इस प्रश्न के उत्तर में वक्तव्य यह है कि पाणिनि का यह व्यवहार अहेतुक नहीं है। पाणिनि यहाँ 'औ' तथा 'औट्' इन दोनों का एक साथ ग्रहण करना चाहते हैं, पर इन दोनों का एक साथ ग्रहण तभी हो सकता है जब वे इन दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करें अर्थात् 'औ-ओटोः आपः' ऐसा कहें, पर इससे सूत्र में अधिक शब्द आ जाते हैं, और सन्धि होने पर क्लिष्टार्थक भी हो जाता है। प्राक्पाणिनीय व्याकरण में 'औ' तथा 'औट्' विभक्ति का एकत्र नाम था 'ओङ्' (जैसा वैयट ने

१—कभी-कभी यह भी दीख पड़ता है कि जिस आचार्य ने जिस पारिभाषिक शब्द का व्यवहार नहीं किया है, उसका व्यवहार भी उस संप्रदाय में चलता है, जैसे पाणिनि ने 'पुरुष' शब्द का व्यवहार नहीं किया, परन्तु उनके संप्रदाय में 'प्रथम पुरुष', 'मध्यम पुरुष' आदि शब्दों का व्यवहार चलता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कहा है), और यह शब्द पाणिनिकालिक वैयाकरणों में अतिप्रचलित था अतः पाणिनि ने सोचा कि यदि 'ओङ्' शब्द का व्यवहार किया जाय, तो सूत्र में लाघव भी होगा, तथा अर्थ में सन्देह भी नहीं होगा, अन्यथा सूत्रों में निरर्थक शब्दबाहुल्य करना होगा, अतः उन्होंने प्राक्-पाणिनीय सूत्रों को अविकल रूप में अपने ग्रन्थ में ले लिया।

इस नियम का दूसरा उदाहरण है 'अनुपसर्जनात्' (४।१।१४) सूत्र। भाष्यकार ने कहा है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय आचार्यों के अनुसार है (पूर्वसूत्रनिर्देशो वा; तथा प्रदीप—पूर्वसूत्रशब्देन पूर्वाचार्यकृतं व्याकरणमुच्यते)। अब द्रष्टव्य यह है कि उपसर्जन पद पाणिनि ने पारिभाषिक रूप में भी व्यवहृत किया है (द्र० १।२।४३ सू०) और इस सूत्र (४।१।१४) में प्राक्पाणिनीय अर्थ (=अप्रधान) में। इस सूत्र में पारिभाषिक अर्थ का प्रयोग उत्पन्न नहीं हो सकता और इसलिए यद्यपि 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्' (परिभाषावृत्ति) इस न्याय से पारिभाषिक शब्द का ही ग्रहण होना चाहिए, तथापि युक्तता के कारण पूर्वाचार्य-प्रसिद्ध प्रचलित अर्थ का ही ग्रहण पाणिनि का इष्ट है। यद्यपि इस एक उदाहरण से कुछ नियम बनाना असंभव जान पड़ता है, तथापि इतना तो कहा जा सकता है कि पाणिनि ने अनेक प्राक्-पाणिनीय आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दों का, उनके ही अर्थानुसार, ग्रहण किया है, और यही कारण है कि कई स्थलों पर पाणिनि द्वारा व्यवहृत शब्दों के अर्थ में सन्देह हो जाता है।

इस नियम की पुष्टि 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' (१।२।५१) सूत्र से संपूर्णरूप से हो जाती है। यहाँ व्यक्ति और वचन पारिभाषिक शब्द हैं, जिनकी व्याख्या पाणिनि ने नहीं की है। पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार ये प्राक्पाणिनीय शब्द हैं, सुतरां इस शब्द को भी प्राक्-पाणिनीय होना चाहिए (यदि अन्य बाधक न हो) वस्तुतः यह अनुमान सत्य है, और काशिका में इस सूत्र को प्राक्पाणिनीय कहा गया है।

३—कुछ विशिष्ट शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ में व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि वे स्थल एक आचार्य (=पाणिनि) के नहीं हैं, अपितु विभिन्न प्राक्पाणिनीय आचार्यों के हैं।

चूँकि व्याकरण शब्दों का विश्लेषण करता है, और उसका प्रमाण और विषय शब्द ही है, अतः प्रत्येक सुहृद् आचार्य का कर्त्तव्य होता है कि वह विशिष्ट शब्दों का, जहाँ तक संभव हो, एक निश्चित अर्थ में ही व्यवहार करें जिससे अर्थ में संशय न हो। यदि ऐसा न हो, तो अर्थ-संशयोत्पादक शब्द-व्यवहार का कारण क्या है, यह प्रष्टव्य हो सकता है, क्योंकि पृथक् अर्थ में पृथक् शब्द का ही व्यवहार करना अधिकतर शोभनीय है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब हम यह मान लें कि कोई एक विशिष्ट शब्द विभिन्न प्राक्-पाणिनीय आचार्यों के ग्रन्थों में थोड़े विभिन्न अर्थ में व्यवहृत था (और यह दोषावह नहीं है, क्योंकि अचार्यभेद से अर्थभेद होने से प्रत्येक संप्रदाय अपने आचार्य से दर्शित अर्थ का ही ग्रहण करेगा, सुतरां अर्थ-सांकर्य नहीं होगा), और पाणिनि ने उन सभी स्थलों को अविकल रूप में अपने ग्रन्थ में ले लिया, जिसके फलस्वरूप हमें एक ही विशिष्ट शब्द के, विभिन्न स्थलों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में, विभिन्न अर्थों का ग्रहण करना पड़ता है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

अष्टाध्यायी में 'छन्दस्' शब्द का व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है, कभी मन्त्रभाग के अर्थ में, कभी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिए और कभी शाखा के लिए भी[1]। इस प्रकार अर्थमिश्रणात्मक शब्द-व्यवहार का कारण क्या हो सकता है? क्या इससे बुद्धि-व्यामोह नहीं होगा? क्या मांगलिक आचार्य पाणिनि के लिए यह उचित नहीं था कि वे इस प्रकार स्वल्प अर्थभेद के लिए भिन्न-भिन्न शब्द का ही प्रयोग करें, जिससे अर्थावधारण में संशय या क्लेश न हो। भाष्यकारीय युक्ति के अनुसार हम कह सकते हैं कि चूँकि यह शास्त्र 'सर्ववेदपारिषद'[2] है, अतः सभी आचार्यों की कृतियों का इसमें यथासम्भव सन्निवेश भी है। हम यह भी जानते हैं कि एक विशिष्ट शब्द को भिन्न-भिन्न आचार्य थोड़े विभिन्न अर्थ में भी ग्रहण करते हैं?[3] और चूँकि पाणिनि ने उन सभी शब्दों का अर्थ-प्रदर्शन किये बिना व्यवहार किया है, अतः पाणिनीय तन्त्र में इस प्रकार अर्थमिश्रण हो गया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थों में शब्द-व्यवहार के कई उदाहरण हैं, यथा 'अमनुष्य' शब्द। कई सूत्रों में यह शब्द है, और सर्वत्र एक ही अर्थ नहीं है। क्या पाणिनि इस भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए विभिन्न शब्दों का व्यवहार नहीं कर सकते थे? यहाँ भी पूर्वोक्त युक्ति प्रयोज्य है।

अष्टाध्यायी में अर्थ-सांकर्य के कई प्रकार के उदाहरण हैं। कितने ही ऐसे शब्द हैं, जिनका पाणिनि ने पारिभाषिक तथा अपारिभाषिक इन दोनों अर्थों में ही व्यवहार किया है, जब कि वे विभिन्न शब्दों का व्यवहार सहज रूप से ही कर सकते थे। गुण, अभ्यास, स्वाङ्ग, सम्बुद्धि, नदी, युवा, उपपद, आम्रेडित आदि कितने ही ऐसे शब्द हैं, जिसका प्रयोग पारि-

---

१—द्र० मेरा लेख—'पाणिनि के शब्द-सूत्रों पर एक दृष्टि', 'वेदवाणी', वेदांक; वर्ष ५ में प्रकाशित।

२—'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्, तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्' (२।२।५७) तथा प्रदीप—'तृज्वृत्क्रोष्टुः' (७।१।९५)।

३—व्याकरण में इसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'आख्यात' शब्द। किसी व्याकरण में आख्यात का अर्थ है 'केवल धातु' किसी में 'तिङन्त पद' और किसी में 'तिङ्प्रत्यय'। प्राचीनतम आचार्यों के ग्रन्थों में इस शब्द का एक ही अर्थ में नियत व्यवहार था, पर पाणिनीय संप्रदाय में तीनों अर्थों में ही इस शब्द का व्यवहार है। उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त इसका और कोई अन्य बुद्धिग्राह्य समाधान नहीं हो सकता, अर्थात् प्राचीन आचार्य के शब्दों को उनके ईप्सित अर्थों में ही पाणिनि ने लिया, पर उनके अनुसार अर्थों का निर्देश नहीं किया, क्योंकि तात्कालिक समाज में अर्थसांकर्य होने की आशङ्का नहीं थी।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भाषिक तथा अपारिभाषिक, इन दोनों अर्थों में किया गया है। अर्थसंशयोत्पादक इस प्रकार के व्यवहार का, पूर्वोक्त कारण के अतिरिक्त, अन्य कारण नहीं हो सकता। ये सर्वस्थल ऐसे हैं, जहाँ पृथक् शब्द का व्यवहार किया जा सकता था। उससे शाब्दिक गौरव नहीं होता, प्रत्युत अर्थ में लाघव होता (वस्तुतः अर्थलाघव ही लाघव है—ऐसा पाणिनीय संप्रदाय का मत है), तथापि पाणिनि ने इस ऋजुमार्ग का परित्याग किया।

यदि प्रश्न हो कि पाणिनि ने क्यों नहीं पृथक्-पृथक् शब्दों का व्यवहार किया, जिससे अर्थव्यामोह नहीं होता, तो उत्तर यह है कि पाणिनि के काल में ये सभी शब्द स्व-स्व-सम्प्रदायानुसार विभिन्न अर्थों में समान रूप से प्रचलित थे, और संपूर्ण व्याकरण शास्त्र की परंपरा के उस समय तक अक्षुण्ण रहने के कारण अर्थ-व्यामोह होने का अवसर नहीं था, और इसीलिए पृथक्-पृथक् शब्द का व्यवहार करना पाणिनि ने निष्प्रयोजन समझा, क्योंकि ऐसा करने से अनेक अप्रचलित शब्दों का ज्ञान अष्टाध्यायी के पाठकों को करना पड़ता, और शायद तब उनका शास्त्र अध्येताओं के लिए भार-स्वरूप हो जाता। यही कारण है कि पाणिनीय संप्रदाय में बारबार कहा जाता है कि 'व्याख्यान से अर्थ में सन्देह का निराकरण करो, संशय होने मात्र से शास्त्र अप्रतिष्ठ नही होता'[1] (परिभाषी १)। यदि पाणिनि के ग्रंथों में इस प्रकार अविकल अनुकरणात्मक शब्द-प्रयोग नहीं होता, तो पाणिनि संशयोत्पादक शब्द-व्यवहार ही नहीं करते। 'अर्थसंशय होने से शास्त्र अप्रतिष्ठ नहीं होता' यह वाक्य ही प्रमाणित करता है कि अर्थ-संशय होना अनिवार्य है, और यह दोषावह भी नहीं है; पर चूँकि एक स्वतन्त्र कृति में ऐसा होना अवश्यम्भावी नहीं है, अतः मानना होगा कि परानुकरणात्मक अंश के मिश्रण के कारण ही ऐसा हुआ।

सभी आचार्यों की कृतियों को अपने में मिश्रित करने के कारण ही पाणिनीय तन्त्र में सभी पक्ष और मत चरितार्थ होते हैं। प्रत्येक प्राचीन व्याकरण में जितने स्वकीय पक्ष थे (जो अन्य व्याकरण से भिन्न थे), वे यथासंभव पाणिनीय शास्त्र में सार्थकरूप से प्रवर्तित होते हैं।[1]

४—यदि किसी सूत्र का कोई पद पूर्वसूत्रीय अनुवृत्ति से ही सिद्ध हो जाय, तो वह सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि पाणिनि के पहले आपिशलि आदि के व्याकरण पाणिनि की तरह सूत्रबद्ध थे, तथा सूत्र-रचना-पद्धति भी बहुत अंश तक समान थी। विषय-वस्तु तथा प्रतिपादन-शैली के समान होने पर भी प्रकरण-विन्यास आदि में यदि भेद हो (जो होना पूर्णतः स्वाभाविक है) और तब यदि परवर्ती ग्रन्थकार पूर्ववर्ती ग्रन्थ के सूत्रों को अपनी रचना के अनुसार परिवर्तित न कर अविकल रूप से ग्रहण करता है (किसी भी कारण से)

१—इसका विस्तृत निरूपण 'पाणिनि का समन्वयवाद' शीर्षक लेख में मैंने किया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तब उस ग्रन्थकार के सूत्रों में कहीं न कहीं कोई पद निष्प्रयोजन हो ही जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। निम्नमुद्रित उदाहरण से यह बात प्रमाणित होगी।

पाणिनि का सूत्र है 'भुवो भावे' (३।१।१०७)। यहाँ शंका की गई है कि इस सूत्र में 'भाव' पद अनर्थक है, क्योंकि भूधातु अकर्मक है। उत्तर दिया गया है कि कभी-कभी उपसर्ग-योग से अकर्मक धातुएँ भी सकर्मक होती हैं। इसकी व्यावृत्ति के लिए 'भाव' शब्द का ग्रहण किया गया है। भाष्यकार ने उत्तर दिया है कि यह कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि पूर्वसूत्र (३।१।१००) से अनुपसर्ग पद की अनुवृत्ति आती है, अतः उपसर्ग से भू धातु के योग होने की संभावना भी नहीं है। अतः प्रोक्त सूत्र में भाव पद का ग्रहण व्यर्थ हैं। पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि परवर्ती सूत्रों में 'भाव' पद की आवश्यकता है, और इसीलिए पाणिनि ने इसी सूत्र में 'भाव' पद को पढ़ा है, यद्यपि इस सूत्र में इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हम भाष्यकार के इस समाधान को असंगत समझते हैं। परवर्ती सूत्रों में आवश्यकता है, इसलिए उपयुक्त स्थान में एक पद को न पढ़कर अस्थान में उस पद को पढ़ा गया है, और वह भी आचार्य पाणिनि के द्वारा, जिससे व्यवहृत कोई भी वर्ण निरर्थक नहीं है, ऐसा समाधान कदापि बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। क्या पाणिनि यह नहीं जानते थे कि 'भू' धातु अकर्मक है, और यहाँ यह धातु सोपसर्ग नहीं हो सकती, क्योंकि पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' पद की अनुवृत्ति आ रही है, जिससे इस सूत्र में 'भाव' पद का ग्रहण व्यर्थ होगा? सत्य यह है कि जिस प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ में यह सूत्र अविकल रूप में लिया गया है, उसमें 'भुवो भावे' सूत्र में किसी भी पूर्व सूत्र से 'अनुपसर्ग' की अनुवृत्ति नहीं आती, अतः उपसर्ग-व्यावृत्ति के लिए 'भाव' पद की आवश्यकता थी। पाणिनि के ग्रन्थ में 'भाव' पद इसलिए व्यर्थ जान पड़ता है कि पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' की अनुवृत्ति' आती है, और इसीलिए भावग्रहण अनावश्यक मालूम पड़ता है, पर यदि अनुवृत्ति नहीं आती, या ३।१।१०० सूत्र इस सूत्र के बाद पठित होता, तो अष्टाध्यायी में भी 'भाव' पद सार्थक होता। पर चूँकि असार्थक हो रहा है, अतः अनुमान करना पड़ता है कि श्रद्धातिरेक के कारण पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से इस सूत्र को अविकल रूप में ले लिया, क्योंकि वे समझते थे कि उत्तर सूत्रों में तो 'भाव' पद लेना ही पड़ेगा, तब प्राचार्य सूत्र को ही क्यों न लिया जाय, और ऐसा करने से अनुवृत्ति के लिए क्लेश भी नहीं करना पड़ेगा। वस्तुतः यदि यह सूत्र अविकल अनुकरण नहीं होता, तो पाणिनि कभी भी 'भाव' पद का सन्निवेश इस सूत्र में नहीं करते। प्राक्पाणिनीय सूत्र में ऐसा दोष नहीं था, क्योंकि इस प्राचीनतर ग्रन्थ में इस सूत्र के पहले अनुपसर्गपदघटित कोई सूत्र नहीं था, ऐसा जानना चाहिए।

इस शैली का दूसरा उदाहरण है 'मन्त्रेषु आङ्यादेरात्मनः' (६।४।१४१) सूत्र। इस सूत्र में 'आदि' पद व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ आकार-प्रकरण चल रहा है (द्र० वार्त्तिक)। अब

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शंका हो सकती है कि पुनः सूत्रकार ने 'आदि' पद का ग्रहण क्यों किया, क्या पाणिनि ने नहीं सोचा था कि इस स्थल पर आकार का प्रकरण चल रहा है? वस्तुतः इस समस्या के लिए पूर्वोक्त समाधान ही युक्ततर है, अर्थात् किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में यह सूत्र था, और पाणिनि ने अविकल रूप में उस सूत्र को ले लिया है। प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ में सूत्रस्थ 'आदि' पद सार्थक था, क्योंकि उस ग्रन्थ में इस सूत्र के पहले आकार का प्रकरण नहीं रहा होगा, पर पाणिनि ने जब सूत्र को अविकल रूप में लेकर इस प्रकरण में पढ़ा, तब पहले आकार का प्रकरण रहने से अष्टाध्यायी में 'आदि' पद व्यर्थ हो गया। यदि पाणिनि इस सूत्र के रचयिता होते तो कदापि वे 'आदि' पद का व्यवहार नहीं करते। यदि कहा जाय कि पाणिनि ने आदि पद का परित्याग कर ही क्यों नहीं सूत्र को पढ़ा तो उत्तर यह है कि प्राचीन आचार्यों की यह शैली थी कि वे सिद्ध वस्तु को भी कभी-कभी पुनः कहते हैं (स्पष्टार्थता आदि कारणों के लिए)। जैसा भाष्यकार ने कहा है—'भवति वै किञ्चिद् आचार्याः क्रियमाणमपि चोदयन्ति' (६।१।६७), अर्थात् कभी-कभी आचार्य स्वेच्छा से सिद्ध का साधन करते हैं।

पूर्वोक्त अनुमान से यह सिद्ध होता है कि यह सूत्र (६।४।१४१) प्राक्पाणिनीय है। इस निर्णय के लिए अन्य प्रमाण भी है। इस सूत्र में 'आङ्' पद का व्यवहार किया गया है, जो प्राचीन आचार्यों का है। यदि यह पाणिनीय होता, तो पाणिनि 'आङ्' के लिए अपना पारिभाषिक शब्द व्यवहार करते, पर 'आङ्' को अविकल रूप में लेने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

इन दोनों उदाहरणों से पूर्वोक्त नियम प्रमाणित होता है; और यदि यह नियम निरपवाद हो जाय, तो शताधिक प्राक्पाणिनीय सूत्रों का ज्ञान हो सकता है।

५—पद्यगन्धि सूत्र प्राक्पाणिनीय है

भारतवर्ष के सभी शास्त्रों के मूल ग्रन्थ पद्यबद्ध दीख पड़ते हैं, तथा प्राचीनतम गद्यग्रन्थों में भी बहु अंश पद्यबद्ध हैं। व्याकरण शास्त्र में भी यही बात चरितार्थ होती है। ऋक्प्रातिशाख्य पद्यबद्ध है, तथा अन्य प्रातिशाख्यों में भी पद्यबद्ध अंश मिलते हैं। आचार्य भागुरि का व्याकरण (जो प्राक्पाणिनीय है) पद्यबद्ध था, ऐसा अनुमान होता है।[1] पद्य में रचित होने के कारण वह कुछ गौरवग्रस्त अवश्य रहता है, और सूत्ररचना की यह विशिष्टता है कि उसमें शब्दबाहुल्य नहीं होता, सुतरां यदि कोई सूत्र पद्यगन्धि (पद्य की तरह श्रूयमाण) हो तो

१—जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्द-शक्ति-प्रकाशिका में 'इति भागुरिस्मृतेः' कहकर कुछ पद्यबद्ध वचनों का उल्लेख किया है (जो व्याकरणविषयक हैं) जिससे पूर्वोक्त अनुमान होता है। अर्वाक्पाणिनीय व्याकरणों में भी श्लोकबद्ध सूत्रों की कमी नहीं है, और 'प्रयोगरत्नमाला' व्याकरण तो श्लोक में रचित ही है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानना पड़ेगा कि वह प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से अविकल रूप में ले लिया गया है। यह अनुमान उन स्थलों पर और बलिष्ठ हो जाता है, जहाँ पद्यगन्धि सूत्रों में इस प्रकार के दोषों का होना सम्भव नहीं है। कभी-कभी यद्यपि सूत्र स्वयं ही श्लोक की तरह हो जाता है, पर ऐसे स्थल नगण्य है।

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं, यथाः—पाणिनि का सूत्र है 'हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ' (३।२।२५), यह एक छन्द है, जिसका नाम है 'वैतालीय'। शायद यह सूत्र किसी श्लोकबद्ध व्याकरण से अविकल रूप में लिया गया हो। पर यदि यह तर्क किया जाय कि यह सूत्र ही है, और सहसा यह श्लोकरूप में ही बन गया है; तो एक उदाहरण दिया जा रहा है, जो मूलतः श्लोकबद्ध ही था, (और इसीलिए उसमें कुछ दोष भी था), और पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धातिरेक के कारण उसको ले लिया।

पाणिनि का सूत्र है—'दिवो द्यावा दिवसश्च पृथिव्याम्' (६।३।२९७-३०) जो संहिता-पाठ में एक वैदिक छन्द (त्रिष्टुप्) बनता है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि ६।३।३० सूत्रीय दिवस शब्द का अवर्ण निरर्थक है (अकारोच्चारणं सकारस्य विकाराभावप्रतिपत्त्यर्थम्—काशिका), और लाघव के लिए पाणिनि को 'दिवस्' कहना चाहिए था, पर पाणिनि ने वैसा नहीं किया। अवर्णघटित पाठ करने से एक छन्द बनता है, और ऐसा करना दोष भी है; पुनः जब पाणिनि उस दुष्ट शब्द-योजना को मानते हैं, तब हमको अनुमान करना पड़ता है कि उपर्युक्त वचन किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकबद्ध व्याकरण में था, और पाणिनि ने अविकल रूप में उस वचन को अपने ग्रंथ में ले लिया है।

यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो पहला उदाहरण (हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ) भी प्राक्पाणिनीय व्याकरण से अनुकृत ही सिद्ध होता है। अनेक सूत्रों में (यथा ३।२।१३ इत्यादि) उपपद के बाद धातु का उल्लेख मिलता है, पर उक्त सूत्र में धातु के बाद उपपद का उल्लेख है, और इसलिए वह छन्द बन गया है। प्रयोग में चूँकि उपपद के बाद धातु आती है, अतः सूत्र में भी वैसी ही पदस्थापन-रीति होनी चाहिए, और अष्टाध्यायी में यह रीति है भी। पर यदि व्याकरण श्लोकबद्ध हो, तो सर्वत्र एक प्रकार की ही पदस्थापनप्रणाली नहीं अपनाई जा सकती, अतः उक्त नियम का अन्यथाकरण भी होता है।[1] अतः कहना होगा कि वह सूत्र मूलतः पद्य में रचित वचन था, और वह प्राक्पाणिनीय भी था, क्योंकि पाणिनि का ग्रन्थ पद्यमय नहीं है, सूत्रमय है। छतरां, सिद्ध हुआ कि यह सूत्र किसी प्राक्पाणिनीय पद्यबद्ध व्याकरण का वचन था, जिससे अविकल रूप में पणिनि ने ले लिया है।

१—श्लोक में छन्द मिलाने के लिए प्रायः पदों में 'भिन्नक्रम' किया जाता है, जिसके कई उदाहरण हेलाराज, हरदत्त आदि ने दिये हैं। 'भिन्नक्रमता' रूप व्यवहार अवश्यमेव प्रमाणित करता है कि यह सूत्र नहीं है, और छन्द मिलाने के लिए ही ऐसा किया गया है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस विषय का अन्य उदाहरण भी है। पाणिनि का सूत्र है 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति' (४।४।३५-३६); यह अनुष्टुप् छन्द का पूर्ण अर्धांश है, और सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो यह प्रमाणित होगा कि यह वस्तुतः अनुष्टुप् छन्द में ही बुद्धिपूर्वक लिखा गया था, सहसा स्वतः छन्द नहीं बन गया है। इसका कारण यह है कि 'परिपन्थं च तिष्ठति' (४।४।३६) सूत्र में, 'हन्ति' अर्थ का समुच्चय है, अतः 'तिष्ठति च' ऐसा प्रयोग करना ही युक्ततर होता। कोई कारण नहीं है कि किसी सूत्रग्रन्थ में (जिसका प्रत्येक पदप्रयोग सु-विचारित ही होता है) इस प्रकार पदों का निरर्थक व्यत्यास किया जाय, जिससे विवक्षित अर्थ का बोध दुर्घट हो जाय। हम यह भी देखते हैं कि 'च' को 'तिष्ठति' के बाद पढ़ने से छन्दःपतन होता है, और 'तिष्ठति' के पहले पढ़ने से छन्द बनता है (पर उससे क्रमभंग दोष होता है); अतः यह मानना होगा कि छन्द मिलाने के लिए ही इस प्रकार 'च' को अपने न्याय्य स्थान से हटाकर रखा गया है। चूँकि ऐसा करना सूत्रशैली के विरुद्ध है, और पाणिनि स्वतः ऐसा नहीं कर सकते (क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं है) अतः मानना होगा कि यह किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकबद्ध व्याकरण का वचन है, जिसको पाणिनि ने अविकल रूप में अपने शास्त्र में ले लिया है।

जो सूत्र स्वतः पद्यगन्धि हो गया है, वह इस नियम का अपवाद हो सकता है। पर जो बुद्धिपूर्वक श्लोक में ही रचित है, वह श्लोकबद्ध प्राक्पाणिनीय व्याकरण का ही वचन है; ऐसा मानने से ही पूर्वोक्तदोष (अर्थात् पदों की भिन्नक्रमता) का उद्धार हो सकता है। इस विषय में अन्य युक्ततर उत्तर के लिए हम विद्वानों से अनुरोध करते हैं।

६—जो सूत्र पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार रचित नहीं है, वह सूत्र प्राक्पाणिनीय है

प्रत्येक शास्त्रकार किसी पदार्थ का निर्देश अपनी उस स्वतन्त्र पारिभाषिक प्रक्रिया के अनुसार ही करता है जिसे वह अपनी रचना-पद्धति के अनुसार अपनाता है। व्याकरण में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ पाणिनि की निर्देश-प्रक्रिया प्राक्पाणिनीय निर्देश-प्रक्रिया से भिन्न है। पर यदि पाणिनि के ग्रन्थ में ही अपने से स्वीकृत प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया उपलब्ध हो, और उस भिन्नता के लिए कोई विशिष्ट कारण प्रतीत न हो, तो यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि वह अंश प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ का अनुकरणमात्र है। पाणिनि ने स्वयं अपनी प्रक्रिया की अवहेलना की और उसका कुछ कारण भी नहीं है, ऐसा कहने की अपेक्षा पूर्वोक्त अनुमान ही अधिक संगत है, क्योंकि कई स्थलों में हम पाणिनि का ऐसा व्यवहार देख रहे हैं। निम्नमुद्रित उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होती है।

(क) जिसके स्थान में कुछ आदेश होता है, पाणिनि षष्ठी विभक्ति से उसका निर्देश करते हैं, जैसे 'ब्रुवो वचिः' (२।४।५३) 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) इत्यादि। 'निर्दिश्यमानस्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आदेशा भवन्ति' (परिभाषावृत्ति) इस परिभाषा की व्याख्या में व्याख्याकारों ने यह प्रमाणित किया है कि षष्ठी विभक्ति से स्थानी का निर्देश करना पाणिनि की प्रक्रिया है। पर अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनमें स्थानी में प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया गया है जैसे 'चितः' (६।१।१६३) 'अह्नोऽदन्तात्' (८।४।७) आदि। पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार हम अनुमान करते हैं कि ये प्राक्पाणिनीय सूत्र हैं और पाणिनि ने श्रद्धातिरेक के कारण इन आचार्य-सूत्रों को अपने ग्रन्थ में अविकल रूप में ले लिया है।

वस्तुतः हमलोगों का यह निर्णय पूर्णतः कल्पित नहीं हैं, क्योंकि पतञ्जलि ने पूर्वोक्त प्रथमाविभक्तिघटित निर्देश्य अंश को प्राक्पाणिनीय ही कहा है। उन्होंने बार-बार कहा है—'अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्' (४।१।१४; ६।१।१६३)।[1]

यदि अन्यान्य विषयों में भी पाणिनीय प्रक्रिया का निश्चय कर लिया जाय, तो उससे अष्टाध्यायी में कितना पूर्व सूत्रांश है, इसका निर्णय हो सकता है। एक स्थल उपस्थित किया जा रहा है:—

पाणिनि का निर्देश है कि धातु के बाद प्रत्यय-निर्देश करते समय धातु में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया जाय, और बहुत सूत्रों में ऐसा ही व्यवहार दीख पड़ता है। पर कुछ सूत्र वैसे भी हैं, जिनमें षष्ठी विभक्ति का व्यवहार किया गया है, जैसे 'यजजपदशां यङः' (३।१।१६६) 'स्वपितृषोर्नजिङ्' (३।२।१७३) इत्यादि। यहाँ सभी व्याख्याकार एक स्वर से कहते हैं कि 'पञ्चम्यर्थे षष्ठी'। जब पाणिनि ने यह नियम किया कि प्रत्ययविधि के लिए पञ्चमी-निर्देश किया जायगा, और बहुत स्थलों में उन्होंने ऐसा ही किया है, तब कुछ प्रत्ययविधायक सूत्रों में षष्ठी का प्रयोग उन्होंने क्यों किया, यह एक अवधातव्य प्रश्न है। प्राचीन व्याख्याकार ऐसे स्थलों के लिए उत्तर देते हैं कि यहाँ आनन्तर्य में षष्ठी है और अन्ततोगत्वा आनन्तर्य पञ्चम्यर्थ में ही पर्यवसन्न होता है, अतः षष्ठी-निर्देश करना अयुक्त नहीं है। पर षष्ठी का अर्थ आनन्तर्य और उसकी, अन्त में जाकर, पञ्चम्यर्थ में समाप्ति—इस दीर्घ पन्था की अपेक्षा स्पष्ट रूप से पञ्चमी का साक्षात् प्रयोग करना क्या अधिक शोभन कार्य नहीं होता? यदि षष्ठी-निर्देश करना पाणिनि का इष्ट होता तो 'विकार और आगम के निर्देश के लिए षष्ठी-निर्देश, तथा प्रत्यय के लिए पञ्चमी-निर्देश' इस प्रकार का अनुशासन पाणिनीय संप्रदाय में क्यों प्रवर्तित होता है? पाणिनि ने बुद्धिपूर्वक जिस निर्देशरीति (अर्थात् प्रत्यय के लिए पञ्चमी) को माना, कहीं-कहीं किसी लाभ के बिना उस रीति का त्याग किया, ऐसी कल्पना करना न्यायसंगत नहीं है। मानना होगा कि किसी प्राक्पाणिनीय आचार्य ने प्रत्यय के लिए षष्ठी का प्रयोग किया था, और पाणिनि ने उन प्राक्-पाणिनीय सूत्रों को किसी कारण अविकल रूप से अपने ग्रन्थ में ले लिया है।

१—प्राक्पाणिनीय आचार्यों की यह शैली थी कि वे स्थानी में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग करते थे (द्र० प्रदीप ६।१।१६३ तथा ८।४।७)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस विषय में निम्न तथ्य द्रष्टव्य है। वस्तुतः एक वैयाकरण संप्रदाय था जो प्रत्यय-विधि में पञ्चमी के स्थल पर षष्ठी का प्रयोग करता था। क्षीरस्वामी को धातुवृत्ति में कुछ ऐसे कृदन्त सूत्र उद्धृत हैं, जिनमें प्रत्ययविधि में षष्ठी का व्यवहार किया गया है। ये सूत्र पाणिनि से पूर्णरूपेण मिलते हैं (विभक्ति अंश को छोड़कर)। सम्भव है कि षष्ठी-निर्देश-परायण अन्य सम्प्रदाय, देशान्तर या लिपिकार के कारण ही पाणिनि-सूत्र का इस प्रकार पाठान्तर हो गया (उस सम्प्रदाय में) अथवा वे सूत्र उस व्याकरण के हैं, जिसमें प्रत्ययविधि के लिए षष्ठी का प्रयोग किया जाता था।

हमारा अनुमान है कि पाणिनि ने जिस संप्रदाय को लक्ष्यकर 'प्राचाम्' पद का व्यवहार किया है, वह संप्रदाय प्रत्ययनिर्देश में षष्ठी का व्यवहार करता था। क्योंकि अष्टाध्यायी में 'प्राचाम्' पद-घटित सूत्रों में पञ्चमी के स्थल पर षष्ठी विभक्ति का व्यवहार किया गया है, जैसे 'कुपिरजोः प्राचां श्यन्…' (३।१।९०), रोपधेतोः प्राचाम् (८।२।१२३) आदि सूत्रों में देखा जाता है। हमने अन्यत्र प्रमाणित किया कि पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय आचार्यनाम-घटित सूत्रों में प्राक्पाणिनीय शब्दों को भी लिया है, तुतरां 'प्राचां' पद-घटित सूत्रों की षष्ठी विभक्ति प्रमाणित करती है कि प्राचां पदलक्षित संप्रदाय प्रत्ययविधि में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करते थे, और पाणिनि ने अविकल रूप में उनके कुछ सूत्र ले लिये हैं।

७—लुप्तविभक्तिक या अन्यथाविभक्तिक पदप्रयोग भी प्राक्पाणिनीय है

उपर्युक्त विषय में यद्यपि कोई निश्चायक हेतु देना कठिन है, तथापि मेरा यह विचार है कि मांगलिक आचार्य पाणिनि ने स्वयं लुप्तविभक्तिक या अयथार्थविभक्तिक पदों के प्रयोग स्वेच्छा से कदापि नहीं किये हैं। उदाहरण के साथ इसका विवरण किया जा रहा है।[1]

पाणिनि का सूत्र है—'एक तद्धिते च' (६।३।६२)। यहाँ 'एक' शब्द में किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। यह लिपिकार-प्रमाद भी नहीं है, क्योंकि सभी व्याख्याकारों ने

१—दूसरा उदाहरण है—'द्वित्रिभ्यां ष मूर्धनः' (५।४।११५) सूत्र। 'ष' शब्द में भी कोई विभक्ति नहीं है, जो पाणिनीय नियम के अनुसार सवथा असाधु है, क्योंकि प्रयोग में केवल प्रकृति या प्रत्यय का प्रयोग करना पाणिनीय शास्त्र में निषिद्ध है (न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः) सम्भव है कि किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में ऐसी रीति थी कि किसी विशेष परिस्थिति में विभक्ति के विना भी प्रयोग किया जाता था, और पाणिनि ने किसी कारण-विशेष से ऐसे व्याकरणों से कुछ सूत्र अपने ग्रन्थ में ले लिये हैं। पाणिनीय संप्रदाय लौकिक प्रयोगों में निर्विभक्तिक पदों को कदापि साधु नहीं मान सकता है, और यही कारण है कि कभी-कभी निर्विभक्तिक पदों का सविभक्तिक पाठान्तर किया है। (द्र० प्र० ४।१।१७ सूत्रीय न्यास की टिप्पणी)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसको अविभक्तिक प्रयोग की तरह ही माना है। पर सोचना चाहिए कि इस प्रकार विभक्ति-शून्य प्रयोग सूत्रकार ने क्यों किया, जब पाणिनीय तन्त्र में यह न्याय है—'अपदं न प्रयुञ्जीत' या 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः'। पाणिनीय सम्प्रदाय में यह भी न्याय है कि असाधु का प्रयोग नहीं करना चाहिए (उदाहरण के रूप में भी), अतः पाणिनि ने स्वेच्छा से इस प्रकार के असाधु शब्द का व्यवहार किया है, ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं हो सकता है। यद्यपि प्राचीन व्याख्याकार एक हेतु देते हैं—'स्वतन्त्रेच्छस्य तस्य महर्षेर्नियन्तुमशक्यत्वात्' पर यह कोई मौलिक कारण-सम्बन्धी उपपत्ति नहीं है। हम समझते हैं कि अति प्राचीनकाल के व्याकरणों में इस प्रकार अविभक्तिक शब्दों का व्यवहार होता था और पाणिनि ने उन प्राचीनतम ग्रन्थों से इस सूत्र को अविकल रूप में ले लिया है। यह बात असम्भव नहीं, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में बहुतेरे अविभक्तिक पदों के प्रयोग हैं, (और क्रमशः परवर्त्ती संस्कृत में अविभक्ति का प्रयोग अपेक्षाकृत अल्प होने लगा है, जैसा वैदिक ग्रन्थों से परवर्त्ती ग्रन्थों की तुलना करने पर विज्ञात होता है)। सुतरां, उस प्राचीन काल में शब्दशास्त्र में भी तात्कालिक रीति के अनुसार लुप्तविभक्तिक पदों का व्यवहार होता था, इसमें सन्देह नहीं है, और पाणिनि ने किसी कारणवश उन लुप्तविभक्तिक शब्दों को लिया है। इस विषय में हम अन्य युक्ततर उत्तर के लिए विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं।[1]

अन्यथाविभक्तिक पदों के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है। इस विषय में हमारी युक्ति निम्नमुद्रित प्रकार की है:—हम जिसको अन्यथाविभक्ति कहते हैं, वह वस्तुतः अन्यथा-विभक्तिक नहीं है, प्राचीनकाल में उस अर्थ में उस विभक्ति का व्यवहार होता था। इसका प्रमाण यह है कि पाणिनि का विभक्ति-विधान सर्वत्र प्राक्पाणिनीय आचार्यों के विभक्ति-विधान के अनुसार नहीं है तथा प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों में कितने ही स्थलों में (तथा रामायण, महाभारत आदि) ही ऐसी विभक्ति दीख पड़ती है, जो पाणिनीय नियम के अनुसार घटती नहीं है।[2] पर मानना होगा कि वैसा विभक्ति-प्रयोग भी साधु है, और

१—हमने 'एक' आदि पूर्वोक्त शब्दों में जो विभक्ति-शून्यता दिखायी है, उसे पाणिनि के अनुसार जानना चाहिए। सम्भव है कि किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार का प्रयोग साधु रूप से ही माना जाता था, जिसका विशेष ज्ञान आजकल सम्भव नहीं है।

२—कुछ स्थलों में प्राक्पाणिनीय आचार्यों का विभक्ति-विधान पाणिनीय विभक्ति-विधान से पृथक् है, वहाँ अन्य विभक्ति का अनुशासन प्राक्पाणिनीय आचार्यों ने किया है। वस्तुतः संस्कृतभाषा के विभक्ति-प्रयोगों में कालानुसारी परिवर्त्तन होता आ रहा है—और यही कारण है कि व्याकरण कालसे अवच्छिन्न होता है, अर्थात् जैसे स्मृतिशास्त्र का अधिकार एक निश्चित काल तक चलता है, वैसे व्याकरण के विषय में भी समझना चाहिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राक्पाणिनीय व्याकरणों में वैसे विभक्ति-प्रयोग के लिए अवश्य ही अनुशासन था। परवर्ती काल में काल के परिवर्तन के साथ-साथ विभक्ति-प्रयोग में अवश्यमेव कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ होगा, और तत्तत् काल के पृथक्-पृथक् व्याकरणों में तात्कालिक विभक्ति-प्रयोग को देखकर ही विभक्ति-विधान अनुशिष्ट हुआ होगा। यह बात कल्पित नहीं है, क्योंकि 'युगे-युगे व्याकरणम्' आदि प्रवाद इस सिद्धान्त को ज्ञापित करते हैं। व्याकरण का अनुशासन निश्चित काल तक के लिए होता है, आचार्य कैयट ने इस बात को स्पष्ट रूप से कहा है (५।१।२१ प्रदीप) अतः किसी पद को अन्यथाविभक्तिक कहने का अर्थ है एक समय के व्याकरण के अनुसार जो विभक्ति होनी चाहिए, उस विभक्ति का प्रयोग न करना—पर वह अन्य प्राचीनतर काल के व्याकरण की दृष्टि में साधु है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से यह भी सिद्धान्त निर्गलित होता है कि अष्टाध्यायी में जितने अन्यथाविभक्तिक पद हैं (अर्थात् जिन पदों को हम पाणिनीय सूत्र के अनुसार अन्यथाविभक्तिक मानते हैं), वे सभी प्राक्पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि में यथार्थविभक्तिक हैं और पाणिनि ने अविकल रूप में उन ग्रन्थों से उन पदों को ले लिया है।

प्रश्न हो सकता है कि पाणिनि ने उन पदों को अपने व्याकरण के अनुसार यथार्थ विभक्ति से युक्तकर क्यों नहीं पढ़ा, जब हम देखते हैं कि उन्होंने अनेक स्थलों में प्राचीनाचार्य-व्यवहृत शब्दों में अपनी दृष्टि के अनुसार परिवर्तन कर व्यवहार किया है? उत्तर है, पाणिनि ने जो विभक्ति आदि का अनुशासन किया है, वह तात्कालिक प्रसिद्धि के अनुसार ही है, और उनके समय में जिन प्रायोगिक विधानों का व्यवहार लुप्त हो गया था, या वे अपनी दृष्टि में जिन शाब्दिक अनुशासनों को अयथार्थ समझते, उन सब विषयों का त्याग उन्होंने किया है, और इसीलिए हम देखते हैं कि पाणिनि ने किसी आचार्य के कुछ अनुशासनों का ग्रहण किया, और कुछ का त्याग किया। एक प्रमाणभूत आचार्य के प्रति इस प्रकार 'अर्धजरतीय' न्याय का पूर्वोक्त कारण के अतिरिक्त और अन्य कारण नहीं हो सकता।[1] सुतरां, हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जिस विभक्ति का अनुशासन पाणिनि ने नहीं किया, वैसा प्रयोग पाणिनिकाल में अपरिचित हो गया था, पर वैयाकरणकुल में प्राचीनकाल में व्यवहृत विभक्ति का ज्ञान था, और पाणिनि ने कदाचित् प्रयोगों को दिखाने के लिए ही प्राचीन व्याकरण के विभक्ति-प्रयोगों को अविकल रूप में अपने शास्त्र में ले लिया है। अनेक सूत्रों में इस प्रकार विभक्ति-व्यत्यय दीख पड़ता है, और यदि वह व्यत्यय व्याख्याकारों का कपोल-कल्पित न हो, तो उन स्थलों के लिए पूर्वोक्त समाधान ही न्यायसंगत है।

१—मेरा लेख: Panini's notion of the autho intativeness of the views of his predecessors' (गंगानाथ झा रिसर्च जर्नल Vol. no. 11, part 2 में प्रकाशित)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संभव है कि निर्विभक्तिक पदों का व्यवहार वेदकालिक प्राचीनतम व्याकरणों में प्रचलित था, क्योंकि वैदिक साहित्य में निर्विभक्तिक पदों का प्रचुर व्यवहार है। सूत्र भी है 'छपां छलुक्...' (७।१।३९) और पाणिनि के सूत्रों के विषय में कहा भी जाता है 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' (१।१।१ भाष्य); पर पाणिनि ने स्वेच्छा से वैदिक प्रयोगों की तरह अपने व्याकरण में प्रयोग किया है (जो उनके समय में अप्रचलित था) ऐसी कल्पना की अपेक्षा पूर्वोक्त उपपत्ति ही अधिक संगत है। संभव है कि वेदकालिक व्याकरणों के सूत्रों का पाणिनि में अन्तर्भाव होने के कारण ही 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' [1] कहा गया है।

८—एक अर्थ के लिए अनेक शब्दों का व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि वे शब्द एक आचार्य [पाणिनि] के नहीं हैं, सुतरां प्राक्पाणिनीय हैं

पाणिनि ने एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जैसे एक 'द्रव्य' के लिए अधिकरण (५।३।४३), बन्धु (५।४।९), सत्त्व (१।४।५७) इत्यादि। काव्य में यदि इस प्रकार का शब्द-व्यवहार किया गया होता, तो वह दोषावह नहीं होता, पर व्याकरण में इस प्रकार के भणितिवैचित्र्य की आवश्यकता है, ऐसा समझ में नहीं आता। यद्यपि व्याकरण शास्त्र में एक परिभाषा है—'पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचर्चा नाद्रियते', तथापि इतने पर्यायों का प्रयोग क्यों किया गया, इस प्रश्न का उत्तर इससे नहीं मिलता। हो सकता है कि प्रत्येक अवान्तर व्याकरण-सम्प्रदाय में एक-एक शब्द का ही प्रचलन था, और चूँकि पाणिनि ने सभी सम्प्रदायों के सूत्रों को अपने शास्त्र में यथासम्भव ले लिया, अतः अनेक पर्यायों का प्रयोग उनके शास्त्र में दीख पड़ता है। [2]

इस प्रसंग में एक बात अवधातव्य है। हम देखते हैं कि व्याकरण शास्त्र में जितने साम्प्रदायिक मत हैं, वे किसी न किसी स्थल में पाणिनीय शास्त्र में चरितार्थ होते हैं, तथा पाणिनि का अपना नियम ही सर्वत्र अपने शास्त्र में चरितार्थ नहीं होता। यदि

१—अति प्राचीनकाल से ही पाणिनीय संप्रदाय का यह विश्वास था कि पाणिनि के सूत्रों में वैदिक शब्द की तरह शब्द-प्रयोग था, और इसीलिए जब पाणिनिसूत्रीय शब्दव्यवहार में कुछ दोषयुक्त शब्द की तरह प्रतीयमान शब्दों का प्रयोग दीख पड़ता है तब व्याख्याकार 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' (अर्थात् सूत्र वैदिक प्रयोग की तरह होते हैं) कहता है; पर कुछ ही स्थलों पर ऐसा कहा जाता है। अन्य स्थलों में उस प्रकार के शब्द-प्रयोग से कुछ-न-कुछ नवीन अर्थ का ज्ञापन ही किया जाता है। इस प्रकार 'अर्धजरतीय' व्यवहार उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

२—द्र० पवते महोदय का 'Structure of the Astadhyayi' ग्रन्थ।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पाणिनि का ग्रन्थ संपूर्ण नवीन रूप से विरचित होता, तो उनके ग्रन्थ में जितने शब्दार्थ-प्रयोग-संकीर्णात्मक स्थल हैं, वे कदापि नहीं होते। सूत्रशब्दार्थज्ञान में जहाँ-जहाँ सन्देह होता है, उन स्थलों को यदि पाणिनि कुछ विशद रूप से लिखते, तो कुछ भी सन्देह नहीं होता, पर पाणिनि ने प्राचीन आचार्य के सूत्रों को (जिनमें वैसा शब्द-प्रयोग था, पर स्वल्पशास्त्र में यथोपयुक्त संकेत रहने के कारण संशयोत्पत्ति नहीं होती थी) अविकल रूप में अनेक स्थलों में ले लिया है, अतः 'एक शब्द को अनेक अर्थों में प्रयोग' तथा 'अनेक विशिष्ट शब्दों का एक अर्थ में प्रयोग' उपपन्न होता है।

यदि यह तर्क किया जाय कि वैचित्र्य के लिए ही पाणिनि ने एक अर्थ में अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, और पाणिनि विचित्र-शैलीप्रिय भी थे (द्र० भाष्य ३।१।१९)।[1] अतः अनेक शब्दों का प्रयोग प्राक्पाणिनीयत्व का ज्ञापक नहीं है, तो उत्तर यह है कि यद्यपि सामान्य शब्दों के लिए यह तर्क कथंचित् संगत हो भी जाय, पर एक अर्थ के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार अवश्य ही प्रमाणित करता है कि वे शब्द पाणिनि के नहीं हो सकते। यथा—वैकल्पिकत्व के लिए पाणिनि ने वा, विभाषा, विभाषित तथा अन्यतरस्याम् इन चार पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है। यदि इन चार शब्दों के अर्थ में कुछ भी विलक्षणता न हो, तो यह मानना अधिकतर युक्त होगा कि ये चार शब्द विभिन्न प्राक्पाणिनीय सम्प्रदायों में प्रचलित थे और पाणिनि ने उन सम्प्रदायों के मतों को लेने के समय उन सब पारिभाषिक शब्दों को भी ले लिया। भाष्य (२।१।५७) से भी यही बात ध्वनित होती है।

९ पाणिनीय सूत्रों का कोई शब्द यदि पाणिनि-निर्दिष्ट शब्द से पृथक् हो, तो वह शब्द प्राक्पाणिनीय है

शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया प्रत्येक आचार्य के ग्रन्थों में कुछ-न-कुछ भिन्न है। प्रक्रिया में जितने केवल शास्त्रगम्य कार्य होते हैं, उन कार्यों के लिए जिन काल्पनिक प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना प्रत्येक शास्त्रकार करता है, उन काल्पनिक पदार्थों का स्वरूप भिन्न-भिन्न व्याकरणों में प्रायः कुछ-न-कुछ भिन्न है। जैसे, जिस धातु को कोई 'अस्' कहता है, उसी को कोई 'स' कहता है, जिस प्रत्यय को कोई 'वतुप्' कहता है, अन्य उसी को 'डावतु' कहता है इत्यादि।

उपर्युक्त सिद्धान्त से एक और बात निकलती है। कोई भी शास्त्रकार अपने ग्रन्थ में अपने अनुसार ही 'प्रत्यय', 'विभक्ति' आदि का निर्देश अवश्यमेव करता है। अन्य आचार्यों के निर्देशों के साथ अपने निर्देशों का मिश्रण नहीं करता, क्योंकि ऐसा करने से अध्येता को अर्थ-बोध करना असंभव हो जायगा। यदि पाणिनि धातु-पाठ में धातुस्वरूप दिखाने के समय

१—एवमर्थं खल्वपि आचार्यः चित्रयति, क्वचिदर्थान् आदिशति, क्वचिन्नेति'। इसकी व्याख्या में कैयट ने कहा है—'अनेकमार्गमाश्रयतीत्यर्थः'।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'अस्' धातु का पाठ करते हैं और सूत्र में 'स' (आपिशलि के अनुसार) शब्द से उसका निर्देश किया गया है, तो पाणिनि का तात्पर्य किसी को हृदयंगम नहीं हो सकता। अतः मानना होगा कि पाणिनि ने अपनी दृष्टि में 'प्रत्यय', 'विभक्ति' आदि का जो स्वरूप निश्चित किया है (जो प्राक्पाणिनीय आचार्यों से अनेक अंशों में भिन्न है), यदि उन विभक्ति आदियों के अन्यत्र निर्देशस्थल में पहले से निश्चित शब्द से कुछ पृथक् शब्द से निर्देश दीख पड़ता है, तो मानना होगा कि वह शब्द प्राक्पाणिनीय है। यथाः—

पाणिनि ने प्रथमा विभक्ति के बहुवचन को 'जस्' विभक्ति से संकेतित किया है, अतः सर्वत्र प्रथमा बहुवचन के लिए 'जस्' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। परन्तु 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) सूत्र में 'जस्' के स्थान पर 'जसि' शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार अन्यथा निर्देश से कोई लाभ या लाघव नहीं हुआ है, अतः मानना होगा कि 'जसि' शब्द प्राक्पाणिनीय आचार्यों का है, और पाणिनि ने उसको अविकल रूप में अपने शास्त्र में ले लिया है। यह हमारी कपोलकल्पना नहीं है, स्वयं सुबोधिनीकार जयकृष्ण ने भी ऐसा ही कहा है— 'जसेरिति पूर्वाचार्यानुरोधेन निर्देशः'। यदि वस्तुतः यह नियम प्रमाणान्तर से भी सिद्ध हो जाय, तो अष्टाध्यायी में व्यवहृत अनेक प्राक्पाणिनीय शब्दों का परिचय हमें प्राप्त हो जायगा।

प्रश्न हो सकता है कि पाणिनि ने अपनी पद्धति के अनुसार ही निर्देश क्यों नहीं किया (अर्थात् जसि के स्थान में जस्)? उत्तर—यह सूत्र वैदिक है, और अधिकांश वैदिक सूत्रों को पाणिनि ने प्रातिशाख्यादि से अविकल रूप में ले लिया है, इसीलिए प्राचीन आचार्य के सूत्रों को उन्होंने श्रद्धावश ले लिया है। वैदिक शब्द के अध्येताओं में 'जसि' शब्दार्थ का ज्ञान अति प्रसिद्ध था ही, अतः पाणिनि को वैसा निर्देश करने में संकोच नहीं हुआ, ऐसा अनुमान असंगत नहीं होगा। अन्यान्य लौकिक सूत्रों में भी जहाँ इस प्रकार अपाणिनीय निर्देश है, वहाँ भी कुछ-न-कुछ कारण अवश्य है, जिसके अन्वेषण के लिए विद्वानों को सचेष्ट होना चाहिए।

यहाँ जितने नियम दिखाये गये हैं, उनके अतिरिक्त भी कुछ नियमों का अविष्कार किया जा सकता है। पाणिनीय सूत्रों में ही कुछ ऐसे पद हैं, जैसे 'अन्वचि' (२।४।६४) तथा 'तिर्यचि' (३।४।६०) इत्यादि, जो पाणिनीय नियम से सिद्ध नहीं होते। हो सकता है कि ऐसे शब्द प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों से अविकल रूप में लिये गये हों।

ये नियम सर्वथा निरपवाद हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, पर इन नियमों से बहुत दूर तक प्राक्पाणिनीय अंश का ज्ञान हो सकता है, यह निश्चित है, क्योंकि हमने अनुमान-सिद्ध पदार्थ को प्रमाणान्तर से भी सिद्ध किया है।

अन्त में, हम विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं कि वह इस गंभीर विषय पर विचार कर, इसके चरम निर्णय के लिए चेष्टा करे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उन्नीसवीं शती के लेखक की दृष्टि में बंगाल और बिहार

श्री मुनि कान्तिसागर

हिन्दी के प्राचीन गद्य-साहित्य पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है। साहित्यिक ग्रन्थों की सुध थोड़ी-बहुत यदा-कदा ले ली जाती है, पर विशुद्ध इतिहास और लोक-कथा-सम्बन्धी जो ग्रन्थ हैं, उन पर अभी अन्वेषकों का ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ है। साहित्यिक कही जानेवाली कृतियों की अपेक्षा दूसरी कोटि की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं और प्रयत्न करने पर और भी अधिक सामग्री उपलब्ध हो सकती है। इसी अपर कोटि के एक हिन्दी गद्य-ग्रन्थ पर कुछ विचार प्रस्तुत हैं।

हिन्दी में जो इतिहास-विषयक प्राचीन साहित्य मिलता है उस पर अभी तक काम नहीं हुआ है। जिस ऐतिहासिक ग्रन्थ की मैं चर्चा करने जा रहा हूँ वह है 'चकत्ता की परम्परा'। नाम बड़ा विलक्षण-सा प्रतीत होता है, पर है सर्वथा उचित और सार्थक। भूषण के काव्य में चकत्ता शब्द आया है। उदाहरणार्थ—

'चकित चकत्ता चौंकि-चौकि उठे बार-बार।'

चकत्ता शब्द चगताई का अपभ्रष्ट रूप है। चगताई खाँ चंगेज खाँ का पुत्र था। इसी वंश में बाबर, हुमायूँ, अकबर, औरंगजेब आदि मुगल बादशाह हुए, जो क्रमशः चगताई, चगता और चकत्ता के रूप में पहचाने जाने लगे। इसी की परम्परा प्रस्तुत बुन्देली-हिन्दी में उल्लेखित है। यद्यपि इसका मुख्य विषय इतिहास है, तथापि मुगल-कालिक मूल्यवान् ज्ञातव्य सामग्री का अद्भुत संकलन भी इसमें है।

मूल ग्रन्थ में तैमूर से लगाकर राजा सूरजमल जाट तक की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का संग्रह है। उस काल के १५० से अधिक ऐतिहासिक और ज्ञान-वर्धक प्रवाद भी इस में ग्रथित हैं। मुगलों का शासन कहाँ-कहाँ है? उसमें कौन-कौन-से मुख्य नगर हैं, और सम्पूर्ण प्रदेश की यात्रा की जाय तो कितने कोस प्रतिदिन चलने पर, कितने दिनों में यात्रा तय होगी आदि पर्यटन-विषयक मूल्यवान् सूचनाओं के बाद तात्कालिक अधिकारियों की पद-सूची और विभागों का विवेचन करते हुए, उस समय के ऊनी, सूती और विदेशी वस्त्रों के रंग, जात, पहचान, और प्रकारों का उल्लेख है। जयपुर-नरेश माधव सिंह का वर्णन भी कम आकर्षक नहीं।

मुख्य विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के पूर्व मैं इस प्रकार के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रयत्नों की परम्परा पर भी सूचनात्मक प्रकाश डाल दूँ। ऐसे संग्रहात्मक ग्रन्थ प्रखर शोध-वृत्ति के परिणाम हैं। हममें से बहुतों की मान्यता आज भी दृढ़ है कि इस प्रकार के सर्वसंग्रह के प्रयास की प्रथम कृति 'आईने अकबरी' है। पर यह कोरा भ्रम है। यह तो भारतीय परम्परा है। इसमें मुसलमानों से हमने कुछ भी नहीं लिया है। उदाहरण के लिए दौलताबाद के राजा के चतुर और बुद्धिमान् मंत्री हेमाद्रि ने विविध-विषयक वस्तुओं का संग्रहात्मक ग्रन्थ 'हेमाड पंती मेस्तक' १३ वीं शती में लिखा था। सामाजिक इतिहास की प्रचुर सामग्री ऐसे प्रयत्नों के कारण ही सुरक्षित रह सकी। आलोच्य संग्रह भी इसी परम्परा का एक प्रयास है।

ग्रन्थ का रचना-काल निर्दिष्ट न होते हुए भी वर्णित घटनाओं से स्थिर किया जा सकता है कि वह वि० सं० १८२१ के पूर्व ही लिखा गया होगा, कारण कि इसमें जयपुर-नरेश माधव सिंह का वर्णन वर्तमान काल के रूप में है, और परम्परा भी सूरजमल जाट तक रुक जाती है। साथ ही जो ऐतिहासिक प्रवाद दिये गये हैं, उनमें एक महाराज बखत सिंह राठौर के संबंध में भी है। इन सब बातों को देखते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि यह अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण की कृति है। इसके पाँच संस्करण अद्यावधि ज्ञात हो सके हैं। दो प्रतियाँ ओरछा-संग्रहालय में हैं, एक शिवपुरी (मध्यभारत) के पटवारी के पास है और दो ग्वालियर-निवासी श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव जी के संग्रह में हैं। सबकी भाषा बुंदेली है और केवल एक की लिपि मोडी है। मेरे सम्मुख जो प्रति है वह श्री भालेराव जी के संग्रह की है और इसका प्रतिलिपि-काल वि० सं० १९०४ है।

शासन-सुविधा के लिए मुगलों ने अपना भू-प्रदेश इन प्रान्तों में विभक्त कर दिया था—बंगाल, बिहार, इलाहाबाद, अवध, आगरा, मालवा, खानदेश, बरार, गुजरात, अजमेर, दिल्ली और लाहौर। सभी प्रान्तों में कितने जिले, परगने और कितनी भूमि है,[1] उनकी क्या विशेषताएँ हैं, वहाँ कौन-कौन-सी प्रमुख नदियाँ हैं; आदि ज्ञातव्य विषयों का संग्रह किया गया है। प्रत्येक प्रान्त की सीमाएँ स्पष्टतः निर्धारित हैं। मैंने इस प्रबन्ध में बंगाल और बिहार प्रान्त के वर्णन का सारांश देने का प्रयत्न किया है। यद्यपि ये वर्णन आज के विस्तृत ज्ञान के युग में सामान्य-से लगेंगे, पर उस समय की दृष्टि से इनका विशेष मूल्य है। मूल वर्णन का अनूदित रूप इस प्रकार है:—

१—भूमि का निश्चित क्षेत्रफल, जो प्रत्येक प्रान्त के अन्तिम भाग में दिया गया है, अकबरकालिक ज्ञात होता है, कारण कि देहली का क्षेत्रफल नहीं दिया गया है। वहाँ केवल ये पंक्तियाँ लिख दी हैं—

"दिली के सूबे की जमीन का प्रमाण टोडरमलह ने नाप्पा नहीं।" ग्रन्थ के मध्य भाग में भी टोडरमल द्वारा स्थापित शासकीय विभागों की विस्तृत चर्चा है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सूबा बंगाल

लम्बाई=८०० मील।

चौड़ाई=४०० मील।

चौहद्दी:—

पूर्व—समुद्र।

उत्तर—पर्वत।

दक्षिण—पर्वत।

पश्चिम—बिहार प्रान्त।

कामरूप देश इसी सूबे में है, वहाँ मंत्र-विद्या का बहुत प्रचार है। वहाँ बड़े-बड़े वृक्ष हैं। उनमें से कुछ तो मानवाकार फल भी देते हैं। छेदने पर मीठा रस निकलता है। बाँस के घर होते हैं। हाथी प्रचुर हैं। एक जात है। लाल, हीरा, सोना, चाँदी और गन्धक की खानें हैं। इस देश का मूल नाम वंग है। किसी शाहनशाह ने पानी के लिए बीस गज चौड़ा और १० गज ऊँचा बाँध बाँधी है, जिसे लोग 'आली' कहते हैं। यहाँ शीत और उष्ण ऋतुएँ समान हैं। मिथुन-संक्रांति से छह मास तक अविराम गति से वृष्टि होने से भूमि जलमग्न हो जाती है। केवल पूर्व-कथित बाँध पर से ही आवागमन होता है। स्त्री-पुरुष श्याम वर्ण के होते हैं। नदियाँ बहुत हैं। गंगा उत्तरीय पर्वत से इलाहाबाद और बिहार होती हुई आयी है। काजी-हटा गाँव के समीप वह दो धाराओं में विभक्त हो गई है। पूर्व दिशावाली पद्मावती कहलाती है। वह आगे चलकर सहस्र धाराओं में बँटकर समुद्र में गिरी है। दूसरी धारा अदृष्ट है। सादगाँव के पास तीन धाराएँ, गंगा, यमुना और सरस्वती, समुद्र में जा मिलती हैं। चावल प्रचुर और इतनी जातियों के होते हैं कि एक-एक कण भी एकत्र किया जाय तो घड़ा भर जायगा। वे सस्ते भी हैं। गेहूँ अच्छा नहीं मिलता। कुछ स्त्रियाँ वल्कल से ही शरीर ढँक लेती हैं। वर्षाकाल में गमनागमन नाव द्वारा होता है। इस देश में तीन प्रकार के खोजे[1] रहते हैं—संदली, बादामी और काफीरी। ये मालिक को मनपसंद जानवर का शिकार देकर मुक्त हो सकते हैं। नमक कम मिलता है। एक ऐसा पुष्प होता है, जो दो मास तक कुम्हलाता नहीं। एक हौद का पानी जहर मिला है, वह केवल अपराधी को पिलाया जाता है। बंगाल की सरकार समुद्र के तट पर है, जो समुद्र कृष्ण और शुक्ल पक्ष में क्रमशः घटता-बढ़ता है। चोपचीनी और उड़द बहुत होते हैं। भृंगराज नामक एक पक्षी होता है जिसका वर्ण श्याम और आँखें रक्त वर्ण की होती हैं। उसके पंख एक-एक गज के होते हैं। सभी जानवरों की भाषा इसे आती है। आसाम इसी सूबे में है, वहाँ बड़े-बड़े वृक्ष हैं। वहाँ का राजा मरता है तो उसकी कब्र में बहुत से स्त्री-पुरुष भी उसके शव के साथ गाड़ दिये जाते हैं। लेखन में ताल-पत्र का

१—मुगलों के महलों में रहनेवाले हिंजड़े।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्यवहार होता है। जगन्नाथ का मंदिर पुरुषोत्तमपुर में है। किसी युग में इन्द्रदमन राजा ने एक विप्र को पवित्र भूमि की गवेषणा के लिए भेजा। वह समुद्र-तट पर आया, जहाँ एक कौआ स्नानान्तर भगवान् की स्तुति करता था। विप्र काक-भाषा से परिचित था। विप्र द्वारा परीक्षा करने पर काक ने कहा—'मैं किसी साधक के शाप से कौआ बनकर आया हूँ। स्नानकर पवित्र हुआ।' इतने में आकाश से एक विमान आया। काक देवता बनकर उस पर बैठ गया। वहीं राजा ने पुरुषोत्तमपुर बसाया। राजा को स्वप्न हुआ कि समुद्र में ५२ अंगुल लंबा और १॥ हाथ चौड़ा चन्दन-काष्ठ आवेगा, उसे सात दिन रेत में गाड़ने से स्वयं मूर्त्ति बन जायगी। पर, राजा का धैर्य छठे दिन ही टूट गया। मूर्त्ति अधबनी ही निकली। हाथ बनना शेष था। उसने इस मूर्त्ति का नाम जगन्नाथ रखा और इसके लिए मंदिर बनवाया। सूलह नामक बादशाह ने इसे अग्नि से दग्ध करने का प्रयत्न किया, पर असफल रहा। कबीर यहीं पर हुए हैं (!)।

इस सूबे में २४ सरकार (जिले) और ७८७ परगने हैं। अधिकतर जमींदार कायस्थ हैं।

सूबा बिहार

लम्बा=गढ़ी से रोहतास तक २४० मील

चौड़ा=नरहल से उत्तरीय पर्वत तक २२० मील

चौहद्दी:—

पूर्व—बंगाल

पश्चिम—इलाहाबाद

उत्तर—पर्वतमाला

दक्षिण—पर्वतमाला

बड़ी नदियाँ गंगा और सोन हैं। सोन में लकड़ी आदि जो भी वस्तु डालो, वह पत्थर हो जाती है। सरयू उत्तर से आकर मनेर के पास गंगा से मिली है। गंडक उत्तर से आकर हाजीपुर के पास गंगा में सम्मिलित हुई है। इसका पानी गले में सूजन पैदा करता है। इसमें ८० मील तक शालग्राम निकलते हैं।[1] कर्मनाशा[2] और पुनपुन दक्षिण से आकर

१—ठक्कुर फेरुकृत 'रत्न-परीक्षा' में भी इस का उल्लेख मिलता है। अच्छे शालग्राम गंडकी में ही मिलते हैं। अन्य रत्न-परीक्षाविषयक ग्रन्थ भी इसका समर्थन करते हैं।

२—यों तो कर्मनाशा उत्तराखंड की नदी है, पर अब तो इसे ही मान लिया गया है। बिहार और उत्तर प्रदेश की सीमा कर्मनाशा से ही प्रारंभ होती है। मध्यकालीन कुछ अन्य उल्लेख भी इस कर्मनाशा से सम्बद्ध मिले हैं। वैसे इसमें सोन का पानी आता है। इसका जल वैदिक परम्परानुसार पूर्व पुण्य को नष्ट कर देता है। जब यहाँ सेतु का निर्माण नहीं हुआ था और धार्मिक वृत्ति के लोगों का

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गंगा में मिली है। कर्मनाशा का जल अग्राह्य है। और भी कई नदियाँ हैं। उष्णता अधिक और शीत कम है। छह मास तक वृष्टि होती है। पृथ्वी हरी-भरी है। आँधी और धूल नहीं उड़ती। खेती सुन्दर होती है। चावल और मटर कई प्रकार के होते हैं। गन्ने के खेत अधिक हैं। मगही पान बढ़िया होता है। दूध शुद्ध और सस्ता है। चीजें अनाज से नहीं,

---

आवागमन अत्यधिक होता था, तब नाव खेनेवाले मनचाहा दाम वसूल करते थे। किंवदन्ती यह है कि किसी समय लक्ष्मी बाई (झाँसी की रानी) को भी यह कष्ट भुगतना पड़ा। तब उन्होंने जन-सुविधा के लिए एक सेतु ही बनवा दिया। इस किंवदन्ती पर मुझे अधिक कुछ भी नहीं कहना, क्योंकि सेतु पर हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, बँगला और अँगरेजी भाषा के लेख लगे हुए हैं। वे स्वयं अपनी कहानी प्रस्तुत कर देते हैं। देहली के राजा पदविभूषित पटणीमल्ल ने इस सेतु का निर्माण वि० सं० १८८८ में करवाया। यह इन निम्नोक्त लेखों से स्पष्ट है। ये लेख सर्वप्रथम यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं :—

बिहार से आते हुए दाईं ओर पर यह लेख खुदा है—

"यह त्रिसंकुनृप लारसों, श्रुति भाषित है ष्यात।
सरित करमनासा प्रबल, करत सुकर्म निपात ॥१॥
महाघोर औघट विकट, निपट सुत रत्न तरंग।
सुकृत भंग सब होत हैं, छींट लगतहीं अंगार ॥२॥
श्री पटनीमल नृप सुबुधि, नयनिधि धरम निकेत।
सकल जगत उपकार हित, सुदिढ बँधाये सेत ॥३॥
उपल घटित रचना सुभग, धरम सेत जहि नांम।
कियो न कोऊ आज लौं, ऐसो अद्भुत कांम ॥४॥
अष्टदस अट्ठासिया, विक्रम संवत जान
सत्रहसैं त्रेयन अधिक, शुभ साका पहचान ॥५॥
सीतारांम प्रताप से सदा रहे यह सेतु ॥"

उक्त लेख के ठीक सामनेवाले भाग में, अर्थात् बाईं ओर निम्नमुद्रित लेख उत्कीर्ण हैं:—

(१) श्री गणेशायनमः अस्याः कर्म्मनाशायाः श्रुतिस्मृति पुराणविख्याताशत त्रिशंको मुखवारि
(२) जायाः पुंसाज्जलस्पर्शमात्रेण प्राक्त पुण्यनाशिन्या वैश्यवर्येण ऐरवंशे जेनराज ख्यालिराम बहादुरेति
(३) ख्यात पौत्रेण राय बालगोविंदात्मजेन श्रीमद्राजमान्येन शता धर्मतेन पटनीमल बहादुराख्येन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नकद[1] दाम देने पर मिलती हैं। घर कबेलु अर्थात् खपरैल होते हैं। हाथी खूब होते हैं, पर घोड़े और ऊँट कम हैं। लड़ाई के मुर्गे नामी होते हैं। कांच और सुनहली जरी का काम सुन्दर होता है। राजनगर के पास संगमरमर की खान है, जिसके गहने बनते हैं। कागज भी अच्छा बनता है। ब्रह्मगया इसी प्रान्त में है। मुँगेर जिले में जवाहरात का व्यवसाय खूब चलता हैं। गंगाजी से लेकर पहाड़ तक एक दीवार बनी है जो बंगाल को पृथक् करती है। हाजीपुर में कटहल इतने बड़े होते हैं कि एक मनुष्य एक फल नहीं उठा सकता। विना हल चलाये ही उड़द उत्पन्न होता है। पीपल खूब होते हैं। नरहत[2] में विद्याधाम है। दही एक वर्ष तक रखने पर भी नहीं बिगड़ता। दूध में जो पानी मिला कर बेचते हैं, उनकी गाय खराब हो जाती है। जंगली भैंसे सिंह से भिड़ जाते हैं।

रोहतास का दुर्ग पहाड़ पर १४ कोस में फैला हुआ है। यहाँ खेती भी होती है। जहाँ कहीं भी खोदने पर जल निकल आता है। चौमासे में पहाड़ पर २०० पानी के झरने झरते हैं। सौ जिले और एक सौ नब्बे परगने हैं। २४४४१२० बीघा जमीन है।

---

(४) स सर्व भूतोपकरार्थ श्रीमद्विष्णोतोपणार्थ···सेयं सेतु बंध रचना वस्वद्रि-भूतीन्दुमिती वत्सरे···॥"

इन्हीं भावों को व्यक्त करनेवाले श्लोकबद्ध लेख और भी इसी सेतु पर लिखित हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) "श्री गणेशायनमः ॥ श्रीमद्दिल्लीशलब्ध क्षितिपदविराजमानः खिआलीरामो भूद्वैश्यवर्यो

(२) नृपति परिषदि भ्राजमान प्रताप, तस्मादाविर्बभूव प्रथित गुणनिधि बलि गोविन्दनामा तस्माज्जात श्राका

(३) स्ति क्षितिपति पटणीमल्ल वामा वदान्यः ॥१॥ अस्पर्शस्य त्रिशंकोर्मुख मुधजनिता कर्मनाशा प्रसिद्धा, यस्या अस्प

(४) र्शमात्रात्युनरुपनयनार्ह द्विजाद्राग् भवन्ति, ताप्टस्टाक्लेशयुक्तां स्तर्विदित मनुजान्गोर्बृषांदीश्रतस्यां, सेतुं धर्मैक हे—

(५) तुः यदुकुल तिलक प्रीतिकामोव बंधा शास्त्रीयाज्ञापालने भीष्म तुल्यः ॥२॥ स्वर्णदीनां स्पर्शने कर्णतुल्यः जीर्णोद्धारेशं—

(६) कराचार्य तुल्यो जीव्याद्रजा पुत्र पौत्रैरुपेतः ॥३॥

संवत् विक्रम १८८८ शाके शालिवाहनः १७५३ श्री ॥"

१—लेखक ने सकारण ही इसका उल्लेख किया है, कारण कि पश्चिम, और कहीं-कहीं दक्षिण-भारत में आज भी प्रथा है कि साग-भाजी या फल-फूल अनाज के एवज में जाते हैं, पर बिहार इस प्रथा से मुक्त मालूम पड़ता है।

२—मेरे अनुमान से यहाँ 'तिरहुत' शब्द होना चाहिए।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

(व्यावहारिक पक्ष)

प्रो० श्री जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०

(गतांक से आगे)

—शेखर : एक जीवनी—

बाबा फिर आते हैं, और मुक्ति तथा 'थोथे अध्यात्मवादी पूरब' बनाम 'निकृष्ट पदार्थवादी पश्चिम' के लोगों की चर्चा करते हैं; और 'भेड़-चाल का सभ्य नाम संस्कृति है'—एक सूत्र दे डालते हैं। सूत्र देने के पहले बाबा कह चुके हैं, 'देखिये, आजकल न जाने मन क्यों बहुत दुःखी रहता है। शायद मैं कोई नया सूत्र देनेवाला होऊँ···शायद केवल बुढ़ापा ही हो। इसलिए आपके सवालों का जवाब सूत्रों में ही—पुराने सूत्रों में ही—दूँगा'। सूत्र की सनक, इसकी इतनी अनवरत हठ-साधना, जब आना तो कुछ सूत्र कहना और फिर जुदा हो जाना मदन सिंह के शील को कृत्रिम बना देता है। कॉलेज में पढ़नेवाले विद्यार्थी जब शुक्ल जी का बैर-क्रोध का अँचार या मुरब्बा है पढ़ते हैं, और परीक्षा में काम आने के लिए उन्हीं की व्याख्या रटते हैं तो कुछ दिनों तक आचार्य की शैली ही अपना लेते हैं, जैसे 'गणित का पर्चा योग्यता की मणिकर्णिका है'। लेकिन इस सतत शास्त्रीयता से बाबा जब आकाश में मेघ देखकर कहते हैं, आँधी-तूफान से कुछ सहारा मिलता है, तो इस बन्दी मृगराज अथवा बुद्धि-शार्दूल के शील के प्रति एक ही साथ भय, आदर तथा करुणा हो आती है।

शेखर के आदर्श ऋषि बाबा मदन सिंह धीरे-धीरे बीमार पड़ते हैं, और चटगाँव में गोली चलने की, वहाँ के भारतीयों पर अत्याचार की कहानी सुनकर दर्द से कराह उठते हैं।

बाबा कहते हैं, 'मैंने चाहा था, तुम मुझे हँसता ही देखो,—संसार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं जो अभिमान से भी बड़े हों'।

सो बाबा की हँसी वह स्वाभिमान है, जो दुनिया के सामने अपनी दीनता, दुर्बलता और मन की व्यथा प्रकट करना नहीं चाहता। लोग बाबा पर दया न करें इसलिए तो बाबा आँतों को मरोड़ कर, हड्डियों को गुदगुदा कर हँसते हैं। भीतर के पागलपन को छिपाने के लिए, संसार के सामने प्रसन्नता का स्वांग, स्मित आनन का नाट्य कितने अधिक प्राण-व्यय, कितने उत्सर्ग, कितने आत्मपीड़न की साधना चाहता है। लेकिन एक बात और देखिये। चटगाँव के गोलीकांड का पूरा प्रमाण नहीं है। बाबा इसीसे अधीर हैं। लोग ढाल देते हैं कि ऐसी अफवाहें उड़ा करती हैं। बाबा को आशंका है कि अफवाहों से भी अधिक भयंकर कांड हो सकता है। वे कहते हैं मेरा क्रोध इसलिए नहीं है कि मेरे पास प्रमाण है; क्रोध इसलिए है कि प्रमाण नहीं है। यहाँ तक तो ठीक है। अपने देश पर विदेशी अत्याचार करें और राष्ट्रीयता

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के पुजारी, माँ के लाल, जेल के भीतर पूरी सूचना भी न पा सकें, तो यह भावुक आदर्शवादियों के लिए दाँत पीसने, जेल की दीवारों फाँद जाने तक की बात हो सकती है। बाबा दीवारें नहीं फाँदते। अचानक बात के स्तर को शास्त्रीय बना देते हैं। राष्ट्रीयता की भेद-बुद्धि का स्वाभाविक क्रोध और लपटें न मालूम कहाँ चली जाती हैं; और बात कुछ ऐसी नहीं कही जाती, जिसमें देश-भक्ति का जोश हो। मजा तो यह है कि बाबा जँगले के पास आ जाते हैं, और भिंची हुई मुट्ठी शेखर की ओर उठाकर कुछ कहना शुरू करते हैं। क्या कहते हैं ? जो कहते हैं वह राष्ट्रीयता को फाँदती, अन्तरराष्ट्रीयता को लाँघती, अखिल मानवता की ओर से कही जाने लायक बात-सी लगती है, और वह भी जैसे बाइबिल का शैतान आदम को सिखा रहा हो, जैसे सारी बात, ज्ञान को आवरण के पीछे छिपाकर, मनुष्य-मात्र को सदा के लिए पंगु कर देनेवाले ईश्वर के विरुद्ध कही गयी हो। शेखर की एक पूरी स्मृति ईश्वर, आदम और सर्पवाले पुराण की है। जिज्ञासा, जिज्ञासा और जिज्ञासा, ज्ञान, ज्ञान और अधिक ज्ञान की पीड़ा जैसी शेखर को है वैसी ही मदन सिंह को। पता नहीं, कौन शरीर है, कौन छाया ! योग के प्रति भी मनुष्य का आकर्षण हो सके, इसलिए ज्ञान की अवस्था को आनन्द की अवस्था कहा जाता है। उसी तरह शैतान के बहकाने में भी ज्ञान-फल के स्वाद-विशेष तथा प्रभुता-विशेष का प्रलोभन है। मार्लो और गेटे के 'फास्ट' में भी ज्ञान की भूख या जिज्ञासा स्वयं अपना लक्ष्य नहीं, वह सुख-भोग, शक्ति-वृद्धि आदि को लेकर है। इस तरह यह जिज्ञासा कुछ मानवोचित, लोकगम्य, सर्वसाधारण की चीज हो जाती है। लेकिन शेखर और मदन सिंह की जिज्ञासा तो अन्धकार में टटोलते रहने का ही सुख है। चटगाँव-वाले इस छोटे तथा निकट संदर्भ में अचानक विचारों की उत्क्रान्ति, या उदान-सिद्धि देखिये—दासता—एकदम घृणित परवशता—और किसे कहते हैं ? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, असत्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को, जिसमें हम सत्य और असत्य को जानने में असमर्थ हो जाते हैं; दासता है वह बन्धन वह मनाही, जो हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छीन लेती है। कहाँ चटगाँववाली बात, कहाँ मनुष्य-मात्र की दार्शनिक विवशता !

यही परिस्थिति का निरूदन (Dehydration) हो जाता है, सारी तरलता समाप्त हो जाती है। बात संदर्भातिक्रान्त हो जाती है।

बाबा की हालत धीरे-धीरे गिरती ही जाती है। मैंने अपने जीवन का उत्तम अंश कोठरी में बिताया है, अब सब से महत्त्व का दिन कहीं और बिताने नहीं जाऊँगा, बाबा कहते हैं। जब स्मृतियों की मार्मिक अभिव्यंजना करने की छूट है ही, तो यहाँ 'उत्तम' और 'महत्त्व' जैसे शब्दों को नहीं रखना चाहिए था। ये शब्द व्यक्ति-विगलित न लगकर अनुवाद जैसे दीखते हैं।

उधर बाबा की भीम-मूर्ति राष्ट्रीयता की असह्य वेदना लिये कराह रही है, इधर पहरेदार यन्त्रवत् चिल्लाते हैं—'सब अच्छा !' ऐसे व्यंग्यों से वीर बाबा के प्रति करुणा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तीक्ष्ण हो जाती है। पता चलता है कि बाबा 'रात में उठ बैठे, घंटा भर रोते रहे'; और फिर कहा 'अब चल! बस...' संकल्प-शक्ति की अमोघ परकाष्ठा लिये ही बाबा की जीवन-लीला का अवसान होता है। चटगाँव के अत्याचार वे सह नहीं सके। शेखर को बाबा की आँखों में एक सूत्र की स्मृति डबडबा जाती है और है भी वह सूत्र बाबा के सभी सूत्रों की शिरोमणि। 'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है लेकिन दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है।' जब तक बाबा जीते रहे, शेखर ने उनके पैर छूने में अपमान समझा। आज अपने को कोसते हुए उसने उनके अन्तिम सूत्र पर माथा टेक दिया, फिर 'दो बड़े आँसुओं का निर्लज्ज भाव वार्डरों को दिखाता हुआ कोठरी में चला गया।'

'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है।' थोड़ा इसका विश्लेषण कर लें। गौर कीजिए। (१)—शेखर जब श्रद्धा से नतमस्तक है तो माथा टेकने के पहले 'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, बस यहीं तक की स्मृति रसपोषक होती है। बाबा के लिए जो शेखर को दर्द है वह शेखर के अभिमान पर विजयी हो माथा टेकता है। और तब श्रद्धा के अश्रुपुष्प चढ़ा लेने के बाद शेखर के भविष्य के गुरु-मन्त्र अथवा कर्मयोग के उत्साह-सिद्धान्त के रूप में कोठरी से चलते-चलते 'दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है', मानस-गुञ्जन भाव के अनुकूल पड़ता। मात्र सूत्र के लोभी उपन्यासकार को यह पता नहीं चला कि एक साँस में कह डालने की त्वराकुलता भाव-विराम के अनुकूल परिस्थिति के लिए कितनी घातक हो सकती है। (२)—हृदय जिसको आदर्श मानता है, ऋषि मानता है, वीर मानता है, उसके चरण छूने का विनय शेखर में नहीं आ पाता, और इससे वह अशान्त भी है। अपने ही अभिमान से शेखर अशान्त है। आज जब बाबा सदा के लिए चल बसे और मौका हाथ से निकल गया तब तो और। आज तो बाबा उसके अभिमान की पराजय को देख भी नहीं सकते थे। फिर भी शेखर केवल सूत्र पर ही माथा टेक लेता है। बाबा के चरण छूने में हृदय की पूजा होती। सूत्र बाबा के बौद्धिक तपस्या की सिद्धि है। वहाँ तक शेखर जा सकता था। आगे हृदय को बुद्धि नहीं जाने देती। अपनी बुद्धि के प्रतापभानु के सामने शेखर हृदय का कपटी मुनि ही होकर रह सकता है—प्रणाम भी करता है लेकिन इस प्रवंचना के साथ कि बुद्धि के अहंकार को कोई शिकायत न हो। (३)—आँसुओं के 'निर्लज्ज भाव' का क्या अर्थ? अवश्य ही अपने आँसुओं को दिखलाने में निर्लज्जता की चेतना उसी बौद्धिक दम्भ की पाप-चेतना है, जो भूलकर भी हृदय की प्रेरणा को नहीं मानता।

जेल में जिस दूसरी शील-विभूति से शेखर का सम्पर्क होता है वह है महसिन। महसिन स्वलक्षण-शील का व्यक्ति है। उसके व्यक्तित्व का मूल्य न संस्कारों में है, न आदर्शों में, न किसी लोक-निरति में, न गरिष्ठ बौद्धिकता में। उसके व्यक्तित्व का, अभिव्यक्ति का सौंदर्य प्राण-प्रवाह की लघु-चंचल ऊर्मिलहरियों में है, किसी भीम-रुद्र, महाप्राण, गुरु-गांभीर अभिव्यक्ति में नहीं। वह शरारती है, शरारत में उसे रस मिलता है, मजा आता है; और इस तरह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दूसरों से निर्दोष विनोद करते उसका एकान्त जीवन कट जाता है। पारे की चंचलता, विनोद-प्रियता, वाक्चपलता उसमें कूट-कूट कर भरी है। जेल के जिस जीवन को बाबा मदन सिंह ने कठोर तपस्वी के अक्षय संकल्प, महामनस्वी के अमिट तेज से काटा, उसे महसिन एक लीला-नट, एक बाल-सखा, एक दायित्व-निश्चिन्त, रूढ़िमुक्त तथा प्रसादद्दर्शन व्यक्ति के रूप में बिताता है। बाबा तो गम्भीर थे, गम्भीर रहे। महसिन व्यवहार में सदा हल्का-फुल्का, गाता, बोली बोलता, जेलवालों को छकाता चलता है। लेकिन, इस नटखट स्वभाव के तल में एक सहज संयम एक निसर्ग सबल मर्यादा, तथा एक सरल स्वाभिमान है, जो अग्नि-परीक्षा की वेला में अन्तर की दीप्ति से और भी निखर उठता है। ऐसे हँसमुख सखा के करुण अन्त की मार्मिकता और भी बढ़ जाती है। सहज आत्मस्थ व्यक्तियों की तरह महसिन आक्रामक नियमों को समझ ही नहीं सकता। जो नियम ऊपर से लाद दिये जाते हैं, उनमें उसे कोई सार, कोई अर्थ नहीं दीखता। महसिन जैसा शिवहृदय पात्र 'शेखर' में कोई नहीं। महसिन विद्रोह के लिए विद्रोह नहीं करता। न तो जेल का जीवन उसे कटुम्लान ही बना सका है, न व्यर्थ शहीद बनकर जेल में रहने की कष्ट-साधना ही वह करना चाहता है। वह तो हर घड़ी बच्चों की तरह तातील मिलते ही घर भागना चाहता है। जो रूढ़ नहीं, वह कट्टर नहीं। शेखर से कोई परिचय नहीं; फिर भी सहज रीति-निरपेक्षता से, बेतकल्लुफी की स्वाभाविक आत्मीयता में महसिन बोल उठता है, मानो कितना पुराना परिचित हो—बात तो सुन जाओ मौलवी! महसिन मुसलमान है, शेखर हिन्दू। 'मौलवी' में व्यंग्य हो तब, आत्मीयता हो तब, दोनों अचानक के संदर्भ में खटकनेवाली चीजें हैं। महसिन साम्प्रदायिकता का संकीर्ण बन्दी नहीं, सहज बन्धुत्व का विशाल विश्व है। अपनी बात को स्पष्ट करता है।

'मौलवी तो बने हुए हो, कितने दिन से हजामत नहीं बनाई है। उस्तरा नहीं है क्या?'—यह तो 'मौलवी' पर ही व्यंग्य है। एक मुसलमान के द्वारा और एक हिन्दू के लिए, एक अपरिचित मनुष्य के लिए, इतना सहज सौहार्द! मस्तमौला तबीयत का आदमी जो कहना है, कह गुजरेगा, किसी के लिए बुराई तो है नहीं दिल में। जब शेखर कहता है, यहाँ कौन देखता है, तो महसिन कहता है, 'अरे भले आदमी, कोई नहीं देखता तो क्या अपने भी नहीं चुभती? और खुद तो बाहर जाने लायक बने ही रहना चाहिए—फिर कोई छोड़े न छोड़े बला से। फिर न हो तो एक पतरा मुझे ही भेज देना। मुझे तो हर समय रिहाई के लिए तैयार रहना अच्छा लगता है।' उसे जेल में साँसत नहीं। कुछ ऐसी आत्माएँ होती हैं, जिन्हें घेरे के भीतर रखा ही नहीं जा सकता। उन्हें दास बनाना व्यर्थ है, वे कारागार में भी मुक्ताकाश की तरह रहती हैं। मुक्ति की आशा में महसिन की जंजीर भी सोने की हो जाती है। मौलवी होते तो मक्कार हैं, मगर मेरा मौलवी हिन्दू होगा तो निभ जायेगी। इसमें दुहरी उदारता, सीमाओं पर दुहरी विजय है। मौलवियों को मक्कार कहकर वह असामान्य मुसलमान हो जाता है, फिर हिन्दू से ही निभने की बात कह वह

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किसी हिन्दू से भी अधिक सम्मोहक मालूम पड़ता है। महसिन जाता है, वह उदास होता है, तो वह सीधे दिलबहलाव कर लेता है, और वह साफ दूसरों से कहता है कि वह गाता है, गाने के लिए कहने पर बच्चे गले के नखरे नहीं करता। शेखर ऐसे से भी अपनी स्वभावबक्रता नहीं छोड़ता। इसमें दोनों के शील छँटते चलते हैं। शेखर कहता है, 'गाना हो तब तो बुरा नहीं लगता।' जब शेखर शरारत से कहता है कि वह महसिन को 'पंडित' कहेगा, तब वह झूम जाता है—'वाहवा! ठीक है। तब मैं हजामत करके तिलक भी लगाया करूँगा।' फिर महसिन के शील का साक्षी निर्माण होता है। वार्डर महसिन से आजिज आकर उसकी शिकायत करता है, और जो अभियोग लाता है उसीसे महसिन के उल्लास-चपल सम्मोहन का चित्र खिंच जाता है।

वह हर किसी को 'तुम' कह कर बुलाता है (रूढ़िमुक्त शिष्टाचार से मुक्त है वह), यहाँ तक कि दारोगा साहब को भी। निर्भीक भी है वह। लावारिस है, बाप-माँ, भाई-बन्द कोई नहीं। अनाथ है। लेकिन, पढ़ने गया तो बगावत फैलाने लगा। हरवक्त शरारत सूझती है। हथकड़ी लगाइए, फिर भी शरारत से बाज नहीं आता। कहता है—'मेरे लिए चक्की पीसो तो बादशाह के लिए मैं पीसूँगा।' किसी के आतंक में आने को नहीं। चक्की पीसने को दो, कबूतरों को चुगा दिया। पूछने पर बोला, 'कबूतर मेरे भाई हैं, मुझे खुश रखते हैं।' महसिन को इसी प्रसन्नता से मतलब है। जो खुश रखे वह भाई, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान, चाहे इन्सान, चाहे पशु-पक्षी। चक्की उखाड़ कर थाला बना डाला, पानी डाल दिया। कहने लगा, 'मक्की बोई है। चक्की में मक्की बोने वाले महसिन को कोई अपनी प्रकृति से कितनी दूर रख सकता है। वह तो अपने अन्तर से विवश है। उसके बाद महसिन गाया करता है। शेखर सुनता है—

'मिट गयी जब सब उमीदें मिट गये सारे खयाल,
उस घड़ी फिर नामवर लेकर पयाम आया तो क्या।'

उसके बाद 'मौलवी ओ-ए' और 'पण्डित हो!' का स्नेह-विनिमय जेल की निस्तब्धता को भंग कर देता है। शेखर के स्वर से ही वह भाँप जाता है कि वह अशान्त है। शेखर एकबार नहीं बोलता तो वह उसे अधिक परेशान भी नहीं करना चाहता, 'सो जाओ, मैं नहीं बुलाता।' हृदय का ऐसा नवनीत बिरले ही कहीं मिलेगा। फिर उसका दिल बहलाने के लिए गाने लगता है। महसिन के इस नटखट, शरारती, लफंगे स्वरूप के बाद संश्लिष्ट विरोध के रूप में उसके आत्मबल, उसकी संकल्प-शक्ति की पुंजीभूत राशि का उद्घाटन तब होता है, जब दारोगा के अत्याचारों से उसका स्वाभिमान, उसकी कष्ट-सहिष्णुता, उसका विरोध-संकल्प बढ़ता ही जाता है। हजामत बनाना वह नहीं ही छोड़ता। बेड़ी के बाद डंडा-बेड़ी, फिर खड़ी-बेड़ी, फिर रात हथकड़ी, फिर दिन-रात डंडा-बेड़ी, फिर कसूरी खुराक! लेकिन महसिन की हँसी नहीं छूटती। हँस कर कहता है, 'देख मौलवी, मैं हज

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करने चला हूँ। यह वह हँसी है जो दूसरों को रुलाती है।' सदा की तरह महसिन प्रकृतिस्थ परिस्थिति की उदात्त विस्मृति ! शील और प्रारब्ध के व्यंग्य की यह तीखी अनुभूति हमें करुणा में डुबा देती है। हास्य संचारी हो कर वीर की करुणा को यहाँ और भी मार्मिक बना देता है। जब महसिन बिलकुल नंगा और खून में लथ-पथ हो जाता है, तो शेखर को देख कर कहता है, 'मौलवी, मुझे तेरे पास ला रहे हैं। अब गाना सुना करना'। बेंत खाकर टिकठीं से उतारे जाने पर दारोगा को देख वह कहता है, 'बस ! अब तो मैं खलीफा हो गया।' अपने से और दूसरों से उसका हास-विनोद छूटता नहीं, वह झुकता नहीं।

फिर रामजी ! वह ऐंठदार मूँछों और निर्भीक आँखोंवाला जाट। संकीर्ण वातावरण में भी अभ्यन्तर का विस्तार, तथा आपाततः तुच्छ में भी उदात्तता की झलक, जिस तरह बन्दी मदन सिंह और महसिन में मिलती है, उसी तरह इस जाट में भी। स्वलक्ष्णशील, तथा नैसर्गिक साधुता का अन्तर, एवं हत्यारे का बाह्य रूप लिये, रामजी तीसरी शील-विभूति है। सब से अधिक सजीवता इस जाट के शील में है। जाट जानता है कि उसे फाँसी होगी। किसी कचहरी में नहीं, जहाँ वह आत्मरक्षा के लिए झूठ भी बोल सकता था, बल्कि भेद-सुहृद् शेखर से, वह इतनी सरलता, इतनी स्पष्टता, इतनी सजीवता से अपने अपराध का यथार्थ चित्रण करता है कि मनुष्य का सारा न्याय-विधान ही सत्य तथा साधुता को माधुर देने जैसा लगता है। 'गाय गोठ महि सुर पुर जारे' से भी भयंकर पातक हमारा न्याय करता है, जब रामजी जैसे चरित्रवीर, अहिंसाधर्मी, शीलवान्, संकोची, तथा व्यवहार-साधु व्यक्ति को हत्या की बाह्य बर्बरता के नाम पर फाँसी पर लटका दिया जाता है। सामाजिक व्यवस्था की इस न्याय-विडम्बना की प्रच्छन्न आलोचना को भूल जाइए। रामजी को देखिये। रामजी है जाट। इसलिए पहाड़ी जातियों की नग्न स्पष्टता, प्रेम और प्रतिशोध, वैर और प्रीति की साधु तत्क्षणता, मृत्यु, निर्भीकता, विचारों की सरल निर्द्वन्द्वता तथा संकल्प की बर्बर कठोरता की परंपरागत धारणाएँ अपने अद्भुत राग से रामजी के शील को पहले ही रंजित कर देती हैं। रामजी हत्या के अपराध में आया है। फाँसी जिसे होने को है, उसे भी सिगरेट पीने को फुर्सत है। वह शेखर से कहता है, 'मुझे कभी दो-एक सिगरेट दे दिया कीजिए। आदत है बाबू जी, पर अब तो फाँसी पर चढ़ना ही है, इसलिए पी लेता हूँ। आप पीते हैं न ?' अज्ञेय ने रामजी की बातचीत में कहीं भी भारीपन नहीं आने दिया। बोलचाल की सीधी-सादी भाषा। फाँसी के दिन भी सर्दी से बचने के लिए गुलूबन्द बाँधनेवाले, भूसेवाले घर के छाजन की चिंता करनेवाले, 'दूसरे दिन फाँसी पड़ेंगे, आज मरने को जी नहीं चाहता' ऐसा कहनेवाले, या 'अब तो फाँसी पर चढ़ना ही है, इसलिए पी लेता हूँ,' कहनेवाले भयावह तथा दारुण की गंभीर विस्मृति के जड़ोदात्त प्राणी हैं। एक तरफ तो 'बुरी आदत है, बाबूजी' में नम्रता, आत्मतुच्छता दयनीयता तथा व्यसन की असहायता देखिए, दूसरी ओर साहस और संतुलन देखिए कि फाँसी का खौफ भी सिगरेट पीने की आदत और मौज से रुक नहीं

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सकता। भोग की, विलास की यह जड़ता आत्यन्तिक मालूम होती है। और हम सभी साधारण कोटि के आदमी मन मसोस कर रह जाते हैं, काश कि केवल वर्त्तमान का ऐसा निश्चिन्त भोग तथा भविष्य के भय से ऐसी सम्पूर्ण मुक्ति हमारी भी होती!. फिर हम करुणा से भी भर जाते हैं। रामजी विहसित हास्य का, स्नेहन हास्य का आलंबन हो जाता है। शेखर से वह पूछता है, 'आप हत्यारे पर दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते?' रामजी जैसा आदमी भी हत्या कर सकता है, यह बात कल्पना में नहीं आती। हत्या एक कर्म है, उसके पीछे जो भाव है उसकी परख किये बिना जो दण्डविधान बन जाता है, वह शीलप्रज्ञा का जन्मांध है। रामजी जानता है कि लोग उसे औरत का हत्यारा समझते होंगे। वह फांसी से छूटने के लिए अपील नहीं करता। लेकिन एक सिगरेट देकर जो अनुग्रह कर दे, जिससे पुराना ताल्लुक हो जाय, उससे कोई बात वह छिपाना भी नहीं चाहता। अदालत में भी सच्ची बात कह आया। कहानी के बीच की यह कहानी और भी कुछ 'पंचतन्त्र' जैसी रोचक मालूम पड़ती है। रामजी की बातों में वक्रता नहीं। वह आँखों-देखे, कानों-सुने, हाथों-किये काम को प्रत्यक्ष साक्षी की तरह कहता है। उसके कथन की सजीवता अनुपचार-कथन के कारण आती है। सारी बातों को प्रथम पुरुष में कहता है। सभ्यता अन्य पुरुष में बातें करती है; आदिम, बर्बर, प्राकृतिक लोग प्रथम पुरुष में ही बोलते हैं। अन्य पुरुष सत्य के स्वरूप के साथ हस्तक्षेप करता है, प्रथम पुरुष की विधि अक्षरशः कथन की विधि है।

रामजी को थोड़ी-सी जमींदारी थी। उसके भाई नौकरी करने चले गये। पर भाभी का मन अच्छा नहीं था। 'पड़ोस के लोग जो हमारे घर आकर भाई का हाल-चाल पूछा करते थे, उन्हीं में से एक से उसकी कुछ बातचीत हो गयी थी।'

रामजी तनिक भी अतिशयोक्ति से काम नहीं लेता। उसकी उक्ति में संकोच है, संयम है।

भादो में एक दिन रामजी बासी रोटी खाकर खेत पर रात को रहने चला गया। जोरों की बारिश और ओले के कारण वह घर लौटा तो दरवाजा बन्द। गुस्से में दरवाजा तोड़ने लगा तो भाभी ने किवाड़ खोले और सहमी-सी एक तरफ खड़ी हो गयी। ईमानदार, बालोचित शीलवाले बर्बर लोग ब्योरों से नहीं थकते, जिससे उनकी बात अधिक मांसल, अधिक रूप-साक्षात् तथा हास्यकर मालूम पड़ती है। वही आदमी था। उसके कपड़े और जूते सूखे हैं, जिससे जान पड़ता है वह देर का आया हुआ है।

'बाबू जी, मेरी जगह आप होते तो क्या करते?'

इतना विनीत रामजी; लेकिन विनय-मर्यादा निर्लज्ज नहीं होती।

उसके बाद फाँसी पड़नेवाले आदमी की तरह नहीं, बल्कि बालक की तरह एक ही साँस में सच के छोटे-से-छोटे और यथातथ्य ब्योरे कह देने के लिए वह आकुल हो जाता है। ऐसी शैली से, पाठक गौर से पढ़ें, मन में हँसी भी आती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मैं एक ऐसे मुंशी जी को जानता हूँ, जिनसे यह पूछने पर कि वे कहाँ से आ रहे हैं, जवाब बहुधा यही मिलता है, आ रहा हूँ दादर से। कल घर से चला। बाबू रामसूरत सिंह के यहाँ गया। फिर रामसूरत ने कहा, 'आइए, आइए मुंशी जी।' फिर मैंने कहा, 'बहुत अच्छा' तो बाबू साहब ने कहा 'बैठिये बैठिये', मैंने कहा, 'अच्छा।' फिर बाबू साहब ने कहा—'मुंशी जी, पानी-वानी पीजिएगा?' मैंने कहा, 'क्यों नहीं सरकार?' तो बाबू साहब से नौकर ने कहा, 'अभी लाता हूँ!' उसके बाद गमछे से मैंने पैर पोंछे। तो, नौकर ने कहा 'मुंशी जी, पानी पीजिए।' तो मैंने कहा, 'लाओ भाई।' फिर मिश्री खाकर पानी पीने लगा तो बाबू साहब ने कहा—'मुन्शी जी और पानी' तो मैंने कहा 'नहीं सरकार.....।'

ऐसे अथक बतक्कड़ों को श्रोताओं के धैर्य्य के प्रति उपेक्षा हो, ऐसी बात नहीं। तो वे बात के रसिक होते हैं, फिर वे सार-संक्षेप के स्थूल-सामान्य की अपेक्षा अनेक विशेषों में से प्रत्येक की विरल प्रतिभा के कायल होते हैं। राम जी को तत्त्व के समास से संतोष नहीं, वह तो प्रत्येक ब्योरे के विस्तार में ही सत्य की चरम साधुता अपने भीतर पाता है। अँगरेजी साहित्य में इस तरह प्रथम पुरुष में दूसरों की बातचीत के ब्योरे के प्यासे बहुत मिलते हैं। ऐसे सभी पात्र प्रायः किसान, गड़ेरिया आदि प्राकृतजन, वृद्ध, बालक या विक्षिप्त लोग होते हैं। 'शेखर' जैसे गरिष्ठ तथा अरूप बौद्धिकता के उपन्यास में रामजी जाट मानो मूर्त्त विशेषों की संजीवनी फूँक देता है। रामजी की छनें—"मैंने भाभी से पूछा कि यह कौन है, क्यों आया है?' (सीधी बात)। उसने जवाब नहीं दिया। मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने भाभी को धमका कर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है? बहुत धमकाने पर बोली—'कई बार आया है।' मैंने पूछा कि तू इसे चाहती है, तो कुछ नहीं बोली। मैंने आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने कहा, अगर तुम लोगों में प्रेम है 'तो तुम ब्याह कर लो। मैं कुछ नहीं कहूँगा। पीछे जो होगी, सो मैं देख लूँगा। भाई को भी मना लूँगा। बोल, तू है तैयार?' भाभी कुछ नहीं बोली। मैंने उस आदमी से पूछा, तो बोला—'तू कौन है बीच में पड़नेवाला?' मुझे गुस्सा आ रहा था पर मैं चाहता था भाभी से अन्याय न करूँ। भाभी तो कह नहीं रही थी, पर भाई के साथ जो तीन बरस रह चुकी थी, उसका कुछ लिहाज था ही।"

इस तरह बात ब्योरों के साथ आगे बढ़ती है। वह जार कहता है—'ना, मैं बीबी-बच्चे-वाला ठहरा, मुसीबत मोल लेना नहीं चाहता।' रामजी बोला, या तो तुम दोनों ब्याह कर लो, नहीं तो जो मन में आयेगा, करूँगा।' जार ने रामजी को गाली दी। फिर वह कहता है, मैंने पूछा 'तू है तैयार? अगर है तो मैं इसे मनाकर छोड़ूँगा, पर वह नहीं बोली, तब मेरी आँखों में खून उतर आया। और मैंने गँड़ासे से दोनों को काट डाला।' इसमें तरकारी की तरह निर्विकार चित्त से गर्दन काट डालनेवाला चरित तो है ही, भाभी के प्रति कितना संकोच, अन्त तक एक सम्मानजनक समझौते की ललक भी है। रामजी कितना उदार, कितना

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साफ-सुथरा, प्रकृति से कितना नीतिवान्, भाभी का कैसा सहज पक्षपाती है। भाई को भी मना लेता। उसे कमीनापनी नीयत से क्रोध है। वह यौन-भोग को पाप नहीं मानता। वह चाहता है कि चोरी की नीचता बाहर का साहस भी हो जाय। अंधकार से उसे चिढ़ है। जिसकी कलाई पकड़े, उसकी बाँह पकड़ ले। मरदाना आदमी·····सीधी-सादी कुछ बातों में ही जिन्दगी का बारा-न्यारा कर बैठा। रामजी से बढ़कर सहज धार्मिकता किसकी है! थाने में लिखा दिया। 'खूनी को मरना ही चाहिए।'

वह बाबूजी (शेखर) से पूछना भी नहीं चाहता कि उसने अच्छा किया या बुरा। वह शर्मिन्दा नहीं है। वह अच्छी तरह मरेगा। उसने अपील नहीं की। अच्छे-बुरे का निर्णय दृष्टिसापेक्षता से हो सकता है। उसकी अन्तरात्मा संतुष्ट है। वह शान्त है। उसके एक ही कर्म में भावना और कर्त्तव्य दोनों एकाकार हो गये हैं। वह मर्यादा-पुरुषोत्तम है, फिर भी हत्यारा! कैसा व्यंग्य! लोमहर्षक तथा भयंकर से भी ठिठोली करनेवाले, या फाँसी की बातचीत भी प्रकृतिस्थ हो करनेवाले तो साहस तथा अनुशासन के सहज योगी हैं। रामजी जाट की एक यही तमन्ना है कि जल्लादों का मुँह देखना न पड़े, कोई अपना आदमी भी रहे, जिससे मरने के समय अकेला नहीं लगे। सिकन्दर तो अकेला चला; यह पट्ठा, यह हृदय का बालक, भाई, सखा, मित्र, अकेला नहीं मरना चाहता। अपनी फाँसी देखने के लिए दीन आर्त्त स्वर से यह अपील 'इसमें बुराई नहीं है, एक बिचारे की याद ही है। मैं भी समझूँगा, मरते वक्त एक दोस्त मौजूद था' तो 'शेखर' के अन्यतम मार्मिक प्रकरणों में है। जिस पर करुणा आती है, जिसे दुःख के मारे देखा नहीं जाता, जिसने मृत्यु तक को जीत लिया है। वह मोह-ममता का ऐसा दीन-कातर बन्धु है। किसी की फाँसी देखने के लिए आप लालायित हों, वह आपको शत्रु ही समझेगा। यहाँ तो यह बात है कि मरनेवाला दोस्त बचनेवाले दोस्त को अपने बिस्तरे की बगल में बैठा देखना चाहता है और देखते-देखते मर जाना चाहता है। लेकिन फाँसी चढ़नेवाला कहे कि आइएगा, आपका अनुभव भी बढ़ेगा, कुछ लेख लिखने को भी मिल जायेगा और मेरा वक्त भी कटेगा तो हम कितना रोयें, और कहाँ हँसे। भयानक, करुण, वीर, अद्भुत, गँड़ासे और फाँसी पर टँगती लाश को सोचकर बीभत्स का भी ऐसा संयोग ऊपर से तुच्छ तथा भीतर से उदात्त, ऊपर से साधारण तथा भीतर से असाधारण का ऐसा संश्लेष तथा विरोधाभास कहीं बिरले ही मिलेगा। इतना बर्बर और इतना कोमल। इधर फाँसी की बात, उधर सिगरेट की। हमलोगों से इतना बड़ा, फिर हमी लोगों का भाई! ऐसे पात्र के प्रति हमारे हृदय में भावों के त्रैत उठते हैं। रामजी रात भर गा-गाकर शेखर का दिल बहलाता है, क्योंकि शेखर उदास है। दया का, सहानुभूति का ऐसा विष्णु! कृपा और कौतुक दोनों वैष्णव गुण हैं। ऐसे को हत्यारा कहा जाता है!

शेखर को जब अनुमति नहीं मिलती तो बिचारे रामजी की उतनी इच्छा भी पूरी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नहीं होती। इन सभी साथियों से बिछुड़ने का मोह शेखर का संस्कार बन जाता है। उसकी एकान्त-यातना और बढ़ती है। लेकिन इन वीरों से शेखर दम्भ का कुम्भक और अहंकार की नकल ही पाता दीख पड़ता है। सहज वीर और हठवीर में वही भेद है, जो सच्चे सूरमा और किसी 'डौनक्विक्जोट' में है।

× × ×

जेल में शेखर के शील के विकास की दूसरी सरणी (पहली थी क्रान्ति—चिन्ता या वीरभाव) शृङ्गार-चेतना के रूप में है। जेल के बाहर शशि की शादी की बातचीत हो रही है। जेल के भीतर शेखर उसके लिए तड़प रहा है। यह अयोग विप्रलंभ की स्थिति है। विवशता जितनी बढ़ जाती है, असंभव की इच्छा, उसकी गूढ़ आशा भी उतनी ही बढ़ती जाती है—नहीं तो इन्सान जिन्दा न रहे। मृत्यु के जितना ही निकट रोगी पहुँचता है, उतनी ही अधिक अन्तिम साँस की आशा असंभव की आशा बन जाती है। शेखर मन में सोचता है, 'शशि आ जाती!' इसे शेखर इच्छा कहता है, ऐसा नहीं। वह भूल जाता है कि आशा सदा हृदय की होती है। भय जितना ही निश्चित रहता है, आशा उतनी ही बलवती होती है। इसी से तो hoping against hope कहा गया है। जिसके परचे अच्छे गये हैं, वह क्या आशा करेगा कि वह पास कर जायगा। वह तो निश्चित विश्वास के कारण निश्चिन्त है। ऐसा निश्चित विश्वास बुद्धि का होता है। यों कहिये, जहाँ कोई आशा नहीं (बुद्धि का आश्वासन नहीं), वहीं आशा होती है। जेल में शशि नहीं आ सकती, यह मोटी बात है; लेकिन शायद आ जाय, इसका अतिरिक्त विश्वास ही तो आशा है। यह सही है कि सुख की, संयोग की, सफलता की अमर इच्छा ही प्राप्ति का, मिलन का, मानस में पूर्वास्वादन या विज्ञान-भोग करती है, और इसी पूर्वास्वादन, इसी विज्ञान-भोग को आशा कहते हैं। फिर भी, भय (विफलता के भय) के रहते हुए भी जो आशा रहती है, उससे आशा आशंकित भी रहती है, तभी तो आशा दयनीय होकर हमें भावस्नात करती है। शशि जानना चाहती है कि अपराध में शेखर सचमुच शामिल था या नहीं। शेखर कहता है, 'नहीं।' फिर शेखर पूछता है, 'क्यों शशि? तुम्हें तसल्ली हुई क्या?', 'कैसी तसल्ली?', 'कि मैं निर्दोष हूँ?', 'ऊँ,-हाँ, कुछ तो हुई ही।' 'क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो?' 'तब भी तसल्ली होती, मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने से मुझे संतोष होता है, डर नहीं होता।' शशि का 'ऊँ,-हाँ, कुछ तो हुई ही'। शशि शेखर को चाहती है। शेखर को पा तो सकती नहीं, कम-से-कम पति के रूप में। इस तरह जो अपना दमन करना पड़ता है, उससे बातचीत कुछ उनींदी हो जाती है। कभी शशि, कभी शेखर की बात में, कुछ ऐसा तनाव, कुछ ऐसा भेद, कुछ ऐसी मिता-क्षरता, कुछ ऐसी चौंक रहती है, मालूम होता है, दोनों कल्पना में खोये हों और अचानक चौंक कर उठते हों, मानो पूरी बात सुन नहीं सके। 'ऊँ, हाँ' शशि जैसे ऊँघती रही हो। शेखर वीर है, शशि के लिए यही पर्याप्त है। शेखर कभी-कभी फकीर की तरह उलटी बातें

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करता है तो शशि कमाल की बात करती है। पता नहीं, वे एक दूसरे को भी कभी स्पष्ट समझते हैं या नहीं। कम-से-कम एक-दूसरे की समझ में आ जाने का प्रयास बातों से तो नहीं करते। संकोच अन्त तक उन्हें कुछ दूर रखता ही है। शेखर की बात जान कर ही शशि को संतोष हो जाता है। शेखर ने क्या किया, बस यही जानना चाहती है। इसके पीछे छिपी वीर-पूजा है। शशि जानती है कि शेखर क्या नहीं कर सकता, कौन-सा साहस का काम नहीं कर सकता! फिर शेखर अपना है, इसलिए गौरव की अनुभूति भले ही हो, भय क्यों होगा! भाई वहीं मौजूद है। खुलकर बातें भी नहीं हो सकतीं। चलने के समय शशि शेखर की ओर स्थिर आँखों से देखकर कहती है, 'वीर कभी अपराधी नहीं होते'। असाधारण परिस्थिति में, गंभीर सान्त्वना ऐसी ही हो सकती थी—सामान्य दर्शन के रूप में, यह कह कर नहीं कि तुम वीर हो, तुम अपराधी नहीं हो सकते। शशि शेखर की आदर्श कल्पना को छू देती है। और तब वह शेखर की बहिन न होकर आदिम बहिन हो जाती है, जिसने आदिम भाई को 'वीर' कहा होगा। इस प्रेम में वासना नहीं; वात्सल्य है, छोह है, ममता है। शेखर के लिए पिता, माता, गुरु, बहिन सभी आदिम हैं। और उधर शेखर का फैसला होता है, इधर शेखर शशि की कल्पना में डूबा है। यहाँ कुछ सार्थक बात हाथ लगती है। सरस्वती और शशि में क्या भेद? शेखर की बड़ी बहिन भी शेखर को भाती थी, मानती थी···लेकिन वह तो होश सँभालने के समय से ही साथ थी। "शशि बहिन होकर भी नयी, कुछ अपरिचित, कुछ आयास-सिद्ध थी·····जैसे उसे अपनाने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था; नहीं, यह बात नहीं थी, वह नहीं समझ सकता कि क्या बात थी।"

शशि बहिन होकर भी संगी नहीं थी। कुछ दूर, कुछ अपरिचित, कुछ कठिनाई से मिलनेवाली है शशि। दूरी है, व्यवधान है। भाव की अपनी है लेकिन दूध की परायी है। यही तो इस Romance के मूल में है। नाते में लगनेवाली बहिन के प्रति प्रेम में तथाकथित क्रान्ति का साहित्य नहीं। सरस्वती को छोड़ देने से तो रति की संस्कारकृतज्ञता बच ही जाती है। पता नहीं, शशि के इस 'बहिन-पक्ष' पर इतना क्यों जोर दिया गया है, यदि उसे एक लड़की ही रहने दिया जाता तो कौन-सी बात बिगड़ जाती। दूर की बहिन-भाई की प्रेम-चर्चा में 'बहिन-भाई' पक्ष का हठ-प्रदर्शन ही प्रधान हो जाता है।

शशि फिर आती है। दोनों एक दूसरे के पास पत्र लिखने के लिए लालायित हैं, यह उनकी स्फुट बातों से झलकता है। इस बार शेखर को एक तरफ तो यह लगा कि दूर के भाई-बहन होने पर भी दोनों में ज्ञानैक्य है, एक ही रक्त है, और इसी तरफ शशि उसे उकसाकर, अतुष्ट छोड़ जाती है। मुक्तस्वस्थ रेचन के अभाव में ऐसा प्रेम किस तरह अन्दर-ही-अन्दर घुलाता है, बस यही प्रभाव अनेक दृश्यखंडों का है। एक ही प्रकार के दृश्यों

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के आने-जाने से 'शेखर' पढ़नेवाले की तबीयत थक तो जाती ही है, ऊब भी जाती है। शशि कुछ कहना चाहती थी, कह न सकी। शेखर मन-ही-मन बन्धन तोड़ रहा है। मैं बन्धन तोड़ना चाहता हूँ, क्योंकि किसी को मुझे कुछ कहना है और वह जानना मेरे लिए आवश्यक है—'सुख, शान्ति, जीवन, बल पुरुषार्थ से भी अधिक।'

'आधे घंटे बाद खजूर की चटाई के नीचे से ताजे कीचड़ की बू ने ही उसे बताया कि वह अभी तक अवश सिसकता जा रहा है।'

इस तरह प्रत्येक दृश्य-खंड में हक-नाहक प्रकृति का एक पुछल्ला जोड़ दिया जाता है। शेखर को जगाने के लिए ताजे कीचड़ की बू उतनी आवश्यक नहीं थी, जितनी यहाँ कि शेखर के व्यक्तित्व में ताजे कीचड़ की बू का घ्राण-चमत्कार भी है। भावों का लोहा लेकर जब शेखर थक जाता है तो प्रकृति ऐसे ही पंक-व्यजन या कीचड़ के चँवर डुलाने के लिए जाल में मछली की तरह फँसा ली जाती है।

शशि का पत्र आता है। उसकी शादी की बातचीत हो रही है। माता सब कुछ जानती हुई भी रोक नहीं सकती, समाज का भय है। शशि चाहती नहीं, पर करे क्या? शेखर मजबूरी में और शेर बन जाता है। 'काश कि वह बाहर रहता।' फिर अनिच्छित विवाह को लेकर जितने आदिम सवाल हो सकते हैं, इस परिस्थिति में उठ खड़े होते हैं। शेखर तनिक भी नहीं सोचता कि वह शशि के बिना कैसे रहेगा या शशि का क्या होगा। वह तो अग्नि में हुतात्मा होनेवाली स्त्री, 'आत्मा का संकल्प बनाम समाज का विधान', 'अच्छी तरह ब्याहने' में 'अच्छी तरह' के भाष्य आदि में ही खप जाता है। शेखर किसी परिस्थिति में कर्म की कल्पना तक नहीं करता, वह तो उसे सुखाकर बुद्धि का काँटा बना डालता है। शशि के इनकार कर देने पर किस तरह समाज उस लड़की को बुरा-भला कहेगा, इसका क्रोध उसे खाये डालता है। बीच-बीच में ऐसी बात भी कही जाती है—'जिस पुरुष-जाति में शशि जैसी स्त्री की कद्र नहीं होगी वह पड़े चूल्हे में; शशि उसमें शादी किये बिना मर नहीं जायगी'। मालूम होता है पुरुष-जाति के उद्धार का दायित्व शेखर पर है, और शशि की ओर से पुरुष-जाति को ऐसी वैयक्तिक परिस्थिति में अँगूठा दिखानेवाला शेखर विमूढ़ होकर हास्य का आलंबन हो जाता है। तत्त्वचिन्तक भी कभी-कभी औरतों की तरह हाथ चमकाते हैं। शेखर सामान्यवत् मुट्ठियों में बाल भरकर मुट्ठियों को जोर से घोंट लेता है। बाल जब खिचँने लगते हैं तो उनकी पीड़ा से कुछ शान्ति मिलती है।

शशि निर्णय कर लेती है। माँ के अपने संस्कार हैं। माँ सनातन है, सदा माँ है। समाज के आदर्श के विरुद्ध माँ लड़ भी जायगी, तो अन्दर-ही-अन्दर घुट सकती है, और शशि का स्वाभिमान इसे नहीं देख सकता। वह अपना होम कर देगी, और इस होम की सारी वेदना वह चुपचाप सह लेगी। शशि आत्मोत्सर्ग की क्षमता रखनेवाली मानिनी लड़की है, जिसके आत्मोत्सर्ग में स्वाभिमान का सुख अधिक है, कर्त्तव्य-भावना कम।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और तब शेखर को एक पंक्ति याद आती है जिससे शेखर और शशि दोनों की व्यथा का मर्म छू जाता है—

"I have burned in solitude
And burning has braught its own solace
In more quenchless burning—"

शशि का एक और पत्र आता है। कल से वह अमुक की स्त्री होगी। आज तक वह शेखर की बहिन थी, और उसके अतिरिक्त किसी की कुछ नहीं थी। बहिन के पद से वह अन्तिम बार प्रणाम करती है। शेखर सोचता है, शशि ने ही सगेपन का गौरव दिया था, उसकी सहोदरा बहिनों ने भी नहीं। 'शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया था, एक ऐसी निधि थी, जिसके गौरव के लिए जीना और लड़ना और मरना स्वयं पुरुष का गौरव है।' शशि अपनी बहिन नहीं, इसलिए उसकी दूसरे से शादी खटकती है। यह सूक्ष्म वासना कहीं शब्द-स्पष्ट नहीं होती। लेकिन आगे चलकर अधर-चुम्बन तक अपनी प्यास बुझाती ही है। शशि अपनी बहिन? शादी होने पर भी सहोदरा बहिनें बनी हुई हैं। क्या यह संग की कामना है? इतनी ही बात तो नहीं। किसी पति की होकर नहीं रहे; किसी की भतीजी होकर रहे, कोई झगड़ा नहीं। पति को न सह सकनेवाला प्रेम पति का ही हो सकता है। नैसर्गिक सामाजिक संस्कारों को फाँद कर, बुद्धि की हठ-कल्पना का योग पाकर, मित्र-पति का सामजस्य माँगता है। यही शेखर की समस्या है। हृदय का प्रेम-काव्य सामाजिक विधि-निषेध के छन्द-पिंगल से मुक्त होना चाहता है, रति का Verse libre खोजता है। लेकिन समाज से खुलकर मोर्चा 'एकान्त' में भी लेने का साहस न शशि को है, न शेखर को। शशि में निसर्ग-निसर्ग का द्वन्द्व। 'शशि शेखर को भी मानती है, माँ को भी। शेखर के प्रति प्रेम में स्वार्थ है, इसलिए वह कुछ हेय ठहरता है। माता के प्रति प्रेम में दया है, उसमें मर्यादा अधिक है। इसलिए शशि आत्मोत्सर्ग की बात सोचती है।' शेखर शशि को समाज के विरुद्ध लोहा लेने को ललकार नहीं सकता। अहंकारी शेखर स्पष्ट कैसे होगा? पहले प्रस्ताव कैसे करेगा? शशि नीच समझ ले तो? उसे तो मन में यही सोचकर गूढ़ तृप्ति होती है कि वह गुस्से में है और समाज को गाली दे रहा है। यदि जेल से छूट पाता तो न मालूम क्या करता।

इसलिए जिस नैतिक असत्य का अपराध समाज के सर है, उसी नैतिक असत्य का अपराध तो शेखर और शशि पर भी है। भेद इतना ही है कि समाज में साहस है, बल है; शशि, शेखर में कायरता है। इसी कायरता से, संकोच से, स्वाभिमान से दोनों अधिक-से-अधिक घुटने का व्रत किये जाते हैं। इसमें शशि तो कुछ श्रद्धा भी अर्जित कर लेती है, लेकिन शेखर को तो अपने 'अहं' से ही फुर्सत नहीं मिलती। शेखर समाज से घृणा करता है और पाठकों का द्वेष ही अर्जित करता है। कहीं भी ऐसा नहीं लगता, जैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शेखर दया पाने के भी योग्य हो। शेखर स्वयं घोषित वीर है, और इसलिए जुगुप्सित ही होकर रह जाता है। शेखर तो शृङ्गार की भावना कभी शारदा, कभी शान्ति, कभी कुमार पर लादता चलता है। 'शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया और वह भी ऐसी निधि, जिसके गौरव के लिए वह जीना और लड़ना गौरव समझता है,' यह बात तो पाठकों को प्रभावित नहीं-नहीं करती। शशि के अतिरिक्त कई प्रेयसियों के आ जाने से सदा यही लगता है, जैसे शेखर को दोस्ती का मर्ज हो, प्रेम तो हो ही नहीं। इन सबों के कारण चित्त शशि से रह-रह-कर बँट जाया भी करता है। शशि ने उसके जीवन को कौन-सा अर्थ, कौन-सा उद्देश्य दिया है, यह पाठकों को कहीं नहीं दिखाया जाता—

'शशि सहोदरा है, सहजन्मा है, एक खंडित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित हुई है .. ..'।

बार-बार प्रेयसी की साँसों में विश्व-संगीत सुननेवाला प्रेम-कवि कुतूहल ही पैदा करता है। वे प्रेम-सामान्य के मुक्तक हैं, विशेष के प्रति उद्गार नहीं।

बड़ी ही सार्थक बात यह है कि शेखर शशि के यहाँ एक छोटा-सा आशीर्वाद का पत्र लिखकर भेज देता है। यह अहंकार की कोष्ठबद्धता है। उसके बाद फिर आठवें कारक का एक मुक्तक देखिये—

'जल, ऊर्ध्वगे, जल ! यज्ञ-ज्वाले जल ! उत्तप्त, जल, ! उज्ज्वल और सुवासित, जल, ! क्षारहीन और निर्धूम और अक्षय, जल ! यह मुझ अभागे का तुझे आशीर्वाद हो।'

उस मात्र आशीर्वाद के पत्र का खयाल कीजिए और इस ज्वाला-जाल को देखिये। पता नहीं चलता कि कवित्व ही दंभ हो गया है या दंभ ही कवि बन गया है। यह प्रेम का शहीद नहीं, रंगीन कागज का घर बना-बना कर फूँकनेवाला नुमाइशी आतिशबाज है। पीछे 'क्या (शशि) आत्माहुति देकर सुखी है ?', इसी प्रश्न को लेकर शेखर दाँत भींचकर, मुट्ठी बाँध कर, फर्श पर, जँगले पर, दे मारता—एक बार, दो बार, तीन बार, जबतक कि खून न निकल आये। क्रान्तिकारी शेखर, प्रेमी शेखर, जिज्ञासु शेखर—तीनों की चरम अभिव्यक्ति उन्माद के इसी मंच-स्वांग के रूप में होती है, और इतनी बार होती है कि हे राम ! शेखर को यह भ्रम है कि वह युग-प्रवर्त्तक व्यक्तित्व का विशेष है ! लेकिन भ्रम भी कभी-कभी कितना सम्पूर्ण होता है ! मजा तो और भी बढ़ जाता है, जब वेदना की यह अवस्था उसे तुरत यहाँ पहुँचा देती है 'क्या व्यक्ति अपने को रखे या बलि दे, अच्छे काम में बलि दे या बुरे में, क्या इसका एक मात्र निर्णायक वह व्यक्ति स्वयं है.....? यह तो वही पुराना हिंसा और अहिंसा का प्रश्न है !'

वेदना में अपनी दुनिया बरबाद होने की बात नहीं, अरमानों की चिता जलाने की बात नहीं, बात 'हिंसा और अहिंसा' की है।

शेखर का सारा पुरुषार्थ इन्हीं बौद्धिक उलझनों के व्यूह रचने में खपता है। बाबा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मदन सिंह की बुड्ढी आँखों और धवल जटा को देख लगता है, जैसे 'शाप-ग्रस्त प्रथम मानव का शाप उनमें चमक गया हो', 'अपने दुःख के सहारे ही तू जियेगा।'

शेखर की सारी पीड़ा, उसका पौरुष, उसकी क्रान्ति, उसकी सारी जिज्ञासाएँ सभी शिक्षा-संस्कृति के अभिशप्त पलायन या एकान्त जैसी दीखती हैं।

जब वह स्वयं सोचता है कि वह कोरी बौद्धिक उलझनों में पड़ा हुआ है, जबकि शशि पर न जाने क्या बीत रही होगी···तो फिर प्रश्न उठता है—

'किस बात को डर रहा है वह?' यही नहीं, 'वह नामहीन कौन-सा डर है जो उसके भीतर है?' और तब पूर्ववत् प्रकृति का एक पुछल्ला। वायु का एक झोंका कराहता निकल जाता है, शेखर के प्रश्न के उत्तर के रूप में।

Monotony की ऐसी व्याप्ति शायद ही कहीं मिले। जिज्ञासा को लेकर जेल-जीवन की एक तीसरी सरणी चल रही है, जो स्फुट रूप से मदन सिंह, विद्याभूषण आदि को सामने लाती है, लेकिन जिसका चरम बाइबिल के ईश्वर-मानव और चिरन्तन साँप के रूपक के साथ कुछ छेड़छाड़ करके दिखलाया जाता है। ईश्वर ज्ञानमय है, पूर्ण है। मानव में जिज्ञासा है, अतः वह विश्व को चलाता है, गति देता है। 'जितनी बार वह जानना चाहता था, सूर्य्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेजी से घूमने लगती थी।'

तब शेखर मानव है। बस, इसके सिवा इसका शील-निरूपण की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं। शेखर आदिम, प्रथम, मौलिक चिरन्तन मानव है। मगर ऐसा मानव व्यक्ति नहीं, एक प्रत्यय है।

जेल से छूटने के बाद शेखर की एक-आध स्मृतियों में स्वाभाविकता है। 'यह मुर्दाघर पीछे रह गया', 'यह लुहार-हाता भी निकल गया', 'यह बाहर का जँगला है और यह फाटक और अब तुम सड़क पर हो।' फिर स्वप्नवत् एक दृश्य। लड़कों की भीड़ 'जिन्दाबाद! शेखर! इन्क्लाब!' 'और उसके बाद टिकठी पर महसिन नंगा बँधा हुआ है और उसके चूतड़ों की चिर्रियों से खून बह रहा है···' फिर शेखर ने कहीं पढ़ा था—'शादी के बाद रमा अपने घर चली गयी।' यह बड़ी ही अच्छी सूझ है। साहित्य, सिनेमा आदि की ऐसी स्मृतियाँ संयोग, विप्रलंभ दोनों अवस्थाओं में अनुभूति को तीव्र करती है। करुणा का सारा अवसाद या अवसाद की सारी करुणा ऐसे क्षणों में स्वानुभूति को मानो अपने रंग में खूब गाढ़ा रंग देती है।

·····और तब बाबा के सूत्र की स्मृति 'दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है'। शेखर के कदम भविष्य-पथ पर आगे बढ़ें, इसके लिए आशा के आलोक-दीप की तरह इसकी आवश्यकता भावसम्मत है। फिर शेखर की अँगरेज प्रोफेसर के घर अँगरेज अफसर से मुलाकात, उनकी राष्ट्रीय चेतना के सामने देश की दरिद्र राष्ट्रीयता को लेकर ग्लानि, शेखर का निरुद्देश्य

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भटकना, शशि का लेखक शेखर को प्रोत्साहन देना, शेखर का प्रकाशकों तथा प्रकाशन-सचिवों के यहाँ भटकते फिरना, समाज पर लिखी उस पुस्तक का मशहूर न होना, शेखर का अपने पिता से आदर्श विरोध, क्रान्ति आदि की चर्चा करना कुछ ऐसी बातें हैं जो स्थान छेंकती हैं, प्रभाव नहीं डालती। प्रकाशकों तथा प्रकाशन-सचिवों की स्वार्थधर्मिता, मौलिक को परखने की अयोग्यता तथा उसे प्रकाश में लाकर व्यवसाय को खतरे में डालने का भय, प्रचार और प्रसिद्धि के पीछे दौड़ना आदि शताधृत बातें हैं। शेखर ने जो अभूतपूर्व पुस्तक लिख रखी है, उसके ऐसे कोई भी उद्धरण देखने को नहीं मिलते, जिससे पाठक को भी शेखर के मुक्ता-मानस होने और 'अतएव' प्रकाशकों के काक-बुद्धि होने में विश्वास हो सके।

शील-निरूपण की दृष्टि से शेखर का शृङ्गार पक्ष ही अन्तिम दो अध्यायों में प्रमुख रहता है 'देख लिया मेरा घर', 'देख लिया शशि, बहुत कुछ देख लिया।' यह जितना ही स्वभाविक है उतनी, 'विज्ञान के नियम', प्रकृति को सूना मसूड़ा अच्छा नहीं लगता', 'मोह ही तो वह दाँत है जो उखाड़ना है' (साहित्य से साहित्य और लक्ष्य का मोह)' आदि की बातें 'शेखर नामकी पुस्तक' के लिए क्षमा-याचना सी लगती हैं। शशि के पति के लिमत व्यंग्यों, श्लिष्ट उक्तियों को लेकर ईर्ष्या का वातावरण तैयार होता है। रामेश्वर शेखर के सामने शशि की प्रशंसा करता है, यही उसकी ईर्ष्या की खुराक है। 'आप की बहिन तो बड़े परिष्कृत टेष्ट की हैं।' रामेश्वर अपने को हीन समझता है। 'हम कविता-वविता क्या जानें।' उसकी पत्नी दूसरे की है, ऐसी शंका सदा उसके मन में है। प्रत्येक डाक को वह सशंकित दृष्टि से देखता है।

शेखर से साहित्यिक वार्त्ता में शशि दबती-सी नहीं दीखती। लेकिन साथ-साथ शशि की वार्ता बिलकुल किताबों की नहीं होती, वह सदा शेखर को निरुत्तर कर जीवन में बझा देना चाहती है। उद्देश्यों के लिए क्लेश भोगने में भी एक तृप्ति है, ऐसा शशि समझाती है। शेखर को तृप्ति आदर्श से नहीं आदर्श के प्रतीक से मिलती है। शशि ताड़ जाती है। कुछ चौंक-सी जाती है। वह पूछती है, 'प्रतीक कैसा, कोई वस्तु या कोई—व्यक्ति?' शशि सदा हृदय को पहचाननेवाली है। वह जानती हैं कि सूत्र कहनेवालों का हृदय कई तह के नीचे ढँका होता है। उनका सामान्य वैयक्तिकविशेष का व्रीड़ा-नृण होता है। आदर्श के प्रतीक को लीजिए। लोक-कल्याण के लिए मर मिटनेवाले वीर के रूप में प्रोमेथिअस एक प्रतीक हो सकता है। आदर्श की कल्पना जितनी गहराई से की जायगी, उतना ही मूर्त्त प्रतीक हाथ लगेगा। आदर्श स्वयं एक प्रतीक बन जाता है। लेकिन यह भी बात तो है कि स्वतन्त्रता के उद्देश्य और आदर्श के लिए जितने लोग नहीं मरे, उतने उस आदर्श के प्रतीक गाँधी के चलते। शेखर कुछ ऐसा गाँधी खोजता है। लेकिन गाँधी को उस रूप में लोगों ने नहीं अपनाया, जिस रूप में शेखर एक प्रतीक को अपनाना चाहता है। लोग सोचते थे, देश के गाँधी, इसलिए अपने गाँधी। शेखर की ममत्व-बुद्धि तो कुछ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उन शायरों जैसी है जो कुछ लिख नहीं सकते, जबतक बगल में एक हसीन का बन्दोबस्त न हो। यदि शशि किसी तरह शेखर की हो जाय (शेखर कहेगा, बौद्धिक संग के धरातल पर ही सही) तो वह समाज से, विवाह रोकनेवालों से, पुलिस से, परिवार से, सबसे लड़ सकता है। यह तो हुई वासना, लेकिन उसका रूप सामान्य सूत्र का बना दिया जाता है, जिसमें आदर्श प्रतीक बड़ा हो जाता है। शशि सब पहचानती है। वह पूछती है, 'शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ? मैंने नहीं सोचा था कि मुँह से कहना पड़ेगा, पर कहने में भी हर्ज कोई नहीं है।' शशि अपनी लज्जा तक भी कह डालती है, शेखर अपनी इच्छा तक छिपाता है।

'एक क्षण के विकल्प के बाद' शेखर शशि को अपनी ओर घुमाता है, लेकिन फिर शशि दूसरे की है, शायद इसी संस्कारभीरुता से वह फिर अलग हो जाता है। जब अलग हो जाता है, तो फिर वही शून्य गम्भीर बात अपने को, शशि को, सबको आतंकित करने, तथा दूसरों के लिए वह कितना भयानक हो सकता है, इसकी मानस-कल्पना का रस लेने लगता है।

"नहीं शशि, मैं अनिष्ट हूँ, जो मेरे सम्पर्क में आता है, खंडित ही होता है। मेरे द्वारा लिखी जानेवाली किसी चीज़ का महत्त्व इतना नहीं है कि— ।" शशि कहती है, 'मैंने पूछा है, मेरे लिए लिख सकते हो ! और सुनो, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से क्लेश पाओगे। पर भीतर से तुम्हें शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बात बड़ी लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक शान्ति का ही नहीं, उस क्लेश का भी साझी हो सकता है"।

शशि रह-रह कर बीस पड़ जाती है, हालाँकि अच्छा लिखने, क्लेश और शान्ति पाने आदि की बात में शशि को भी शेखर की छूत लग जाती है।

शशि-शेखर-वार्ता में शशि से इतना आश्वासन पाने पर, किताब लिखने के लिए शशि द्वारा डाँटे जाने पर भी कली खिलती जा रही है। पर, शेखर कितना क्लिष्ट आडम्बरवाला व्यक्ति है, उसके हास्य से समझ सकते हैं।

'किस होटल में खाते हो,' शशि पूछती है।

'होटल का नाम भी तो सुनूँ जरा ?'

शेखर ने कुछ अकड़कर, आँखें चढ़ाकर, प्रत्येक अक्षर को स्वरित करते हुए कहा 'चित्तपूरनी देवी प्रेम शुद्ध पवित्तर भोजनालियाँ,'। आप पाठक हैं, नहीं हँसते ? तब तो शेखर आप को परिष्कृत नहीं समझ सकता !

बीच में माता की मृत्यु का समाचार मिलता है। शेखर कोशिश करता है; आज माता का चेहरा स्पष्ट याद पड़ता है। 'मुझे तो इसका भी विश्वास नहीं है' की स्मृति जग जाती है। चेहरा नहीं याद पड़ने से मनोविज्ञान की यह बात तो सिद्ध हो जाती कि जिस चीज से अरुचि रहती है उसकी छवि भी स्मृति में नहीं आती। उस प्रतिशोध की तृप्ति से शायद

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आज छवि आती है। कहा जाता है, उसकी रागात्मक वृत्ति मूर्च्छित हो गयी थी। रागात्मक वृत्ति में द्वेष-भावना भी आती है। आज राग-द्वेष दोनों का पता नहीं। रागात्मक तत्त्व की यह निरपेक्षा शून्यता निसर्ग-प्रणाश का ही उदाहरण है। आज माता का चेहरा सुन्दर तो नहीं था, लेकिन उसमें ऐसी कोई रेखा नहीं थी, जिसका मातृत्व के साथ विपर्यय हो। 'माताओं के अपने-अपने चेहरे होते हैं, पर मातृत्व का अपना एक विशेष चेहरा है, या होना चाहिए।' जी हाँ, पुत्र भी अलग-अलग होते हैं, लेकिन पुत्रत्व का भी कोई विशेष चेहरा होता है क्या ? यदि है तो शेखर का चेहरा तो वैसा नहीं हो होना चाहिए। पाठक भी तो यही चाहता है कि आप अपनी माता के पुत्र होने में कूदें-फाँदें, लेकिन पुत्र के हृदय का विभक्ति की तरह लोप हो जाना एक विचित्र बात है !

उसे शान्ति की याद आती है। फिर रोजेटी के चित्र की। फिर 'मृत्यु के विराट्त्व' की कल्पना ! 'क्या मृत्यु विराट् होती है, और अब माँ भी नहीं है !' शेखर यही सोचता रहता है। श्मशान की ओर जाता है। जलती चिताओं का दृश्य उसे उपहासास्पद लगता है—'कैसा बेहूदा अन्त !' अग्नि शालीनता और भव्यता नहीं प्रदान करती, यहाँ आग ही टुच्ची हो गयी थी ! फिर तितली से बड़े पतंगे के चक्कर की बात कर पाठकों को स्मृति की यथार्थता का भुलावा दिया जाता है। शेखर के सामने, निरे अस्तित्व का रूप आता है, 'वह अस्तित्व, जो निरी एक घटना है।' यह दार्शनिक विकल्प है, ऐसा रूप तो स्वयं दार्शनिकों को नहीं नसीब होता। वह एक अनंग-आनन्द भले ही हो, लेकिन वह सगुण रूप होकर आता है, ऐसा कहना शील-वैचित्र्य का महाकुत्सित दंभ है।

माता की मृत्यु, गूढ़ राग और द्वेष दोनों के अवसरों के लिए एक असाधारण अवसर के रूप में आई, और शेखर पठित बातों में ही रह गया !

× + +

इसके बाद सार्थक प्रसंग तब आता है, जब शशि शेखर को एक साथी खोज लेने के लिए समझाती है। शेखर टालता है, और कहता है कि ऐसे मोती के मिलने पर आँचल पसार लेगा। क्योंकि 'जो देवता देते हैं, उसके लिए शास्त्रों की भी साक्षी क्यों मांगी जाय !' इसके बाद दोनों की आँखें मिल कर जकड़ जाती हैं, और शेखर शशि की आँखों में आलोक, आलोक में वेदना, और वेदना में आहत आलोक देखता है। हृदय के प्रेम में समाज की सम्मति क्यों ली जाय—इसीका मुक्तक है यह। शशि और शेखर तो अपने जीवन में, इसकी छानबीन बहुत पहले कर चुके हैं, इसलिए ही इस दृश्य का कोई उतना प्रभाव नहीं पड़ता—सिवा इसके कि कभी किसी सामान्य उक्ति से भी हृदय का मर्म अचानक कौंध जाता है।

रामेश्वर की ईर्ष्या बढ़ती जाती है। और एक नाटकीय प्रसंग में रामेश्वर के पिता शेखर को कम्युनिष्ट कह डालते हैं—"कम्युनिष्ट तो औरत को साझामाल मानते हैं,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नास्तिक ! पहले बहिन, फिर रंडी।"...रामेश्वर शेखर के मुँह पर थप्पड़ मार देता है।

शेखर रामेश्वर की कलाई को पकड़ लेता है और कलाई की 'हिंसा पथरा जाती' है, और काँपने लगती है। 'वह कलाई न होकर रामेश्वर की गर्दन होती तो—होती तो.....'।

अब फिर यहीं प्रश्नों और समाधानों का एक ताँता देखिये। ऐसी परिस्थिति में कौन ऐसा अहमक होगा जो परिस्थिति की व्यावहारिकता, कर्मप्रधानता, भावप्रबलता, यथार्थता को भुलाकर 'कलाई क्यों है, गर्दन क्यों नहीं ?' के व्यर्थ व्यायाम में पड़ेगा ? सुनिये। 'किन्तु क्यों हैं वह कलाई, क्यों नहीं है वह गर्दन ? अवश्य वह गर्दन है; जैसे कलाई कड़कड़ाती है; वैसे ही गर्दन भी कड़कड़ा सकती है, क्योंकि जकड़ में कुछ ईप्सा नहीं है। कामना नहीं है, वह केवल जकड़ है, आसुरी शक्ति जो अपने-आप चलती है, यद्यपि उसके पैर अन्धे हैं.....?.....'

वही Dehydration, वही निरुदन.....। कलाई अब रामेश्वर की नहीं रही, पंजा शेखर का नहीं रहा। कलाई, विशुद्ध पारिभाषिक सामान्य हो गयी, और पंजा मात्र शक्ति की प्रेरणा बन गया.....और जकड़ या पकड़ 'अपने—आप होनेवाली घटना' हो गयी। मालूम होता है, विचार भी शेखर के नहीं हैं, संसार में आप-से-आप हो जानेवाली एक घटना है।

सेंध में पकड़ लिये जानेवाले चोर को यदि कोई पीटे, और यदि वह सोचना शुरू करे 'क्यों लगे चार तमाचे, पाँच क्यों नहीं लगे ? या घूसे क्यों नहीं चले ? चले तो नाक से ठीक सटे क्यों, कुछ दूर क्यों नहीं ?' तो कैसा होगा ?

खैर, शशि मना करती है 'शेखर !' और वह मान जाता है। शशि को साथ चलने के लिए कहता है। शशि डाँटती है, शेखर चला जाता है। दोनों के प्रेम की बड़ी ही सरल अभिव्यक्ति यह होती, यदि यह कलाईवाला जिज्ञासा-कुतूहल नहीं खड़ा कर दिया गया होता।

शेखर शशि पर किये गये ताने को सुनता है, 'ले ले उसको कोख में, कलमुँही, राँड़, कुत्ती !'

इसके बाद शशि प्रायः शेखर के साथ रहने ही लगती है। फिर भी दुनियाँ झुठती वेदना की ही है। एक दूसरे की शान्ति का खयाल दोनों रखते हैं। घर से निकाली गयी शशि, और क्यों निकाली गयी शशि, इसकी चेतना शेखर को बनी हुई है। शशि भी जानती है कि शेखर के जीवन में उसी के आ जाने से इतना व्यतिक्रम उपस्थित हो गया है। डाक्टर दवा के साथ-साथ रेस्ट, 'एंड्योरेन्स' और 'करेज' की आवश्यकता बताता है। मौसी विद्यावती का मातृहृदय जानता है, और वह स्पष्ट कहती भी हैं कि 'मैंने सब को यही उत्तर दिया है कि इन दोनों की एक धमनी है।' मौसी दोनों को सन्तान समझती हैं। शेखर को

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मौसी का यह प्रबोध ऐसा लगता है कि वह चाहता है, रो उठे—'मौसी, मौसी, मा—।'

डाक्टर की बात शशि भी सुन-समझ चुकी थी, और 'वह अच्छी होगी', अपने Courage, Endurance को वह साथ दिखायगी, ऐसे संकल्प का आश्वासन देती है।

इसके बाद शेखर मुहल्ले के दो बालकों की दीनता पर दया कर पतंग देने का प्रबन्ध करता है। उनके मुँह से भी समाज की आलोचना उसे सुननी पड़ती है। घरवाले मना करते हैं कि 'वे बुरे लोग हैं'। कोमलहृदय शशि के आघात की कल्पना कीजिए! शशि सुधारक समाज की ओर से व्याख्यान देती है, लोग खिल्ली उड़ाते हैं। वह संकल्प से लड़ती है, लेकिन उसे मूर्च्छा आ जाती है। शशि गलती जाती है, लेकिन चलती जाती है। आग्रह करती है कि शेखर कुछ लिखे—महसिन, रामजी आदि पर। कहती है, 'बात बड़ी नहीं होनी चाहिए, बात का अनुभव बड़ा होना चाहिए', फिर आगे चलकर—'देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा बन रही हूँ।'

"जब मैं भी ऐसा सत्य हो जाऊँगी, निरा सत्य, जिसे तुम तटस्थ होकर देख सकते हो, तब मेरी कहानी लिखना।"

यह कवि-पर्याय ध्वनि-सी लगती है। शशि जब तक जीवित रहेगी, शेखर भावुकता में बह सकता है। उसके मरने के बाद शेखर तटस्थ होकर Emotion से Escape कर सकेगा, कुछ ऐसा ही संकेत है। प्रसंग की उद्भावना और शील-निरूपण करनेवाले कलाकार की यह मौलिक आवश्यकता है, जिसकी कोई आवश्यकता यहाँ न थी। इतने प्रमुख उच्चारण के पीछे ईलियटवाद की गन्ध आती है।

एक दिन शेखर शशि का माथा चूम लेता है। लेकिन उसके होंठ चूमने के पहले ही शशि कह उठती है, 'नहीं, शेखर नहीं, वह नहीं। वे जूठे हैं।' यानी रामेश्वर के जूठे!

मन से शशि शेखर के प्रति ही रत है, तन से रामेश्वर का संस्कार बन चुकी है। खंडित अभ्यंतर—निसर्ग और संस्कार के द्वन्द्व—का यह एक उदाहरण है।

शशि शेखर को इतना मानती थी कि इच्छा के विरुद्ध रामेश्वर की होकर वह चाहती थी कि रामेश्वर उसे मिटा दे। वह रोती है कि रामेश्वर को उसका प्यार मिला। उसकी निष्ठा का पवित्रतम आत्मदान रामेश्वर जैसे कुपात्र को मिला, जिसने उसे चूसकर फेंक दिया! और पुरोडास रासभ खा गया, कुछ छोड़ दिया हृदय के देवता के लिए।...

शशि एक दिन वापस लौट जाना चाहती है। शेखर कहता है, 'तुम कहीं जाओगी नहीं, डरोगी नहीं, और हारोगी नहीं।' शशि मान जाती है। शेखर को लगता है, वासना बार-बार जन्म लेती है, प्रेम एक ही बार में कर जाता है। संस्कार और शिक्षावाले व्यक्ति प्रेम में 'चूड़ान्त तद्गति' नहीं पाते। वे अपने ही दर्शक-आलोचक बन जाते हैं। कल्पना की प्रेयसी हमारी सूक्ष्म अनुभूतियों में भी साथ रहती है, लेकिन वास्तविक प्रेम में एक

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

माध्यम का आश्रय अनिवार्य हो जाता है—चित्र, कवि, प्रेयसी···चाहे जो हो। .....फिर वह ठीक करता है कि सख्य ही सिद्धि है, इसके बाहर कुछ नहीं है। फिर एक स्तर यह भी कहता है कि काम है·····इसलिए कुण्ठा है, विद्रोह। शशि घुल रही है, एक दिन लुप्त हो जायगी।

अतृप्त वासना, बाधित प्रेम की कुंठाओं से एक ओर, तथा जीवन से धीरे-धीरे अस्त होती शशि को देखते दूसरी ओर शेखर की अवस्था द्वन्द्व की तीक्ष्ण मार्मिकता अर्जित कर लेती है; हालांकि प्रेमी कभी ऐसा सोचते हों कि कविता के माध्यम के बिना ही रस मिल जाय, यह व्यर्थ की डींग है।

उसके बाद क्रान्तिकारी दादा आते हैं। उनके साथ शेखर को यमुना के उस पार जाना पड़ता है। इतने दिनों से भीतर-बाहर युद्ध करती शशि आखिर को लड़खड़ा जाती है। शेखर के वियोग में आशंकाओं से आक्रान्त होकर मूर्च्छित हो जाती है। शेखर से वह कविता पढ़वाती है—

"I want to die while you love me
While yet you hold me fair"

यह कविता के बहाने अपने दर्द का इजहार है, जो हृदयग्राही है। अन्त तक शेखर किताबी तथा प्रलापी बना रहता है और शशि का संयम अन्त तक बना रहता है—

'शेखर मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है, पाप मैंने कभी नहीं किया।' अन्त के क्षण शेखर के प्रति शशि की वीरपूजा के भाव अमिट किरण छोड़ जाते हैं।

'शशि, क्या तुम सचमुच चली जाओगी?' (यहाँ तक स्वाभाविक है)।

'क्या मेरे जीवन में कभी कुछ सार नहीं होगा (फिर किताबी प्रेमी का वाक्य आ जाता है)।

'होगा शेखर, है। मेरे बाद भी होगा। तुम नहीं हारोगे—कभी नहीं हारोगे। मेरे लिए शेखर···मेरे लिए।'

'शशि, दर्द होता है?'

शशि के माथे के ऊपर शेखर के हाथ हैं।

शेखर पूछता है—

'बताओ शशि, क्यों, क्या होता है? क्या होता है?'

'सुख, शेखर, सुख!'

शेखर शशि का पत्र पढ़ता है, जिसमें वह लिखती है कि किस तरह उसका प्यार एक वेदना है, और शेखर के लिए अपने अहं का होम देकर उसने शेखर को आदर्श के प्रतीक के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रूप में पाया था। शेखर से जो कुछ मिला, उसके प्रति शशि कृतज्ञ रही। अपने प्रेम से शेखर को बाँधना नहीं चाहती। लेकिन चाहती है कि शेखर के द्वारा उसके (शशि के) खंडित अभ्यन्तर की व्यंजना हो, शेखर ही शशि का भविष्य है।

पाठकों को यह पता नहीं चला कि कहाँ वह प्रेम का अद्वितीय विशेष है, कहाँ वह भाव का दुर्लभ विरल है, कहाँ वह कर्म या संकल्प की अनुपमता है, जो अहंकारी शेखर से शशि पा सकी। शेखर की वीरता का कोई उदाहरण पाठक नहीं पा सके हैं, सिवा बचपन की जिद्दों, या काँगरेस-कैम्प में अनुशासन के एक छोटे-मोटे आदर्श के रूप में। जहाँ तक समाज-सम्बन्धी उस मौलिक पुस्तक का सवाल है, उसकी मौलिकता तथा क्रान्तिदर्शी प्रतिभा का पाठकों को कोई ज्ञान नहीं। शेखर प्रेम के क्षणों का शिल्पी नहीं। अन्तिम क्षणों में शशि ही सहानुभूति लेकर चली जाती है। शेखर घड़े में मुँह लगाकर बोलता है। शशि की कृतज्ञता निरपेक्ष-सी लगती है। जिस शेखर को किसी लड़की से संग छूटने पर दया आती है, उसी शेखर ने, लगता है, अपने दंभको आहार पहुँचाने के लिए शशि की जाली चिट्ठी पाठकों के सामने पेश कर दी हो।

पुस्तक की अन्तिम स्मृति करुणा, धैर्य्य तथा दार्शनिक उल्लास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रधान है इसका काव्यत्व।

"प्रणाम यमुना, प्रणाम पूर्व दिशा, प्रशाम वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल, प्रणाम झाऊ के उदास मर्मर और धूल के.. बगूले...प्रणाम बही हुई मुट्ठी भर राख.....आदि।"

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता। तुम साथ चले। पहले मौसी के पास, और गौरी के पास ...फिर आगे—कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि, कर्म में तुम हो, चिरन्तन प्रेरणा, चिरन्तन क्योंकि मुक्त और मोक्षद।.....आदि।'

ऐसे सौन्दर्य के छिटफुट स्थल 'शेखर' में मिल जाते हैं। लेकिन 'शेखर' भारतीय जीवन और संस्कार का उपन्यास नहीं। 'शेखर' में पठित विद्या से काम लिया गया है, शील-प्रज्ञा से नहीं। लगता है, जैसे किसी को भाड़े के गोडसे से क्रान्ति का शहीद बनाया गया हो। 'शेखर' नाम के व्यक्तित्व में शिक्षा का अजीर्ण है; उसके विधाता अज्ञेय में शील-निरूपण का विवेक नहीं। जिस तटस्थता का नारा इतनी जगह बुलन्द किया जाता है उसके अर्थ यहाँ होंगे—परिस्थिति में बद्ध पात्र के स्वभाव की लोक-हृदय से की गयी अनुभूति। शेखर किसी के 'स्व', असिद्ध 'स्व' के शिक्षित चमत्कार के विज्ञापन जैसा लगता है। शेखर में विच्छित्ति का विचार अधिक रखा गया है, स्वभाव का कम। असिद्ध दार्शनिकता के हाथ शेखर के शील की गोचरता तथा पाश्चात्त्य मनोविज्ञान के अपरीक्षित वादों के हाथ शेखर के शील की स्वाभाविकता तथा देशीयता सुपुर्द कर दी जाती है। 'शेखर' में उस निसर्ग-विपाक को भुला दिया जाता है, जिसमें प्रत्यय-संस्कृति संस्कार-सी लगे। 'शेखर' जैसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपन्यास लिखनेवाले के लिए मात्र कवि-शिक्षा की आवश्यकता है, प्रतिभा की नहीं, और वह शिक्षा भी एक बन्द कमरेमें मेज पर रखी किताबों से ही हो सकती है। जीवन को देखने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं। मद्रास, सोसायटियों, क्लब, नारियों की संस्था, हरिजनों की बस्ती आदि के अनुभव सभी अखबारों में ही मिल जाते हैं; महसिन और रामजी तो अपवाद जैसे हैं। विलायत की बोली गंभीर दंभ के साथ कुछ समय तक बोलकर निकल जानेवालों में ही अज्ञेय का नाम रहना चाहिए। हिन्दी या भारतीय उपन्यासों की परम्परा में 'शेखर' एक ऐसा कुतूहल है जो समय बीतने के साथ-साथ दयनीय होता जायगा।

'शेखर' संग्रह की प्रतिष्ठा भले ही बढ़ाये, रस की सनातन कृति नहीं।

[समाप्त]

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का संग्रह : विवरण-पत्र

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

(गतांक से आगे)

१०२—श्रवण-यन्त्रावली,—लंगूर बाणस्तोत्रम्—ग्रंथकार-श्री श्रवणदेव। अवस्था—अच्छी, पूर्ण। पृष्ठ-सं० ८५। प्र-पृ० पं० लगभग—४८। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। आकार—६"×६"। रचनाकाल—कार्तिक, शुक्ल, पूर्णिमा, सोमवार, सन्११९६, सं० १८४६ वि० १७८९ ई०।

प्रारम्भ—"अथ लंगूर बाण ऋषि नागर प्रारंभ; श्रवण उवाच ॥दोहा॥

ग्रामदेव गुरुदेव निज रामदेव महदेव,
महाबीर रणधीर सब श्रवण देव करुसेव १
लषण भरत रिपु सूदन लवकुश पुहकल बंधु ॥
कवि कोविद हरि राममय कृपाकरौ सब संधु २
धन्य मातु जग अंजनी जानकि राधे मातु ॥
महाकालि महालक्ष्मी सरस्वति बुधि दातु ३
सर्वदेव सवतीर्थ मुनि सर्व रुद्र कपिनाथ ॥
मर्कट वानर भालु यथा करु निज श्रवण सनाथ ४
दिगबंधन करि कहत हौं शीशनाइ करजोर ॥
श्रवणदेव को वचन सुनि, वाक्य सिद्धि करुगोर ॥५॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सवैया ॥ राम के दूत महा अवधूतहि अंजनि पूत महाछवि छैया ।
लोम लंगूर महाछवि सुन्दर, कानन कुण्डल क्रोट धरैया ॥
हाथ गदा बजरङ्ग लियो कपि, शत्रुन केतु ममान मथैया ॥
मूँज जनेउ दिये वीर श्रवणहि, वेगिहरौ दुखराम दोहैया १"

मध्य—पृ० १४—"नाम फाल्गुन सखा पिंगहि सीता शोक निवारनं ।
लषण रक्षक दशकंठ भक्षक श्री रामदूत गदारनं ११६
महावीर्य्यं प्रथमवीरं नागकाय ब्रह्मण्डनं ॥
चरित रचित लंगूरबाणं हनुमते खलखंडनं ११७
भूतप्रेत पिशाच राक्षस ब्रह्मराक्षस दाहनं ॥
डाकिनि शाकिनि अंतरिक्षं श्रवणवैरी गाहनं ११८"

अन्त—"रामभक्ति वरदान लीजे श्रवणदेव ममदासनं ॥
प्रेम गदगद पवन नंदन रूप मंगल रासनं ३०८
एताधिकहि हनुमंतवीरं जात द्रोणाचल गिरं ॥
श्रवण वन्दि पदारविंदं द्रुत नयनन नीरधीरं ३०९
रंगरंग बजरंग वीरं वीर धीरं वीर वरं ॥
जगूदेवं श्रवणदेवं रंगराज उर भरं ३१०
पंचमावृत्समाप्तम् ॥"

दो० "मंगलचरित पुनीत कहि मंगलमोदक नाम ।
बाण लंगूरहि श्रवण कथा सज्जन करौं प्रनाम ॥
अर्थ धर्म पद मुक्ति कहा पूर होत मन काम ।
बाण लंगूर जो पठत नर श्रवण मिलैं कपिराम
सन ग्यारह सौ छानवे कार्तिक मास उजेर ।
तिथि पूरण भौमवार को लिखी बीमदेव केर ॥
इति श्री संपूर्ण करि कुटिल वाट के तीर ।
अंजावलपुर धाम मंह मेटि सकल मनपीर ॥
इति श्री श्रवणदेव विरचितं लंगूर बाणस्तोत्रंम् समाप्तम्
शुभमस्तु ॥"

विषय—पाँच आवृत्तों (अध्यायों) में सम्पूर्ण ग्रन्थ। हनुमान्-सम्बन्धी स्तोत्र, विनय तथा तन्त्रात्मक पद्य। बीच-बीच में अपने मत के आचार्यों की भी वन्दना की गई है। पूरे ग्रन्थ में ३१० पद्य हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टिप्पणी—इस ग्रन्थ में, एक ही जिल्द में (८५ पृष्ठों में) श्री श्रवणदेव जी रचित १४ (चौदह)—(१—लंगूरबाण पुरश्चरणविधि, २—लंगूरबाण स्तोत्रम्, ३—रंगराज सहस्र नाम स्तोत्रम्, ४—रंगराजगुरु समुदाय, ५—रंगराज कवच, ६—रंगराज पटल, ७—श्रवणतन्त्रावली, ८—रंगराजाष्टक, ९—धनी अष्टक, १०—कुटिलाष्टक, ११—हनुमान पञ्चा, १२—सोनभद्राष्टक, १३—सांगीत शब्द धनाक्षरी, १४—हनुमान भुजा)—ग्रन्थ हैं। इनमें विशेषतः हनुमान् और साधारणतः अपने आश्रम के आचार्यों की वन्दना की गई है। ग्रन्थ मुद्रित, किन्तु अलभ्य है। भाषा, साहित्य और निर्गुण विचारधारा के दृष्टिकोण से ग्रन्थ अनुसंधेय है। यह ग्रन्थ सोनपुर (सारन) निवासी पं० श्री रामानन्द शास्त्री, साहित्यालंकार के सौजन्य से प्राप्त किया।

१०३—श्रीमद्भगवद्गीता—(हिन्दी-पद्यानुवाद) ग्रंथकार—श्री हरिवल्लभस्वामी। लिपिकार—श्री रामसहाय दूबे। अवस्था—अच्छी, प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ-सं०—३२। प्र० पृ० पं०—लगभग ४०। आकार—७½"×११"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—सं० १९०१, शाके—१७६६ (१८४४ ई०) श्रावण, शुक्ला द्वादशी।

प्रारम्भ—"श्री गणेशायनमः। अथ पोथी भगवद्गीता। दोहा
कृष्ण कृष्ण श्री कृष्ण जू प्रथम करौं उच्चार।
सुफल करन को कामना कामधेनु निर्धार।१।
भगवद्गीता अर्थ सम है दोहा के मांह।
हरिवल्लभ स्वामी सभी भाषा कीन्हो ताह।२।
धृतराष्ट्रौवाच॥ धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र मे मिले युद्ध के काज।
संजय मो सुत पांडु सुत करत कहां कछु आज।३।
संजय उवाच॥ पांडव सयना व्यूह लखी दुर्योधन ढिग आय।
आचारज भल द्रोन सों बोल्यों अैसो भाय॥४॥
पांडव सैना अति बड़ी आचारज तूं देष।
धृष्ट दुमन तव सिष्य ने व्यूह जो रच्यो विसेष।५।"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मध्य (पृ०—२०)—"मुकुट विराजत सीस पर संषचक्र तव हाथ
येहि विधि मोहि देपाइये प्रभुजी हो जगनाथ ४६
चारि भुजा धरि प्रगट ह्वै मों कों दरसन देह
...ती जो अनंत है मोकों यासो नेह ४७
श्रीभगवानुवाच—तेहि देपावों रूप मै अति प्रसन्न मन होइ
आदि अंत सो तेजमय देपि सकै नहि कोय ४८
वेद जज्ञ अरु तप कृपा अवर करत वहु दान
अैसे मेरे रूप कों तो विनु लपे न आन ४९"

अन्त—"अद्भुत रूप श्री कृष्ण को छमिरि छमिरिहों ताहि
हर्प होत मोंकों बहुत विस्मय को नर ताहि ७९
जोगेश्वर श्री कृष्णजू अर्जुन है जागवर
तहा विजय अरु नीति है असंपदा अवर ८०
इह गीता अद्भुत रतन श्रीमुप कियो वपान
वारवार निर्धार किय परम भक्ति को ग्यान ८१
भक्तिवस्य श्रीकृष्णजू इहै कियो निर्धर
करै भक्ति इच्या छनै इहै वेदको सार ८२

इति श्रीमद्भगवद्गीताछपनिपत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्बादे... अष्टादशोऽध्यायः १८"

विषय—प्रसिद्ध गीता का हिन्दी-पद्यानुवाद। १८ अध्यायों में दार्शनिक विवेचन। संस्कृत गीता का संक्षिप्तीकरण।

टिप्पणी—१—इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने सरल और सहज भाषा में प्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी-पद्यानुवाद (भावानुवाद) किया है। प्रचलित संस्कृत ग्रंथ के कई श्लोकों के भाव एक ही पद में दिये गये हैं। अतः ग्रंथ कुछ संक्षिप्त हो गया है। जहाँ तक हो सका है, ग्रंथकार ने गीता के दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष को अपने अनुवाद की भापा में सरल और बोधगम्य बनाने का यत्न किया है। रचना में दृढ़ता और सर्वांगीणता के निर्वाह की कोशिश की गई है। देखिये—

"फिरि आवत भूलोक में छिन पुन्य जब होइ।
आवागमनते करत है कामवंत जो लोइ ॥२१॥
भक्ति करत जे अनन्द ह्वै मोही में चित राषि।
जोग क्षेम तिनके करो निज जनको अभिलाषि ॥२२॥"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इन पद्यों में संस्कृत श्लोकों के अनूदन का पूर्ण निर्वाह किया है। ग्रंथ की भाषा पर 'अवधी' और 'भोजपुरी' का प्रभाव है। इन पदों में—"प्रकृत कवन अरु पुरुष को क्षेत्र क्षेत्रज्ञ कहाजु,
या जानन की लालसा ज्ञान कि पुनि पुन काज १
श्री भगवानुवाच। क्षेत्र कहत या देहसों अर्जुन ज्ञानी लोइ,
जानत है या देहकों सो क्षेत्रज्ञ जो होइ २
सो मम रूप जो आतमा वसत सबनिके देह
ये ही ज्ञान जो जानियो मेरे मत सुनु येह।"
प्रयुक्त 'भाषा' देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'ब्रज' और 'कथा' भाषा से भी रचना प्रभावित है। और भी देखिये—
'रिषिन कह्यो बहुभाँति जो और वेदहु भाषि'

२—ग्रन्थकार ने यद्यपि ग्रन्थ में अपने विषय में तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया है किन्तु प्रारंभ का "भगवद्गीता अर्थसभ है दोहा के मांह।
हरिवल्लभ स्वामी सभी भाषा कीन्हो ताह।"
पद्य ग्रन्थकार श्री हरिवल्लभ स्वामी के नाम का संकेत कर रहा है।

३—लिपिकार ने अपने परिचय के विषय में ग्रन्थ की पुष्पिका में—"भगवद्गीता जो पठै अवर सुने मन लाय। पावे भक्ति अपंड सो ता को कृष्ण सहाय १, गीता दिन-प्रति उच्चरे सदा रक्ष जग माह। मनसा वाचा कर्मना या सम कोउ नाहि २ जो को उचा है भक्ति को कृष्ण कमल दृग पास। अवर सकल श्रम छाड़ि कै करु गीता अभ्यास ३ जब लगि ससि भानु की ताप तपत सब देस। दृष्ट परे जब लगी नही हरि गीता परवेस ४

इति श्री भगवद्गीता सम्पूर्णम् मासोत्तमे मासे श्रावण शुक्ल द्वादस्यां भृगुवासरे तद्दिने लिषितं पुस्तकं रामसहाय दुवे साकीन अषतियार प्रगने आरे पथनार्थं सीतल प्रसाद साकीन अषतिआरपुर प्रगने और सम्वत १९०१ साके १७६६ श्रीकृष्ण।" इस प्रकार लिखा है।

४—ग्रंथ की लिपि स्पष्ट, किन्तु प्राचीन है। ग्रंथ अनुसंधेय है।

यह पोथी कलकत्ता-प्रवासी पं० श्री अयोध्याप्रसाद, वैदिक-मिशनरी से प्राप्त हुई।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१०४-रामचरितमानस (सटीक)—ग्रंथकार—गो० तुलसीदास। लिपिकार—×। टीकाकार—श्रीशुकदेव। अवस्था—देशी मोटा कागज पर लीथो-मुद्रण; खंडित। पृष्ठ-सं०—८६०। प्र० पृ० पं० लगभग—२८। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। टीकाकाल—×।

प्रारंभ—"दो० गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौं सीता राम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न १७

कपि पति सुग्रीव ऋक्षराज जामवन्त निशाचर राज लंकेश विभीषण और अंगदादिक जो समस्त वानरों का समाज १ सब के सुन्दर चरण कमलों का मैं वन्दना करता हूं जिन्होंने अधम शरीर ही में राम पाये २ अब जितने श्री रामचरण उपासक इस संसार में हुए हैं खग जटायु इत्यादि मृग गजेन्द्रादि सुर ब्रह्मादि असुर प्रहलादादि नर अम्बरीष इत्यादि तो निष्काम भगवद्दास हैं तिन सब के चरण कमलों को मैं अभिवन्दन करता हूं ३।४ या प्रकार समस्त श्री राम परिकर को नमस्कारादि करिके जगज्जननी जनकात्मजा श्री जानकी जी के चरण कमलों को मनाता हूं जो अत्यन्त प्यारी करुणानिधान श्री रामचन्द्र की हैं और जा की कृपा से निर्मल बुद्धि पाऊंगा ५।६ ता पीछे मन वचन कर्म करिके रघुनायक श्री रामचन्द्रजी के चरण कमलों को अभिवन्दन करता हूं जो समस्त कल्यान गुणों के अमृतोदधि हैं ७ जैसे गिरा कहैं शब्द और शब्द का अर्थ और जल और जल की वीचि कहें तरंग ये कहने मात्र ही भिन्न हैं बस्तुतः एक ही हैं ऐसे ही श्री सीताराम को एकमति कर उनके चरणों को अभिवन्दन करता हूं जिनको खिन्न कहैं अत्यन्त आरत जीव परम प्यारे हैं अर्थात् जब यह जीवन कर्म्मोत्पन्नज्ञानरूप समस्त उपाय करिके खेद खिन्न होकर उपाय शून्य हो जाता है और.....होकर भगवत् प्रपत्ति अंगीकार करता है तब भगवत् का परम प्रिय होता है।"

मध्य—"दो० ग्रह ग्रहीत पुनि बात बश तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुणी कहहु कवन उपचार ४॥

जिसको नवग्रह ने तौ घेरि ही लिया है और सन्निपातत्रिदोष के बश है और ऊपर से बीछी ने मारा उसको बारुणी मदिरा और पियाई जावै तो कौन सा उपाय है॥४॥"

अन्त—"बिनु सन्तोष कि काम नशाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुं नाहीं १
राम भजन बिनु मिटहि कि कामा।
थल बिहीन तरु कबहुं कि जामा २
बिनु विज्ञान कि समता आवै।
कोउ अवकाश कि नभ बिनु पावै ३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।
बिनु महि गन्ध कि पावै कोई ४
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा
जल बिनु रस कि होइ संसारा ५
शील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।
जिमि बिनु रूप न तेज गुसाईं ६
निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।
परस कि होइ बिहीन समीरा ७
कवनिहुं सिद्धि कि बिनु बिश्वासा।
बिनु हरि भजन न भव भयनासा ८
दो० बिनु बिश्वास भक्ति नहिं तिहिं बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुं जीव कि लह बिश्राम ॥३८"

विषय—रामचरित।

टिप्पणी—यह प्रसिद्ध रामचरित मानस की विस्तृत टीका है। भाषा व्रजभाषा और शैली प्राचीन है। ग्रन्थ प्रारंभ में खंडित है। प्रारंभ के २४ पृष्ठ नहीं है। अन्त के पृष्ठ भी खंडित हैं।

यह ग्रंथ श्री अंजनिकुमार सिन्हा, बिहार-विश्वविद्यालय, पटना के सौजन्य से प्राप्त किया।

१०५—राम-जन्म—ग्रंथकार—संत सूरजदास। लिपिकार—×। अवस्था—प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज; खंडित। पृ० सं०—२४। प्र० पृ० पं० लगभग—१५ भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ—"ब्याहीनी त्रीआ तीनी सौ रानी।
तेही मों तीनी पाट की रानी॥
केकइ कोसीला सुमीत्रा जानी॥
रूप रासी पुनी केकइ कैसी॥
सीव के संग सती रह जइसी॥
राज करत बहुत दीन गऐउ॥
आनंद मंगल बहु वीधी भऐउ॥
ऐक दीन राउ अहेरही जाइ॥
तहवां राजा परै भुलाइ॥"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मध्य—"साठी सहंस्र सुत जो अहइ।
ताके करव जन सभ रहइ॥
मांटी खोदी के नीर नीकारा।
लवन समुद्र तीन्ह नाम संवारा॥
खोदत मंह हस्ती ऐक पावा।
ताही देखी तव वचन सुनावा॥
जग्य तुरीआ तुम देखा भाइ।
सो तुम मो कहं देख वताइ॥"

अन्त—"जग्य तुरंग हमही जे पाइ।
गरुड़ वचन माना तव राइ॥
वाजी समेत कुंवर पुन आऐ।
देखी लोग आनन्द मन भाऐ॥
हरख सोक तांहां दोनो भऐउ।
तुरीआ मोलत सव संसै गऐउ॥"

विषय—राम का जन्म, शिक्षा, विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा, विवाह और परशुराम-पराजय; प्रसंगतः श्रवणचरित और गंगावतरण का वर्णन।

टिप्पणी—क—ग्रंथ खंडित है।

ख—इस ग्रन्थ की अन्यान्य ४ प्रतियाँ भी परिषद्-संग्रहालय में हैं। उनमें से एक का विवरण परिषद् द्वारा प्रकाशित 'हस्त-लिखित विवरण' के प्रथम खण्ड की पृ० सं० ४५ में देखिये। नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-विवरणिका (सन् १९२६-२८ ई०) में, ग्रं० सं० ४७३ बी० में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख है। उक्त विवरणिका में 'एकादशी माहात्म्य' नामक एक और ग्रन्थ (संत सूरजदास-लिखित) मिलने की सूचना है। एक और ग्रन्थ की सूचना खोज-विवरणिका (सन् १९२३-२५) में, ग्रन्थ सं० १४७ (सी०) में मिलती है।

ग—ग्रंथ की लिपि लीथो-मुद्रण है। खंडित होने के कारण लिपिकार के नाम, स्थान आदि के संकेत का अभाव है। अन्य प्रतियों से पाठान्तर भी है।

घ—यह ग्रंथ श्री अंजनिकुमार सिन्हा, बिहार-विश्वविद्यालय, पटना के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

[क्रमशः]

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नवीन....और ...उल्लेख्य

अवन्तिका

रचयिता और प्रकाशक
श्री जानकीवल्लभ शास्त्री
मुद्रक—बोस प्रेस, मुजफ्फरपुर
मूल्य—पाँच रुपये।

समीक्षक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

'अवन्तिका' शास्त्री जी की नवीन गीतियों का संग्रह है। काव्य-पुस्तक में कवि की '३१ से लेकर '५१ तक की चौवन गीति-कविताएँ संगृहीत हैं। कविताओं में प्रकृति और प्रेम, नारी और काम, विरह और सौंदर्य के मधुमय चिन्तन के साथ सहज अनुभूति की सरस मार्मिकता तथा छन्दों की सीमा में परिष्कृत भाषा का प्रसन्न प्रवाह है। कविताओं की जटिलता में भी शब्द-संघटन की अद्भुत सफलता है। विविधता और विशदता से भरी पद्य-कुशलता सहृदय पाठकों के ध्यान आकृष्ट करती है। कवि की कल्पना में हृदय की समन्वित संवेदनशीलता और भावना में धीर धिषणा की सुतर्कित अन्तश्चेतनता है।

'अवन्तिका' की कविताओं में यद्यपि व्यष्टि के स्वर की झंकार है, फिर भी जहां तक मानव-मन के चिरन्तन भावों का प्रश्न है, वह समष्टि का ही स्वर-गुञ्जन है, जो समाज की तन्द्रिल जागृति की मीठी प्रभाती बनकर, उसे उन्नयन का प्रतिरोमचुम्बी सन्देश देता है। कविताओं के शब्द-शब्द में, मुक्ताफल जैसी, छाया का तरलत्व है, जिसमें साहित्य की शास्त्रीयता का प्रशंसनीय पुटपाक है, जो शास्त्रीजी की काव्य-प्रतिभा की अद्वितीयता का प्रमाण है।

'अवन्तिका' के कवि का मन भले ही नीलाम्बर के छायापथ पर तरङ्गित है, परन्तु उसके पैर धरती के अंगारपथ पर ही, धीरे-धीरे ही सही, पर अविराम गतिशील हैं। शास्त्री जी का कवि 'जतसार' की स्वर-झंकार पर जितना मुग्ध है, उससे कहीं अधिक जाँता चलाती हुई मजदूरिनों की खिन्न-श्रान्त अवस्था की अनुभूति से शूलित है। जीवन की पीड़ा से पागल होकर, पीड़ा के जीवन से मुक्ति के लिए कवि ने अनाहत आशा का अखण्ड आलोक जलाया है। प्रमाथी एवं प्रमादी मन के चांचल्य पर अविश्वस्त तथा कर्म में मर्म को व्यस्त करने की कामनावाले कवि की निर्भीक 'साधना' देखिये—

"जो मन वन-वन भटका करता
उसका क्या विश्वास!
जीवन का व्रत एक चाहिए, एक चाहिए नेम!
एक सखी हो क्षमा और बस एक सखा हो प्रेम!

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्षेत्र कर्म का रहे सामने, मर्म उसी में व्यस्त,
काँटों-रोड़ों की बिसात क्या, हो न वज्र से त्रस्त !
अन्धकार पर चरण रखे,
परखें दृग परम प्रकास !"

यों तो 'अवन्तिका' की कविताएँ 'भीड़-मूर्च्छना-मिलित संपूर्ण गान' हैं, फिर भी उनमें आधुनिक युग की मार-काट, प्रवहमान शोणित की उष्णधार और मानवता से पटी हुई सूखे उर की दरार के हाहाकार का भी अभाव नहीं है। अवश आध्यात्मिकता पर सदर्प भौतिकता की बलात् विजय का एक सरस करुण चित्र बड़ा ही मर्मचारी है:—

"तननेवाले सीने को छेदा जाता,
उठनेवाला सिर कट कर भू पर आता;
सच कहनेवाले मुँह को सी देते हैं
अब बाज कबूतर के अंडे सेते हैं;
धार्मिक, सांस्कृतिक हुए नरभक्षक प्राणी !
पतझर-मर्मर में चिर वसंत की रानी !!"

चाँद और चाँदनी की शीतल ज्वाला की सुन्दरता के स्वप्नलोक में उभ-चुभ करता हुआ भी कवि जिन्दगी को इसी धरती पर मानव की सहचरी के रूप में देखना चाहता है—

"हो न हमारी मरी जिन्दगी !
कर्म, कर्म फिर कर्म करें; हो
भूख-प्यास से भरी जिन्दगी !
श्रम का उचित मूल्य हम पावें,
कुछ विश्राम-समय में गावें;
हम श्रम से भी नहीं चाहते
बने स्वर्ग की परी जिन्दगी !
× × ×
हमको दुख से क्षोभ नहीं है,
हमको सुख का लोभ नहीं है;
उचित अश्रु से, उचित हास से
रहे हमारी हरी जिन्दगी !"

इस प्रकार, 'अवन्तिका' में 'जीवन-कला', 'विधवा', 'बंदी कीर', 'चुनौती,' 'मदायत्तं तु पौरुषम्', 'नारी', 'दीपक', 'रूप और प्रेम', 'शिखण्डी के बाण' आदि शीर्षक कविताओं में कवि का व्यक्तित्व संकीर्णता की सीमा को छिन्न-भिन्न कर जन-जन की वेदना में व्याप्त

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हो गया है। पूरी 'अवन्तिका' में आज की ही उन दारुण समस्याओं के आवर्त्त-विवर्त्त की ओर संकेत है, जो प्रपञ्च और परिग्रह की परिखा में घिर कर पंकिल हो गई हैं।

'अवन्तिका' की कविताएँ इसलिए भी महार्घ हैं कि उनमें संगीतात्मकता का आग्रह है, जिसमें सजीव भाषा में व्यक्ति के आन्तरिक भावों की सक्षम अभिव्यञ्जना है, जिसके द्वारा कविताओं में विशिष्ट प्रभाव की योजना हो गई है। काव्यत्व और संगीतत्व एक स्तर पर स्थित हैं। संक्षेपतः, 'अवन्तिका' की कविताओं में सौन्दर्य-चिन्तन एवं भावनागत ऐन्द्रिय प्रभावों का सामञ्जस्य तथा शब्द की संगीतात्मक शक्ति का अद्भुत समन्वय है, जिसमें कलात्मक अनुभूति की सन्तुष्टि है, जीवन के हास-अश्रु के क्षणों का मोहक चित्र है और ऐन्द्रिय अनुभूति की तीव्र अभिव्यक्ति के साथ-साथ मानव-जीवन की व्यर्थता के शोक-विह्वल भावों का माधुर्य है।

शास्त्री जी शब्द-शक्ति से पूर्ण परिचित हैं, इसीलिए वे छान्दस गीत का त्याग न करते हुए शब्दों की झंकार से ध्वनित रागात्मक अभिव्यक्ति को अंकित करने में सफलश्रम हुए हैं। शास्त्रीजी कोमल गीतों के गायक हैं। गीति-काव्य का उद्भव अन्तर्ज्वाला से है, जिससे कवि के आकुल प्राण गीतों में बँधने को व्याकुल होते हैं:—

"विजन वन का सुमन हूँ, सुरभि अपनी सँजोए!
भ्रमर के गान से अनजान प्राणों को भिगोए!!
रहूँ रोता! अरे, मेरे रुदन का अर्थ ही क्या?
विवश मुस्कान मुद्रा सर्वथा है व्यर्थ ही क्या?
रहूँ गाता! समझता कौन? मेरा मौन सर्जन!
न मेरे नाद में बादल, न विद्युद्-वज्र-गर्जन!
कि पारावार-सा होता न हाहाकार मेरा!
न दुर्जय ज्वार-सा उद्दाम, उन्मद धार मेरा!
सजल कैसी अतलता में हृदय-घट हूँ डुबोए!
विजन वन का सुमन हूँ मैं, सुरभि अपनी सँजोए!!"

प्रस्तुत कविता-संग्रह की भूमिका में प्रो० नलिनविलोचन शर्मा जी ने कवि और कविता के बारे में 'संकेत' किया है:—

"प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद हिन्दी कविता की निर्झरिणी समतल भूमि पर प्रवाहित होने लगी और अनेक धाराओं में। इनमें से जिस एक सदानीरा धारा ने तट-तरु का उच्छेद किये विना अपने को उर्वर और स्निग्ध बनाया, दिशाओं को अपनी कलध्वनि से मुखरित किया, वह स्रोत से कभी विच्छिन्न नहीं हुई। इस धारा के भगीरथ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हैं। यदि प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद मुझसे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हठात् पाँचवाँ नाम लेने को कहा जाय, तो वह नाम शास्त्रीजी का ही होगा। बहुत माथा खुजलाने के बाद भी पाँचवाँ नाम यही रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।"

बढ़िया कागज पर पुस्तक का मुद्रण निर्दोष और निर्मल है। पृष्ठों के अनुपात से पुस्तक का मूल्य पाठकों को कुछ अधिक जान पड़ेगा। फिर भी, यह काव्य-संग्रह काव्य-जगत् के लिए एक चिरनवीन उत्क्रमण है।

पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रंथ

समीक्षक

प्रधान संपादक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : प्रो० शिवनन्दन प्रसाद, एम्० ए०
प्रकाशक—अखिल-भारतीय-
व्रज-साहित्य-मंडल, मथुरा
मूल्य—तीस रुपये। पृ० सं०—१०५४;

प्रस्तुत ग्रंथ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की हीरक-जयन्ती के अवसर पर अखिल-भारतीय-व्रज-साहित्य-मंडल की ओर से समर्पित और प्रकाशित है। ग्रंथ के पाँच खंड हैं। प्रथम खंड में पोद्दार जी के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ और जीवन-परिचयात्मक विवरण है। शेष चार खंडों के शीर्षक क्रमशः ये हैं—साहित्य; श्रीकृष्ण और उनकी लालाएँ; इतिहास, पुरातत्त्व और कला; व्रजजनपदीय। प्रथम खंड ७२ पृष्ठों में समाप्त हो जाता है। शेष समस्त पुस्तक में व्रज-साहित्य और संस्कृति से सम्बद्ध विविध विषयों पर प्रबन्धादि हैं, जिनमें कुछ अपने विषय के अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। फलतः प्रस्तुत ग्रंथ अन्य कई अभिनन्दन ग्रन्थों की तरह प्रधानतया किसी एक व्यक्ति या समुदाय की प्रशस्ति-गाथा मात्र नहीं, वरन् अध्ययन-अनुशीलन की गरिमा से उचित ही समन्वित होने के कारण महत्त्व की वस्तु है। कई कलापूर्ण चित्रों तथा आकार-प्रकार की सुघरता के कारण ग्रन्थ और भी संग्रहणीय बन गया है।

'साहित्य' शीर्षक द्वितीय खण्ड के कुछ लेख उच्च कोटि के हैं, जैसे—शौरसेनी भाषा की प्राचीन परम्परा (डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या); अष्टछाप की मधुर भक्ति (डा० दीनदयालु गुप्त); सूरसागर का विकास और उसका रूप (जवाहरलाल चतुर्वेदी); वल्लभाचार्य का साधन-मार्ग (बलदेव उपाध्याय); हिन्दी के प्राचीन आलंकारिक आचार्य (पं० रामदहिन मिश्र); व्रजभाषा का गद्य-साहित्य (शिवनाथ) आदि। इनमें कुछ में यथेष्ट गवेषणात्मक सामग्री भी है, शेष में भी बौद्धिक धरातल उच्च है और विचारों का गुंफन वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। किन्तु, इस ग्रन्थ में ऐसे निबन्ध भी हैं, जिनके कारण निबन्धों का औसत स्तर उच्च से सामान्य के रूप में बदल जाता है और अपनी समग्रता में पुस्तक की महत्ता कुछ अवश्य क्षुण्ण हो जाती है। 'सूरदास का काव्य' (नन्ददुलारे वाजपेयी) शीर्षक निबन्ध में लिखा अधिक गया है, कहा कम। शब्द-संयम और अर्थ-गर्भत्व के अभाव के अतिरिक्त विचारों का ढीलापन अस्पष्टतामिश्रित अव्यापकता या अतिव्यापकता भी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

खटकनेवाली बात है। भगवान् जाने लेखक की यह धारणा कि—"अधिकांश लोगों का ऐसा खयाल है कि त्याग, संन्यास और वैराग्य की शिक्षा देनेवाली रचनाएँ ही धार्मिक काव्य कहला सकती हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में कबीर और दादू आदि को ही धार्मिक कवि माना जा सकता है।"—किन आँकड़ों पर आधारित है! लेखक के निबन्ध में कोई नई बात तो कही ही नहीं गई है, पुरानी बातों को भी प्रामाणिक ढंग से उपस्थित करने का प्रयास नहीं किया गया है। इसे विद्वत्तापूर्ण, कलात्मक पिष्टपेषणमात्र कहा जा सकता है। भ्रमरगीत की परम्परा (सरला शुक्ला) शीर्षक निबन्ध इससे अच्छा है, यद्यपि गम्भीर अध्ययन-अनुशीलन के फलस्वरूप उपलब्ध अब तक अज्ञात तथ्य या सामग्री की दृष्टि से, यहाँ भी निराश ही होना पड़ता है। एकाधिक निबन्धों के अन्त में दिए गए जवाहरलाल चतुर्वेदी के ग्रन्थ-विवरण अवश्य उपयोगी हैं। 'रासपंचाध्यायी : भागवत' शीर्षक निबन्ध अनुवाद है। कम पंक्तियों में ही इसमें रासलीला-सम्बन्धी कई दृष्टियों का परिचय मिल जाता है। कुछ शीर्षक निबन्ध पढ़ने के पहले जितने आकर्षक प्रतीत हुए, निबन्ध के पन्ने उलटने पर उतने ही भ्रामक और निराशाजनक सिद्ध हुए; जैसे—ब्रजभाषा : साहित्यशोध; ब्रजभाषा के काव्य-ग्रन्थों की खोज। किन्तु, कुछ अन्य आकर्षक शीर्षक इस प्रकार सर्वथा निराश नहीं भी करते; जैसे—श्रीकृष्ण का ऐतिहासिक समय; वेदों में ब्रजलीला; श्री कृष्णावतार पर वैज्ञानिक दृष्टि। अन्त में दिया गया ब्रज के लोकसाहित्य का परिचय उपयोगिता से खाली नहीं।

समग्र रूप से यह ग्रन्थ, अपनी विस्तृत और बहुविध सामग्री-चयन, ब्रज-साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंगों पर अधिकारी व्यक्तियों के विचारों के अन्तर्भाव, कुशल संपादन आदि के कारण स्थायी महत्त्व का अधिकारी है। इसी कारण अभिनन्दन-ग्रन्थ होने के बावजूद, पुस्तक अभिनन्दनीय है!

काल और जीवन

समीक्षक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

लेखक—श्री शंभुनाथ बलियासे 'मुकुल'
प्रकाशक—मुकुलोत्पल-प्रकाशन,
स्पार्क प्रेस, पटना ३
मूल्य—सवा रुपये मात्र।

'काल और जीवन' श्री मुकुल जी की ग्यारह स्फुट कहानियों की संग्रह-पुस्तक है। ये कहानियाँ काल और जीवन की बड़ी ही मर्मभेदिनी व्याख्या उपस्थित करती हैं। लेखक की मान्यता है, मानव एक कार्यकीट है, जो अपने अनुदात्त जीवन में अविराम रेंगता रहता है। उसका यही रेंगना, अगर वह ईर्ष्याकषायित एवं हिंसाकलुषित नहीं रहा, एक दिन उदात्त जीवन को उपलब्ध करेगा ही। सच्ची साधना से मानव आठो सिद्धियाँ और नवो निधियाँ अपने लिए सुलभ बना सकता है। 'मदायत्तं तु पौरुषम्' की सार्थकता पर लेखक आस्थावान् है। उसे पूर्ण विश्वास है, 'सक्रिय जीवन से काल कदापि जयी नहीं हो सकता।'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसके अतिरिक्त, प्रस्तुत कहानी-संग्रह की कहानियाँ इसलिए मूल्यवान् हैं कि लेखक ने कल्पना और यथार्थ का समन्वय बड़ी सफल रीति से प्रतिपादित किया है। कहानीकार की पैनी दृष्टि ने धरती पर ही स्वर्ग की खोज की है। कहानियाँ सरस हैं और उनमें सरल-मृदुल-मंजुल भाषा और भाव का निर्मल प्रवाह है, साथ ही वेदना के माधुर्य का स्थायित्व भी।

'स्वप्न की कसौटी' में, समष्टि के लिए व्यष्टि की आत्माहुति कर देनेवाली चंचला का मार्मिक चित्र है। 'साधना की अग्नि' में, लेखक जयन्त की खोई हुई साधना, किरण-बाला, जो अतृप्त नारीत्व के अभिमान से ग्रस्त है, की विपन्नता का वर्णन है। 'प्रतिकार' में, पुरुष के स्वार्थ के कारण परित्यक्ता अवश नारी के अन्यधर्म-ग्रहण का चित्रण है। 'शादी के बाद' में, एक ऐसी नारी का चित्र है, जो एक पुरुष को मन से ही अपना मान लेने के बाद, उसीकी स्वीकृति से किये गये भी उस पुरुष के अन्यनारीविषयक प्रेम को कदापि नहीं सह सकती। 'बोलती समाधि' में, जयन्ती उस आत्मा का चित्र है, जो अपने वीरगति-प्राप्त प्रियतम के शोकाघात से बोलती समाधि बन गई है। 'कल्पना की रानी' में, एक ऐसी अभिमानिनी नारी का चित्र है, जो अपनी शान-बान के लिए, अपने पड़ोसियों पर अपना रोब गालिब करने के लिए, सतत चिन्ता में घुलती रहती है और अन्त में रोगी होकर, अपने घरवालों को तबाह कर, सदा के लिए इस दुनिया से चल देती है! 'बूढ़ी धरती' की निर्मला अपने समाज में अपने आत्मीय की खोज में अपने को निरस्तित्व कर देती है। 'विषयान्तर' में नलिनी के जयन्त के प्रति प्रणय का विचित्र वृत्तांत है। 'सहगामिनी' में एक पकौड़ीवाली, समाज-सुधारिका मीना, के अन्तर्दग्ध नारीत्व का निर्मल निरूपण है। 'जीवन-व्यापार' में सेठ सागरमल का, एक मत्स्यलोभी बगुले के साथ भावसामंजस्य, बड़ा रोचक है। 'आग और फूल' में राष्ट्रसेविका 'वासन्ती' का 'जगत्' के प्रति प्रणय के अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा ही वेधक चित्र है। कुल मिलाकर, 'काल और जीवन' की कहानियों में भारतीय नारी के ही विभिन्न रूपों का प्रतिबिम्ब है, जिसमें सामाजिक अन्तर्द्वन्द्विलता की भावुकतापूर्ण अभिव्यंजनाएँ हैं।

पुस्तक की छपाई की अनिर्दोषता मुद्रण-यन्त्र के विषय में लेखक की परवशता का चिन्तनीय संकेत है। कहानियाँ सहज लोकप्रिय होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

समीक्षक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

विकासात्मक मनोविज्ञान

लेखिका—श्रीमती सुशीला सिन्हा, एम्० ए०
प्रकाशक—श्री आनन्दवर्द्धन, काँगरेस-नगर, पटना ३
मूल्य—दो रुपये, बारह आने मात्र।

'विकासात्मक मनोविज्ञान' लेखिका के ही शब्दों में 'मुख्यतः बालमनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है।' वस्तुतः यह पुस्तक इण्टरमीडियट के पाठ्यक्रम को ध्यान

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में रखकर रची गई है। श्रीमती सुशीला सिन्हा मनोविज्ञान की उच्च-शिक्षाप्राप्त विदुषी हैं। इस पुस्तक में उनकी मनोवैज्ञानिक प्रतिभा का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। विषय की गहनता के बावजूद भाषा की सरलता जिज्ञासु विद्यार्थियों को विषय-प्रवेश की गहराई में उतरने में बड़ी सहायता देनेवाली है। वैज्ञानिक रीति से लिखी गई यह पुस्तक हिंदी के मनोविज्ञान-विषयक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी।

पुस्तक में बारह प्रकरण हैं, जिनमें बच्चों के जन्म से वयःपरिणति तक के शारीरिक और मानसिक विकास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया गया है। इन बारह प्रकरणों में, पाँचवाँ, आठवाँ और ग्यारहवाँ ये तीन प्रकरण बड़े महत्त्व के हैं। इनमें बालकों के बौद्धिक विकास की परम्परा के साथ-साथ उनकी भाषा और व्यक्तित्व के विकास का विद्वत्ता के साथ वर्णन किया गया है।

पुस्तक के अन्त में मनोवैज्ञानिक शब्दावलि की एक सूची दे दी गई है। मनोविज्ञान के अँगरेजी पारिभाषिक शब्दों के ये हिन्दी पर्याय सामान्यतः संतोषजनक हैं। पुस्तक प्रत्येक पुस्तकालय में रहे, तो मनोविज्ञान के पाठकों का ही नहीं, साधारण पाठकों का भी बड़ा उपकार हो। छपाई साफ और शुद्ध है। भिन्न-भिन्न मुद्रा में बच्चों के कई चित्र भी इस पुस्तक में दे दिये गये हैं। बहिरावरण साधारण रहते हुए भी अनाकर्षक नहीं है।

उत्तररामचरितम् [मैथिली अनुवाद]

समीक्षक
श्रीरञ्जन सूरिदेव

अनूदक तथा प्रकाशक—डा० श्री राजकुमार मिश्र
नेशनल मेडिकल हाल, पण्डौल (दरभंगा)
मूल्य—एक रुपया; बारह आने मात्र।

प्रस्तुत पुस्तक काव्य की प्रौढ़ता से परिपूर्ण तथा भावों की उत्कृष्टता से उर्वर, महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' नाटक का सरल मैथिली अनुवाद है। उत्तररामचरित में, भवभूति की चूडान्त काव्य-प्रतिभा तथा उच्चकोटिक चरित्र-चित्रण के साथ-साथ कल्पना की सरसता, मानव-हृदय के द्वन्द्विल भावों की विशदता और विविधता, विभिन्न दृश्यों और स्थानों की सुन्दरता तथा करुण रस की पूर्ण परिणति बड़ी वेधक शैली में उपस्थित है। उत्तररामचरित के धीरोदात्त नायक राम अपने कर्त्तव्य तथा राजधर्म के पालन में जितने वज्र-कठोर हैं, उतने ही कुटुम्ब के स्नेह में कुसुम-कोमल। सीता का धीरपत्नीत्व तो राम-चरित्र को चरम परिणति तक पहुँचा देता है।

इस प्रकार के उत्तम संस्कृत नाटक का मैथिली में यह अनुवाद बहुत दूर तक सफल कहा जा सकता है। अनुवाद की भाषा में प्रवाह और सौष्ठव है। यद्यपि मैथिली की पूर्ण मौलिकता भाषा में नहीं आ पाई है, फिर भी उसकी रोचकता अभिनंदनीय है। संस्कृत श्लोकों का पद्यानुवाद चिन्तनीय है। एक उदाहरणः—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरिव वा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥"
(दुर्बल, पीन कपोल, मनोहर अछि मुख पर वेणीओ स्रस्त।
करुणमूर्त्ति, आ विरहव्यथा सँ बनलि जानकी छथि अति व्यस्त॥)

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि इस अनुवाद ने मैथिली-साहित्य का उपकार किया है।

कल्पना — समीक्षक

रचयिता और प्रकाशक—श्री जीवनाथ झा — श्रीरञ्जन सूरिदेव

मैथिली-मन्दिर, दरभंगा

मूल्य—एक रुपया मात्र।

'कल्पना' तीस मैथिली कविताओं की सुन्दर संग्रह-पुस्तक है। कविताओं की कल्पना ऊँची और भाव गहन हैं। कवि पं० श्री जीवनाथ झा जी संस्कृत-साहित्य के निष्णात विद्वान् हैं, अतएव इनकी कविताओं में शास्त्रीयता का गौरव है। कुछ कविताएँ शृङ्गार से छरभित हैं और कुछ भक्ति से विभोर। कुछ में प्राचीनता की आवृत्ति है और कुछ में नवीनता की परिवृत्ति। सभी कविताओं में कुछ न कुछ मौलिकता अवश्य है। संग्रह के छन्दों में प्रवाह है और भाषा में माधुर्य। शब्द ओजस्वी हैं और पद स्वरझंकृत। 'पाकल आम' से एक मौलिक उदाहरण उपस्थित करने के लोभ का संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ—

"विख्यात नाम फलराज अहाँ
टिकुलहि स जे आशा धयलक,
कपि-कम्पन सँ रक्षा कयलक;
किछु नहि कय ध्यान टपकि निश में
साजल की उनटे साज अहाँ।"

'कृषिक वेदना' का भी एक अंश पठनीय है—

"अपनेक नीति ई?
ग्रीष्मक प्रचण्ड रौद मध्य जे कोदारि सँ,
भरि दिन लपैत भीजि भीजि घर्मवारि सँ;
वाजी लगाये तनु, अहाँक प्रवण त्राण मे,
आदर न कयल जे कदापि अपन प्राण मे
से, हो उपेक्ष्य एहन? कहू कोन रीति ई?"

संक्षेपतः, 'कल्पना' निर्दोष रूप में, बढ़िया कागज पर मुद्रित होकर, मैथिली-साहित्य के भण्डार की एक संग्रहणीय काव्य-वस्तु बन गई है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

खोज

समीक्षक

लेखक—पं० द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' श्रीमती स्वर्णलता प्रसाद, एम्० ए०

प्रकाशक—चेतना-प्रकाशन, हैदराबाद

मूल्य—तीन रुपये।

'खोज' मिश्र जी की पाँच कहानियों का संग्रह है। इसकी प्रथम कहानी 'अश्रु' सचमुच ही हृदय को द्रवित करनेवाली है। हरिश्चन्द्र और शान्ति का, आपस में अचानक मिलन ही दुःख का कारण बनता है। विधवा-विवाह के प्रति भावनाओं में जो परिवर्तन आ रहा है, उसके संधिस्थल का मार्मिक चित्रण लेखक की कुशलताका परिचायक है। प्राचीन और नवीन भावनाओं के चढ़ाव-उतार में भी शांति ने परंपरा से अपने को विचलित न होने दिया। परिस्थिति के सम्मुख भावना की हार हुई। यह एक दुःखान्त कहानी है। जीवन की वेदना तो इसके शीर्षक से ही द्योतित है। दूसरी कहानी 'अनुभव' में तो लेखक ने अपने नायक के जीवन में ऐसी घटना ला दी है, जिससे वह स्वयं हतबुद्धि-सा हो जाता है। पाठक के हृदय में भी उत्सुकता जागरित हो जाती है। परन्तु, इसका अन्त हर्षपूर्ण होता है। 'अँधेरा' इस संग्रह की तीसरी कहानी है। इसमें जीवन की विविधताओं का चित्रण है। रामप्रसाद के जीवन में शांति का आना भी क्षणिक आलोक सिद्ध होता है। शांता से प्रगाढ़ प्रेम रहते हुए भी रामप्रसाद का विवाह उससे नहीं हो सका। भावना में तल्लीन वह अँधेरे में ही गाड़ी से कूद पड़ता है। इस प्रकार, कहानी का अचानक ही अन्त हो जाता है। आनेवाले प्रसंग का आभास पाठक को पहले नहीं मिलता। वह अँधेरे में ही बराबर रहता है। इस संग्रह की चौथी कहानी 'आसरा' है। इस कहानी में भी गौरीशंकर की विधवा भाभी उसका आसरा देखती रहती है। गौरीशंकर उससे कतराता है, फिर भी अन्त समय भाभी की अभिलाषा पूर्ण हो जाती है और वह मृत्यु-शय्या पर पड़ी रोगिणी का आसरा बन कर आ जाता है।

पाँचवीं कहानी तो इस संग्रह के नामकरण का ही कारण है। सुधाकर अपने असफल प्रेम से ऊबकर कलाकार बन जाता है। संपादन-कार्य में लोगों के द्वारा कई बार वह लांछित भी होता है। फिर भी, एक साथी की खोज की आकांक्षा उसके हृदय में दबी ही रहती है, जो समय-समय पर उभर आती है। सुखदा, तारा और शशिकला उसके जीवन में कुछ क्षण के लिए आती हैं, जो उसे निराशा की ओर प्रवृत्त कर देती हैं। अन्त में, उसकी खोज पूर्ण हो जाती है और एक निराश्रित स्त्री का प्यार उसके दग्ध जीवन को शीतल बनाने में सफल होता है। तब वह कह उठता है—'मेरी खोज पूरी हो गई।'

'खोज' में, लेखक ने सभी कहानियों में जीवन के यथार्थ चित्र को खोजने का सफल प्रयास किया है। पुस्तक का मुद्रण और बहिरावरण अभिनन्दनीय है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिषद् के निम्नलिखित ग्रंथ छप रहे हैं

१. रवर—(सचित्र) ले० श्री फूलदेव सहाय वर्मा (कालेज-इन्सपेक्टर, बिहार वि० वि०)
२. शैवमत—डा० यदुवंशी (केन्द्रीय शिक्षा-विभाग, दिल्ली)
३. ईख और चीनी (सचित्र)—श्री फूलदेव सहाय वर्मा
४. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह
५. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ०सी०एस्०, बिहार-सचिवालय
६. बौद्ध-धर्म-दर्शन—ले० आचार्य नरेन्द्रदेव
७. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (पिशल-कृत)—(मूल जर्मन से अनु०) डा० हेमचन्द्र जोशी
८. मध्य एशिया का इतिहास—प्रथम और द्वितीय खण्ड (सचित्र)— श्री राहुल सांकृत्यायन
९. नक्षत्र और ग्रह (सचित्र)—ले० श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०
१०. राजकीय व्यय-प्रबंध के सिद्धांत—श्री गोरखनाथ सिंह–भूतपूर्व शिक्षा-निर्देशक, बिहार
११. नीहारिकाएँ (सचित्र)—डा० गोरख प्रसाद (प्रयाग-विश्वविद्यालय)
१२. राजनीति और दर्शन—डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा (पटना-विश्वविद्यालय)

विद्वानों से नम्र निवेदन

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की अनुवाद-योजना-समिति ने निश्चय किया है कि विदेशी और स्वदेशी भाषाओं के जिन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद अबतक हिंदी में नहीं हुआ है और जिन प्रसिद्ध ग्रन्थों का हिंदी-अनुवाद होना अत्यन्त आवश्यक है उन सबकी एक विवरणात्मक सूची भेजने के लिए विद्वानों से अनुरोध किया जाय। अतएव अधिकारी विद्वानों से नम्र निवेदन है कि वे विदेशी भाषाओं और प्रमुख भारतीय भाषाओं के उच्चतम कोटि के ग्रन्थों की नामावली (ग्रन्थकार के नाम-सहित) के पते से शीघ्र भेजने की कृपा करें। जो सज्जन जिस किसी ग्रन्थ का अधिकारपूर्वक शुद्ध हिन्दी-अनुवाद कर सकते हों वे स्पष्ट सूचित करने की कृपा करें कि वे किस भाषा के किस ग्रन्थ का प्रामाणिक अनुवाद सुबोध हिन्दी में कर सकते हैं। केवल ऐसे ही ग्रन्थ अनुवादित कराये जायँगे जिनका अनुवाद राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए गौरव-वर्द्धक तथा अनिवार्य-रूप से आवश्यक हो और जिनका अबतक कहीं हिन्दी-अनुवाद न हुआ हो। स्वाध्यायानुरागी विद्वानों, कालेजों के प्रोफेसरों और पत्र-सम्पादकों, अनुभवी अनुवादकों तथा विद्या-व्यसनी सज्जनों से विशेष अनुरोध है कि वे उचित सुझाव-सलाह देकर और स्वेच्छानुसार ग्रन्थ का अनुवाद कर सकने की इच्छा प्रकट कर परिषद् को आभारी करें। अमूल्य ग्रन्थों और समर्थ अनुवादकों की नामावली तथा सूचनाएँ प्राप्त हो जाने के बाद परिषद् विचार-विमर्श करके आवश्यक पत्रव्यवहार करेगी।

—मन्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्,
सम्मेलन-भवन, पो० ब० नं०-७, पटना–३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिषद्-द्वारा प्रकाशित

हिन्दी-साहित्य के बारह अनमोल ग्रंथ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
मूल्य सवा तीन रुपये सजिल्द; पौने तीन रु० अजिल्द। पृष्ठ संख्या १३२।

२. यूरोपीय दर्शन—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा;
मूल्य सवा तीन रुपये। पृ० संख्या ११५। सजिल्द।

३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
मूल्य साढ़े नौ रुपये। दो तिरंगे और लगभग १८८ इकरंगे आर्ट पेपर पर छपे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र भी। पृष्ठ संख्या २७४। सजिल्द।

४. विश्व-धर्म-दर्शन—श्री सांवलिया बिहारीलाल वर्मा
मूल्य साढ़े तेरह रुपये। पृ० संख्या ५०२। सजिल्द। एक चित्र भी।

५. सार्थवाह—ले० डा० मोतीचन्द्र। मूल्य ग्यारह रुपये। आर्ट पेपर पर छपे १०० अलभ्य ऐतिहासिक चित्र तथा व्यापार-पथ के दुरंगे मानचित्र भी। पृ० सं० ३१४। सजिल्द।

६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा० सत्यप्रकाश
(प्रयाग-विश्व-विद्यालय)। मूल्य आठ रुपये। पृ० संख्या २८२। सजिल्द।

७. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पी०-एच्० डी०। मूल्य चौदह रुपये। बढ़िया आर्ट पेपर पर सात तिरंगे और बारह पृष्ठ एकरंगे चित्र भी। पृ० संख्या ५३६। सजिल्द।

८. काव्य-मीमांसा—पं० श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत; 'सुप्रभातम्'-सम्पादक। मूल्य साढ़े नौ रुपये। गवेषणापूर्ण प्रामाणिक भूमिका और परिशिष्ट के साथ। पृ० संख्या २६२। सजिल्द।

९. श्री रामावतार शर्मा-निबंधावली—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा
मूल्य पौने नौ रुपये। पृ० संख्या ३३०। सजिल्द।

१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा० देवसहाय त्रिवेद, पी०-एच्० डी०। मूल्य सवा सात रुपये। प्राङ्मौर्यकालीन बिहार के मानचित्र के साथ ग्यारह एकरंगे ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण चित्र भी। पृ० संख्या २२२। सजिल्द।

११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर। मूल्य साढ़े नौ रुपये। आर्ट पेपर पर गुप्तकालीन मुद्राओं पर लिपियों के सत्ताईस सविवरण फलक भी। पृ० संख्या २४०। सजिल्द।

१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी।
पृ० सं० ६२५। मूल्य साढ़े तेरह रुपये। सजिल्द।

जिल्दों पर रंगीन सचित्र आवरण बड़े आकर्षक हैं!

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सम्मेलन-भवन, पटना—३

मुद्रक—योगी, प्रेस पटना-१ : : प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

'विद्ययाऽमृतमश्नुते' हस्तलिखित [illegible] विभाग
Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन, पटना—३

134

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
वार्षिक ७)] सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान मुखपत्र [एक प्रति २)

वर्ष ५ } पौष, संवत् २०११ : : जनवरी, १९५५ ई० { अंक ४

सम्पादक
शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सम्पादकीय

श्री देवराज उपाध्याय, श्री बटुकदेव मिश्र — ९ हिन्दी उपन्यास
श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य — १६ संस्कृत-सा० में अनुक्तार्थ-ज्ञापन की पद्धतियाँ
श्री रामदीन पाण्डेय — ३० प्राचीन साहित्य और भारत के आदिवासी
श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव — ३२ मेघदूत में वेदान्त-तत्त्व
डा० देवसहाय त्रिवेद — ३७ भारतीय तिथिक्रम
श्री ब्रजविहारी शरण — ४६ भारवि
श्री सुमन वात्स्यायन — ५७ मिलिन्द-प्रश्न की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
श्री कुमार विमल — ६४ छायावादी कवियों की सौंदर्य-चेतना
श्री कलीमुद्दीन अहमद — ७० मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन
डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री — ७५ हस्त-लिखित प्राचीन पोथियों का विवरण
प्रो० नलिनविलोचन शर्मा — ८२ 'भागवत सम्प्रदाय'
समीक्षा : संकलन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्मेलन के वर्त्तमान पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य

सभापति—श्री देवव्रत शास्त्री (नवराष्ट्र-संपादक), उपसभापति—पं० श्री छविनाथ पाण्डेय, श्री श्यामनन्दन सहाय (उपकुलपति, बिहार-विश्वविद्यालय); प्रधान-मन्त्री—श्री व्रजशङ्कर वर्मा (योगी-सम्पादक); अर्थमन्त्री—श्री उमानाथ, एम्० ए० (उपनिर्देशक, जन-संपर्क-विभाग); साहित्य-मन्त्री—प्रो० नलिनविलोचन शर्मा, एम्० ए०; प्रचार-मन्त्री—श्री रामदयाल पाण्डेय, (पाटल-संपादक); प्रबंध-मन्त्री—श्री बालेश्वरप्रसाद अग्रवाल (प्रबन्धक, हिन्दुस्थान-समाचार-एजेंसी); कला-मन्त्री—श्री व्रजनन्दन आजाद (सहकारी संपादक, इण्डियन नेशन); पुस्तकालय-मन्त्री—कवि श्री आरसी प्रसाद सिंह। सदस्य—सर्वश्री शिवपूजन सहाय; प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, एम्० एल्० सी०; लक्ष्मी नारायण सुधांशु, एम्० एल्० ए० (अवन्तिका-सम्पादक); रामवृक्ष बेनीपुरी (नई धारा-संपादक); कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर', एम्० पी०; श्रीकान्त ठाकुर, विद्यालंकार (आर्यावर्त्त-सम्पादक); गंगाशरण सिंह; मुकुटधारी सिंह, (युगान्तर-सम्पादक, झरिया) राधाकृष्ण (आदिवासी-सम्पादक, राँची); प्रो० कपिल (मुँगेर); नीतीश्वर प्रसाद सिंह, एम्० एल्० ए० (सहृद्-संघ, मुजफ्फरपुर); डा० दयाप्रसाद; डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, (समाजशिक्षोपनिर्देशक, बिहार); शम्भुनाथ बलियासे 'मुकुल' (प्रकाश-सम्पादक, देवघर); प्रो० श्रीमती यमुना वर्मा, एम्० ए०।

साहित्य-संस्कृति-कला-प्रधान सचित्र मासिक पत्रिका

'कल्पना'

के छठे वर्ष-प्रवेश पर

हम अपने लेखकों, पाठकों, ग्राहकों, विक्रेताओं, विज्ञापकों, सहयोगियों तथा अन्य हितैषियों का अभिवादन करते हैं, और भविष्य में भी इनकी शुभकामना तथा अमूल्य सहयोग की अपेक्षा रखते हैं।

वार्षिक मूल्य १२) रु०
एक प्रति का १) रु०

व्यवस्थापक, 'कल्पना'
८२१, बेगम बाजार
हैदराबाद (दक्षिण)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

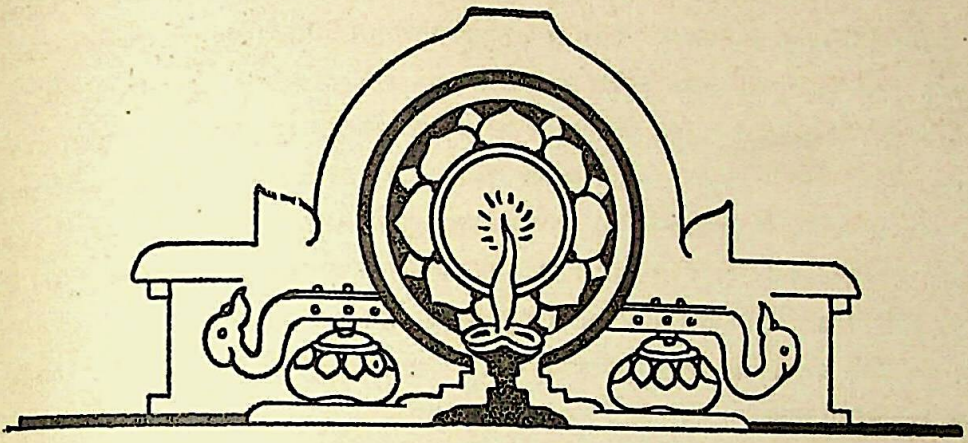

साहित्य

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का
सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान मुखपत्र

वार्षिक ७)] [एक प्रति २)

वर्ष ५ } पौष, संवत् २०११ : : जनवरी, १९५५ ई० { अंक ४

सम्पादकीय

'साहित्य' का मासिक रूप

अबतक 'साहित्य' त्रैमासिक पत्र था। किन्तु अगले महीने (माघ २०११) से यह मासिक पत्र हो जायगा। त्रैमासिक रहने पर वर्ष में इसके चार अंक जैसे निकलते थे वैसे ही निकलते रहेंगे। उनके अतिरिक्त आठ महीनों में आठ साधारण अंक प्रकाशित होंगे। प्रत्येक मास के साधारण अंक में आठ पृष्ठ रहेंगे। इस प्रकार आठ साधारण अंकों के कुल चौसठ पृष्ठ और चार विशिष्ट अंकों के कुल तीन सौ चौरासी पृष्ठ साल-भर में पाठकों को मिलेंगे। फिर भी वार्षिक मूल्य सात रुपये से अधिक न होगा।

सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य सत्साहित्य का प्रचार ही है। उसने हिन्दी में ठोस स्थायी साहित्य के निर्माण के लिए ही विक्रम-संवत् १९९३ में 'साहित्य' के प्रकाशन का श्रीगणेश किया था। उस समय इसके सम्पादक थे—पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', एम्० ए०, (पूर्णिया-कालेज के वर्त्तमान प्रिन्स्पल) और श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', एम्० ए० (वर्त्तमान

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'अवन्तिका'-सम्पादक)। संवत् १९९४ से आचार्य बदरीनाथ वर्मा (वर्त्तमान शिक्षा-मंत्री) इसके सम्पादक हुए। गहन विषय का त्रैमासिक पत्र होने के कारण इसकी ग्राहक-संख्या बराबर कम ही रही। अतः बहुत घाटा सहकर भी सम्मेलन किसी तरह इसको संवत् १९९६ तक चलाता रहा। आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह दस वर्षों तक बन्द रहा। फिर संवत् २००७ में सम्मेलन ने दृढ़संकल्प होकर इसे निकाला। तब से आज तक सम्मेलन को इससे कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ। इससे लाभ उठाना सम्मेलन का लक्ष्य भी नहीं है। यह केवल शुद्ध साहित्य के प्रचारार्थ ही निकाला जाता है। इधर दो-तीन साल से बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् इसके प्रकाशन में आर्थिक सहायता दे रहा है। आशा है, इसके मासिक रूप को साहित्यानुरागी सज्जनों से यथोचित प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

इसे मासिक रूप देने के कई कारण हैं। उनमें मुख्य यह है कि पिछले अंक से इसमें जो बिहार की साहित्यिक प्रगति का उपलब्ध विवरण दिया जाने लगा है, उसके लिए स्थान-संकोच का अनुभव हुआ। अब साधारण मासिक अंकों में ही प्रगति-परिचय दिया जायगा। इससे विशिष्ट अंकों में साहित्यिक पाठ्य-सामग्री के लिए स्थान की बचत होगी। साधारण आठ अंकों में भी ऐसी ही सामग्री रहेगी जिससे वे भी बड़े अंकों के समान ही संग्रहणीय होंगे। इस नये अभियान में पर्याप्त परिश्रम की आवश्यकता होगी, इसलिए हमलोगों ने श्रीरंजन सूरिदेव को अपना सहकारी बना लिया है। वे गत दो वर्षों से सम्पादकीय विभाग में बड़ी योग्यता और तत्परता के साथ काम कर रहे हैं। विश्वास है कि उनके सहयोग से हमलोग मासिक 'साहित्य' को विशेष लोकोपयोगी बना सकेंगे। परमात्मा हमारी अभीष्ट-सिद्धि में सहायक हो।

—शिव०

कैलासवासी सम्पादकाचार्य पराडकर जी !

मुक्तिधाम काशी में सम्पादकप्रवर पण्डित बाबूराव विष्णु पराडकर का मोक्षलाभ हुआ। उनकी साहित्य-सेवा, देश-भक्ति, कीर्त्ति और मृत्यु चिरस्मरणीय और स्पृहणीय है। 'आज'-सम्पादक के रूप में उन्होंने राष्ट्र और समाज की जो स्तुत्य सेवा की वह साहित्य के इतिहास में स्वर्णवर्णाङ्कित रहेगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी और भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा के संरक्षण और संवर्द्धन में वे सदैव तत्पर रहते थे। दैनिक 'आज' को उन्होंने सुसम्पादित मासिक पत्र के समान संग्रहणीय और मननीय बना दिया। प्रेस-कमीशन ने उनके 'आज' को एक संस्था कहा है। उनके वियोग से शोकाकुल होकर समस्त देश ने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। ऐसा ही मरण जीवन का आभरण है।

पराडकर जी के पिता बिहार के भागलपुर-कालेज में संस्कृताध्यापक रह चुके थे। स्वयं पराड़करजी ने भी भागलपुर में ही शिक्षा पाई थी। इस प्रकार बिहार से उनका ममता-मय सम्बन्ध था। पर उनके हृदय में सम्पूर्ण भारत-राष्ट्र के लिए उत्कट ममता थी। उनकी कल्पना में बृहत्तर भारत का रूप था। उनकी चिन्ता का विषय मानव जाति का हित था। मानवता के कल्याण की भावना में ही वे लीन रहते थे। किन्तु जीते-जी उनको हमलोगों ने

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ठीक नहीं पहचाना। उनके साथ हिन्दी-पत्रकारिता का पिछले पचास वर्ष का इतिहास चला गया। हमलोग वह साहित्यिक सम्पत्ति उनसे नहीं ले सके। अब उनके लिए शोकातुर होना व्यर्थ है। वे किसी प्रकार शोचनीय नहीं हैं। शोचनीय तो हमलोग हैं जो उनके दिमागी खजाने से वंचित रह गये। अब भी हम उनकी लेखनी के पिरोये हुए रत्नों को बिखरकर बरबाद होने से बचावें तो उऋण हो सकते हैं।

प्रसंगवश यहाँ यह भी कहना असंगत न होगा कि श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी के लिए भी हम केवल आँसू बहाकर ही रह गये, बल्कि उनको भूल भी गये! उनके ओजस्वी-तेजस्वी लेख साहित्य-संसार में लुप्तप्राय हैं। उनके आत्मोत्सर्ग पर महात्मा गाँधी को भी ईर्ष्या हुई थी। उनके स्मारक-निर्माण की भी कुछ दिनों खूब धूम रही। किन्तु उनके प्राणप्रिय 'प्रताप' की एक पंक्ति भी आज कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। वैसा प्रतापी लेखक क्या फिर इस युग में पैदा होगा? यदि हम विद्यार्थीजी का सिरजा हुआ साहित्य सुरक्षित नहीं रख सके, तो कैसे आशा की जाय कि पराडकरजी की साहित्यसम्पदा हम बचा लेंगे। चर्चा तो इस समय भी स्मारक की हो रही है। किन्तु साहित्यस्रष्टा का सच्चा स्मारक तो उसके रचे हुए साहित्य का प्रकाशन ही हो सकता है।

हम लोग सुनते तो हैं कि 'मराठा केसरी' में छपे लोकमान्य तिलक के सभी सम्पादकीय लेख ग्रन्थाकार में प्रकाशित हो गये और वंग-साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र के मासिक 'बंगदर्शन' के सभी अंकों के पुनर्नवीन संस्करण भी निकल गये; पर तब भी हम लोगों को कुछ प्रेरणा नहीं मिलती। यदि पराडकर जी की अगली वर्षी पर उनकी सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थावली से ही श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जायगी तो निश्चय ही उनकी दिवंगत आत्मा को वास्तविक तृप्ति और शान्ति प्राप्त होगी। तथास्तु।

—शिव०

बिहार के दो स्वर्गीय साहित्यसेवी

पुराने साहित्यसेवी क्रमशः बिहार के धराधाम से उठते जा रहे हैं। हम 'साहित्य' में उनकी जीवनी प्रकाशित करते जाते हैं। वर्त्तमान वयोवृद्धों की प्रामाणिक जीवनियों का भी संग्रह किया जा रहा है। 'साहित्य' में वे यथासमय छपेंगी भी। जो छप चुकी हैं और जो छपनेवाली हैं उनसे पुराने साहित्यिकों की सेवा-साधना का महत्त्व तो प्रकट होता ही है और होगा भी, मन में यह प्रश्न भी उठने लगता है कि उनके स्थान की पूर्त्ति अब होगी या नहीं। श्री पारसनाथ सिंह और श्री रघुवीरनारायण के स्वर्गारोहण से जो स्थान रिक्त हुए हैं उनकी पूर्त्ति निकट भविष्य में होनेवाली नहीं नजर आती। कहने की इच्छा तो यह होती हैं कि पुराने महानुभाव सदा के लिए अपनी जगह खाली कर गये।

श्री पारसनाथ सिंह एक बहुश्रुत विद्वान् थे। पत्रकार, इतिहासकार, शैलीकार, निबन्धकार और ज्योतिर्विद्याविशारद तो वे थे ही, मनुष्य बहुत ऊँचे दर्जे के थे। विद्वत्ता और मनुष्यता के संयोग से उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। अपनी विलक्षण मेधाशक्ति के बल से उन्होंने यश और सम्मान के साथ धन भी काफी कमाया। उनकी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुण्यस्मृति में 'सर्चलाइट' और 'प्रदीप' (पटना) तथा 'लीडर' और 'भारत' (प्रयाग) के जो स्मारक-अंक निकले, उन्हें देखकर उनकी लोकप्रियता और बहुमुखी प्रतिभा का जो प्रशस्त परिचय मिला, वह बिहार के लिए वस्तुतः गर्व-गौरव का विषय है। परमात्मा उनकी दिवंगत आत्मा को आत्मसात् करें।

श्री रघुवीर नारायण जी अपने 'बटोहिया' नामक लोकगीत के लिए बहुत विख्यात थे। भोजपुरी-भाषा के उस एक ही गीत ने उनको अमर बना दिया। किसी समय उस देशानुरागपूर्ण गीत की मधुरिमा देशदेशान्तर के सुविस्तृत, भोजपुरी क्षेत्र के वायुमण्डल में व्याप्त होकर दिशाओं को सुरभित-मुखरित करती रही। सन् १९१२ ई० में जब भारतीय काँगरेस का महाधिवेशन पटना में हुआ था तब उन्हीं का रचा हुआ 'भारत-भवानी' नामक राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' के स्थान पर गाया गया था। उनके ये दोनों गीत उस युग के जन-जन के कण्ठ में बसे हुए थे। ये गीत विदेशों के प्रवासी भारतीयों में भी प्रचलित हो गये थे। कविताएँ तो उन्होंने और भी लिखीं, पर ये दो ही गीत सहृदय-समाज में उनके सम्मान के कारण हुए। विद्वद्वर पं० रामावतार शर्मा, पं० अम्बिकादत्त व्यास और बाबू शिवनन्दन सहाय उनके काव्य-गुरु थे। इन्हीं तीनों से उन्हें काव्य-साहित्य की शिक्षा-दीक्षा मिली थी। वास्तव में तो वे अँगरेजी के बड़े उद्भट कवि थे। उनकी अँगरेजी-कविताओं पर बड़े-बड़े अँगरेज विद्वान् भी मुग्ध हो चुके थे। उस समय (१९०५ ई०) के इंगलैण्ड के राजकवि (पोयट लारियट) अलफ्रेड आष्टिन ने उनकी एक अँगरेजी कविता (ए टेल आव बिहार) की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उनकी अँगरेजी कविता-पुस्तकें यदि कभी छप सकेंगी तो इसमें सन्देह नहीं कि उनकी प्रतिभा का चमत्कार गुणग्राहियों को चकित किये बिना न रहेगा। उनसे आत्मकथा लिखवाने का हम साग्रह प्रयत्न करते रह गये, पर वे संकोचवश लिख न सके। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दें।

यह परम सन्तोष का विषय है कि दोनों ही सज्जन, दिवंगत होने से पूर्व, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा पुरस्कृत हो चुके थे। श्री पारसनाथ सिंह को उनके 'जगतसेठ' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ पर एक हजार रुपये का पुरस्कार मिला था और रघुवीर बाबू को डेढ़ हजार का वयोवृद्ध-सम्मान-पुरस्कार। ईश्वरेच्छया पुरस्कार को सार्थकता सिद्ध हो गई।

—शिव०

अखिलभारतीय प्रकाशक-संघ का निश्चय

हमें विश्वस्त सूत्र से सूचना मिली है। हिन्दी के बड़े-बड़े प्रकाशकों ने संघबद्ध होकर यह निर्णय किया है कि अब वे पत्र-पत्रिका-सम्पादकों को अपनी पुस्तकों की एक-एक ही प्रति समालोचनार्थ दिया करेंगे। उनकी तरह सम्पादकों का कोई जबरदस्त संगठन नहीं है। इसलिए प्रकाशक-बन्धुओं का संकल्प अटल रहेगा। सम्पादक-सम्मेलन और पत्रकार-संघ इस विषय पर गंभीरता से विचार करके कोई विज्ञप्ति अथवा वक्तव्य प्रकाशित करेंगे या नहीं, कहना कठिन है। प्रकाशक भाइयों का तर्क है कि विदेशों में पुस्तकों की एक ही प्रति समालोचनार्थ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

देने की प्रथा है। हम विदेशी प्रथाओं के अनुयायी नहीं हैं। विदेशी पत्रों की स्थिति हमारे पत्रों से भिन्न है। यदि हिन्दी के पत्रों में एक ही प्रति भेजने से पुस्तक की समालोचना प्रकाशित होने लग जाय, तो हम को कभी ईर्ष्या न होगी। किन्तु 'साहित्य' में तो एक प्रति का केवल नामोल्लेख ही हो सकेगा, और सूचनामात्र प्रकाशित होने से पुस्तक-प्रेषक महाशय को वह अंक भेजना भी आनावश्यक ही होगा।

'साहित्य' शोध-समीक्षा-प्रधान पत्र है। अतः आलोचना के योग्य पुस्तकों की समीक्षा तो इसमें छपेगी ही। इसके लिए आवश्यकतानुसार पुस्तकें खरीदी जायँगी। इस प्रकार प्रकाशकों को ही लाभ होगा। समीक्षकों को पुरस्कार के बदले में जो एक नई पुस्तक मिल जाती थी, वह अब न मिलेगी। हिन्दी का समीक्षक तो सन्तोष के बल जीता ही है। हम तो प्रकाशकों के लाभ में ही साहित्य का लाभ देखते हैं। —शिव०

बिहार-राज्य की साहित्यिक प्रगति

गताङ्क में जो प्रगति-परिचय दिया गया था, उसके बाद का त्रैमासिक विवरण, विश्वस्त सूत्र से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर, संक्षेप में, यहाँ दिया जा रहा है। उदयाचल (अजन्ता प्रेस, पटना-४) से कविवर दिनकर का नया कविता-संग्रह 'नील कुसुम' प्रकाशित हुआ है, जो नई पीढ़ी के कवियों को समर्पित है और जिसमें इस युग की आत्मा ही मानों कवि की वाणी में बोल रही है। उन्हीं की नई पुस्तक (संस्कृति के चार अध्याय) वहीं से निकलनेवाली है, जो उनके वर्षों के अध्ययन-मनन का सुपरिणाम है। कविवर 'प्रभात' एक महाकाव्य लिख रहे हैं, जिसका नामकरण अभी नहीं हुआ है। उसमें सृष्टि और प्रलय की कहानी है। उसमें पन्द्रह सर्ग होंगे, जिनमें ग्यारह लिखे जा चुके हैं। प्रबुद्ध मानव का रूप उसमें प्रदर्शित होगा। इस बात का भी संकेत होगा कि ब्रह्मा को मनुष्य की सृष्टि की प्रेरणा कैसे हुई। प्रसादजी की 'कामायनी' जहाँ से शुरू हुई है वहाँ यह काव्य समाप्त होगा। शीघ्र ही इसका प्रकाशन होनेवाला है। 'जनजीवन'-सम्पादक श्री व्रजकिशोर नारायणजी का लगभग पाँच सौ पृष्ठों का नया मौलिक उपन्यास 'रीता' राँची के किताब-घर से निकलनेवाला है। प्रसिद्ध कवि श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' का नया खण्डकाव्य (डाडीयात्रा) पुस्तक-भंडार (पटना-४) से प्रकाशित हुआ है, जिसमें महात्मा गाँधी के ऐतिहासिक विजय-अभियान का ओजस्वी वर्णन है। वयोवृद्ध कवि पं० जनार्दन मिश्र 'परमेश' का वर्णनात्मक काव्य (चकवार-चरित) रासधारी-पुस्तकालय (छितरौर, बेगूसराय, मुँगेर) से निकला है, जिसमें प्राचीन चकवारवंशी राजाओं की कीर्त्तिकथा वर्णित है। आरा के देववाणी मन्दिर से युवक कवि श्री भगवती प्रसाद 'राकेश' की प्रथम कविता-पुस्तक 'आरती' निकली है, जिसकी शिखाओं में शीतल रश्मि है। सुपरिचित कवि प्रोफेसर श्यामनन्दन प्रसाद, एम्० ए० 'किशोर' की नई कविता-पुस्तक (कमल, बन्धूक और सूरजमुखी) मुजफ्फरपुर के परिमल-प्रकाशन से प्रकाशित हुई है, जिसमें नामानुकूल सौरभ और सौन्दर्य है। राँची-जिले के खूँटी-निवासी श्री जगदीश त्रिगुणायत ने 'छायागान' अँगरेजी-कविताओं का हिन्दी पद्यानुवाद प्रकाशित किया

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। श्रीतारानन्द 'तरुण' (चन्द्रभवन, मकसुसपुर, मुँगेर) की स्फुट कविताओं का संग्रह 'पत्र-पुष्प' सुभाष-स्मारक-परिषद् (अरुणपुर, कुशहाँ, सहर्षा) से प्रकाशित हुआ है। श्री देवनारायण सिंह (कुलहरिया, शाहाबाद) ने प्रो० हरीश, एम्० ए० का 'सेनानी' नामक चरितात्मक काव्य प्रकाशित किया है, जिसमें बिहार-राज्य के वित्त-मंत्री डा० अनुग्रहनारायण सिंह की देशभक्ति-पूर्ण जीवनी अंकित है। श्री अजितनारायण सिंह 'तोमर' की लिखी 'अलंकार-सारावली' श्री रामलगन प्रकाशन (गर्दनीबाग, पटना-१) से प्रकाशित हुई है, जिसमें साहित्य-परीक्षार्थियों के लिए मुख्य-मुख्य अलंकारों का सोदाहरण विवेचन है। शान्ति-साहित्य-परिषद् (पहाड़ीचक, सोनपुर, सारन) से अध्यापक रामानन्द साहित्यरत्न की दो नई पुस्तकें निकली हैं—'संक्षिप्त रामायणी कथा' (बालोपयोगी) और 'अमावस्या' (१५ कहानियाँ)। श्री गिरिजा पुस्तकालय (पटना) से श्री सत्य बी० ए० का नया मौलिक सामाजिक उपन्यास (वह नीलाम हो चुकी थी) प्रकट हुआ है। श्री हरिहर-संस्कृत-कालेज (बकुलहर मठ, चम्पारन) के अध्यापक पं० केदारनाथ त्रिपाठी ने 'जन्मान्तरवाद' नामक पुस्तक लिखी है और 'आत्मतत्त्वविवेक' नामक प्राचीन न्याय-ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद कर रहे हैं। छात्र-पुस्तकालय (बुधामा, खाड़ा बुधामा, सहर्षा) के मंत्री श्री शिवनन्दन झा 'अश्क' का एक कविता-संग्रह (समाधि के फूल) प्रकाशित हुआ है और सात पुस्तकें प्रकाशनार्थ प्रस्तुत हैं—धर्मावतार महात्मा विदुर (खण्ड काव्य), मशाल (कविता-संग्रह), सारंग (गीत-संग्रह), अष्टदल (निबन्ध-संग्रह), सपनों का ताजमहल (कहानी-संग्रह), धीरे बहो गंगा (शब्द-चित्र), सहर्षा जिले की लोक-कथाएँ (ग्राम-साहित्य)। सरथा (हरनौत, पटना) के नवयुग-साहित्य-संघ में श्री रामवरण सिंह 'सारथी' के उद्योग से गणतंत्र-दिवस (२६ जनवरी) को एक साहित्य-प्रदर्शनी हुई, जिसमें १७५ पत्र-पत्रिकाएँ प्रदर्शित की गईं, जिनमें तीन हस्तलिखित पत्रिकाएँ थीं। बक्सर (शाहाबाद) के पुस्तक-मन्दिर से श्री सिद्धनाथ कुमार, एम्०-ए० लिखित 'सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक' नामक सुन्दर पुस्तक निकली है, जिसके विषय में प्रो० रामचन्द्र महेन्द्र ने लिखा है—'रेडियो-टेकनीक की उत्तम जानकारी, काव्यसृजन की सामर्थ्य, नाटकीयता और वर्त्तमान युग की वास्तविकताओं के लिए सिद्धनाथजी के नाटक बड़े सफल रहे हैं; उनमें अनुभूति की गहराई और मार्मिक व्यंग्य है।' श्रीविश्वम्भर 'मानव' ने भी लिखा है—काव्यरूपकों के लिखनेवालों में सुमित्रा-नन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, सिद्धनाथकुमार, गिरजाकुमार माथुर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी कृतियाँ जीवन की मार्मिक घटनाओं पर आधारित होने के कारण हृदय को सीधे छूने की शक्ति रखती हैं। छायावादी कल्पना के इन्द्रजाल से मुक्त कर ठोस जीवन की ओर मोड़ने में इनका बहुत बड़ा हाथ रहेगा।' पुस्तक के आरम्भ के चौदह पृष्ठों में लेखक का 'अपना दृष्टिकोण' पढ़ने योग्य है। बिहार के यशस्वी कथाकार राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह पर एक पुस्तक (व्यक्तित्व और कला) श्री ओंकार शरद ने लिखकर लहर-प्रकाशन (२, मिण्टो रोड, प्रयाग) से निकाला है। भारत-सरकार के शिक्षा-विभाग ने बिहार के दो ख्यातनामा साहित्यकारों को पुनः पुरस्कृत किया है। श्री दिनकर जी की बालोपयोगी

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By,SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कविता-पुस्तक 'मिर्च का मजा' और श्री बेनीपुरी जी की बालोपयोगी गद्य-रचना 'बेटे हों तो ऐसे' के लिए पाँच-पाँच सौ रुपये मिले हैं। श्री बेनीपुरी-ग्रन्थावली का दूसरा खण्ड (नाटक-संग्रह) शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। चाणक्य-प्रकाशन, (देवेन्द्रनाथ लेन, पटना-४) से श्री रामदेव द्विवेदी 'अलमस्त', एम्० ए० का कविता-संग्रह (उदयन) वसन्तपंचमी के दिन प्रकाशित हुआ है। इसमें कवि की भोजपुरी रचनाएँ भी हैं। स्थानाभाव के कारण, बिहार की पत्र-पत्रिकाओं पर आगामी मासिक अंक में लिखा जायगा। —शिव०

वर्तमान काल में प्रबंध-काव्य की सार्थकता

हिन्दी में आज भी बहुतेरे प्रबंध-काव्य लिखे जा रहे हैं, और वे छप भी जाते हैं पर क्या माना जा सकता है कि वे पहले की तरह आज भी सार्थकता रखते हैं ?

हिंदी में जो वाक्यांश उत्थापित समस्या में सन्निविष्ट है उसीसे एक हदतक समाधान भी हो-सा जाता है, अर्थात् दूसरी भाषाओं में—अवश्य जो उन्नत और समृद्ध हैं—खंडकाव्यों और महाकाव्यों का अभाव है। तो क्या उन भाषाओं के काव्य कम समृद्ध हैं ? क्या उनमें प्रबंध-काव्यों की सार्थकता अनुभव करने वाले कवि हैं ही नहीं ?

इस संबंध में मैं स्पष्ट कह दूँ कि प्रबंध-काव्य से जिन काव्यात्मक रूप-विधानों का संकेत होता है और जिनके दृष्टान्त हिंदी में मिलते हैं, वे हिन्दी की अपरिपक्वता के प्रमाण हैं। ग्रीक और लैटिन और संस्कृत में उनके प्रकृत प्राचीन रूप की सार्थकता थी, और वे उन भाषाओं के काव्यों की प्रौढ़ता के परिचायक भी थे। किन्तु हिन्दी काव्य समय की जिस दूरी पर पहुँच चुका है वहाँ काव्य के इस रूप की, उसकी अनेक अन्य विशेषताओं की तरह, कोई भी सार्थकता नहीं है।

प्रबंध-काव्य के अंतर्गत महाकाव्य भी आता है और एक आधुनिक आलोचक E. M. W. Tillyard ने The English Epic & its Background नामक अपनी पुस्तक में ठीक ही कहा है कि महाकाव्य सर्वाधिक गौरवपूर्ण साहित्यिक रूप (the noblest literary form) होता है, किंतु प्रश्न तो यह है कि क्या प्राचीन महाकाव्यों के पुराने साँचे में ही आज के प्रबंध-काव्य को हम ढालते चलें ? अवांछनीय यही है और इस दृष्टि से 'कामायनी' से लेकर 'कुरुक्षेत्र' तक जो कुछ लिखा गया है वह निरर्थक सिद्ध हो जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि आज प्रबंध-काव्य लिखे ही न जायँ या कि उनकी कोई भी सार्थकता नहीं है। छोटे पैमाने पर Wasteland और बड़े पर Cantos और Pisan Cantos प्रबंध-काव्य ही हैं। लेकिन उसी तरह जिस तरह Vanity Fair भी उपन्यास है और Finnegan's Wake भी उपन्यास ही है। अँगरेजी में, आधुनिक युग में, प्रबंध-काव्य के नवीकृत रूप के अन्य दृष्टांत भी मिलते हैं, यद्यपि इस नये रूप के लेखक और पाठक दोनों ही सीमित हैं। David Jones का प्रबंध-काव्य, In Parenthesis अत्यल्प ज्ञात काव्य है, लेकिन कुछ साहित्य-मर्मज्ञों का ऐसा विचार है कि वह प्रथम विश्वयुद्ध-संबंधी सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। David Jones के नवीनतम प्रबंधकाव्य Anathemata का थोड़ा-सा परिचय दे कर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस विषय को उदाहृत करना शायद उपयोगी होगा। Anathemata का कवि उस ध्वंस (the Break) की चेतना व्यंजित करना चाहता है जो १९ वीं शताब्दी के अंत में यंत्र-क्रांति के फलस्वरूप योरप में, और अमेरिका में, बाद में, योरपनिवासियों के पहुँचने पर घटित हुई थी। यह प्रबंध-काव्य बहुत ही जटिल है। इसके दो कारण हैं—एक तो इसमें अनुस्यूत दंत-कथाएँ हैं और दूसरा है इसकी शैली। आज ऐसा एकरूप समाज लुप्त हो चुका है, जिसमें सामान्य उपासना-प्रणाली, सामान्य दंतकथाएँ (myths), सामान्य उल्लेख-शब्द रहते हैं। फलतः काव्य में अनुस्यूत दंत-कथाओं के कारण संवेदन में ऐसी बाधाएँ उपस्थित होती हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से नई हैं और जिन पर कवि का अधिकार नहीं है। आज का कवि और उसका प्रत्येक पाठक एक विशेष मनुष्य है। इनमें से कोई साधारणीकृत वर्ग-प्रतिनिधि (type) नहीं है। यह Anathemete जैसे काव्य को हृदयंगम करने में बाधक होनेवाली वस्तु-स्थिति है।

रही बात भाषा-शैली की। कवि अपने काव्य में दंत-कथाएँ तो अत्यंत प्राचीनकाल की अनुस्यूत करता है, किंतु जिस भाषा में वह सोचता है वह हमारे युग की पेचीली, व्यंग्यमय, ऐतिहासिक चेतनापूर्ण और अनौपचारिक भाषा है। इस तरह जोन्स ने एक ऐसा काव्य प्रणीत किया है जो आपाततः महाकाव्य तथा समसामयिक और ईसाई धर्मविषयक पुस्तक भी है। इसी तरह का प्रबंध-काव्य St. Jeen Perse का प्रबंध काव्य Vents है, किंतु इसमें कठोरतापूर्वक धर्म-विषयक प्रसंगों को नहीं आने दिया गया है।

बहुत संक्षेप में किसी दिन जब यह कहा गया था कि संसार में कोई भी कथा नहीं है जो महाभारत में न हो, तो वह बहुत दूर तक ठीक ही था, क्योंकि अपने यहाँ के प्राचीन नाटक, काव्यादि, कथानक के लिए, बहुधा महाभारत से ही आख्यान चुनते थे। आज हमारी चेतना पुराणों से निर्धारित नहीं है, बल्कि विज्ञान और दर्शन से है। इसलिए प्रबंध के विस्तार के साथ कवि को कुछ कहना हो तो उसके लिए पुराण का आख्यान नहीं, बल्कि जीवन ही आधार बन सकता है। लेकिन यह भी ठीक है कि लंबे-चौड़े प्रबंध-काव्य पौराणिक आख्यानों के सहारे आसानी से पद्यबद्ध कर दिये जाते हैं, और इस दृष्टि से हिंदी का मुकाबला शायद ही कोई भाषा कर सके। किन्तु, जीवन को ही प्रबंध-काव्य का आधार बनाया जा सके यह दुष्कर कार्य अवश्य है। इसके लिए कवि को दार्शनिक-चिंतक के समस्त उपकरणों से युक्त होना आवश्यक है। वस्तुतः हिंदी में कोई आधुनिक प्रबंध-काव्य लिखा ही नहीं गया है—यहाँ तक कि निराला जैसे कवि के तुलसीदास जैसे प्रबंध-काव्य से भी इस अभाव की पूर्ति नहीं होती, क्योंकि निराला ने भी आख्यान को ही पद्यबद्ध किया है, जीवन का काव्य प्रबंध-विस्तार के साथ, उपस्थित नहीं किया है। अँगरेजी में अरविन्द ने सावित्री महाकाव्य की जो रचना की है उसे एक सीमित परिधि के बाहर विशेष मान्यता नहीं मिली तो इसका स्पष्ट कारण है कि वह Paradise Lost, Paradise Regained जैसे प्रबंध-काव्यों की तरह अधिक से अधिक एक सांकेतिक-प्रतीकात्मक महत्त्व का ही अधिकारी है, जब कि संकेतों की सूक्ष्मता आज बहुत सूक्ष्म वस्तु शायद ही रह गई है।

—न० वि० श०

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हिन्दी उपन्यास

[१]

जैनेन्द्र के उपन्यास

श्री देवराज उपाध्याय, एम्० ए०

जैनेन्द्र ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को एक नवीन दिशा की ओर प्रवृत्त किया है, उसमें एक नई चेतना उपस्थित की है। उसकी परिधि को विस्तृत किया है, और साथ ही साथ उपन्यास में लचीलापन लाकर उसमें ऐसी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का समावेश किया है, जिनका उसमें अब तक अभाव था।

साहित्य के इतिहास-लेखकों में यह प्रवृत्ति होती है कि वे किसी पुस्तक के प्रकाशन-संवत् से नवीन युग का आरम्भ मानते या निश्चय करते हैं। उपन्यास-साहित्य के आधुनिकतम युग के प्रारम्भ-काल के निर्णय के हेतु बहुत से उपन्यासों के नाम गिनाये जा सकते हैं, किन्तु 'परख' का प्रकाशन हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नये, चाहें तो उन्नत भी कह सकते हैं, युग का श्रीगणेश था। हिन्दी-पाठकों ने महसूस किया कि वे एक ऐसे लेखक के सम्पर्क में आये हैं जो अन्य औपन्यासिकों से सर्वथा भिन्न है। आइए इस बात पर विचार करें।

उपन्यास से हमारा क्या तात्पर्य है? अँगरेजी में इसका पर्यायवाची शब्द है नावेल। अँगरेजी साहित्य के विख्यात औपन्यासिक और आलोचक जे० बी० प्रीष्टली ने नावेल की परिभाषा देते हुए कहा है—'उपन्यास की परिभाषा में जो दे सकता हूँ वह यही है कि वह गद्य में कल्पनाप्रसूत चरित्रों और घटनाओं के वर्णन की कहानी है।' इस परिभाषा में आप वर्णन और कहानी इन दो शब्दों पर ध्यान दीजिए। हिन्दी-साहित्य में आज तक और अँगरेजी साहित्य में बहुत काल तक—मेरीडिथ के आगमन तक—उपन्यासों में कथा की चुस्ती और दुरुस्ती, गठन के सौष्ठव और साज-सज्जा को महत्त्व दिया जाता था। जिस उपन्यास में कथाभाग जितना ही आकर्षक, रोचक और भव्य होता था, वह उतना ही उच्च कोटि का समझा जाता था। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी ने कथा-वस्तु की रोचकता को उपन्यास में मुख्य स्थान दिया है। जैनेन्द्र के पहले बहुत तो नहीं, पर कुछ प्रसिद्ध औपन्यासिक हो गये हैं—श्री किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचंद, कौशिक, निराला, विनोदशंकर व्यास, जयशंकर प्रसाद, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा आदि। इन लोगों ने उपन्यासों से भिन्न-भिन्न काम लिया है अवश्य, पर इन लोगों में एक बात निश्चय ही समान रूप से देखी जाती है। वे लाख भिन्न हों, पर वे कथाकार हैं, कथाभाग उनके उपन्यास में परिपुष्ट है। उनमें सामाजिक रूढ़ियों, देश की राजनैतिक समस्याओं और हलचलों तथा पाप और पुण्य के असली स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। कहीं बड़े ही मार्मिक और सजीव नाटकीय दृश्य भी आये हैं, पर वे सब कथा की चेरी होकर ही आये हैं, उनकी सार्थकता यही है कि वे कथा को और भी रोचक बनाने में सहायक होते हैं। परन्तु जैनेन्द्र में हम क्या देखते हैं? कथावस्तु नहीं के बराबर है। जो

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी है, वह बहुत ही उबड़-खाबड़ है, उसमें साफ-सुथरा प्रवाह नहीं है, वह चलती तो है, पर लँगड़ाती हुई, उसमें कोई क्रमिक विकास नहीं है। आपने मेंढकी को देखा होगा, वह रहती है, रहती है, बस कूद कर एक छलाँग में झट दूसरी जगह चली जाती है। उसी तरह जैनेन्द्र की कथा देखने में स्थिर है, पर दूसरी छलाँग में कूद कर दूसरी जगह, दूसरे सिरे पर। उसका अन्त बड़ा ही आकस्मिक है तथा नीरस भी कह सकते हैं। 'कल्याणी' के प्रारम्भ में जिसे उपन्यास का अंग ही समझना चाहिए, जैनेन्द्र ने कहा है, 'अन्तिम उपसंहारवाला अंश रजिष्टर में स्याही के बजाय पेन्सिल का लिखा हुआ मिला। मालूम होता है कि समाप्ति की ओर उनका धैर्य टूट गया था और झल्लाहट में उन्होंने उपसंहार द्वारा कथा का अन्त किया। लेखक वकील साहब को जानता था। इन पन्नों में वर्णित कल्याणी के बारे में भी उन्हीं के मुख से सुना था। पर यह सम्भव न मानना था कि वकील साहब के कागजों में वह कहानी लिखी तक मिल जायगी। उनके स्वभाव को देखते हुए लेखक इसको बहुत अनहोनी बात गिनता है। 'वकील साहब के द्वारा कहानी के लिखे जाने का अनहोनी होना और कुछ नहीं, जैनेन्द्र के द्वारा प्रचलित अर्थ में उपन्यास का लिखा जाना अनहोनी होना है और कुछ नहीं। उपसंहार तक आते-आते वकील साहब की झल्लाहट जैनेन्द्र की झल्लाहट है। न तो कोई योजना है और न कोई उद्देश्य। मेरीडिथ के उपन्यासों के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए आस्कर वाइल्ड ने लिखा है कि एक औपन्यासिक की हैसियत से वे सब कुछ कह सकते हैं सिवाय कहानी कहने के वही बात जैनेन्द्र के बारे में भी कही जा सकती है। यह कथा-प्रवृत्ति के प्रति उदासीनता 'परख' में ही दिखलाई पड़ने लगती है, पर ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते जाते हैं, यह बात और भी अधिक स्पष्ट होकर सामने आ जाती है। यहाँ तक कि 'कल्याणी' में आते-आते यह प्रवृत्ति इतनी स्पष्ट हो गई है कि पाठकों को झुँझलाहट-सी होने लगती है। वास्तव में कथाकारिता की दृष्टि से जैनेन्द्र हिन्दी के औपन्यासिकों में सबसे अकुशल कथाकार हैं। ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि इधर ऐसे एक-आध उपन्यास निकले हैं जिनकी मूल प्रेरणा वही है जो जैनेन्द्र के उपन्यासों में है। मसलन, श्री भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा'। पर लेखक उसमें कथा के मोहजाल से मुक्त नहीं हो सका है। यदि आप उपन्यास को साधारण साफ समझ में आनेवाली कहानी मात्र समझें तो जैनेन्द्र को औपन्यासिकों की निम्नतम श्रेणी में भी स्थान नहीं। और मैं एक बात यहाँ कहूँ, कल्याणी तक तो खैर है, पर यह प्रवृत्ति और बढ़ी, तो अवश्य जैनेन्द्र के उपन्यासों में यह एक दोष का रूप धारण कर लेगी। क्योंकि उपन्यास का चाहे कोई उद्देश्य हो, अन्तिम विश्लेषण में वह कहानी ही रहेगा। कहानी को सर्वथा छोड़ कर रचना और कुछ भले ही हो जाय और अपनी जगह पर कम महत्त्वपूर्ण किसी भी हालत में न हो, पर वह उपन्यास नहीं होगी। आगरा के मासिक 'साहित्य-सन्देश' (जून १९४०) में श्री गोपालप्रसाद व्यास ने 'कल्याणी' की आलोचना करते हुए लिखा था—'पूरा उपन्यास पढ़ लेने के बाद पाठकों को ऐसा लगता है कि इसमें कथानक का अभाव है, घटनाएँ उपन्यास को देखते हुए कम और नाकाफी हैं और ऐसा मालूम होता है कि उपन्यास लिखते-लिखते बीच में ही खतम कर दिया गया है।'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वास्तव में जैनेन्द्र जी तत्ववेत्ता, विचारक और दार्शनिक हैं। जीवन के मर्म को समझना और समझने से बढ़कर इसी जीवन में, इसी पृथ्वी पर पा लेना उनका मुख्य लक्ष्य है। जैनमतावलम्बी होने के नाते जैन दर्शन का भी उन पर, पर्याप्त प्रभाव है। उन्हें संसार के पहलू पर विचार करना पसन्द तो है, पर आँखें खोल कर से अधिक आँखें मींच कर। ऐसी दार्शनिक बुद्धि को लेकर, दर्शन के गूढ़ रहस्य को समझाने का उद्देश्य लेकर, जैनेन्द्र चले हैं उपन्यासों का साधन बनाने। ऐसी सूरत में उनके उपन्यासों में थोड़ी सी विचित्रता, और थोड़ी सी नूतनता का समावेश होना स्वभाविक ही है। उद्देश्य की विभिन्नता के साथ, मौलिक प्रेरणा के परिवर्तन के साथ, रचना के बाहरी आकार-प्रकार में अन्तर आ ही जाता है। जब हमारे हृदय में प्रेम और करुणा के भाव संचरित होते हैं, हमारे अंगों में शिथिलता आ जाती है, अंगों में पुलकावली छा जाती है। पर रौद्र भाव का उदय होते ही हमारी भुजाएँ फड़कने लगती हैं, चेहरा तमतमा जाता है, भृकुटी पर तनाव आ जाता है। यह कैसे सम्भव है कि रौद्र भाव के उदय होने पर भी हमारे अनुभाव वही रहें जो रतिभाव के संचार में रहे हैं। यदि ऐसा है तो मैं कहूँगा कि कपट है, छल है, और इसकी दवा होनी चाहिए। अतएव चूँकि जैनेन्द्र के उपन्यासों का ध्येय जीवन का संश्लेषणात्मक चित्र उपस्थित करना है उन्हें उपन्यासों से ऐसा काम लेना है, जिसमें उनकी परीक्षा नहीं हुई है, उपन्यासों को ऐसे क्षेत्रों में ला खड़ा करना है जो उसके लिए सर्वथा नवीन है, अतः हम उनकी चाल में, रहन-सहन में परिवर्तन लाना आवश्यक है, जिन में कि वे अपने उत्तरदायित्व को सफलता से पूरा कर सकें। यदि ऐसी बात न होती, तो मैं सच कहता हूँ कि जैनेन्द्र ऐसे कथाकार हैं कि अधूरापन का दोष उनके लिए अक्षम्य है। कथा की दृष्टि से उनमें इतनी त्रुटियाँ है, कि अन्य विशिष्ट गुणों के अभाव में यह उनके उपन्यासों के लिए घातक सिद्ध होती हैं।

हमें यहाँ मनोविज्ञान के सम्बन्ध-ज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार रीतिकाव्य और प्रबन्ध-काव्य की बात याद हो आती है। प्रबन्ध-काव्य में कवि के अंतःकरण की भावनाओं की अभिव्यक्ति कथासूत्र के सहारे चलती है, कथा के सहारे कवि को सुविधा रहती है कि वह जीवन और भावों की साधारण भावभूमि पर कुछ दूर तक चलता रहे। प्रबन्ध-काव्य का कवि जीवन के ऐसे साधारण और हल्के क्षणों का वर्णन कर सकता है, जिनमें हमें अन्दर से उभार लेने की सामर्थ नहीं होती, जिन्हें सहज भाव से बिना स्तब्ध किये—अन्दर से हिले बिना भी—हम देखते हुए चले जाते हैं। पर गीति तो हृदय की घनीभूत व्यथा है, उसे कथा का बल प्राप्त नहीं, वह अपनी आन्तरिक शक्ति पर ही सर उठाती है और ललकारती है। वह कहती है कम, पर उसके एक-एक शब्द न जाने कितना इतिहास कह जाते हैं। इन गीतियों के सहारे हम इतने ऊपर उठ जाते है कि पृथ्वी का सारा इतिहास हमारी आँखों के सामने आ जाता है। जैनेन्द्र वास्तव में गीति-औपन्यासिक (लीरिक नावेलिष्ट) हैं। उपन्यास के द्वारा एक ऐसी टेकनीक, रचना-प्रक्रिया का प्रादुर्भाव करना चाहते हैं कि जिसमें हमारे जीवन के उन्हीं दिव्य क्षणों की अवतारणा हो, जिनमें एक रहस्यमय क्षण, काल के

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बन्धन से मुक्त, अपने नवोद्बोधन में सिमटा रहता है। जैनेन्द्र के चारों उपन्यासों में 'सुनीता' ही एक ऐसी है, जिसमें कथा के स्वरूप की रक्षा की गई है; जिस में कथा-रस भी प्राप्त होता चलता है, पर उसमें भी प्रधानता कुछ उपात्त क्षणों के समावेश की ही है। सार सूचना यह है कि सुनीता में भी उपन्यास का जीवन उसकी कथा-वस्तु में नहीं, बल्कि उस दृश्य में है, जिसमें श्रीकान्त, हरिप्रसन्न वगैरह मीराँ नाम फिल्म देखने जाते हैं और जहाँ श्रीकान्त मीराँ के उस प्रेम की व्याख्या करता है, जिसने उसे ऐसी कठोरता दी कि पति के हृदय की पीड़ा को वह बिना पिघले सह ले। जंगल का वह प्रसंग, जहाँ सुनीता लहकते हुए हरिप्रसन्न के सामने निरावरण हो उसे पानी-पानी कर देती है। उसी तरह 'परख' में भी कट्टो, बिहारी इत्यादि के जीवन के गीत में क्षणों को ही लाकर उनके जीवन को समझने का प्रयत्न किया गया है।

ऊपर मैं कह आया हूँ कि क्या निर्वाह की दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यासों में बहुत कुछ अक्षम्य दोष हैं। उनके पात्र घटनाओं के झूले पर शून्य आकाश में झूलते हुए प्रतीत होते हैं। जैसे हम युद्ध-सम्बन्धी खबरों के ब्राडकास्ट में सुना करते थे कि हमारे हवाबाज, शत्रु के प्रदेशों पर गोलाबारी करके उन्हें नुकसान पहुँचा कर सही-सलामत घर लौट आते थे, वैसे ही हम देखते हैं कि प्रेमचन्द या प्रेमचन्द-स्कूल के उपन्यासों के पात्र सही-सलामत वापस अपने घर आ जाते हैं, पर जैनेन्द्र के पात्रों की खबर हमें संतोषजनक नहीं मिलती, उनके बारे में हमारा हृदय चिन्ता में रहता है। बात यह है कि जिस उपन्यासों की मूल प्रेरणा कथा की राह से होकर आती है, तो उनमें लेखक का एक तरह से कर्त्तव्य हो जाता है, उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह अपने पात्रों के बारे में कोई समुचित समाधान दे, उन्हें सही-सलामत अपने ठिकाने पहुँचा दे, और इस प्रकार उपन्यास का अन्त एक बहुत साफ-सुथरे और समझ में आ जाने वाले ढंग से हो। उनसे हमारे हृदय में सन्तोष तो होता है, हम चैन की साँस तो लेते हैं, पर आत्मा की गहरी तलाश और बेचैनी जागरित नहीं होती—मानो लेखक ने कोई घूँट देकर हमारे अन्दर की अनुभूति की शक्ति को सुला दिया हो, पाठकों के हृदय-शिशु को सस्ते खिलौने देकर भुलावा दे दिया गया हो और वह जिस बात के लिए अड़ा था, उससे उसका ध्यान हटा दिया गया हो। जैनेन्द्र में यह बात नहीं है। यहीं वे हिन्दी के अन्य औपन्यासिकों से अलग हो जाते हैं। वे हमारे हृदय पर क्षणिक आराम पहुँचानेवाला रूई का फाहा नहीं रखते, परन्तु आपको भीतर से जगाते हैं और कहते हैं कि तुम अपने पैरों पर खड़े हो, अपना उद्धार आप करो, दूसरों की बताई हुई मान्यताओं पर कब तक दुनिया में चलते रहने का अभिनय करोगे। देखोगे कि ये तुम्हें संकट के समय, जब तुमको सहारे की सबसे ज्यादा आवश्यकता होगी, धोखा दे देगी। अतएव, अपना पथ निर्माण स्वयं करो, अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलो। लो जीवन यह है, यही इसका रूप है, इन उपन्यासों को देख लो, पर सोचो समझो स्वयं ही। अब प्रश्न यह होता है कि जैनेन्द्र में कथा-विस्तार के प्रति उदासीनता क्यों है? उनके मानस की भावशृङ्खला में कौन-सी कड़ी है जो उन्हें कथा-विस्तार के मार्ग पर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाने से रोक रखती है ? हमारी समझ में यह उनके जीवन पर जैन दर्शन का प्रभाव है। जैनेन्द्र जी जैन धर्मावलम्बी होते हुए जैन दर्शन के सारे सिद्धान्तों को नहीं मानते, परन्तु जैन दर्शन का संस्कार उनके हृदय पर हो, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं। जैन दर्शन का सिद्धान्त है कि 'अनन्तधर्मकं वस्तु' अर्थात् 'कोई वस्तु अपने धन और ऋण अभावात्मक गुणों के कारण ही अपने वास्तविक रूप में है। मान लीजिए, एक आदमी है. उसका विशिष्ट शारीरिक संगठन, कद, रंग, परिवार, वजन, शिक्षा और संस्कार ये धन-गुण हैं; ऋण-गुण वे हैं जो उसे बताते हैं कि वह क्या नहीं है। मनुष्य को ठीक तरह से समझने के लिए जानना पड़ेगा कि वह यूरोपियन या भारतीय या मुसलमान नहीं है, स्वार्थी, मूर्ख और बेईमान नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि कोई वस्तु, यदि उस पर हम सूक्ष्म रूप से विचार में लगें, तो वह बुद्धि अतीत हो जाती है। अतएव जैन दर्शन कहता है कि जो मनुष्य एक वस्तु को जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। जिसके सामने पिण्ड स्पष्ट है उसके लिए ब्रह्माण्ड भी खुला है और यह पिण्ड में ब्रह्माण्डवाला ज्ञान केवल केवली को हो सकता है। जैनेन्द्र के ही शब्दों में इस सिद्धान्त को सुनिये—यह तो साफ है कि पैमाने किसी वस्तु को नाप कर खत्म नहीं कर सकते, यानी सब तरह से उसे पूरी तरह नाप नहीं सकते। वस्तु की अगणित सम्भावनाएँ हैं, जो पैमानों की पकड़ में नहीं आती। इस तरह हर एक चीज नाप-तोल के बाहर भी रह जाती है, नाप में वह नहीं, हमारी बुद्धि नपती है। मेज जब तक मेज है, तब तक तो आसान चीज है, पर जब उसकी विशिष्टता में न देखकर उसकी साधारणता में उसे देखना चाहते हैं तो मालूम होता है कि मेज उतनी सरल-सी चीज नहीं है। उस निगाह में मेज जरा देर में मेज तक नहीं रहती, वह लकड़ी हो जाती है। लकड़ी पदार्थ हो जाती है, पदार्थ तत्त्व हो जाता है और इस तरह जो अभी मेज थी देखते-देखते वह अणुओं का स्तूप बन जाती है और आगे चलें तो कुछ नहीं रहता, मेज हम ही हो जाते हैं' इस अवतरण से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि जैनेन्द्र के मतानुसार दुनिया का, उसके निगूढ़ सत्य को समझने के लिए, किसी आकाश-पाताल को छानने की जरूरत नहीं, हमारा सारा कार्य-व्यापार उसी सचाई तक पहुँचने का प्रयत्नमात्र है। यदि उपन्यास के मार्ग से ही उसमें उस सच्चाई को छूना तय पाया तो किसी लम्बी-चौड़ी कथा की क्या आवश्यकता है। माना कि उपन्यास में कथा का आधार आवश्यक है, तो एक छोटी-मोटी साधारण-सी बात ले लो और उसे ही आँखों में आँसू और दिल में दर्द भर देखो। वे तुम्हारे जीवन के सहारे रहस्यागार को खोलकर रख देंगी। वास्तव में लेखक के हृदय में रस का निर्झर सदा निस्सृत होता रहना चाहिए। वह है तो देखने में साधारण और अनुपयोगी, फिर भी एक बिरवा भी उसके सम्पर्क से कल्पतरु बन जा सकता है, और उसमें अपने मनोवांछित फल देने की सामर्थ भी आ सकती है।

हाँ, तो हमने ऊपर कहा कि जैनेन्द्र की कथा-वस्तु सदोष है, परन्तु साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि उपन्यास की जो गाड़ी एक सीमित और निर्दिष्ट सीमा के अन्दर ही घूम रही थी, उसके बन्धनों को तोड़कर उन्होंने वहाँ से उसे जीवन के विस्तृत क्षेत्र में ला

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रखा। उन्होंने हमें सिखलाया कि केवल घटनाओं की शृङ्खला खड़ी कर देना, एक-एक ब्यौरा भर कह देना सच्ची उपन्यास-कला नहीं है। यह तो एक इतिहास-लेखक या प्रेस-रिपोर्टर का काम हो सकता है। उपन्यास-कला घटना और दृश्य का वर्णन तो कराती है पर एक महज तटस्थ दर्शक की भाँति नहीं, जिसका उन घटनाओं और दृश्यों से कोई खास सम्बन्ध न हो, परन्तु उनकी सीमा और प्रभाव क्षेत्र में व्यवहार करनेवाले भावनाओं में रँग कर वह अपने उपन्यास की प्रत्येक घटना को अपने पात्रों की आँखों से देखता है और यही कारण कि वे घटनाएँ हमारे सामने उतने ही जीते-जागते और हँसते-खेलते रूप में आती हैं। 'त्यागपत्र' हम उठाते हैं और मृणाल के प्रति हमारे हृदय में अच्छे भाव नहीं रहते, पर जब हम उसके सामने आते हैं, हृदय को मरोड़नेवाली उसकी व्यथाभरी बातें सुनते हैं, तो हमारा मन उससे आँख मिलाने भर नहीं रह जाता। उस घटना के प्रवाह में हम इस तरह से प्रभावित हो जाते हैं कि हमें अपने अस्त्रों को डाल देना पड़ता है और परिस्थिति को सहजभाव से अंगीकार करते ही बन पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचना से हमें कुछ पता चलता है कि जैनेन्द्र ने किस प्रकार हिन्दी के औपन्यसिकों के लिए एक नये मार्ग का उद्घाटन किया है। किस प्रकार उन्होंने हमारे औपन्यासिकों को कथक्कड़ी प्रवृत्ति से छुड़ाया है। हम जान गये हैं कि उन्होंने उपन्यास के कथाभाग के महत्त्व को तो घटाया, पर साथ ही साथ कथा कहने की कला की परिधियों को आगे भी बढ़ाया। उन्होंने बताया कि कथा कहने का एक नया ढंग हो सकता है और वह यह कि हम पात्रों की मानसिक स्थिति में अपने को रखें, घटनाओं को उसी दृष्टि से देखें, जिस दृष्टि से पात्र लेते हैं, जिस तरह पात्रों को वे दिखलाई पड़ती हैं और उसी तरह उनको पाठकों को भी दिखा दें। इसका परिणाम यह होगा कि कथा और उसके पाठकों में सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। उनमें सम्पर्क की तत्क्षणता बढ़ेगी, और उसका रस अप्रतिहत गति से उसके हृदय-प्रदेश में चू पड़ेगा।

[२]

हिन्दी के जासूसी और तिलिस्मी उपन्यास

श्री बटुकदेव मिश्र

अलौकिकता और चमत्कार के प्रति मनुष्यमात्र का आकर्षण सदा से ही रहा है। महात्माओं और सिद्धों की महत्ता अथवा देवताओं देवत्व का मानदंड, अधिकतर उनकी जादूगरी की शक्ति ही रही है। यही कारण है कि साहित्य के क्षेत्र में, मनुष्य की प्राथमिक अभिव्यक्तियों का विषय भी साधारणतः अलौकिकता तथा चमत्कारों से प्रभावित है। ऋग्वेदीय शुनःशेप की कथा, सरमा-संवाद, यम-यमी-संवाद आदि में भी इसका आभास मिलता है। आगे चलकर इन्हीं के परिणत-स्वरूप हम पंचतंत्र, हितोपदेश, कथा-सरित्-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सागर आदि की कहानियाँ पाते है, जिनमें पशु-पक्षी भी आदमियों की ही तरह बोलते हैं और उन्हीं-सा आचरण करते हैं।

शासन-प्रणाली के उत्कर्ष की प्रक्रिया में, गुप्तचरों और ऐय्यारों की आवश्यकता हुई। गुप्तचरों की उपयोगिता का प्रमाण रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों, तथा तद्विषयक कहानियों और किंवदंतियों में मिलता है। कहा जाता है, भगवान् राम ने किसी गुप्तचर द्वारा प्राप्त एक धोबी-दंपति के घरेलू झगड़े की रिपोर्ट पाने के बाद ही सीता को बनवास दिया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी शासन के लिए गुप्तचरों और भेदियों की आवश्यकता पर काफी जोर दिया गया है। अलिफलैला के खलीफा हारूँ-अल-रशीद और सिंहासन-बत्तीसी या बैताल-पचीसी के राजा विक्रमादित्य का, रात में वेष बदलकर नगर में घूमना भी गुप्तचरीय कार्य की आवश्यकता का द्योतक है। यही कारण है कि ऐतिहासिक कृतियों में भी, चाहे वह मुद्राराक्षस हो अथवा रंगमहल-रहस्य; राजसिंह हो या राखाल बाबू की करुणा और शशांक, चंद्रगुप्त हो अथवा गढ़ कुंडार या विराटा की पद्मिनी, सभी जगह गुप्तचरों के वर्णन हैं।

अलौकिकता, चमत्कार, तथा गुप्तचरों के चरित्र की, पूर्वकथित परम्परा का ही स्वाभाविक विकास, हिन्दी गद्य तथा उपन्यास-साहित्य के आदिकाल में, हम किस्सा तोता-मैना, हातिमताई, बागोबहार आदि में पाते हैं। स्वर्ग तथा स्वर्ग की किन्नरियों, एवं नरक और नरक के प्रेतात्माओं के निर्माताओं के लिए, तिलिस्मों का निर्माण कठिन नहीं हो सकता। फैजी के तिलिस्म-ए-होशरुबा में, तिलिस्म की चर्चा अवश्य है, परन्तु उसका पृष्ठाधार अहिरावण जैसे दानवों की माया और उनकी माया की नगरियाँ ही हैं। अतएव, समय और परिस्थिति के अनुकूल होने पर, बाबू देवकीनन्दन खत्री द्वारा ऐयारी और तिलिस्म के श्रेष्ठ ग्रंथ चन्द्रकांता और चन्द्रकांता-संतति का निर्माण, स्वाभाविक ही है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का आदिकाल बँगला, उर्दू, अँगरेजी आदि के अनुवादों से काफी आच्छादित है। इस तरह के अनुवादों का आरंभ भारतेंदु के ही समय में हो चुका था। परन्तु भारतेंदु के समय में प्रधानतः धार्मिक, सामाजिक, तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के ही अनुवाद हुए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसीको इंगित करते हुए कहा है—'ऐसे उत्कृष्ट सामाजिक, पारिवारिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लगातार आते रहने से रुचि परिष्कृत होती रही, जिससे कुछ दिनों में तिलिस्म, ऐयारी और जासूसी (उपन्यासों) के उपरांत, उच्च-कोटि के सच्चे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचना का भी दिन ईश्वर ने दिखाया।' ऐसे जासूसी तथा रहस्यप्रधान अनूदित उपन्यासों में बाबू रामकृष्ण की ठग-वृत्तांत-माला, पुलिस-वृत्तांत-माला आदि का नाम पहले आता है। बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री की कृतियाँ भी इसी समय की हैं। ये रचनाएँ सन् १८८०-९० के बीच की हैं। श्री गोपालराम गहमरी भी उपन्यास-क्षेत्र में इसी समय पहले-पहल उतरे। स्वयं बाबू देवकीनंदन खत्री इसी काल में नरेंद्रमोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेन्द्र-वीर आदि कई ऐयारी और जासूसी उपन्यासों पर, अपना हाथ माँज चुके थे। और तब उन्होंने, प्रेमचन्द्र के मतानुसार, फैजी के तिलिस्म-ए-होशरुबा से प्रेरणा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पाकर, चन्द्रकांता तथा चन्द्रकांता-संतति की रचना की। अपनी इन दो रचनाओं द्वारा खत्रीजी ने पाठकों को ऐयारी और तिलिस्म की ऐसी बेहोशी की बुकनी सुँघाई कि एक जमाने तक किसी प्रकार का लखलखा उन्हें होश में नहीं ला सका। इन दो ग्रंथों की चर्चा कुछ ऐसी फैली कि लोगों ने केवल इन्हीं को पढ़ने के लिए हिंदी सीखी। साथ ही ऐसी पुस्तकों की माँग भी खूब हो गई। इन दो पुस्तकों ने हिंदी के न जाने कितने पाठक और लेखक उत्पन्न किये। एक जमाने तक ऐयारी और तिलिस्म की पुस्तकों का बाजार कुछ ऐसा गर्म रहा कि किसी दूसरी तरह के उपन्यासों की कोई पूछ ही नहीं हुई। इस परंपरा के ऐसे उपन्यासों के रचयिताओं और अनुवादकों में खत्री जी के सुपुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री और हरिकृष्ण जौहर के नाम उल्लेखनीय हैं। कहा तो यह भी जाता है कि अपने पिता की दूसरी प्रसिद्ध रचना 'भूतनाथ' की पूर्त्ति दुर्गाप्रसाद खत्री ने ही की है। किशोरीलाल गोस्वामी की स्वर्गीय-कुसुम, लवंग-लता, तारा, कटे मूड़ की दो-दो बातें, जिंदे की लाश आदि ऐयारी और तिलिस्मप्रधान पुस्तकें भी इस प्रसंग में स्मरणीय हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध के पहले, लगभग सन् १९१० ई० के आसपास मौलिक अध्ययन तथा अनुवादों की राह आकर, पाश्चात्त्य साहित्य के प्रभाव ने, खत्री जी के ऐयारों को जासूसों में परिणत कर दिया। ऐयारों और जासूसों के बीच कोई मौलिक अन्तर नहीं। फर्क केवल इतना ही है कि जहाँ ऐयारों में कुछ देवतत्त्व का भी आभास मिलता है, वहाँ जासूस अपने कामों में बहुत कुछ मनुष्योचित स्वाभाविकता का परिचय देते हैं। साथ ही जासूसी उपन्यासों के कथानकों में कार्य-कारण तथा पूर्वापरसम्बन्ध बहुत कुछ आधुनिकता लिये हुए हैं। परन्तु जासूसों तथा उनके सहायकों पर चलाई गई पिस्तौल की गोली, सर्वदा उनके कान के पास से सनसनाती हुई निकल जाती है, इसका सदा विश्वास करना कठिन हो जाता है। इससे कहीं अधिक विश्वसनीय तो वे ऐयार ही मालूम होते हैं, जिनके बाजीगर होने का आभास पाठकों को पहले ही दे दिया जाता है।

पाश्चात्त्य साहित्य से प्रभावित तथा अनूदित जासूसी उपन्यासों के सिलसिले में, वे उपन्यास आते हैं, जिनमें सेक्सटन ब्लेक, स्मिथ तथा उनके ब्लड-हाउण्ड-कुत्ते टाइगर, जासूस टिंकर, शेर्लाक होम्स और वाट्सन आदि की चर्चा है। गोपालराम गहमरी द्वारा बँगला से अनूदित पंचकौड़ी दे की 'मायावी' आदि रचनाएँ भी इसी वर्ग में आयँगी, जिनमें फूलसाहब, जुमेलिया और जासूस ठनठन गोपाल का जिक्र है। गहमरी जी की मौलिक कृतियों पर भी पाश्चात्त्य साहित्य का काफी प्रभाव है। इस वर्ग को अधिकांश रचनाएँ गहमरी द्वारा संपादित 'जासूस' तथा श्री रामलाल वर्मन द्वारा संस्थापित 'दारोगा-दफ्तर' नामक दो मासिक पत्रों में प्रकाशित हुई। जासूस का संपादन तो सदा गहमरी जी ने ही किया, और उसमें प्रधानतः उन्हीं की रचनाएँ प्रकाशित हुईं, मगर 'दारोगा-दफ्तर' के संपादकों तथा लेखकों की सूची में, प्रत्यक्षतः तथा परोक्ष रूप से, मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव, नरोत्तम व्यास, पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा, प्रद्युम्न कृष्ण कौल, कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय आदि का उल्लेख

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किया जाता है। श्री रामलाल वर्मन ने स्वयं भी 'दारोगा-दफ्तर' का संपादन एक समय किया था, और कुछ अच्छे उपन्यास भी लिखे थे। इस विवरण का यह अर्थ नहीं कि जासूसी उपन्यासों ने ऐयारी और तिलिस्म के उपन्यासों का लेखन तथा प्रकाशन एकदम स्थगित करा दिया; वरन् नराधम, डबल जासूस, शैतानी-चक्कर, चालाक-चोर, समुद्री-डाकू आदि जासूसी उपन्यासों के साथ-साथ मायामहल, शीशमहल, निराला नकाबपोश आदि ऐयारी और तिलिस्मप्रधान उपन्यास भी लिखे और प्रकाशित किये गये। तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य की बहुलता तथा चरित्र-चित्रण और साहित्यिकता के अभाव का आरोप आलोचकों द्वारा किया जाता है। परन्तु ऐसी आलोचनाएँ समय और परिस्थिति की उपेक्षा कर जाती हैं। बाणभट्ट की कादंबरी की लच्छेदार और पेंचीली शैली की आलोचना भी कुछ ऐसे ही कारणों से की जाती है। इन उपन्यासों में वर्णित घटनाएँ संभव हैं या असंभव, इसका भी सवाल उठाया जाता है। इसका उत्तर बाबू देवकीनन्दन खत्री स्वयं देते हैं। ऐयारों का खुलासा उनके इस कथन से हो जाता है। वे कहते हैं—'आज हिन्दी के बहुत-से उपन्यास हुए हैं, जिनमें राजदरबार के तरीके वो साभान जाहिर किये गये हैं, मगर राजदरबार में ऐयार (चालाक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफन-मौला, याने सूरत बदलना, बहुत-सी दवाओं का जानना, गाना-बजाना, दौड़ना, शस्त्र चलाना, जासूसों का काम देखना, वगैरह बहुत-सी बातें ये जाना करते थे।' संभव-असंभव का समाधान उनके इस कथन से होता है। वे लिखते हैं—'मैं नहीं समझता, यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंचतंत्र, हितोपदेश आदि बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गये, उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए लिखा गया।' ऐयारी और तिलिस्म के उपन्यासों की आलोचना करते समय खत्री जी के उपर्युक्त कथनों को स्मरण रखना नितांत आवश्यक है, और मानदंड के लिए यह परीक्षा जरूरी है कि लेखकों ने अपनी कृतियों में इन मान्यताओं की रक्षा किस हद तक की है।

इस सम्बन्ध में एक और बात स्पष्ट कर देनी जरूरी है। खत्री जी के समय को याद रखते हुए यह सवाल उठता है कि आधुनिक सोद्देश्यता अथवा साहित्यिकता के नाते, यदि वे केवल सामाजिक, धार्मिक या पारिवारिक उपन्यास ही लिखते, तो आज के हिन्दी साहित्य के विकास का क्या हाल होता। किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक और उपदेशात्मक उपन्यास भी लिखे हैं, जिनका स्मरण अब केवल इतिहास के पन्नों में ही किया जाता है। मगर खत्री जी की चन्द्रकांता, संतति, और भूतनाथ के शौकीन आज भी बहुतायत से मिलते हैं।

प्रबन्ध और शैली की दृष्टि से बाबू देवकीनन्दन खत्री की रचनाएँ खरी उतरती हैं। परिस्थितियों और कथानक के प्रसार में उन्होंने जिस उर्वरा शक्ति का परिचय दिया है, वह विस्मय-विमुग्ध कर देनेवाली है। उनका यह अंदाज किसी परवर्ती लेखक में नहीं मिलता। जादूगरी को भी उन्होंने वह कमाल दिया है कि वह असत्य नहीं मालूम होती। किशोरी-लालजी की भाषा में बहुरुपियापन अशोभन की सीमा तक पहुँच गया है। गहमरी जी की मौलिक रचनाएँ और अनूदित कृतियाँ अनेक हैं, परंतु चटपटी और जायकेदार भाषा लिखने

CC-0. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के बावजूद, वे भोजपुरी और अवधी के भोंड़े प्रयोगों से नहीं बच सके हैं। थोड़े ही संयम से वे ऐसे प्रयोगों को आकर्षक और उदाहरणीय बना सकते थे। उनकी मौलिक रचनाएँ प्रबन्ध-दोष से भी मुक्त नहीं। भाषा तथा शिल्प-विधि का दोष द्विवेदी-युग के 'दारोगा-दफ्तर' वर्ग के लेखकों में नहीं, वरन् उनमें कई तो शैली के आचार्य माने जाते हैं। इसका प्रधान कारण पाश्चात्त्य साहित्य का प्रभाव है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। सन् १९१०-२० ई० के बीच ऐसी जितनी पुस्तकें लिखी गईं, उनमें पं० चन्द्रशेखर पाठक की मायापुरी अपने ढंग की एक अनूठी तथा सराहनीय रचना है। कृति रूपकात्मक है, परन्तु उसमें जासूसी उपन्यासों की सभी मान्यताओं की पूर्ण रक्षा हो पाई है। हिन्दी में तिलिस्मी, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों की पृष्ठभूमि में ऐसी प्रतिष्ठापूर्ण परम्परा के रहते हुए भी, उनका उचित विकास नहीं हो सका। आधुनिक विज्ञान की उत्तरोत्तर विकासोन्मुख सम्भावनाओं का थोड़ा-सा पुट देकर एक-से-एक उत्तम जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों की सृष्टि की जा सकती थी। पाश्चात्त्य साहित्य में इस तरह की उत्तम रचनाएँ सम्भव हो सकी हैं। मगर हिन्दी के लिए यह आज भी सपना ही है। लगभग सन् १९३० ई० के बाद के हिन्दी के जासूसी उपन्यास का इतिहास अंधकारमय है। हिन्दी-उपन्यासों के इस अंग को प्रेमचंद तथा उनके अनुयायियों द्वारा भी काफी क्षति पहुँची है। प्रेमचंद की प्रतिभा, जो जैनेन्द्र के अभाव में हिन्दी साहित्य के अन्य अंगों के लिए भी घातक सिद्ध हो सकती थी, जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों पर वस्तुतः कुठाराघात कर गई। आज इसका यह परिणाम है कि इस क्षेत्र में हम कुशवाहा कांत और उनके अनुयायियों को ही पाते हैं, जिन्हें प्रबन्ध और शिल्प-विधि की तो बात दूर रही, परिमार्जित शैली का भी बोध नहीं। कथानकों की कुरुचिपूर्णता भी इनकी अपनी एक विशेषता है।

हम आज मात्र खेद प्रकट कर रह जाते हैं कि हिन्दी में न तो गैबेरियो, सर आर्थर कैनन डायल, चेष्टरटन, एगेथाक्रिष्टी, एडगर वेलेस, सिडनी हार्लर आदि जैसे स्रष्टा ही हैं, और न शेर्लाक होम्स, फादर ब्राउन, मोशिए पोयरो, फोर जष्ट मेन और डाक्टर थार्नडाइक जैसे मौलिक जासूस ही। इसका प्रधान कारण है योग्य प्रतिभा, अनुकूल परिस्थिति और समझदार प्रकाशकों का अभाव। जासूसी उपन्यास लिखने में कोई साहित्यिक अभिरुचिसम्पन्न अवसर-प्राप्त पुलिस का दारोगा या फौजदारी का वकील भी सफल हो सकता है। बात कुछ अधिक स्पष्ट हो सकेगी, अगर यह कहा जाय कि राहुल जी के समान लेखक भी आधुनिक काल में, जादू-का-मुल्क और सोने-की ढाल लिखकर असफल ही रहे हैं।

हमारे देश के पिछले युग आजादी की लड़ाई लड़ने में बीते हैं। इसके फलस्वरूप हमें राष्ट्रीय तथा चारणोपयुक्त रचनाओं के स्रष्टा बहुतायत से मिले हैं। शुद्ध बौद्धिक और उत्कृष्ट कलाकारों को बहुधा पनपने तक का अवसर नहीं मिला। प्रेमचंद, निराला, पंत आदि जैसे स्रष्टा हमें अवश्य मिले, परंतु सर आर्थर कैनन डायल जैसी प्रतिभाओं से तो हम वंचित ही रहे हैं। दूसरा कारण है, जासूसी उपन्यासों को हम कुछ हेय दृष्टि से देखते हैं। बोकाचियो के डिकामेरन और चासर के टेल्स का अध्ययन और अनुशीलन करनेवालों को भी तोता-मैना; और हातिमताई के किस्से अश्लील मालूम पड़ते हैं!

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्कृत-साहित्य में अनुक्तार्थ-ज्ञापन की पद्धतियाँ

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ शब्द-प्रयोग में कुछ विचित्रता लाकर ऐसे सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान कराया गया है, जो शब्द से साक्षात् रूप से भाषित नहीं हैं। अर्थ-प्रकाशन में संस्कृत भाषा की अनन्यसाधारण शक्तिमत्ता के कारण ही ऐसा संभव हो पाया है। परवर्त्ती संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार का शब्दव्यवहार लुप्त-सा हो गया है, और किसी भी अपभ्रंश भाषा में शब्द-प्रयोग का ऐसा विलक्षण गूढ़ार्थ-ज्ञापन नहीं दीख पड़ता। यह निश्चित है कि शब्दतः अनुक्त अर्थों के इस प्रकार के ऊहन के लिए उपयुक्त अनुशासन थे, अन्यथा अर्थ-निर्धारण में विपर्यास होने की आशंका बनी रहती। चूँकि शब्द-प्रयोग के इन विचित्रताओं से ज्ञापित अर्थों की प्रामाणिकता पर किसी ने आपत्ति नहीं की है, अतः सिद्ध होता है कि ये पद्धतियाँ सिद्धवत् व्यवहृत होती थीं। इन पद्धतियों की सूक्ष्मता के अध्ययन से यह भी विदित होता है कि संस्कृतभाषी समाज मेधा-प्रकर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था, अन्यथा ग्रन्थकार इन गूढ़ अर्थों को शब्दप्रयोग कर ही अभिहित करता। आज के शब्दव्यवहार में इन पद्धतियों की आवश्यकता है या नहीं, यह विचार अप्रतिष्ठ है, पर शब्दव्यवहार के ऐतिहासिक ज्ञान के लिए इन पद्धतियों का ज्ञान रखना आवश्यक है।

निबन्ध में संक्षिप्तता लाने के लिए कुछ-एक उदाहरण ही दिये जा रहे हैं। पाठक सावहित होकर लक्ष्य करेंगे कि जहाँ भी शब्द-प्रयोग के किसी नियम की अवहेला की गई है, वहाँ कुछ-न-कुछ गूढ़ार्थ का प्रकाशन किया गया है। संस्कृतशब्द-प्रयोग की महिमा का यह सर्वबलिष्ठ प्रमाण है।

(क) शब्दों में समास कर, एकपद बनाकर प्रयोग करना संस्कृत की असाधारण विशिष्टता है। समास से एकाधिक पद एकपद हो जाते हैं, तथा पदों का पृथक् बोध न होकर एकार्थीभाव का बोध होता है। समास की यह साधारण शक्ति है।

पर हम यह भी देखते हैं कि पदों का समास कर (जहाँ समास नहीं करने से कुछ दोष नहीं होता) अनेक अनुक्त गूढ़ अर्थों का ज्ञापन प्राचीन आचार्य कर चुके हैं। शब्दों से साक्षात् रूप से इन अर्थों का बोध नहीं होता, पर व्याख्याकार कहते हैं कि पदों का समास कर आचार्य ने इस सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन किया है, भले ही शब्दतः नहीं कहा। संस्कृत का शब्द-व्यवहार-सम्बन्धी यह एक असाधारण तथ्य है, जिसका दर्शन अपभ्रंश भाषाओं में नहीं मिलता। प्राचीनतम काल के भारतीयों की असाधारण मनस्विता का यह स्पष्ट विज्ञापक है। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होगी, तथा यह भी प्रमाणित होगा कि शब्दतः अनुक्त अर्थों का ऊहन 'समास' के बल पर कैसे किया जाता था।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(१) कणाद ने गुणों के उल्लेख-सूत्र[1] में कुछ गुणों का तो समास कर उल्लेख किया है, और कुछ गुणों को पृथक्-पृथक् कहा है। साधारण रूप से प्रतीत होता है कि आचार्य का ऐसा करना स्वेच्छा से या अनवधान से है, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर टीकाकारों ने दिखाया है कि कणाद ने किसी गूढ़ार्थ के ज्ञापन के लिए कुछ गुणवाचक शब्दों का समास किया है, और कुछ शब्दों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्शों का समान-कालीन रूपादिसामानाधिकरण्य नहीं है—इस गूढ़ार्थ के ज्ञापन के लिए इन शब्दों में समास किया गया है। संख्या, परिमाण आदि में यह विशिष्टता नहीं पाई जाती, अतः इनसे पृथक् रूप से उन सभी को कहा गया है।[2]

समास कर देने से और भी सूक्ष्म अर्थों का ज्ञापन स्वतः हो जाता है, इसका उल्लेख व्याकरण शास्त्र में है। यहाँ बाहुल्य के भय से उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। प्राचीन आचार्य कहते थे कि 'रामलक्ष्मणौ' कहने से यह राम, साहचर्य-सम्बन्ध नियम के अनुसार सदैव दशरथनन्दन ही होगा, पर पृथक्-पृथक् प्रयोग करने से राम शब्द परशुराम तथा बलराम का भी वाचक हो सकता है।

(ख) हमने पहले दिखाया है कि समास के बल पर प्राचीन आचार्यों ने अनुक्त सूक्ष्म अर्थों का ज्ञापन किया है। हम यह भी देखते हैं कि समास-योग्य स्थलों में समास के बिना भी सूक्ष्मार्थ का बोधन कराया गया है। शब्दतः न कहकर असमासकरण के ही बल पर ऐसे गूढ़ार्थ-ज्ञापन की पद्धति वस्तुतः अभिनव है। निम्नोक्त उदाहरण प्रणिधानार्ह हैं: —

(१) कणाद का सूत्र है—'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालदिगात्मा मन इति द्रव्याणि' (१।१५) इस सूत्र में यदि पृथिवी, अप्, तेजस आदि शब्दों का समास कर कहा जाता, तो सूत्र में शाब्दिक लाघव अवश्य होता, पर आचार्य ने लाघव के प्रति ध्यान न देकर असमासपूर्वक जो पदार्थों को पढ़ा है, वह किसी अनुक्त सूक्ष्मार्थ के ज्ञापन के लिए है। शङ्कर मिश्र ने इस तथ्य को स्पष्टतः दिखाया है। यथा—'असमासकरणं सर्वेषां प्राधान्य-प्रदर्शनाय' (उपस्कार) अर्थात् समास न कर सूत्रकार यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि सभी पदार्थ समान हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है।

कणाद के अन्य सूत्रों से भी इस प्रकार के स्थल दिखाये जा सकते हैं, जहाँ समास न कर आचार्य ने कुछ-न-कुछ गूढ़ार्थ का ज्ञापन किया है। सूत्र है—'द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च' (१।२।५)। यहाँ सभी शब्दों का समास क्यों नहीं किया गया? इसके उत्तर में कहा गया है—'द्रव्यत्वमित्यादौ असमासः परस्परं व्याप्य-व्यापक-भावाभावसूचनार्थः' (उपस्कार)। सामान्य दृष्टि से समासाभाव का कुछ रहस्य प्रतीत नहीं होता, पर देववाणी की विशिष्टता यह है कि प्रत्येक विलक्षण शब्दप्रयोग की कुछ-न-कुछ गूढाभिसन्धि अवश्य है।

१—'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुख-दुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः' (१।१।६)।

२—द्रष्टव्य—उपस्कार।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह पद्धति आचार्य पाणिनि को भी मान्य थी उनका एक सूत्र है—'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्' (५।२।४७)। यहाँ उन्होंने समास न कर ('गुणनिमाने'—ऐसा न कहकर) 'गुणस्य निमाने' ऐसा कहा है। आचार्य कैयट ने कहा है कि पाणिनि का यह व्यवहार अभिसन्धि-मूलक है, अर्थात् पाणिनि यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि यहाँ गुण का एकत्व विवक्षित है, अतः समास न कर पदों को पृथक् रखा गया है, क्योंकि समास कर दिया जाता तो गुण के एकत्व का बोध नहीं होता (प्रदीपटीका)।

इस पद्धति का एक रोचक उदाहरण गीता से भी दिया जा रहा है। श्लोक है—'ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परन्तप' (१८।४१)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ एक ही श्लोकार्ध में ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों का समासबद्ध उल्लेख है, और शूद्रों को पृथक् कर कहा गया है। एक ही वाक्यांश में इस प्रकार की विषमता क्यों है? शंकर ने इसके उत्तर में कहा है कि यहाँ कोई दोष नहीं है, प्रत्युत एक गूढ़ अभिप्राय की सूचना के लिए ऐसा शब्द-व्यवहार किया गया है (शूद्राणामसमासकरणं एकजातित्वे सति वेदेऽनधिकारात्)। सामान्य दृष्टि से प्रतीत होता है कि ऐसा शब्द-व्यवहार छन्द मिलाने के लिए किया गया है; या स्वेच्छा से, पर शङ्कर के कथन से विज्ञात होता है कि यह गूढ़ार्थ-ज्ञापन की एक पद्धति थी। (ग) कभी-कभी पदों का क्रमिक स्थापन भी कुछ सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन कराता है, जो शब्दतः अनभिहित होता है। ऐसे स्थलों में स्वेच्छा से गूढ़ार्थ-ज्ञापन के लिए ही पदों का क्रम इस प्रकार रखा गया है, ऐसा मानना चाहिए। यह पद्धति जैसे तात्त्विक या दार्शनिक वाक्यों में चरितार्थ होती है, वैसे ऐतिहासिक-तथ्य-निर्णय में भी संगत होती है, जैसा निम्नोक्त उदाहरणों से प्रमाणित होगा।

योगसूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है—'सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-ऐकाग्र्य-इन्द्रियजय-आत्म-दर्शनयोगत्वानि च' (२।४१)। इस सूत्र का अर्थ यह है कि शौच से सत्त्वशुद्धि सौमनस्य आदि होते हैं। यद्यपि सूत्र के शब्द से केवल इतने का ही अभिधान होता है, वह क्रम भी एक गूढ अर्थ के ज्ञापन के लिए है; अर्थात् सूत्रकार ने सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य आदि शब्दों का जो क्रम रखा है, उनकी उत्पत्ति भी उसी क्रम के अनुसार ही होती है, जैसा योगभाष्यकार ने दिखाया है। यह उदाहरण स्पष्ट ही दिखाता है कि शब्द-स्थापन का क्रम भी कभी-कभी अनुक्त गूढ अर्थ के लिए चरितार्थ होता है। पतञ्जलि का अन्य सूत्र (श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा-पूर्वक इतरेषाम्—१।२०) भी इस पद्धति का दूसरा उदाहरण हो सकता है, अर्थात् इस सूत्र में श्रद्धा, वीर्य आदि का जो क्रम रखा है, उनकी उत्पत्ति भी उसी क्रम के अनुसार होती है। ध्यान से अनुशीलन करने से पता चलेगा कि वह अनुमान सत्य है।

शब्द-स्थापन के बल पर गूढ़ार्थ का ज्ञापन करना आचार्य यास्क को भी मान्य था। उनका एक वाक्य इस विषय में उदाहरणीय हो सकता है, यथा—'चत्वारि पदजातानि, नाम-ख्याते च, उपसर्ग-निपाताश्च' (निरुक्त १।१)। यहाँ-चारों पदों से नाम तथा आख्यात पृथक् कर एक साथ कहे गये हैं, क्योंकि इन दोनों का वाच्य अर्थ है, निपात-उपसर्ग का नहीं है, और इस गूढ़ार्थ के द्योतन के लिए ही चार प्रकार के पदों के दो अवान्तर विभाग किये गये हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

केवल विभाजन से इतने सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन करना अपभ्रंश-भाषा में कभी दृष्ट नहीं होता।

प्राचीन आचार्यों का शब्द-स्थापन-क्रम कितना महत्त्वपूर्ण होता था, इसका एक विशिष्ट उदाहरण दिया जा रहा है। प्राचीन ग्रन्थ तथा पुराणादि में गुण या इन्द्रियार्थ के प्रसंग में जब शब्दादि गुणों का उल्लेख किया जाता है, तब सर्वत्र 'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध' या 'गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द, ऐसा ही क्रम मिलता है[1] (क्वचित् व्यतिक्रम को छोड़कर)। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ गणना का क्रम भी पदार्थज्ञान में उपादेय है, अन्यथा इस क्रम के प्रति इतना आदर सर्वत्र नहीं दीख पड़ता। सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर विज्ञात होता है कि इस क्रम में वस्तुतः पदार्थ-विज्ञान-सम्बन्धी असाधारण रहस्य है, जो निम्नोक्त प्रकार का है:—

शब्द-तरंग रुद्ध होने से ताप होता है, ताप से रूप, रूप (= सूर्यालोक) से निखिल रासायनिक द्रव्य, और रासायनिक द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण ही गन्ध-ज्ञान का उत्पादक होता है। इस जन्य-जनक-भाव की प्रक्रिया को लक्ष्य कर ही आचार्यों ने पूर्वोक्त क्रमों को रखा है। फिर शब्द-स्पर्श रूपादि पूर्वोक्त क्रम में गुणत्रय का क्रमिक उत्कर्ष भी द्रष्टव्य है, क्योंकि शब्द से लक्ष्य आकाशभूत सात्त्विक है, उसके बाद वायु आदि भूत क्रमशः सात्त्विक-राजस, राजस, राजस-तामस तथा तामस हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों में पदार्थों के स्थापन में जो क्रम रखा जाता है, वह भी किसी-न-किसी दार्शनिक या वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार ही, स्वेच्छा से या छन्द मिलाने के लिए नहीं। पूर्वोक्त क्रम में अन्य वैज्ञानिक रहस्य भी हैं, जिनके विषय में विस्तरभय से यहाँ नहीं कहा जा रहा है।

अब शब्द-स्थापन-क्रम[2] के बल पर ऐतिहासिक तत्त्व-निर्धारण के कुछ निदर्शन प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) राजशेखर ने कहा है—'अत्रोपवर्ष-वर्षौ इह पाणिनि-पिङ्गलौ इह व्याडिः वररुचि-पतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः' (काव्यमीमांसा, पृ० ५५)। यहाँ यद्यपि शब्दतः यह

१—पुराणों के अतिरिक्त यह क्रम सांख्य, योग, न्याय आदि के सूत्र-भाष्यों में तथा तन्त्रादि में भी सर्वत्र दीख पड़ता है।

२—उद्देश्य-क्रम की अवहेला से प्राचीन आचार्यों ने प्रायः कुछ-न-कुछ गूढ़ाभिसन्धि का ज्ञापन किया ही है। कणाद की तरह गोतम ने भी इस पद्धति का व्यवहार किया है। उन्होंने पदार्थों की गणना में पहले प्रमाण, उसके बाद प्रमेय, संशय आदि को रखा है (प्रथमसूत्र द्रष्टव्य है), पर पदार्थों के परीक्षा-काल में पहले संशय की परीक्षा की है, और उसके बाद प्रमाण-प्रमेय इत्यादि को। यह क्रम सहसा अविचारित जान पड़ता है, क्योंकि जिस क्रम से पदार्थ परिगणित हो, उसी क्रम से उनकी परीक्षा भी होनी चाहिए। पर व्याख्याकारों ने आचार्य के इस अनुचित-से प्रतीयमान व्यवहार की यह संगति दिखाई है कि सभी परीक्षाओं के मूल में संशय विद्यमान रहता है और इसी सत्य के ज्ञापन के लिए गोतम ने प्रमाण आदि की परीक्षा के पहले ही संशय की परीक्षा की है। (द्रष्टव्य-२।१ आह्निक के आरंभ में व्याख्यान-ग्रन्थों का विचार)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नहीं कहा गया है कि ये नाम काल-क्रमानुसार आये हैं, तथापि ऐतिहासिक अन्वेषण से हम जानते हैं कि ये आचार्य श्लोक-निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही विद्यमान थे। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन उदाहरणों से यह निश्चित रूप से विज्ञात होता है कि संस्कृत-साहित्य में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामोल्लेख में शब्दों का जो क्रम रखा गया है, वह ऐतिहासिक काल-परम्परा को ध्यान में रखकर ही, स्वेच्छा से अथवा छन्द के निर्वाह के लिए नहीं, यद्यपि इस नियम के व्यत्यय भी अवश्य ही मिलते हैं।

इस प्रसंग में हम यह कह देना चाहते हैं कि शब्दशास्त्र में ऐसे कुछ नियम हैं, जिनसे ऐतिहासिक तथ्य-निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिलती है। लेखान्तर में इसका विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

(घ) शब्द-क्रम की तरह विषयों का क्रमिक स्थापन (=प्रकरणक्रम) के बल पर भी प्राचीन आचार्य अनेक गूढ़ार्थ का ज्ञान कराते हैं। कितने ही पदार्थ ऐसे हैं, जिनका शाब्दिक उल्लेख ग्रन्थ में नहीं मिलता, पर व्याख्याकार प्रकरण के बल से उन अर्थों का ज्ञापन करते हैं। निम्नोक्त उदाहरण इस तथ्य के लिए द्रष्टव्य हैं:—

(१) वैशेषिक दर्शन में द्रव्यगणना-सूत्र (१।१।५) में द्रव्यों का क्रम पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु···इस प्रकार रखा गया है। सुतरां यह भी सिद्ध होता है कि जब इन द्रव्यों पर विशेष विचार किया जायगा, तब इसी क्रम से ही विचार होगा। यद्यपि इस नियम का पालन कणाद ने किया है, पर एक स्थान पर (२।२ आह्निक) उन्होंने पहले पृथिवी का विचार किया है, उसके बाद तेजस् का और उसके बाद अप् का। यह दोष प्रतीत होता है, क्योंकि न्याय यह है कि पदार्थों के उद्देश-क्रम के अनुसार ही उसकी व्याख्या करनी चाहिए, और गोतम आदि अन्यान्य आचार्यों से यह पद्धति समादृत भी हुई है। पर यह क्रम-भंग एक गूढ़ार्थज्ञापन के लिए स्वेच्छा से किया गया है जैसा कि उपस्कार में शङ्कर ने कहा है 'ननु उद्देश-लक्षण-क्रम-भङ्गः कुत इति चेन्न, तेजःस्पर्शस्य पृथिवी-जलस्पर्शयोः अभिभावकत्वसूचनाय तयोर्मध्ये तेजःपरीक्षाया उक्तत्वात्' (२।२।५)। यह वाक्य स्पष्ट ही सूचित करता है कि किसी गूढ़ार्थ के ज्ञापन के लिए संस्कृत के आचार्य स्वेच्छा से 'प्रक्रमभंग' रूप दोष करते थे, अर्थात् प्रक्रम-भंग करना एक पद्धति थी, जिससे किसी अनुक्त सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन किया जाता था।[1]

विषय-सम्बन्धी शब्द-क्रम-स्थापन का दूसरा उदाहरण महाभाष्य में मिलता है। शब्द का स्वरूप क्या है, इसको दिखाने के लिए पतञ्जलि ने पहले द्रव्य का उपन्यास किया है, उसके बाद क्रमशः क्रिया, गुण तथा जाति का (द्र० पस्पशाह्निक का प्रारंभिक अंश)। अर्थों का यह क्रम यद्यपि अभिप्राय-शून्य-सा मालूम पड़ता है, पर सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर

१—विषयों का क्रम-भंग कर अनेक स्थलों पर गूढ़ार्थ का ज्ञापन आचार्य पाणिनि ने भी किया है। इस विषय में अनेक उदाहरण तथा प्रमाणों का सविस्तर विचार मैंने अन्यत्र किया है [द्रष्टव्य—त्रैमासिक 'साहित्य'; पटना के वर्ष ४ के अंक २-३ में प्रकाशित 'अष्टाध्यायी के प्रकरण-क्रमों की संगति' शीर्षक मेरा लेख]।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस क्रम की भी रहस्यज्ञापकता का परिचय मिलता है। व्याख्याकार ने कहा है—"पहले द्रव्य का ही नाम लिया गया क्योंकि द्रव्य क्रिया आदि का आश्रय है, गुण के पहले क्रिया का उल्लेख इसलिए किया गया कि संयोग-विभाग आदि वैशेषिकोक्त गुण भी क्रिया ही हैं, मूलतः गुण नहीं हैं। चूँकि क्रिया और गुण जाति के आश्रय हैं, अतः क्रिया और गुण के बाद जाति का उल्लेख किया गया है।" (उद्द्योत)।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थों का उपन्यास जिस क्रम से किया जाता है, वह भी शास्त्र के बोध के लिए कुछ-न-कुछ तात्त्विक सहायता करता है, छतरां यह भी गूढ़ार्थज्ञापक पद्धति-विशेष है।

द्वन्द्वसमास में सभी पद मुख्य होते हैं, अतः पदों के क्रमिक स्थापन में बहुधा आचार्य स्वतन्त्र रहते हैं। इतना होने पर भी संस्कृत के प्राचीन साहित्य में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ द्वन्द्व समास के अन्तर्गत पदों के क्रम का विश्लेषण कर व्याख्याकार असाधारण सूक्ष्मार्थ का ज्ञान कराते हैं। निरुक्तकार के पूर्वोद्धृत वाक्य में पहले 'नाम' और उसके बाद 'आख्यात' को आचार्य ने कहा है। व्याख्याकार दुर्ग ने दिखाया है कि यह स्थापन-क्रम भी गूढ़ार्थ-विज्ञापक है, अर्थात्, चूँकि आख्यात (क्रियापद) नाम के अधीन है (आख्यातस्य नाम-पदवाच्यार्थाश्रयक्रियोपलक्ष्यत्वात्) अतः आख्यात के पहले 'नाम' को यास्क ने कहा है। ठीक इसी प्रकार की युक्ति 'उपसर्ग-निपात' रूप पदों के क्रमिक-स्थापन के विषय में दुर्ग ने दी है, जो वहीं द्रष्टव्य है।

(ङ) उद्देश-क्रम के व्यत्यय से गूढ़ार्थ का ज्ञापन भी संस्कृत-साहित्य में दीख पड़ता है। वैशेषिक सूत्र है—'गुणकर्मसु चाभावान् न कर्म न गुणाः' (१२।६)। कणाद ने अन्यत्र गुण के बाद कर्म को रखा है। यहाँ कर्म के बाद गुण को रखकर जो क्रम-व्यत्यास किया गया है, वह प्रमाद से नहीं, प्रत्युत किसी गूढ़ार्थ के ज्ञापन के लिए, जैसा शङ्कर ने कहा है—"न गुणो न कर्मेति वक्तव्ये व्यत्ययेनाभिधानं न द्रव्यमित्यपि सूचयति।'

हमें प्रतीत होता है कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य में कहीं भी यदि ऐसा शब्द-व्यवहार मिलता है, जिसमें कुछ न कुछ दोष की प्रतीति होने लगती है, तो यह जान लेना चाहिए कि उस दोष-से प्रतीयमान वाक्य का ध्येय किसी न किसी गूढ़ार्थ का सूचन ही है। प्रातिशाख्य से इसका एक प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है—"अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात् करणविन्यासात्, जायते वर्ण-वैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमात्' (२३।२)। ध्यान देना चाहिए कि पहले चार हेतुओं को कहा गया है, उनके बाद 'जायते' कहकर वाक्य की समाप्ति कर दी गई है, और उसके बाद पुनः 'परिमाण' रूप पंचम हेतु को कहा गया है। साधारण दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि सभी हेतुओं को एक साथ कहने के बाद वाक्य की समाप्ति करनी चाहिए थी। व्याख्याकार कहते हैं कि शब्द-प्रयोग की यह विलक्षणता एक गूढ उद्देश्य के ज्ञापन के लिए है, न कि ग्रन्थरचयिता की अशक्ति से ऐसा हो गया है। व्याख्याकार ने इस गूढ अभिप्राय को निम्नोक्त शब्दों में दिखाया है, यथा—'परिमाणरूपं निमित्तं तु स्वराख्यवर्णमात्रविषयमतएव तत् पार्थक्येनोक्तं तेन

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्यञ्जनानां ङकारानुस्वारादीनां कालभेदे वर्णान्यत्वं न भवति'। क्या इससे यह नहीं सूचित होता कि प्राचीन आचार्य शब्द-प्रयोग की विलक्षणता से गूढ अभिप्रायों को प्रकट करते थे, और कि यह पूर्वाचार्यों की एक सम्मानित पद्धति थी ?

(च) कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि आचार्य एक ही विषय से संबद्ध अनेक पदार्थों के उल्लेख में विभिन्न विभक्तियों का व्यवहार करते हैं। ऐसे व्यवहार से सन्देह उत्पन्न होता है कि संबद्ध सभी पदार्थों का उल्लेख समान रूप से नहीं किया गया, जबकि समता होने से श्रोता के बोध में सौकर्य होता ही है। हमारे प्राचीन व्याख्याकार कहते हैं कि इस प्रकार असमान विभक्ति से निर्देश करने से आचार्य कुछ-न-कुछ गूढ़ अर्थों का ज्ञापन करते थे, और व्याख्याकारों की वचोभंगी से पता चलता है कि गूढ़ार्थ-ज्ञापन के लिए असमान विभक्ति से निर्देश एक प्रसिद्ध पद्धति थी। एक उदाहरण लीजिए :—

गीता में कहा गया है—'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन, न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति' (१८।६७)। यहाँ श्रीकृष्ण ने अतपस्क, अभक्त तथा अशुश्रूषु—इन तीन शब्दों में तो चतुर्थी विभक्ति का व्यवहार किया, पर 'अभ्यसूयक' के लिए एक स्वतन्त्र वाक्य बनाया। वेदव्यास एक ऐसे अक्षम कवि नहीं थे कि 'अभ्यसूयक' शब्द का प्रयोग कर श्लोक-रचना नहीं कर सकते थे। वेदव्यास ने जो यहाँ असमान विभक्ति से निर्देश किया है, वह किसी गूढ़ार्थ के ज्ञापन के लिए ही है, जैसा आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में दिखाया है—'असमानविभक्तिनिर्देशः तस्य (= अभ्यसूयकस्य) अत्यन्तपरिहरणीयत्वज्ञापनाय' (गीताभाष्य)।

रामायण की तिलक टीका में भी असमान विभक्ति से विज्ञापित अर्थों पर स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला गया है, तथा महाभारतीय श्लोकों में भी इस पद्धति का प्रचुर व्यवहार है, अतः यह मानना होगा कि असमान विभक्ति का व्यवहार कर गूढ़ अर्थों का ज्ञापन करना प्राचीन आचार्यों की एक प्रसिद्ध शैली थी।

(छ) वचनों (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) के प्रयोग से भी सूत्रकारों ने कुछ स्थलों पर गूढ़ार्थ का ज्ञापन किया है। यह पद्धति प्रायः सभी शास्त्रों में दीख पड़ती है, जिससे असन्दिग्ध रूप से यह प्रमाणित होता है कि 'वचन' का प्रयोग कर अनभिहित सूक्ष्मार्थ का ज्ञापन करना संस्कृत आचार्यों की एक प्रसिद्ध पद्धति थी। पहले 'एकवचन' के बल पर किये गये गूढ़ार्थ-ज्ञापन का उदाहरण दिया जा रहा है, उसके बाद अन्य वचनों का दिया जायगा। यथाः—

गुणों के उल्लेख में (१।१।६ सूत्र) 'परिमाण' तथा 'पृथक्त्व' का उल्लेख वैशेषिक दर्शन में है। पर दर्शनीय बात यह है कि सूत्रकार ने परिमाण में बहुवचन का तथा पृथक्त्व में एकवचन का प्रयोग किया है। 'संख्या' भी गुण है, उसमें भी कणाद ने बहुवचन का प्रयोग किया है, क्या कारण है कि पृथक्त्व में बहुवचन का प्रयोग न कर (परिमाण की तरह) एकवचन का प्रयोग किया गया ? शङ्कर ने उपस्कार में इसका उत्तर दिया है, और दिखाया है कि एक विशिष्ट गूढ़ार्थ के ज्ञापन के लिए ही यहाँ एक वचन का प्रयोग किया गया है। शङ्कर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मिश्र ने कहा है—'अवधिव्यङ्ग्यत्वलक्षणं संख्यातो वैधर्म्यं सूचयितुमेकवचननिर्देशः' (उपस्कार), अर्थात् एक विशिष्ट प्रकार के वैधर्म्य की सूचना के लिए आचार्य ने एकवचन का व्यवहार किया है, यद्यपि साधारण रूप से उनको बहुवचन का व्यवहार ही करना चाहिए था।

'द्विवचन' से भी कणाद तथा अन्यान्य आचार्यों ने अनेक गूढ़ अभिप्रायों का प्रकटन किया है, जिनका साक्षात् ज्ञान शब्दों से नहीं हो सकता। पूर्वोक्त सूत्र में 'संयोग-विभागौ', 'परत्वापरत्वे' आदि पदों में द्विवचन का व्यवहार है। यहाँ द्विवचनों से जिन-जिन गूढ़ अभिप्रायों का ज्ञापन कणाद करना चाहते थे, उनका विशद उल्लेख शङ्कर मिश्र ने किया है, तथा न्यायकन्दली तथा न्यायलीलावती आदि ग्रन्थों में विद्यमान है।

कुछ स्थलों पर केवल बहुवचन के बल पर भी सूक्ष्म अभिप्रायों का ज्ञापन किया गया है। व्याकरण-शास्त्र के सूत्रों में बहुवचनों के बल पर जितने अर्थों का ज्ञान कराया जाता है, उनका विशद विवेचन मैंने लेखान्तर में किया है; [1] यहाँ साहित्य से कुछ प्रमुख उदाहरण दिये जा रहे हैं—

रामायण में कहा गया है—'मल्लोकेषु निवत्स्यसि' (१।२।३८)। लोक शब्द में बहुवचन क्यों है, इसके उत्तर में तिलक टीका में कहा गया है—'लोकेष्विति तदवयवाभिप्रायं बहुवचनम्।'

अवान्तर भेद की सूचना के लिए भी रामायण में बहुवचन का व्यवहार है। राम के विषय में कहा गया है—'दण्डकान् प्रविवेश ह' (१।१।४०)। शंका होती है कि दण्डकवन तो एक ही है, अतः बहुवचन क्यों किया गया? तिलक टीका में कहा गया है 'अवान्तर-वन-बहुत्वाद् बहुवचनम्', अतः मानना होगा कि इस गूढ़ार्थ के ज्ञापन के लिए ही यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया, यद्यपि एकवचन के प्रयोग से भी किसी प्रकार का शाब्दिक दोष नहीं होता। अनुक्त अर्थों के ऊहन में वचन की तरह 'लिंग' तथा 'साहचर्य' आदि अनेक पदार्थों की उपयोगिता है। इन सभी से जैसे अनुक्त अर्थों का ज्ञापन होता है, वैसे अर्थ-सन्देहों का भी निराकरण होता है। अप्रासंगिक होने के कारण यहाँ इन उपायों का विचार नहीं किया जा रहा है।

(ज) कभी-कभी शब्दों की पुनरुक्ति से भी असाधारण सूक्ष्मार्थ का ज्ञान कराया गया है। यों तो पुनरुक्ति को एक दोष ही माना जाता है (द्रष्टव्य—न्यायसूत्र २।१।५७; वात्स्यायन ने भी कहा है 'पुनरुक्तं च प्रमत्तवाक्यम्') परन्तु संस्कृत-साहित्य में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ शब्दों की पुनरुक्ति कुछ-न-कुछ गूढ़ार्थ-द्योतन के लिए की गई है। इस साहित्य की यह असाधारण महिमा है कि जिसको कभी दोष कहा जाता है, वह भी शक्तिमान् आचार्य के के हाथ में सगुण होकर चमत्कारजनक बन जाता है। निम्नोक्त शब्द-व्यवहार इस विषय में दर्शनीय है:—

१—Unknown senses of plural number as shown by panini= लेख द्रष्टव्य है—(Journal of the University of Bombay Vol. XXIII. Part 2)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कणाद का सूत्र है—पृथिवी कर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम्' (५।२।१२)। यहाँ तेजस् तथा वायु के साथ दो बार कर्म शब्द का व्यवहार किया गया है, और साधारण दृष्टि से यह निरर्थक भी प्रतीत होता है। पर टीकाकार कहते हैं कि कर्म शब्द की द्विरुक्ति से आचार्य इस गूढ़ार्थ का ज्ञापन करना चाहते हैं कि यहाँ कर्मसामान्य नहीं लिया जायगा, बल्कि 'कर्मशब्दस्य द्व्यावृत्तिः महोल्कादिकर्मसूचनार्था' (उपस्कार)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ केवल द्विरुक्ति से एक ऐसे गूढ़ार्थ का ज्ञापन किया जा रहा है जो यदि शब्दतः भाषित होता तो बहुत-से शब्दों का व्यवहार करना पड़ता। केवल द्विरुक्ति से इस प्रकार अनुक्तार्थ-ज्ञापन करने की पद्धति वस्तुतः विस्मयजनक है।

दूसरा उदाहरण लीजिए : मनु का श्लोक है—'धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः' (११।१६३) यहाँ सन्देह होता है कि धान्य, अन्न इत्यादि तो सब धन ही हैं, तब पुनः इन तीन शब्दों का पाठ एकत्र क्यों किया गया? भाष्यकार मेधातिथि ने कहा है कि मनु का यह विलक्षण शब्द-व्यवहार एक गूढ़ अभिप्राय के सूचन के लिए है, यथा—'धनग्रहणात् सर्वस्मिन् धने सिद्धे धान्यान्नग्रहणं सद्धान्यार्थम्'। क्या इससे यह ध्वनित नहीं होता कि पूर्वाचार्यों के शब्द-व्यवहार में दोष-निर्धारण के पहले उसकी विशेषार्थज्ञापिका शक्ति का विचार करना चाहिए?

(झ) जैसे पुनरुक्ति से गूढ़ार्थज्ञापन होता है, वैसे 'सिद्धसाधन' से भी कभी-कभी गूढ़ार्थ का ज्ञान कराया जाता है। बोध-दृढ़ता के अतिरिक्त सूक्ष्मार्थ-ज्ञान भी सिद्धसाधन रूप दोष-से लगनेवाले शब्द-व्यवहार से होता है। इसके कुछ प्रमुख उदाहरण दिये जा रहे हैं:—

गोतम का सूत्र है—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' (१।२।१)। हम जानते हैं कि न्याय के अवयवों में प्रमाण तथा तर्क का अन्तर्भाव है, अतः पुनः इस सूत्र में इन दोनों का ग्रहण पिष्टपेषण प्रतीत होता है, पर भगवान् वात्स्यायन ने दिखाया है कि क्यों गोतम ने इस प्रकार सिद्धसाधनद्योतक शब्द-व्यवहार किया है, यथा—'अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावे पृथक्प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भ-व्यतिषङ्गाज्ञापनार्थम्' (तत्रैव)। कितनी सुन्दर है गूढ़ार्थज्ञापन की यह प्रणाली!

सिद्ध-साधन से अनुक्त अर्थों का किस प्रकार ऊहन होता है, इसके लिए गीता का 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (१०।२६) श्लोक द्रष्टव्य है। 'सर्ववृक्ष' शब्द से ही जब सभी वृक्षों का ग्रहण हो गया है, तब पुनः बहुवचन देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती। आनन्द-गिरि ने इसके उत्तर में कहा है—'सर्वशब्देन वनस्पतयो गृह्यन्ते' अर्थात् यद्यपि साधारण रूप में वृक्ष से वनस्पतियों का ग्रहण नहीं हो सकता, परन्तु बहुवचन के साथ सर्वशब्द के प्रयोग से उसका ग्रहण करना भी गीताकार का अभिप्रेत है।

प्राचीनतम संस्कृत-ग्रन्थों में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। मनुस्मृति में जो 'सर्ववर्णानाम्' (१।२) पद है, उसकी व्याख्या में महाप्राज्ञ मेधातिथि ने कहा है—'वर्णशब्दश्च तिसृषु ब्राह्मणादिजातिषु वर्त्तते, सर्वग्रहणं शूद्रावबोधनार्थम्'।

(ञ) शब्दों के अग्रहण (जिसको ग्रहण करना प्रसक्त होता है, अथच ग्रन्थकार ने नहीं

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किया) से भी गूढ़ अभिप्रायों का सूचन बहुधा प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान है। योगसूत्र से इसका उदाहरण दिया जा रहा है। सूत्र है—'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः' (१।२)। सूत्रकार ने केवल 'चित्तवृत्ति' कहा है, 'सर्वचित्तवृत्तिः' नहीं कहा, अथच चित्त के सम्यक् रोध का उपदेश भी दिया जाता है, सुतरां 'सर्वचित्तवृत्तिनिरोध' ऐसा ही सूत्र सूत्रकार ने क्यों नहीं बनाया, इस प्रश्न के उत्तर में योगभाष्यकार ने कहा है—'सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते।' अर्थात् सूत्रकार सर्वशब्द का ग्रहण न कर यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि जैसे सभी चित्तवृत्तियों का रोध योग है, वैसे ही कुछ वृत्तियों का रोध भी योग है।

(ट) कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि आचार्य ने पर्यायवाची शब्दों का पाठ एक वाक्य में किया है। ऐसे प्रयोगों को दोषावह कहा जा सकता है, पर व्याख्याकारों ने दिखाया है कि पर्याय शब्दों को एक साथ प्रयोग कर आचार्य ने कैसे कुछ गूढ़ अभिप्राय का ज्ञापन किया है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आज पर्याय की तरह प्रतीत होने पर भी वे शब्द मूलतः पर्यायवाची नहीं है, जैसा गीता के रति, तृप्ति, तथा सन्तुष्टि शब्द पर विचार कर आनन्दगिरि ने दिखाया है (३।१७)। एक वाक्य में पर्याय शब्दों का प्रयोग होने से निम्नोक्त विशिष्ट अर्थों का सूचन होता है:—

(१) एक शब्द के अन्यार्थ में व्यवस्थापन, जो पाणिनि के 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) सूत्र में दीख पड़ता है। मति तथा बुद्धि पर्याय हैं, यद्यपि एक सूत्र में दोनों का प्रयोग है, सुतरां व्याख्याकार कहते हैं—'मतिरिह इच्छाबुद्धेः पृथग्ग्रहणात्' (सि०कौमुदी)।

(२) कभी-कभी पर्यायों का ग्रहण प्रपंच (=विस्तार) के लिए भी होता है (द्र० सि० कौमुदी का कारक प्रकरण)।

पर्यायवाची शब्द और उससे अर्थज्ञापन स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, अतः इसका विस्तार यहाँ नहीं किया जायगा।

(ठ) कभी-कभी 'च', 'इति' आदि अव्ययों के प्रयोग से भी सूक्ष्मार्थ का ज्ञापन दीख पड़ता है। यहाँ हम विभिन्न शास्त्रों से कुछ विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे यह बोधगम्य हो जाय कि कितने सूक्ष्म अर्थों का बोध सामान्य अव्ययों से प्राचीन आचार्य करते थे।

(१) धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में पठित है—'प्रत्यक्षमनुमानं च' (प्रथम परिच्छेद)। यहाँ टीकाकार धर्मोत्तर कहते हैं कि वाक्य में जो 'च' अव्यय है, उससे यह ध्वनित होता है कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान की तुल्यबलवत्ता है। एक 'च' से इस प्रकार के सूक्ष्मार्थ का ज्ञापन करना असाधारण मनीषा का द्योतक है।[१]

(२) 'इति' शब्द से भी प्राचीन ग्रन्थों में अनेक सूक्ष्म अर्थों का ज्ञापन किया गया है। अष्टाध्यायी के जितने सूत्रों में 'इति' शब्द हैं, उन सबकी आलोचना से यह बात सुप्रमाणित होगी कि प्राचीन आचार्य 'इति' शब्द के व्यवहार से भी गूढ़ अभिप्रायों का ज्ञापन करते थे। यह बात वैशेषिक सूत्रों में भी चरितार्थ होती है।

१—इसका विस्तृत विचार मेरे 'Senses of cha' शीर्षक लेख में द्रष्टव्य है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिन पद्धतियों से गूढ़ार्थ ज्ञापन किया गया है, उनकी एक सूची यहाँ दी जा रही है; यद्यपि यह जान लेना चाहिए कि इनके अतिरिक्त भी अन्य पद्धतियाँ प्राचीन साहित्य में दृष्ट होती हैं :—

(क) समासकरण।
(ख) असमासकरण।
(ग) शब्द-क्रम-बल।
(घ) विषयों का क्रमिक स्थापन।
(ङ) उद्देशक्रम का व्यत्यय।
(च) विभक्तियों की असमानता।
(छ) वचन-व्यवहार की विचित्रता।
(ज) पुनरुक्ति।
(झ) सिद्ध-साधन।
(ञ) प्रसक्त शब्द का अग्रहण।
(ट) पर्यायों का प्रयोग।
(ठ) अव्ययों का प्रयोग।

उपसंहार में हमें स्पष्ट रूप से यह कहना है कि आचार्यों की इन पद्धतियों के मूल में 'शब्द-लाघव-प्रवृत्ति' है। लघिष्ठ शब्दों से गरिष्ठ अर्थों का ज्ञान हो—इस उद्देश्य से इन पद्धतियों से वाक्यानुक्त अर्थों का ज्ञान कराया जाता था। लाघवप्रिय आचार्य कहते थे कि कि 'तदेव सूत्रं लघु क्रियमाणं गुणं सम्पादयति' (महाभाष्य ७।४।४७) अतः इन पद्धतियों का व्यवहार भूषण की तरह आदृत था, इसमें सन्देह नहीं।

पर, इन पद्धतियों से अर्थ-ज्ञान करने के लिए ग्रन्थाध्येता को भी अन्तर्दृष्टिसंपन्न होना चाहिए। अर्वाचीन काल में, अन्तर्दृष्टि के ह्रास के कारण, इन पद्धतियों से अर्थावधारण करना दुष्कर तथा सन्देहजनक हो गया है। आजकल यदि इन पद्धतियों का आश्रय लिया भी जाय, तो वह 'क्लिष्टकल्पना' रूप दोष ही माना जायगा। वर्त्तमान में चूँकि इन उपायों के व्यवहार से अर्थविपर्यास हो सकता है—अपेक्षित अन्तर्दृष्टि के अभाव के कारण—अतः अब इन पद्धतियों का व्यवहार न करना ही संगत है।

एक बात और। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में जहाँ-जहाँ इस प्रकार की शाब्दिक विलक्षणता है। वहाँ-वहाँ, प्रत्येक-स्थल में, आज हम सार्थकता दिखाने में असमर्थ हैं, तथा हम यह भी समझते हैं कि यदि हम अपने संस्कार के अनुसार सर्वत्र सार्थकता दिखाने के लिए अग्रसर हो भी जायँ, तो हमारा ऊहन बहुधा अप्रतिष्ठ ही होगा। अतः आज हम मनोभाव को शब्दतः अनुक्त रखकर, शाब्दिक विचित्रता से उसके ज्ञापन की अपेक्षा, उसको प्राकाश्य रूप से कहना ही अधिकतर संगत समझते हैं। फिर भी इन पद्धतियों की आलोचना सार्थक तो है ही, क्योंकि इनके ज्ञान के विना संस्कृत-साहित्य के मनीषियों के मेधा-प्रकर्ष का सुचारु परिचय नहीं मिल सकता।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राचीन साहित्य और भारत के आदिवासी

श्री रामदीन पाण्डेय

ऋग्वेद की ऋचाओं में तत्कालीन जनता के भेदों का वर्णन मिलता है। पंचकृष्टयः (ऋग् ३,२,१०,५३,१६), पंच क्षितयः (ऋग् १।६।६), पंच चर्षणयः (ऋग् ५।८६।२), पंच जनाः (ऋग् ३।३७), पंच मानुषाः (ऋग् ८।६।२) आदि शब्द आये हैं। पंच मानवाः (अथर्व ३।२१।५) भी अथर्व वेद में प्रयुक्त हुआ है।

यास्क के निरुक्त (३।८) में 'पंच जनाः' से गन्धर्वाः, पितरो, देवा, अछरा, रक्षांसि इन पाँच जातियों के आशय परिगृहीत होते हैं। मेरी दृष्टि में गन्धर्वाः पितरो देवा; ये सभी आर्यों के भेदोपभेद थे, और अछरा तथा रक्षांसि अनार्यों के।

आर्य वस्तुतः इस देश के आदिनिवासी न थे। लोकमान्य तिलक तथा श्री अविनाश आदि की खोज इस दिशा में प्रबल प्रमाणस्वरूप हैं। ये पश्चिमी तथा उत्तरी हिमघाटियों से इस देश में आये। इन्हें इस देश के आदिवासियों से पग-पग पर लोहा लेना पड़ा था। ऋग्वेद में पक्थास, भलानस, अलिनास, विषाणिनः और शिवास आदि आर्येतर जातियों के नामोल्लेख हैं। इन अनार्यों ने सुदास तथा दस राजाओं के बीच छिड़े हुए संग्राम में युद्ध-चिर्कार्षु दलों की सहायता की थी। यह युद्ध परुष्णी के तट पर हुआ था (ऋग् ७।१८)।

सुदास की सहायता वसिष्ठ करते थे तो भरतों की विश्वामित्र। अन्त में भरतों को हार खानी पड़ी थी। सायण भरतों को त्रिन्सु कहते थे। संस्कृत में भरत, कुरु, पुरु, पंचाल, कोशल आदि शब्दों को बहुवचनान्त कर देने से वे जाति-सूचक हो जाते हैं। ऋग्वेद के सप्तम मंडल में भरत शब्द का प्रयोग व्यक्तिगत राजा के रूप में न होकर विशिष्ट जनसमूह के रूप में हुआ है।

भरतों की दो शाखाएँ थीं—कुरु और पांचाल। भरत विश्वामित्र के अनुयायी थे। ओपर्ट ने भरतों को विदेशी करार दिया है। पराक्रम के सहारे वे आर्य-मंडली में प्रविष्ट हुए और पीछे आर्य बन गये। उत्तर कुरु और बाह्लीक भी भरतों में सम्मिलित थे। ओपर्ट के ये विचार सर्वमान्य नहीं हैं। मेरी दृष्टि में भरत आर्यों की एक प्रमुख शाखा का प्रतिनिधित्व करते थे।

आर्यों के बीच रहनेवाले अन्य जन-वर्ग तुर्वसु, यदु, अणु, द्रह्यु, पुरु प्रभृति थे। अज, चेदि, गांधार, कीकट, शिग्रु, उशीनर आदि भी उल्लिखित हैं। अध्यापक zimmer अणु को आर्यों में परिगणित करते हैं पर लैसेन (Lassen) और राथ (Roth) उन्हें अनार्य बताते हैं। कवस, नहुष, श्रंजय, तरुक्ष, तुग्र, वेतसु आदि नाम भी ऋग्वेद में आये हैं।

ऋग्वेद में पर्वतस्थ दुर्गों में स्थित दस्युओं से लड़ने-भिड़ने के अनेक वर्णन मिलते हैं। भारतवर्ष की ये जातियाँ आदिनिवासिनी थीं। इनके नाम पर्वत-सम्बन्धी हैं। मल्ल, मलय, गोंड़, को, कुड्ड, कुंडरु—ये सभी पहाड़ी शब्द हैं। महार, मारी, परहिया, पुलिंद, भील, बल्ल आदि भी प्राचीन जातियाँ हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आर्यों ने इनसे पग-पग पर युद्ध किया था और अपने युद्ध को चिर-स्मरणीय बनाने के लिए अपने देवों के नाम इन पराजित जातियों के साथ आबद्ध कर दिया था। मल्ल, बल, बलि आदिम निवासियों के प्रधान थे। इसलिए परवर्त्ती काल में कृष्ण मल्लारि कहलाते हैं तो इन्द्र बलनाशन और बलाराति। विष्णु को बलिध्वंसी और राम को बालिहन्ता कहते हैं।[1]

मल्लों का वर्णन अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के भारतीय अभियान में मिलता है। मुलतान या मल्लस्थान में सिकन्दर के मार्ग को मल्लों ने सफलतापूर्वक अवरुद्ध कर दिया था। महाभारत तथा बृहत्संहिता में भी मल्लशब्द प्रयुक्त हुआ है। ये आर्येतर जातियाँ पहले उत्तरापथ में रहती थीं। आर्यों के पराक्रम के सामने इन्हें झुकना पड़ा और धीरे-धीरे ये दक्षिणापथ चले गये।

अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिंद आदि भी पुरातन आर्येतर जातियाँ हैं। कुछ लोग तो इन्हें विश्वमित्र के वंशधर बताते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में पुलिंदों का उल्लेख अन्ध्र, पुण्ड्र तथा शबर आदि के साथ हुए हैं। भील मारवाड़ के आदिम वासी थे और अर्बुद पर्वत के उत्तर निवास करते थे। सिंध, राजस्थान के मरुस्थल, खानदेश तथा अहमदाबाद में भी ये रहते थे। भील, मार, तथा शबरों ने आर्यों को चिरकाल तक दक्षिण में घुसने नहीं दिया। कन्नड़ पदों में भील-कन्या से अर्जुन के व्याह की कथा वर्णित है।

इन उपर्युक्त धीर आर्येतर जातियों को आर्य ग्रंथकारों ने राक्षस, असुर, आदि की उपाधि दी थी। ये प्राचीन भारतीय आर्यों से पराक्रम, युद्धकौशल, वस्तुकला तथा शासन और संगठन में किसी प्रकार न्यून न थीं।

हरिवंशपुराण में पाण्ड्यों का वर्णन मिलता है। वीर पाण्डवों से इनका सम्बन्ध बताया जाता है। केरल, कोल, चोल और पाण्डेय—ये सभी शकुन्तलापति दुष्यन्त के वंशज बताये जाते हैं। मध्यभारत में कोल पाये जाते हैं। पुरातन भारत का नाम कोलरिया था। कर्नल विलफोर्ड, कर्नल डाल्टन, जार्ज कैंपवेल इस बात पर बल देते हैं कि भारत का पहला नाम कोलरिया ही था।[2] इन विद्वानों ने यह बात सिद्ध की है कि प्राचीन जगत् भारत को इसी नाम से जानता था। इसे कोलर या कोल-भूमि भी कहते थे। ओपर्ट को यह मत मान्य नहीं है। कन्नड़ी भाषा में कल्लर का अर्थ चोर या डाकू है। ये पर्वतस्थ आदिवासी कल्लर या दस्यु कहलाते थे।

कैंपवेल ने एशियाई जार्नल के बीसवें खंड में भारत के पुरातन भूगोल पर एक तुलनात्मक लेख प्रस्तुत किया है। उस जार्नल के २२७ वें तथा २२८ वें पृष्ठों पर आप लिखते

१—Gustav oppert सम्पादित भारत के आदिवासी—The original inhabitants of india)

२—एशियाई शोध, खंड ६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं—'भारत का सबसे पुराना नाम कोलर है। यह नाम आर्यों के आगमन के पूर्व तक प्रचलित था' इस मत का खंडन करते हुए ओपर्ट लिखते हैं—'प्लुटार्क (plutarch) ने नदियों पर एक ग्रंथ तैयार किया था (Plutarch's work on rivers)। इस लेख को ठीक से नहीं समझने के कारण भारत का नाम कोलर कहा गया है।

ग्रीक या यवनों का भारत से अतिपुरातनकाल में घनिष्ठ सम्बन्ध था। ये लोग सिन्धु को इन्दु कहा करते थे। यवनों को सिंधु और पंजाब के अतिरिक्त चिरकाल तक भारत के अन्य भागों का अधिक ज्ञान न था। इसलिए इंडिया नाम इन्दु या इंड से ही चल पड़ा है।

हिन्द, हिन्दी और हिन्दू नाम पर अवेस्ता (Avesta) का प्रभाव लक्षित होता है। सिन्धु को हिन्दू ऋग्वैदिक काल के समकालीन ईरानवाले कहा करते थे। उनके यहाँ स का ह उच्चारण होता है। इसलिए हिंद नाम हमारे देश का सिन्धु का विकृत रूप है।

विश्व के पुस्तकागार में ऋग्वेद पुरातनतम ग्रंथ है। इसमें भरत शब्द प्रयुक्त हुआ है। भरत बड़े ही शूर, वीर, बुद्धिमान् तथा नीतिज्ञ थे। अपने पराक्रम, बुद्धि, युद्धकौशल तथा नीति से वे कुरु, पांचाल आदि प्रदेशों में बौद्धिक युग ही में पांव फैला चुके थे। अन्त में वे सारे देश में फैल गये। इस जनवर्ग के अनेक राजा भी भरत नामधारी हुए। अतः इस जनसमुदाय की ख्याति के कारण ही देश का नाम भारत पड़ा।

मेघदूत में वेदान्त-तत्त्व

श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव, साहित्याचार्य

'मेघदूत' प्रकृति-परी का मात्र किलकिञ्चित ही नहीं, वरन् इसकी रचना में कवि का एक विराट् उद्देश्य अन्तर्निहित है। वह विराट् उद्देश्य है, भुक्ति और मुक्ति के साथ प्रीति-समन्वय, जिसका संकेतक है शिवपुरी अलका में कामरूप पुरुष का संदेशवाहक बनकर जाना। काम और मोक्ष, दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व हैं। फिर भी, मेघदूत में दोनों का सामंजस्य-चित्रण इस कवि-प्रतिभा की मौलिकता की महत्ता का सुवर्ण-संकेत है। काम-पंक से चित्त-पंकज को ऊर्ध्वमुखीन करने के लिए शिव की साधना अपेक्षित है, क्योंकि कामाधीन व्यक्ति ज्योतिष्पथ के द्वार तक भी नहीं पहुँच सकता। अथच, विना शिव की उपासना के कामदाह से उद्धार पाना दुस्तर है। कामानल की दहकती लपटों को सहने की शक्ति किसी इन्द्रिय-देवता में नहीं है। यदि शिव काम-विष की ज्वाला का पान न करें तो समग्र इन्द्रियदेव उसकी लपटों में झुलस जायँ, भस्मावशेष हो जायँ।

मानव-शरीर में जिस समय आसुरी वृत्तियाँ उद्ग्रीव होती हैं, उस समय उसके शरीरस्थित जलतत्त्वात्मक रेत (रेतका सम्बन्ध जल से है—'आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।' ऐतरेयोपनिषद् १।२।४) गरलज्वाल बन कर इन्द्रियों के तेज को क्षीण-हीन कर देता है। अतएव एकमात्र शिवोपासक ही आसुरी वृत्तियों के दमनार्थ अपने रेत (जल) को अमृततत्त्व

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में परिणत कर अपनी इन्द्रियों को ओजस्वी, तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी गुणों से सम्पन्न बनाने में समर्थ होता है। कामदेव का समस्त व्यक्तित्व आपाततः भोगप्रधान है। महाशन है, महापाप्मा है। काम की त्रिभुवनातिग निरंकुशता के निर्मूलन के लिए मदनान्तक ही एक समर्थ देवता हैं।

'मेघदूत' की स्थूल कथावस्तु में कालिदास ने बड़ी निपुणता के साथ 'शिव' की स्थापना की है। मेघदूत में हिमालय, कैलास और उज्जयिनी के वर्णन-प्रसंग में कवि ने महादेव-परिवार का सांगोपांग और चमत्कारपूर्ण चित्रण किया है। उज्जयिनी में महाकालेश्वर महादेव के पुण्यधाम का वर्णन अद्भुत है। शिवगणों, शिव के शितिकण्ठत्व गुण, सद्योहत गजासुर के रक्ताक्त चर्म-परिधान के साथ उनका नृत्य और अट्टहास, उनके प्रमुख आयुध त्रिशूल, प्रमुख आभूषण सर्प और क्षार, जटाओं में कल्लोलित गंगा और पार्वती के साथ गंगा का सपत्नीत्व, पार्वती के साथ विहार, कुबेर के साथ मैत्री, किन्नरियों द्वारा यशोगान, त्रिपुरविजयकालीन वृषभ, त्रिनयन, ललाटस्थ चन्द्र-कला, कुमार कार्तिकेय और उनकी पूजा और वाहन मयूर आदि का विशद वर्णन है। शिव का ही अत्यादित्य तेज हुतवह-मुख में संचित होकर कुमार रूप में प्रकट हुआ है।

स्कन्द-जन्म के रहस्य की ओर संकेत करते हुए कालिदास ने लिखा है—

"तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गा-जलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना—
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥" (पूर्व०, ४३)

अर्थात्, हे मेघ, अपने को पुष्पवर्षी (मेघ के कामरूप होने के कारण उसका पुष्पवर्षी होना भी सम्भव है) बनाकर स्वर्गङ्गा के जल से सिक्त फूलों के धारासारों से, वहां देव-गिरि पर सदा बसनेवाले स्कन्द को स्नान कराना। वह स्कन्द नवचन्द्रशेखर भगवान् शिव के अग्निमुख में संचित उस सूर्याधिक तेज का प्रतीक है, जिसे उन्होंने देवसैन्यों के रक्षाकार्य में प्रयुक्त किया था।

तो, यह स्कन्दकुमार शिव का ही संचित तेजःपुंज है। देवसेना स्कन्द-पत्नी के रूप में कोषविख्यात है। इन्द्रियों की सात्त्विक और तामसिक वृत्तियों का द्वन्द्व ही देवासुर-संग्राम है। सात्त्विक इन्द्रियाँ अपने पराजय-क्षण में शिव से सेनापति की प्रार्थना करती हैं। ('तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये', कुमारसंभव २।५१)। देव-प्रार्थना पर ही द्रवित होकर शिव मदन-दहन करते हैं और तब पार्वती के साथ विवाह कर षडानन कुमार के सृष्टिकर्त्ता बनते हैं। मदन-दहन शिव ने इसलिए किया कि वे योगी थे। योगशास्त्रों में वर्णित षट्चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र) में, पाँच चक्रों को सिद्ध करने के बाद योगी को कामेच्छा पर विजय प्राप्त होती है। रूप और सौन्दर्य का प्रलोभन उसके चित्त से निर्गलित हो जाता है। छठा आज्ञाचक्र से ऊपर पहुँचने पर तो योगी मुक्त हो जाता है। आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रदल कमल है, जहाँ स्वयं शिव विराजमान रहते हैं।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुमार-जन्म शिव के स्कन्दित तेज से होता है। यह शिवतेज पार्वती रूप सुषुम्णा नाड़ी में निक्षिप्त होकर, षट्चक्रों द्वारा पुष्ट और पालित होते हुए स्कन्द-जन्म का कारण बनता है। अतः स्कन्द को 'षाण्मातुर' कहा गया है।

शिवयोगी के द्वारा स्कन्दजन्म काम-विजय का ही कल्याणोद्देशक रूपान्तर है। स्पष्ट है कि जगत्कल्याण की स्थापना के लिए काम-कीलन अनिवार्य है। यक्ष-यक्षिणी का सृष्ट्यैकलक्ष्य मिलन तभी संभव है, जब चित्रकूट का कामस्वरूप मर्त्य-मेघ अलका में दिव्य-शिवत्व को प्राप्त कर लेता है।

स्थूल शरीर-संघटना के कार्य में जीवन-तत्त्व के अधिष्ठान को समझाने के लिए सुषुम्णा आदि संज्ञाएँ व्यवहार्य होती हैं और उसी वर्णन की आध्यात्मिक स्वरूपता के लिए शिव, पार्वती, कुमार आदि संज्ञाओं की कल्पना द्वारा योग के प्रत्यक्षीकरण को शाब्दिक रूप दिया जाता है। परम शैव कालिदास का इंगित शिव, पार्वती, कुमार आदि शब्दों द्वारा उसी तन्त्र-तत्त्वों की ओर प्रतिफलित है। कालिदास का यक्ष अपनी काम-शान्ति के लिए जाग्रद्विवेक है, इसलिए वह जिस मेघ में दूत की कल्पना करके अपने काम-हाहाकार को व्यक्त करता है उसको बराबर शिव-प्रसन्नता की ओर ध्यानस्थ होने का परामर्श है :

"तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्द्धेन्दुमौलेः।
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः।
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥
शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥" (पूर्व०, ५५-५६)

शिव-प्रसन्नार्थ मेघ के लिए निम्नमुद्रित प्रकार के आचरण अनिवार्य हैं :

वह भक्तिनम्र होकर शिव-चरणन्यास की परिक्रमा करे, अपने मृदंग-मन्द्र स्वर में पशु-पति की संगीत-सज्जा को पूरा करे, काम का निग्रह करनेवाले शिव, काम से तभी प्रसन्न होकर उसे कैलासवास देंगे। यहाँ हिमालय से मेरुदण्ड की ओर संकेत है और पार्वती से सुषुम्णा की ओर। मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्णा रहती है। मेरुदण्ड में छह चक्रों का अधिष्ठान है। सुषुम्णा के बाईं ओर इड़ा और दाईं ओर पिंगला नाम की नाड़ी है। सुषुम्णा से सम्बद्ध पिंगला नाड़ियाँ सहस्रजाल में फैलती हुई अन्त में कपालस्थ आज्ञाचक्र में मिल जाती हैं। मेघदूत इसी वेदान्त-तत्त्व के प्रतिपादन का मनोहर काव्य-प्रतीक है।

मेघदूत में योग-पक्ष का मानस-दर्शन करने से योगशास्त्र के इस रहस्य का उद्घाटन होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड की चित् शक्ति के रूप में परिव्याप्त अक्षर तत्त्व ही शिव हैं, जो सहस्रारदल में प्रतिष्ठित हैं। त्रिकोणात्मिका (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) शक्ति, मूलाधार के शक्ति-पीठ में सुस्थित होकर व्यक्ति की शक्ति को सचेतनता की ओर प्रचोदित करती रहती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यही त्रिकोणात्मिका शक्ति त्रिपुर है। इनकी मध्यवर्त्तिनी शक्ति त्रिपुरसुन्दरी के रूप में ख्यात है। इसी त्रिपुर या त्रिकोण को वलयित कर निष्कम्पज्योति शिखा-सी शान्त बसनेवाली शक्ति की शाब्दिक कल्पना 'सर्पिणी' के रूप में की गई है। शिव के शरीर के विषधरावलयित रहने का यही रहस्य है। मूलाधार में यह शक्ति-सर्पिणी शिव-ज्योति के चारों ओर वलयित रहती है। परन्तु आज्ञाचक्र में शिव-पार्वती (शिव-सुषुम्णा) के संयोग होने पर कुण्डलिनी का वलयन खुल जाता है—बन्धन मुक्त हो जाता है। शिव सर्पवलय को त्याग देते हैं। इसी त्रिपुर की विजय के कारण त्रिभुवनगुरु शंकर को त्रिपुरविजयी कहा गया है। कवि कालिदास ने भी इस तत्त्व की ओर सूत्र-संकेत किया है:—

"संसक्ताभि 'स्त्रिपुरविजयो' गीयते किन्नरीभिः।" (पूर्व०, ५६)

× ×

"हित्वा तस्मिन् 'भुजगवलयं' शम्भुना दत्तहस्ता॥" (पूर्व०, ६०)

कैलास-प्रणयी की गोद में स्रस्तगंगादुकूला अलका का वर्णन करते समय शिव-महिमा-वर्णन-प्रसङ्ग में कवि ने लिखा है :

"मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।" (उत्तर०, १०)

अर्थात्, वहाँ अलका में धनेशमित्र शिव का साक्षात् निवास जान कर काम ने अपने भ्रमर-प्रत्यञ्च चाप का प्रयोग छोड़ दिया है। कारण, आज्ञाचक्र में काम-प्रवेश का सर्वथा अलंघ्य निषेध है। 'हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्' (पूर्व०, ५७)। योगी योग-साधना के समय प्राणायाम में लीन रहता है। प्राणायाम के पराकाष्ठा प्राप्त करने पर प्राण षट्चक्र का भेदन करते हुए कपालस्थ जिस रन्ध्र से निकल कर शिव में विलीन हो जाते हैं, कवि ने उस रन्ध्र-द्वार को 'क्रौञ्चरन्ध्र' कहा है। कुण्डलिनी शक्ति जागरितावस्था में मूलाधार से शिवाज्ञाचक्र में जाते समय इसी रन्ध्र से होकर जाती है। भृगुपति ने इस रन्ध्र का दारण किया था (भृगुपति-यशोवर्त्म)। भृगुपति, कुमार और शिव, ये सभी चैतन्य के अपरपर्याय हैं, जिन्हें कालिदास ने मेघदूत में अपनी प्रतिभा के बल पर काव्य-प्रतीक के सरस चित्र के रूप में संकेतात्मक रीति से उपस्थित किया है। शिव के अट्टहास की ओर संकेत करते हुए कालिदास ने लिखा है कि क्रौञ्चतट के आगे जो कैलास खड़ा है, वह त्रिलोचन शिव का पुञ्जीभूत अट्टहास है। योग-साधना के लिए प्रारंभित नृत्य की सिद्धि होने पर महादेव चण्डाट्टहास करते हैं।

"हित्वा तस्मिन् भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
क्रीड़ाशैले यदि च विचरेत् पादचारेण गौरी।
भंगीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी॥" (पूर्व०, ६०)

अर्थात्, जब शिव के सर्पवलयविरहित हाथ में हाथ दिये पार्वती क्रीड़ाशैल पर पैदल घूमती हों, तो मेघ, तुम अपने जलौघ को (हिम के रूप में) अन्तःस्तम्भित कर अपने हिम-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शरीर को सोपान-परम्परा जैसा बना देना, (मेघ को बर्फ की सीढ़ी के रूप में देखना कितना चमत्कारपूर्ण है !) जिससे वे तुम्हारे सोपान-शरीर पर पैर रखकर मणितट पर आरोहण कर सकें।

प्रस्तुत श्लोक में कालिदास ने जिस योग-परिभाषा 'मणितट' की ओर इंगित किया है, उसका योग-ग्रन्थों में सविस्तर और विशद वर्णन पाया जाता है। तंत्र-योग-ग्रन्थों में विशेषतया पादुका-पंचक में 'मणिपीठ' की महती महिमा का उल्लेख है। मानव-ब्रह्माण्ड में अग्नि के त्रिकोणयन्त्रस्थित 'रं' बीजात्मक मन्त्र के समान, त्रिकोणमध्यस्थित एक मणिपीठ है। उस पर महोज्ज्वल रजताद्रि के समान जगद्ब्रह्म परमपुरुष शिव सुशोभित हैं, जिसके साथ परमा प्रकृति पार्वती आ मिली हैं। शंकर-पार्वती के चरणन्यास से पवित्रपीठ होने के लिए ही मेघ को यक्ष का परामर्श है कि वह 'स्तम्भितान्तर्जलौघ' होकर शिव-शिवा के मणितट-आरोहण के लिए सोपान-श्रेणी बन जाय।

देवताओं ने शिव के क्रीड़ार्थ कैलास (रजताद्रि) और सुमेरु (कनकाद्रि) मन्दर और गन्धमादन पर्वत बनाये थे, इसलिए उन्हें क्रीड़ाशैल कहा जाता है।[1]

मेरु से मेरुदंड की ओर निर्देश है तथा उसीके समीपवर्त्ती क्रीड़ाशैल कैलास का, उसके साथ परस्पर सम्बन्ध बताया गया है, जो शिव का क्रीड़ास्थल है। 'केलि' शब्दपूर्वक आस् धातु से अच् प्रत्यय करने पर 'कैलास' बना है। (केलीनां समूहः कैलम् तदर्थं आस्यते उपविश्यते यत्र स कैलासः) विभिन्न क्रीड़ाओं के लिए जहाँ बैठा जाय। उसी कैलास पर जहाँ एक ओर यक्ष, गन्धर्व, किन्नर सिद्ध, चारण आदि सभी विभिन्न प्रकार के विहार-विलास किया करते हैं, वहाँ दूसरी ओर शंकर कठोर तपस्साधना में अन्तर्निलीन रहते हैं और तपःसिद्धि के बाद पुनः शक्ति के साथ विवाह करके स्कन्द-जन्म की स्थापना के लिए क्रीड़ाएँ करते हैं। तो, इस प्रकार विश्व के अधिष्ठानस्वरूप पार्श्वी मेरु या मेरुदंड का मूलाधार-चक्र में कीलित जो भाग है, उसे 'चित्रकूट' कहा गया है। चित्रा या चित्रिणी, सुषुम्णा का ही अपरपर्याय है। यह मूलाधार चक्र के आधार पर प्रतिष्ठित है। वस्तुतः 'चित्रा' का कूट ही वह चित्रकूट या रामगिरि है, जहाँ से कामपुरुष मेघ क्रमशः उत्थानमार्गी होता हुआ कैलासाङ्कविहारिणी अलका को पहुँच जाता है। जहाँ साधकों को चन्द्रकलानिस्यन्दिनी सरस सुधा के तरल आस्वाद का मधुरमोद मिलता है, इसलिए कवि ने उन्हें 'नवशशिभृत्' कहा है—'रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनाम्।' इस प्रकार 'मेघदूत' में कवि ने सरस रूपक द्वारा काम का शिव के साथ विलीनीकरण कराके 'शिवोऽहं' की अद्वैतवादिता की अखण्ड स्थापना की है।

इसी प्रकार, शिवत्व की प्रतिष्ठा की ओर भी कालिदास ने स्वस्थ वस्तु-निर्देश किया है। कालिदास अखण्ड अद्वैतवादी थे। वेदान्त-ब्रह्म को वे 'शिव' मानते थे। ब्रह्म की वैदिक संज्ञा शिव है:—

१—क्रीड़ाशैल के विषय में आलोचक मल्लिनाथ ने उद्धरण दिया है—

कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः।
क्रीडार्थं निर्मिताः शम्भोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन्॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च ।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥" यजु० (१६।४१)

कालिदास को प्रत्येक रचना में शिवकी अखंड सत्ता का नैरन्तर्य गुणगान, गूँजा किया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ रूपों में विभाजित प्रकृतिवाले शिव अज, अव्ययात्मा, स्वयम्भू, अष्टमूर्ति आदि पर्यायों में परम-प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म की सत्ता स्वीकारते समय कवि ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवत्रय में परस्पर पार्थक्य न मानकर उन्हें एक (अद्वैत) समझा है।

योगशास्त्र में तो 'शिव' का महाविस्तर वर्णन मिलता है। पाशुपत शास्त्र का मूल सूत्र है, दुःखविनाश-प्रयोजनमूलक मोक्ष के लिए सविधि तपश्चर्या द्वारा पशुपति में चित्त की समाधि। जीव की संज्ञा 'पशु है, जो कार्यरूप है, जिसका कारण ईश्वर या पशुपति हैं। किसी शुभोदय को तभी देखा जाता है, जब कारण-कार्य का सम्यक्योग हो जाता है। इसलिए वियोगविद्धा यक्षिणी के प्रियतम यक्ष के संदेशामृत से तृप्ति रूप शुभोदय के लिए कामरूप मेघ का शिव स्वरूप कारण से संयुक्त होना अत्यावश्यक है। चित्तवृत्तियों के ऊर्द्ध्वमुखीकरण के लिए शिवात्मा के दर्शन अनिवार्य हैं। वृष (काम) के पति शिव हैं, पुरुष काम रूप है। सेवक को स्वामी की चरण-शरण का वरण करना ही चाहिए। इस प्रकार कविकोविद कालिदास ने 'शिव' स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की प्रतिष्ठा में ही कामाधीन पुरुष की सफलता का मूल्याङ्कन किया है। यही मूल्याङ्कन मेघदूत का आध्यात्मिक पक्ष है।

●

भारतीय तिथिक्रम

डा० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

(गताङ्क से आगे)

कलिसंवत्		खृष्टपूर्व
७१५	सुस्कन्ददेव	२३८६
७२५	अचल, शत्रुंजय	२३७६
७४३	सेनादित्य	२३५८
७५७	सुनीत	२३४४
७६०	मंगलादित्य	२३४१
७९७	सत्यजित, सर्वजित्	२३०४
७९९	क्षेमेन्द्र	२३०२
८६५	भीमसेन	२२३६
८८०	विश्वजित्	२२२१
९१५	रिपुंजय	२१८६
९२७	इन्द्रसेन	२१७४

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत्		खृष्टपूर्व
९६५	प्रद्योत, बार्हद्रथ वंश का अन्त	२१३६
९७३	सुन्दरसेन	२१२८
९८८	पालक	२११३
१०१२	विशाखयूप	२०८६
१०१४	जव	२०८७
१०६२	सूचिक	२०३६
१०७४	कुश	२०१७
१०८१	खगेन्द्र	२०२०
१०८३	नन्दिवर्द्धन	५८१८
११०३	शिशुनाग, प्रद्योतवंश का अंत	१९९८
११११	क्षेरेन्द्र	१९९०
११४३	काकवर्ण	१९५८
११५४	गोधर	१९४७
११७९	क्षेमधर्मा	१९३३
११९१	क्षत्रौजी	१९१०
१२०९	क्षेमवित्	१८९३
१२२६	जनक	१८७५
१२२८	शुद्धोदन; गौतम बुद्ध का जन्म	१८७३
१२४९	बिम्बिसार	१८५२
१२५८	शुचिनार	१८४३
१२९८	गालवेन्द्र	१८०३
१३००	अजातशत्रु, वर्ष	१८०१
१३०८	बुद्ध का निर्वाण; बुद्धसंवत् का आरंभ; प्रथम बौद्ध संगीति, राहुलक	१७९३
१३३२	दर्शक	१७६९
१३४३	बलदेव	१७५८
१३५७	उदयी, भास	१७४४
१३७३	अनिरुद्ध	१७२८
१३८२	मुण्ड	१७१९
१३८६	नलसेन	१७१५
१३८९	भूमिवर्मा	१७१३
१३९०	नन्दिवर्द्धन	१७११
१४११	गोकर्ण	१६९०
१४२२	महानन्दी, उपवर्ष, व्याडि, इन्द्रदत्त, द्वितीय बौद्ध संगीति	१६७९

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत्		खृष्टपूर्व
१४४७	प्रहलाद	१६५४
१४५८	बभ्रुवाहन	१६४३
१४६५	महापद्म नन्द, शिशुनाग वंश का अंत, वररुचि, पाणिनि, कात्यायन	१६३६
१४६६	मतपशील	१६३५
१५०२	संग्रामचन्द्र	१५९९
१५०३	लङ्किचन्द्र	१५९८
१५३४	विरामचन्द्र	१५६७
१५५३	सुमाल्य	१५४८
१५६५	चन्द्रगुप्तमौर्य;[1] चाणक्य	१५३६
१५७९	विभीषण	१५२२
१५९६	भगवन्त	१५०५
१५९९	विन्दुसार	१५०२
१६१०	अशोक काश्मीर की गद्दी पर	१४९१
१६२७	अशोक मौर्य मगध की गद्दी पर	१४७४
१६४१	तृतीय बौद्ध संगीति	१४६०
१६४६	जलौक	१४५५
१६५०	रामायण का अन्तिम रचनाकाल	१४५१
१६६२	कुणाल या सुपार्श्व	१४३८
१६७१	दशरथ या बंधुपालित	१४३०
१६६८	दामोदर द्वितीय	१४२३
१६८०	शुलशेखर अलवार	१४२१
१६७९	इन्द्रपालित	१४२२
१६८३	शुष्क	१४१८
१७०१	बोगजकुई-अभिलेख	१४००
१७११	जुष्क	१३९०
१७४५	कनिष्क,[2] अश्वघोष, सुश्रुत आयुर्वेद ग्रन्थ	१३५६
१७४९	हर्ष	१३५२
१७५७	सम्प्रति या संगत	१३४४
१७६१	चतुर्थ बौद्धसंगीति	१३४०
१७६६	शालिशुक	१३३५

१—मगध राजाओंकी नयी वंशावली, 'साहित्य', वैशाख, १९९५, पृ० ३७-५२;
२—'साहित्य', पटना; वर्ष ५ अंक १; पृ० ६-१८ देखें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत्		खृष्टपूर्व
१७७९	देवधर्मा	१३२२
१७८६	शतधन्वा	१३१५
१७९४	बृहद्रथ	१३०७
१७९५	अभिमन्यु	१३०६
१८२५	गोनन्द तृतीय	१२७६
१८६०	विभीषण द्वितीय	१२४१
१८८१	पुष्यमित्र, मौर्यवंश का अन्त, पतंजलि	१२२०
१९१३	इन्द्रजित्	११८८
१९४१	अग्निमित्र	११६०
१९४९	रावण	११५२
१९७९	विभीषण तृतीय; चन्द्रगोमी=चन्द्राचार्य	११२२
१९९१	वसुमित्र	१११०
२०१५	किन्नर	१०८६
२०२७	सुज्येष्ठ	१०७४
२०४४	अन्ध्रक	१०५७
२०५६	सिद्ध	१०४५
२०७४	पुलिन्दक	१०२७
२१०७	घोषवसु	९९४
२११०	वज्रमित्र	९९१
२११६	उत्पलाक्ष	९८५
२१३९	भागवत	९६२
२१४७	हिरण्याक्ष	९५४
२१७१	देवभूति	९३०
२१८३	वसुदेव, शुङ्गवंश का अन्त	९१८
२१८५	हिरण्यकुल	९१६
२२२२	भूमिमित्र	८७९
२२४५	मुकुल	८५६
२२४६	नारायण	८५५
२२५८	सुशर्मा	८४३
२२६८	सिंधुक,[1] कण्ववंश का अन्त; आंध्रवंश का आरंभ;	८३३

१—अन्यमत—विक्रमसंवत् २९ हेमचन्द्र राय चौधरी; विक्रमपूर्व १६ राम-गोपाल भंडारकर; वि० पू० १४३ रैप्सन; वि० पू० १८३ विंसेंट आर्थर स्मिथ; वि० पू० २१४ वेंकटराव। जर्नल आफ इण्डियन हिष्ट्री, भाग २७, पृ० २४३ देखें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत्		ईसवीपूर्व
२२९१	कृष्ण	८१०
२३०९	श्रीशातकर्णी	७९२
२३१९	पूर्णोत्संग	७८२
२३२५	मिहिरकुल, पंचतंत्र[1] (विष्णु शर्मा)	७७६
२३३७	स्कन्धस्तम्भी	७६४
२३४८	रोमनगर की स्थापना	७५३
२३५५	शातकर्णी	७४६
२३७५	बक	७२६
२४११	लम्बोदर	६९०
२४२९	आपीतक	६७२
२४३८	क्षितिनन्दन	६६३
२४४१	मेघस्वाती, कातंत्र व्याकरण	६६०
२४५९	स्वाती	६४२
२४६८	बसुनन्द	६३३
२४७७	स्कन्दस्वाती	६२४
२४८४	मृगेन्द्रस्वातिकर्ण	६१७
२४८७	कुन्तलस्वातिकर्ण	६१४
२४९५	पुष्पसेन	६०६
२५०७	स्वातिवर्ण, सोलन	५९४
२५०८	पुलोमानि; वात्स्यायन कामसूत्र; शूद्रक कृत मृच्छकटिक[2]	५९३
२५२०	नर	५८१
२५४४	मेघशातकर्णि	५५७
२५५१	आन्ध्र शक का आरंभ[3]	५५०
२५५८	विजयसिंह का सिंहल-विजय	५४३
२५७१	पाथगोरस	५३०
२५७४	महावीर का निर्वाण; वीरसंवत्	५२७
२५७६	अचलिश	५२५-४५६

१—संस्कृत कवियों की तिथि का आधार है—हिष्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, डाक्टर एम्० कृष्णमाचारी ऐयर लिखित, मद्रास, १९३७ ई०।

२—श्री चन्द्रबली पाण्डेयकृत शूद्रक, नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित देखें।

३—श्री थिरुवेंकटाचार्य लिखित 'अपनाश', जर्नल आफ इण्डियन हिष्ट्री, त्रिवेन्द्रम्, १९५०, पृ० १०३–१०।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत्		खृष्टपूर्व
२५७९	डेरियस प्रथम (फारस)	५२२-४८६
२५८०	अक्ष	५२१
२५८२	अरिष्टकर्णि	५१९
२५८४	साइलक्स का भारत-विजय (पश्चिम)	५१७
२५९२	रोम का गणतन्त्र	५०९
२५९३	शंकरजन्म[1]	५०८-४७६
२६०७	हाल, गुणाढ्य (सातवाहन)	४९४
२६११	द्वारका में शारदापीठ	४९०
२६१२	मन्तलक	४८९
२६१७	पुरीन्द्रसेन, हेरोडोटस	४८४
२६३२	शुकरात	४६९-३९९
२६३४	हर्षसंवत्; बखशाली हस्ताभिलेख	४५७
२६३८	शातकर्णि	४६३
२६३९	चकोरशातकर्णि	४६२
२६४०	गोपादित्य, शिवस्वाति	४६१
२६६८	गौतमीपुत्र	४३३
२६७१	महाभारत का अन्तिम काल	४३०
२६७४	प्लेटो (अफलातून)	४२७-३४७
२६९३	पुलोमा	४०८
२७००	गोकर्ण	४०१
२७१६	अरस्तू	३८५-३२२

१—(क) शारदापीठ (द्वारका) की स्थापना माघ शुक्ल सप्तमी २६११ कलिसंवत् श्री ब्रह्मस्वरूपाचार्य (=विश्वरूप जो सुरेश्वराचार्य के भ्राता थे) ने की।

(ख) ज्योर्तिमठ (बदरिकाश्रम) पौष शुक्ल पूर्णिमा २६१६=४८५ खृष्टपूर्व आनन्दगिरि=तोटकाचार्य; (ग) गोवर्द्धनमठ (जगन्नाथपुरी) वैशाख शुक्ल दशमी २६१७ कलिसंवत्=४८४ खृष्टपूर्व पद्मपादाचार्य=सनन्दन प्रथम आचार्य, (घ) शारदामठ (शृंगेरी) पौष शुक्ल पूर्णिमा २६१८ कलिसंवत्=४८३ खृष्टपूर्व। हस्तामलकाचार्य=पृथिवीधर प्रथम आचार्य (ङ) कामकोटि पीठ (काँची) वैशाख शुक्ल पूर्णिमा २६२० कलिसंवत्=४८१ खृष्टपूर्व श्री शंकर भगवत्पाद प्रथम आचार्य।

अन्यमत—मोक्षमूलर ७८८ खृष्टसन्; काशिनाथ तैलंग ५९० खृष्टसन्; दबिस्तां १३४९ खृष्टसन्; रामचन्द्र ६१० खृष्टपूर्व; राइस ६३७ खृष्टसन्; वेंकटेश्वर ८०५-८९ खृष्टसन्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत		खृष्टपूर्व
२७२५	शिवश्री	३६६
२७२६	श्रीगुप्त	३७२
२७३२	शिवस्कन्ध शातकर्णि	३७६
२७३६	यज्ञ श्रीशातकर्णि	३६२
२७५४	घटोत्कचगुप्त	३४७
२७५८	नरेन्द्रादित्य या खिंखिल, विजय, श्रीगुप्त	३४३
२७६३	शिवदेव वर्मा	३३८-२७७
२७६४	चन्द्रश्री शातकर्णि,	३३७
२७६७	पुलोमा; सिकन्दर का विजय-प्रस्थान;	३३४
२७७०	मिश्र में सिकन्दरिया की नींव	३३१
२७७४	चन्द्रगुप्त प्रथम (विजयादित्य)=कुमारदेवी, गुप्तसंवत् का आरंभ[1]	३२७
२७७५	सिकन्दर ने सिन्धु पार किया, झेलम का युद्ध, वेदी-निर्माण;	३२६
२७७८	सिकन्दर की मृत्यु बैबिलोन में	३२३
२७८१	समुद्रगुप्त (अशोकादित्य)=दत्तदेवी	३२०
२७८६	सेल्युकेडियन संवत्; समुद्रगुप्त का दिग्विजय-प्रस्थान	३१२
२७६४	युधिष्ठिर (अन्ध) प्रथम	३०७
२७६५	सेल्युकस ने राजा की उपाधि ली;	३०६
२७६६	समुद्रगुप्त द्वारा सेल्युकस की कन्या का पाणिपीडन; सेल्युकस का भारत पर आक्रमण	३०५
२७६६	मेगास्थनीज पाटलिपुत्र में राजदूत समुद्रगुप्त के दरबार में	३०२
२८०१	युक्लिद	३००
२८१६	मिश्रराज टालमी फिलाडेल्फस	२८५
२८२१	सेल्युकस-निकेटर-निधन	२८०
२८२४	नरेन्द्र वर्मा; मकदुनिया का राजा अंतिगोनस;	२७७-३५
२८२५	भट्टनारायण, धर्मकीर्ति; आदिशूर	२७६
२८२६	हरिषेण	२७५
२८२८	प्रतापादित्य	२७३
२८३०	रामगुप्त=ध्रुवदेवी	२७१
२८३२	चन्द्रगुप्त द्वितीय=ध्रुवस्वामिनी (विक्रमादित्य या देवराज[2]); विशाखदत्त	२६६

१—अन्यमत : कनिंघम १६७ खृष्टसन्; बेली १६० खृष्टसन्; अलबेरुणी ३१६ खृष्टसन्; ७८ खृष्टसन् तथा ५७ खृष्टपूर्व फ्लीट।

२—तुलना करें—गढवा शिलालेख, देवराज इति प्रियेन; देवानां प्रियः प्रियदर्शी प्रशस्ति; देवराजाख्य नामासौ भविष्यति युगाधम—मंजु श्री मूलकल्प

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत्		ख्रीष्टपूर्व
२८४१	कुमारदास	२६०
२८४५	चतुर्दश प्रस्तराभिलेख	२५६
२८५६	ससस्तंभाभिलेख;	२४२
२८६०	जलौक द्वितीय	२४१

५३ पटलविस्तर। प्रशस्ति में प्रचारित धर्म के विषय में मेरा लेख देखें—अशोकाज़ एटरनल रेलिजन, हिन्दुस्तान रिव्यू, पटना, सन् १९५१ पृ० ११५-२२। केवल मास्की और झांसी की प्रशस्तियों में 'अशोक' नाम से मिलता है। ध्यान रहे, चन्द्रगुप्त द्वितीय के पिता का नाम भी 'अशोक-आदित्य' था अतः इन प्रशस्तियों में पिता के नामोल्लेख की सम्भावना है। अशोक के बाद कुछ स्थान रिक्त हैं, जहाँ प्रशस्ति-कारक का नाम अनंकित है।

अशोक या अन्य किसी भी भारतीय नरेश द्वारा विदेशों में प्रियदर्शी द्वारा कराये गये कार्यों का किसी भी विदेशी साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता। अतः शंका स्वाभाविक है कि क्या इन प्रशस्तियों में किसी विदेशी राजा का उल्लेख है ?

रामायण, महाभारत, पुराण तथा बृहत्संहिता में भारत के पश्चिमस्थित सीमा-राज्यों का वर्णन है। पञ्चगण राज्यों के सिवा यवन राज्य का भी उल्लेख है। इन गणराज्यों में पूर्व गान्धार में सिन्धु, बाह्लीक, केकय, अलेख्य, सुन्दर; पश्चिम गान्धार में काम्बोज (तुरंगमय), दरद, राष्टिक, मग (शक) अलीक, सिन्धुर, दक्षिणमद्र में अन्तकिन्नर, मद्रक तथा उत्तर मद्र में तूरमय, तारमब, यक्ष-राज्यादि हैं। निम्नसारणी से पाठक स्वयं परीक्षा कर ले सकते हैं कि कौन व्याख्या युक्तिसंगत है।

प्रशस्ति-नाम	भारतीय सीमास्थित गणराज्य प्रदेशनाम	वैदिशकराजनाम
हिन्द-राज	इतः राज्ये	
योन राजा	यवनराज्ये	
अतियोक, अतियोके	अतियवके (अत्यन्त प्रगतिशील	एंटिओकस थियोस
अतियोगे	यवददेश—बृहत्संहिता)	
तुरमय, तुरमये	तुरगमय, तूरमय	टालेमी फिलाडेल्फस
अंतकिन, अंतेकिन	अन्तकिन्नर	एंटिगोनस गोंटस
मग	मग (शक)	मगस
अलिकसुन्दरे	अलेख्य सुन्दर या अलीक सिन्धुर	अलेकजेंडर

इस सम्बन्ध में श्री इन्द्रनारायण द्विवेदी का लेख, 'विशाल भारत', कलकत्ता;

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कलिसंवत्		खृष्टपूर्व
२८६६	भीमदेव वर्मा	२३५-१९९
२८६८	कुमारगुप्त प्रथम (महेन्द्रादित्य)=अनन्तदेवी; कालिदास;	२३३
२८९२	तुंजिन्, चन्द्रक	२०९
२९०५	विष्णुदेव वर्मा	१९९-१५२
२९१०	स्कन्दगुप्त (पराक्रमादित्य)	१९१
२९२८	विजय; वसुरात; शक्तिभद्र-आश्चर्य चूडामणि	१७३
२९३५	नृसिंहगुप्त (बालादित्य)	१६६
२९३६	जयेन्द्र	१६५
२९४९	विश्वदेव वर्मा	१५२-१०१
२९७३	सन्धिमान्	१२९
२९७५	कुमारगुप्त द्वितीय; बज्रिका कौमुदीमहोत्सव	१२६
२९७८	(४२७ शाके) बराहमिहिर	१२३
३०००	अंशुवर्मा	१०१-३०
३०१९	गुप्तवंश का अन्त	८२
३०२०	मेघवाहन	८१
३०४४	विक्रमादित्य का जन्म; कृत, विक्रम या मालवसंवत् का आरम्भ	५७
३०५०	भामह काव्यालंकार	५१
३०५४	प्रवरसेन प्रथम; भर्तृहरि	४७
३०६१	वाक्पदीय	४०
३०६८	कालिदास[1] नाटकत्रयी तथा ज्योतिर्विदाभरण-रचयिता	३१

१९५४ अक्टूबर पृ० २७५-८२ देखें। एक ही राजा के दो विभिन्न लिपियों की समस्या सरलता से सुलझ सकती है, यदि हम ध्यान में रखें कि उत्तरी भारत में किस प्रकार देवाक्षर और कैथी लिपियों का साथ-साथ प्रचार है और किस प्रकार वे विभिन्न राज्य-कार्यों में प्रयुक्त होती हैं।

१—तुलना करें—'एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्। शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु,—राजशेखर (सूक्तिमुक्तावली)। प्रथम कालिदास ने काव्यत्रयी की रचना की। द्वितीय कालिदास ने नाटकत्रयी की रचना की। तृतीय कालिदास भोज का समकालिक था। इसने ऋतुसंहार, शृङ्गारतिलक, श्यामलादण्डक, नवरत्नमाल, नवसाहसांकचरित और श्रुतबोध की रचना की। चतुर्थ कालिदास ने नलोदय की रचना की। नव कालिदास ने चम्पू भागवत रचा, कालिदास अकबरीय; लम्बोदरप्रहसन-रचयिता कालिदास; अभिनव कालिदास ने संक्षेप शंकरविजय रचा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विक्रमसंवत्		खृष्टपूर्व
(५२० शाके) २७	ब्रह्मगुप्त	३०
४०	तोरमाण हूण या हिरण्य	१७
		खृष्ट सन्
७०	विक्रमादित्य शकारि, सिद्धसेन=क्षपणक; घटखर्पर; वेतालभट्ट	१३
८४	कृपाशंकराचार्य	२७-६८
९१ (५८४ शाके)	मुंजाल	३४
१०६	मातृगुप्त, भर्तृमेण्ठ	४९
१०७	तृतीय संगमकाल का अन्त; मणिमेखलई	५०
१११	प्रवरसेन द्वितीय, नीरो	५४
१३५	शालिवाहन शक	७८
१४४	कालभर्तृ	८७-१०७
१६४	चूतपल्लव	१०७-२७
१७१	युधिष्ठिर	११४
१८४	वीरकूर्च	१२७-४७
१९८	टालमी	१४१
२०४	स्कन्दशिष्य	१४७-१६७
२१०	नरेन्द्रादित्य	१५३
२१७	भट्टारहरिचन्द्र	१६०
२२३	रणादित्य; भिन्नमाल गुजरात की राजधानी;	१६६
२२४	कुमारविष्णु	१६७-२००
२५७	बुद्धवर्मा	२००-२२८
२८५	वीरवर्मा	२२८-५८
३०६	त्रैकुटक या कलचूरी संवत्	२४९
३१५	स्कन्दवर्मा, धीरनाग-रचित कुन्दमाला	२५८-९६
३५३	सिंहवर्मा	२९६-३१५
३६७	परसेपोलिस अभिलेख	३१०
३७२	विष्णुगोप प्रथम	३१५-३४०
३७६	वल्लभी संवत्; सुन्दर पाण्ड्याचार्य	३१९
३८५	उज्ज्वलशंकराचार्य	३२८-३६६
३९५ (८८८ शाके)	भट्टोत्पल	३३८
३९७	स्कन्दवर्मा चतुर्थ	३४०-६५
४१९ (८८९ वीरसंवत्)	समन्तभद्र	३६२
४५३	अर्भक शंकराचार्य (मूक)	३९६-७ ३६

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विक्रमसंवत्		ईसवी सन्
४२८ (६२१ शाके)	श्रीपति	३७१
४५८	फाहियान	४०१-१०
४२१	सिंहवर्मा द्वितीय	३६४-८६
४४६	विष्णुगोप द्वितीय	३८६-४१४
४७१	नन्दिवर्मा प्रथम	४१४-३७
४४६	सिंहवर्मा तृतीय	४३७-७२
५२६	सिंहवर्ष्णु, वत्सभट्टी	४७२-५२०
५३३	आर्यभट्ट	४७६
५४३ (१०३६ शाके)	भास्कराचार्य	४८६
५४६	दण्डी-काव्यादर्श	४६२
५५४	गंगसंवत्	४६७
५५५	नरवर्द्धन	४६८
५६०	विक्रमादित्य द्वितीय	५०३
५६७	भारवि	५१०
५७७	महेन्द्रवर्मा प्रथम	५२०-५५
५८३	राज्यवर्द्धनप्रथम	५२६
६०२	बालादित्य	५४५
६११	आदित्यवर्द्धन	५५४
६१२	नरसिंहवर्मा प्रथम	५५५-६५
६३७	प्रभाकरवर्द्धन	५८०-६०६
६३८	हरिस्वामी; निरुक्त भाष्यकार दुर्गाचार्य	५८१
६३६	दुर्लभवर्द्धन	५८३
६५०	फसली सन्, हर्षवर्द्धन का जन्म	५६३
६५२	महेन्द्रवर्मा द्वितीय	५६५-६३०
६५६	शाहूर संवत्	५६६
६५६	चाच	६०२
६६३	हर्षवर्द्धन, बाण, मयूर, धावक	६०६-४७
६७५	दुर्लभक	६१८
६७७	पुलकेशी द्वितीय ने हर्ष को पराजित किया	६२०
६७६	हिजरी संवत्; मुहम्मद साहब का मक्का से मदीना पलायन	६२२
६८०	भाटिक संवत्	६२३
६८२	वर्मलाट, माघ	६२५
६८४	दण्डी	६२७

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विक्रमसंवत्		खृष्टसन्
६८७	परमेश्वर वर्मा प्रथम	६३०-६०
६८७	ह्वेनसंग (प्रस्थान ६४४); स्कन्दस्वामी, नारायण, भवस्वामी	६३०
६८९	हजरत मुहम्मद-निधन	६३२
६९४	अरब का भारत की ओर प्रथम नौ-यात्रा	६३७
६९५	मगी सन्	६३८
७००	अरब का भारत पर आक्रमण (सिंध) हर्ष का प्रयाग में धर्म-सम्मेलन	६४३
७१७	नरसिंहवर्मा द्वितीय	६६०-८५
७२१	ह्वेनसंग निधन	६६४
७२५	चन्द्रापीड; अचिदानन्द घणेन्द्र शंकराचार्य[1]	६६८
७२८	इत्सिंग	६७१-९५
७३५	तारापीड	६७७
७३५ (१२०५	निर्वाण सं०) रविसेन आचार्य, सुबन्धु	६७८
७३८	ललितादित्य, यशोवर्मा, भवभूति, वाक्पति	६८१
७४२	परमेश्वरवर्मा द्वितीय	६८५-७५०
७४७	राष्ट्रकूट नन्न (अचलपुर)	६९०-७३५
७५७	हस्तामलक; दैत्यविष्णु	७००
७६०	नेपाल और तिरहुत तिब्बत से मुक्त;	७०३
७६५	कुवलयापीड	७०८
७६६	वज्रादित्य	७०९
७६९	मुहम्मद इब्न कासिम का सिंध-विजय, दाहरवध	७१२
७७३	पृथिव्यापीड	७१६
७७७	संग्रामापीड; साहपा; सबरपा, स्वयंभू	७२०
७८८	कन्नौज के यशोवर्मा ने चीन में दूत भेजा; वप्पट	७२१
७८९	बप्पा द्वारा चित्तौर अधिकृत	७२२
७९१	जयापीड [कल्लट] दामोदरगुप्त वामन; मनोरथ; शंखदत्त; चटक; उद्भट	७२४
७९२	पारसियों का संजानमें प्रथम आवास, जयभट्ट चतुर्थ [अंतिमगुर्जरराज]	७२५
७९९	दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट	७४२-५७
८१०	वप्पा का राज्यत्याग; खलीफा अली मनसूर	७५३
८२२	जज्ज, धनंजय; क्षीरस्वामी; गोपालदेव	७६५
८२५	ललितापीड	७६८
८३७	संग्रामापीड द्वितीय; भूसुकप्पा	७८०

१—वैदिक वाङ्मय का इतिहास; श्री भगवद्दत्त कृत, लाहौर, संवत् १९८८, द्वितीय खण्ड देखें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भारवि

श्री व्रजविहारी शरण

संस्कृत-महाकाव्यों में 'किरातार्जुनीयम्' का, और संस्कृत-साहित्य में उसके रचयिता भारवि का विशिष्ट स्थान माना गया है। तथापि भारवि के जन्म-स्थान, निवास-स्थान आदि आवश्यक विषयों के सम्बन्ध में प्रमाणित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। भारवि का उल्लेख पहले-पहल पुलकेशी द्वितीय के एहिओल शिलालेख में, कालिदास के साथ-साथ पाया जाता है। इस लेख का समय ६३४ ई० निश्चित हुआ है। इस लेख से स्पष्ट है कि उस समय भारवि की ख्याति फैल चुकी थी और उनकी गणना कालिदास के साथ-साथ होने लगी थी। ऐसी प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए पर्याप्त समय की आवश्यकता होगी, फलतः भारवि का समय पाँचवीं-छठी शताब्दी के बाद नहीं रखा जा सकता। 'हर्षचरितम्', 'कादम्बरी' आदि के लेखक बाण, एहिओल लेख के समसामयिक थे। यद्यपि यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने भारवि का उल्लेख नहीं किया है, तथापि सभी विद्वानों की राय है कि हम यह निष्कर्ष निकालने पर बाध्य नहीं होते कि भारवि बाण से पहले नहीं हुए, अथवा कि वे उनके समसामयिक थे। इसका एक स्पष्ट कारण तो यह है कि दन्त-कथाओं के अनुसार (जो नीचे दी जाती हैं), भारवि का जीवन दक्षिण-भारत में ही व्यतीत हुआ। इसलिए उत्तर-भारत तक फैलने में उनकी ख्याति को अवश्य ही बहुत समय लगा होगा।

भारतीय जनश्रुति के अनुसार कालिदास और भारवि के समय के अन्तर्गत अश्वघोष, बुद्धघोष, मेण्ठ, कुमारदास, भट्टी, भट्टारहरिचन्द्र, अमरु, भर्तृहरि आदि कवि हुए। मेण्ठ की—जिसे समालोचकों ने बहुत उच्च पद दिया है—कृति 'जानकीहरण' नष्ट हो गई है। शेष की कृतियाँ उपलब्ध हैं। विद्वानों की राय है कि महाकाव्यों के लक्षणों को निश्चित करने में आचार्यों ने 'किरातार्जुनीयम्' को, न कि उपर्युक्त कवियों के महाकाव्यों को, प्रमाण माना है। इसमें सन्देह नहीं कि भारवि, महाकाव्य की रचना में, एक नये ढंग, एक नई पद्धति के निर्माता थे, और पीछे के कवियों पर उनका पूर्ण प्रभाव पड़ा। इससे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त कवियों और भारवि के समय में इतना अन्तर होना चाहिए, जो उक्त परिवर्त्तन के लिए यथेष्ट हो। इस दृष्टि से भी भारवि का समय पाँचवीं-छठी शताब्दी ही निश्चित होता है।

भारतीय जनश्रुति के अनुसार भी भारवि कालिदास के बाद हुए। उनका उल्लेख विक्रम के नव-रत्नों में नहीं होता। यदि कालिदास विक्रमीय संवत् चलानेवाले विक्रम के समसामयिक थे, तो भारवि उनसे कम-से-कम चार सौ वर्ष पीछे हुए। दोनों कवियों के आदर्शों भावों और शैली में बहुत बड़ा अन्तर मिलता है। इस परिवर्तन के लिए चार सौ वर्षों की दूरी अधिक नहीं है।

[२]

भारवि के जीवन के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। एक कथा, 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' में पाई जाती है। इसके अनुसार, भारवि का एक नाम, 'दामोदर'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी था। उनके पूर्व-पुरुष पश्चिमोत्तर प्रदेश के 'आनन्दपुर' ग्राम में रहते थे, परन्तु पीछे, दक्षिणापथ में जा बसे। एक बार भारवि, राजकुमार विष्णुवर्धन के साथ, शिकार खेलने गये थे। उन्हें आपत्ति-ग्रस्त होकर मांस खाना पड़ा। इस पाप के प्रायश्चित्त के लिए वे तीर्थ-यात्रा पर चल पड़े। राह में उनकी जान-पहचान गांगराजा दुर्विनीत से हो गई। उस समय काञ्ची का राजा सिंहविष्णु था। एक दिन भारवि की लिखी हुई उसकी प्रशस्ति एक गन्धर्व ने गाई। उसे सुन कर सिंहविष्णु बड़ा प्रसन्न हुआ और भारवि को अपने दरबार में बुला लिया। उस समय से भारवि राजकुमार महेन्द्रविक्रम के साथ रहने लगे। भारवि को एक पुत्र हुआ मनोरथ, और मनोरथ का पोता हुआ विख्यात दण्डी कवि।

भारवि का ही नाम 'दामोदर' था, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। हरिहर शास्त्री के अनुसार, दामोदर एक दूसरा ही कवि था, जिसने भारवि की मैत्री के कारण राजा विष्णुवर्धन की अनुकम्पा प्राप्त की थी। जो कुछ भी सत्य हो, दन्त-कथाओं से अनुमान किया जाता है कि भारवि के सभी दिन सुख से नहीं बीते। एक कथा के अनुसार, भारवि ऐसे कविता के प्रेमी थे, कि उन्हें धन-उपार्जन का समय ही नहीं मिलता था। उनकी स्त्री उन्हें इस असावधानी के लिए बराबर कोसा करती थी। एक दिन भारवि अपनी स्त्री के वाग्बाणों से ऊबकर घर से निकले और किसी राजदरबार का आश्रय लेने का विचार किया। कुछ दूर जाने पर उन्होंने एक सुन्दर पुष्करिणी देखी, और थककर वे वहीं बैठ गये। परन्तु वह चुप तो बैठ नहीं सकते थे। वे एक कमलदल पर लिखने लगे, और निम्नलिखित सुन्दर कविता लिख डाली—

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥"

[कि० २.३०]

(हठात् कोई काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविवेक बड़ी विपत्ति का स्थान है। गुणों का लोभ करनेवाली सम्पदा विचारशीलों का ही वरण करती है।)

संयोगवश, उस देश का राजा, जो शिकार के लिए निकला था, वहीं पर उपस्थित था। इस कविता को सुनकर, वह इतना प्रसन्न हुआ कि चिथड़ों में लिपटे हुए भारवि को अपने महल में मिलने के लिए निमन्त्रित करने से अपने को रोक न सका। परन्तु जब बेचारे भारवि अपने चिथड़ों में लिपटे राजमहल पहुँचे, तो रक्षकों ने उन्हें राजा के पास जाने ही नहीं दिया और वे वापस हो गये। राजा ने उस कविता को अपने खास कमरे में सुनहले अक्षरों में लिखवा दिया। इस तरह एक वर्ष व्यतीत हो गया। एक दिन राजा फिर शिकार के लिए निकला और लोगों से कह गया कि एक सप्ताह में वापस आऊँगा। दूसरी रात को उसका पड़ाव नगर से कुछ ही दूर पर था, इसलिए वह अपने महल में लौट आया। परन्तु जब वह अपने कमरे में गया तो अपनी स्त्री को एक अज्ञात युवक के साथ सोते पाया। यह देखकर उसे असह्य क्रोध हुआ और उसने, दोनों का सर काटने के लिए, अपनी तलवार

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निकाली। एक-ब-एक उसकी दृष्टि उस श्लोक पर पड़ी और उसका क्रोध कम हो गया। उसने निश्चय किया कि दोनों को जगाकर दोषारोपण के बाद, उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया जाय। परन्तु, जगाने पर मालूम हुआ कि वह युवक तो उसी का पुत्र था जिसे बचपन में ही एक धाई ने चुरा लिया था और जो उसी दिन सन्ध्या में मिला था। तब राजा ने भारवि को ढुँढ़वाया और धन देकर सन्तुष्ट किया।

यद्यपि इन कथाओं का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है, और ऐसी अनेक कथाएँ भी हैं, फिर भी इतना अनुमान करना असंगत नहीं होगा, कि भारवि पहले दरिद्र थे, परन्तु पीछे धनी हो गये। उनकी कविता में जो व्यावहारिक नीति की बातें पाई जाती हैं, वे इस दृष्टिकोण का समर्थन करती हैं।

भारवि के व्यक्तित्व का चित्रण करने के लिए पर्याप्त सामग्रियों का अभाव है। उनकी एक ही कृति उपलब्ध है, और वह है 'किरातार्जुनीयम्'—एक महाकाव्य, जिसमें रूप और विधि में केन्द्रित कृत्रिमता की प्रधानता है। ऐसे काव्य के आधार पर, कवि के चरित्र के विषय में कुछ भी अनुमान करना दुःसाहस का काम होगा। तथापि कुछ बातें कही जा सकती हैं। पहली बात जो स्पष्ट होती है, वह यह है कि कृत्रिमता का पुजारी होते हुए भी, भारवि ने प्रकृति और मानव-जीवन का सूक्ष्म अध्ययन अवश्य किया था। परन्तु इस अध्ययन से न तो उनमें वर्डस्वर्थ, शेली या कीट्स की तरह हृदय के अन्तःस्थल में उथल-पुथल मचाने की शक्ति आई, और न उन विषयों से उनका वह तादात्म्य हुआ, जो कालिदास आदि कवियों में पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारवि ने यह सब अध्ययन इसीलिए किया कि वे अपनी पांडित्यपूर्ण कविता लिखें। अतः इन पद्यों के पीछे एक ऐसे व्यक्तित्व का चित्र है, जिसमें सच्चे पांडित्य के गर्व के साथ, उससे लोगों को चकित तथा मुग्ध करने की बलवती इच्छा भी है। नीति की बातें, जो सर्ग १, २, ३ में भरी हैं (एक उदाहरण ऊपर दिया गया है) इसी इच्छा से अनुप्राणित है। एक और उदाहरण नीचे दिया जाता है—

'असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि।' [३.१४]

(असाधुओं का संग विजय का प्रतिबन्धक होता है और उन्मथित करनेवाली विपत्तियों का स्थान।)

दूसरी बात जो कही जा सकती है, वह यह है कि भारवि ऐसे मनुष्य नहीं थे जो किसी गहरे भाव के वशीभूत हो सकें। उनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता में संशय नहीं हो सकता। परन्तु, दोनों ही जीवन-नदी के ऊपर-ऊपर तैरनेवाली हैं, उसके गहरे स्तरों तक पहुँचनेवाली नहीं। ऊपर दी हुई किंवदन्तियों से भी स्पष्ट है कि उनका जीवन राजदरबारों के संकीर्ण वातावरण में व्यतीत हुआ था। इसलिए उनका बाह्य आकार-प्रकार में ही बद्ध हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

[३]

'किरातार्जुनीयम्' अट्ठारह सर्गों का एक महाकाव्य है। भारवि की कीर्त्ति इसी एक महाकाव्य पर स्थित है। प्राचीन समालोचकों के अनुसार 'अर्थ-गौरव' उनका विशेष गुण

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। यह बात नहीं है कि भारवि की कविता अलंकारशून्य है, अथवा पदों में मधुरता नहीं है, परन्तु पारखियों की दृष्टि में, जो विशिष्टता भारवि के अर्थगौरव में है, वह उनके दूसरे गुणों में नहीं है। इस दृष्टिकोण पर कुछ बातें आगे कही जायँगी। आधुनिक समालोचकों के अनुसार, भारवि की कविता सर्वोत्तम श्रेणी में नहीं रखी जा सकती, फिर भी वह साधारण श्रेणी से ऊपर की अवश्य है। कहा जाता है कि इनकी कविता हृदय तक पहुँचने में असमर्थ है, परन्तु मस्तिष्क को चकित और सन्तुष्ट अवश्य करती है। 'किरातार्जुनीयम्' पर सरसरी दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकाव्य में सर्वाङ्गीण सन्तुलन नहीं है। उदाहरणार्थ, वर्णनों की ऐसी भरमार है कि बार-बार कथा लुप्तप्राय हो जाती है। जिस कथा-वस्तु के आधार पर यह काव्य लिखा गया है, उसमें वर्णनों का विस्तार न केवल खटकता ही है, परन्तु वह असंगत भी प्रतीत होने लगता है। यह नीचे के संक्षिप्त विषय-वर्णन से स्पष्ट होगा:—

सर्ग १—२—युधिष्ठिर भाइयों के साथ द्वैत वन में वास कर रहे हैं, उनका दूत आता है और दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था की प्रशंसा करता है। उसके जाने के बाद युधिष्ठिर द्रौपदी से मिलते हैं और द्रौपदी उन्हें युद्ध के लिए उत्तेजित करती है। फिर भीमसेन भी उन्हें कटु बातें सुनाते हैं और युद्ध के लिए उत्तेजित करते हैं। युधिष्ठिर उत्तर देते हैं। तब व्यासजी आते हैं और उनका सत्कार होता है।

सर्ग ३—व्यास और युधिष्ठिर, और फिर व्यास और अर्जुन में बातें होती हैं। व्यास अर्जुन को तप करने की आज्ञा देते हैं, और एक गुह्यक को उनके साथ नियुक्त कर चले जाते हैं। द्रौपदी अर्जुन को उत्तेजित करती है और वह प्रस्थान करते हैं।

सर्ग ४ से ६ तक—इन सर्गों में केवल—हिमालय, ऋतुओं, गन्धर्वों, अप्सराओं की क्रीडा, सन्ध्या, प्रभात आदि के वर्णनों की भरमार है। केवल सर्ग ५ में अर्जुन के तपो-भंग के लिए अप्सराओं की नियुक्ति की कथा आई है।

सर्ग १०—अप्सराएँ अर्जुन को लुभाती हैं, परन्तु उनका प्रयत्न निष्फल होता है।

सर्ग ११—इन्द्र अर्जुन के पास आते हैं और शिव-पूजा की शिक्षा देते हैं।

सर्ग १२—अर्जुन तपस्या करते हैं। इसकी सूचना शिव को मिलती है। वह किरात का रूप धारण करके आते हैं और वहाँ शूकर-रूप दानव को देखते हैं।

सर्ग १३ से १८ तक—में ही 'किरातार्जुनीयम्' की मूल कथा है। शिव और अर्जुन का एक साथ शूकर को मारना; इसपर वाद-विवाद होकर युद्ध होना और अन्त में शिव का प्रसन्न होकर शस्त्र देना आदि, विशद और विस्तृत रूप में वर्णित हुए हैं।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि जिस कथावस्तु को कवि ने चुना, वह इतनी छोटी है कि उसे अट्ठारह सर्गों में फैलाना कठिन काम था। यह कथा, महाभारत, वनपर्व्व, अध्याय २७ से ४१ तक में पाई जाती है। अध्याय २७ से ३५ तक तो केवल द्रौपदी, युधिष्ठिर और भीम का वाद-विवाद है और अध्याय ३६ से ४१ तक शेष कथा है। यदि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हम 'किरातार्जुनीयम्' के पहले दो सर्गों की महाभारत के उपर्युक्त अध्यायों से तुलना करें, तो पायेंगे कि महाभारत में दिये हुए वाद-विवाद में जो स्वाभाविकता है, वह भारवि में नहीं है। भारवि के पद-पद में शब्द-चातुरी से पाठक को चकित करने का प्रयत्न स्पष्ट है; परन्तु महाभारत में साधारण दुःखित और क्रुद्ध हृदय का उद्‌गार है। सर्ग ३ में भारवि ने कथावस्तु में कुछ परिवर्तन किया है, जिसे आवश्यक नहीं कहा जा सकता। सर्ग ४ से १० तक कथा प्रायः स्थगित रहती है; महाभारत में ऐसा नहीं होता। इन सात सर्गों में प्रधानता वर्णनों की है। इन वर्णनों में, हिमालय, षट्-ऋतुओं, अप्सराओं और उनकी केलियों के वर्णन प्रधान हैं। भारवि ने अपनी पूरी शक्ति इन वर्णनों में लगा दी है। आज की दृष्टि में, इन वर्णनों में भले ही कोई विशेषता न प्रतीत हो, परन्तु जब ये लिखे गये थे, अवश्य एक नवीन विधि की स्थापना करनेवाले थे। प्रकृति के सभी रूपों में स्त्री का रूप देखना, जो मध्यकालीन कवियों में रूढ़ि-सा हो गया था, भारवि के प्रभाव का ही द्योतक है। यह कालिदास, अश्वघोष, भास आदि के वर्णनों के समन्वय से स्वयं स्पष्ट हो जायगा।

[४]

ऊपर कहा गया है कि भारवि की कविता अर्थ-गौरव के लिए विख्यात है। परन्तु, इतना ही नहीं। किसी ने कहा है—'प्रकृतिमधुरा भारविगिरः।' कृष्ण कवि ने लिखा है:—

"प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥"

इस श्लोक से स्पष्ट है कि उस समय भारवि ऐसे आदर्श और मान्य हो गये थे कि उनका अनुसरण करना गौरव की बात हो गई थी। शारदातनय लिखते हैं—'तादात्म्यं भावरसयोर्भारविः स्पष्टमूचिवान्।' इस उक्ति पर विशेष विचार आगे किया जायगा। परन्तु यहाँ पर पाठकों को ध्यान दिला देना आवश्यक है कि यह न समझा जाय कि प्राचीन लेखकों में सभी ने भारवि की प्रशंसा ही की है। माघ के समर्थकों ने कहा है—

'तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते च पुनर्माघे भारवेर्भा रवेरिव॥'

नैषध के हिमायती, नैषध को, दोनों, भारवि और माघ से श्रेष्ठ बताते हैं। परन्तु, आधुनिक समालोचक निष्पक्ष होकर, भारवि को वह सन्मान नहीं दे सके हैं, जो मध्यकालीन समालोचकों ने दिया था। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे भारवि के गुणों को नहीं जानते अथवा उन्हें नगण्य समझते हैं। कृष्णमाचारी लिखते हैं—"He is a hard thinking poet, in whom we feel at work, action interesion of wit···(He) has a vigour of thought and language, and of lofty eluquence in expression which Kalidas seldom equals." (वह एक गहरे विवादवाले कवि हैं, जिनमें एक तरह की बुद्धिमत्ता की तीव्रता है-उनके विचार और भाषा में ऐसी शक्ति और

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उच्चकोटि की वाक्पटुता है कि उसकी बराबरी कालिदास कभी-कभी हो कर सके हैं)। इस तरह स्पष्ट है कि आज के विद्वान् भारवि के कवित्व की नहीं, उनके विचार-पांडित्य और भाषा की ही प्रशंसा करते हैं। अब 'किरातार्जुनीयम्' का अध्ययन करके देखना है कि उपर्युक्त विरोधी विचारों की कहाँ तक पुष्टि होती है।

१. अर्थ-गौरव—इन शब्दों से दो बातें समझी जा सकती हैं—(१) क्लिष्टभाषा; (२) विचारों की गहराई। यदि 'अर्थगौरव' से भाषा की क्लिष्टता बताई गई है, तो, यह अक्षरशः सत्य है। परन्तु दूसरे अर्थ की यथार्थता संशयमय है। यदि शब्दों की विचित्रता और असाधारणता हटा दी जाय, तो विचारों की साधारणता स्पष्ट हो जाती है। जो कुछ विशेषता है, वह कहने की विधि में है। इस बात की पुष्टि प्रत्येक श्लोक के अध्ययन से होती है, परन्तु इसे स्पष्ट करने के लिए, एक क्लिष्ट श्लोक दिया जाता है, जिससे भारवि की आन्तरिक प्रवृत्ति प्रत्यक्ष हो जाती है—

"देवा कानिनिकावादे वाहिका स्वस्वकाहिवा।
काकारेभभरेकाका निस्वभव्यव्यभस्वनि॥" [१५.२५]

पन्द्रहवाँ सर्ग ऐसे श्लोकों से भरा है। उपर्युक्त श्लोक और ऐसे सभी श्लोक केवल पांडित्य के प्रदर्शन, उच्चारण में झन-झनाहट पैदा करने और पाठकों को विस्मित करने के लिए, बड़े परिश्रम से लिखे गये हैं। परन्तु, यदि वागाडम्बर हटा दिया जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि इन श्लोकों के अर्थों में कोई विशेषता नहीं है। ऊपर उद्धृत श्लोक इस बात का उदाहरण है। अर्जुन के बाणों से घबरा कर शिव के गण भाग चले हैं। उनकी वक्तृता ऐसी होनी चाहिए कि भयभीतों का भय छूटे, साहस बढ़े; परन्तु दो एक श्लोकों के बाद कवि इस ध्येय को भूल ही जाता है, और असंगत बातों को उनके मुख से कहलवाता है। 'युद्ध से देवता उत्साहित होते हैं, जहाँ वाग्युद्ध कम होता है, और जिसमें क्रम से शत्रुओं से लड़ा जाता है, उसमें मद चुलाते हुए हाथी भरे रहते हैं और उत्साही-निरुत्साही दोनों को लड़ना पड़ता है।' यदि हम इसे वाल्मीकीय रामायण के युद्धकांड में वर्णित ऐसी अवस्थाओं की इससे तुलना करें तो आकाश-पाताल का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। एक ऐसा स्थल वह है, जहाँ कुम्भकर्ण को देखकर वानरी सेना भागती है, और अंगद उन्हें ललकारता है (युद्धकाण्ड, सर्ग ६६, श्लोक १८—२७)। रामायण के शब्दों में ओज, तेज और स्वाभाविकता है। परन्तु, वागाडम्बर के हटा देने पर भारवि का प्रयत्न अपर्याप्त प्रतीत होता है।

'किरातार्जुनीयम्' का पन्द्रहवाँ सर्ग तो मस्तिष्क के व्यायामों से भरा ही है, परन्तु, सभी जगह भारवि का प्रयत्न यही रहता है कि विद्वत्ता का प्रदर्शन भाषा की असाधारणता के साथ रहे। जहाँ पर इस ध्येय को वे भूल-से जाते हैं, वहाँ पर स्वाभाविकता और ओज आ गये हैं—

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"असंशयं न्यस्तमुपान्तरक्तां यदेव रोद्धुं रमणोभिरक्षनं।
हृतेऽपि तस्मिन् सलिलेन शुक्लतां निरासरागो नयनेषु न श्रियं॥" [८.३८]

"श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती।
मधुझरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे॥" [१०.२४]

"स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि।
तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम्॥" [११.५४]

विचारों की गहराई तो वहाँ होती है, जहाँ वे जीवन अथवा संसार के आधारभूत सत्यों तक पहुँचते हैं। भारवि में केवल व्यावहारिक चातुरी की बातें मिलती हैं। भारवि के लिए आधारभूत सत्यों तक पहुँचना असम्भव-सा प्रतीत होता है—जैसे, 'प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता' (कालिदास); 'अच्छलो हि स्नेहो नाम' (भास)। वह 'पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्' लिख सकते हैं, परन्तु 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते', 'प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः।' नहीं लिख सकते। इसलिए प्राचीन लेखकों ने जो अर्थ-गौरव की बात लिखी है, क्लिष्ट भाषा के ही अर्थ में लागू समझा जा सकता है।

भाषा-माधुर्य्य—इसमें सन्देह नहीं कि भारवि ने अपनी भाषा को मधुर बनाने के लिए महान् प्रयत्न किया है, और वे सफल भी हुए हैं। परन्तु, इस मधुरता को क्या हम 'प्रकृतिमधुर' कह सकते हैं? पहली बात तो यह है कि भारवि की भाषा स्वाभाविक है ही नहीं, उसके लिए 'प्रकृति' शब्द ही असंगत है। भारवि की भाषा उनकी विद्वत्ता और कला-कौशल का परिणाम है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने प्रत्येक शब्द को तौल-तौल कर, काट-छाँट कर तभी एकत्र किया है, जब उसके पांडित्य दरसाने और पाठक को चकित करने के दोहरे ध्येय की पूर्ति हो सकती थी।

भाव और रस का तादात्म्य—भाव और रस का तादात्म्य कविता की मौलिक आवश्यकता है। भारवि की कविता भी इससे खाली नहीं है। परन्तु कहीं-कहीं पर कुछ ऐसी बातें हैं, जो खटकती हैं—जैसे, ४.१४—१७; ५.१६—२३ और ३२। ध्यान में रखना है कि अर्जुन तप के लिए जा रहे हैं। ऐसे स्थान पर शृङ्गार के भावों का लाना असंगत ही कहा जा सकता है। 'कुमारसम्भवम्' में कालिदास ने उमा के तप का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है, परन्तु कहीं भी विरोधी भाव का उल्लेख नहीं आया है। फिर, उसीके सर्ग ३ में विरोधी भाव और रस व्यक्त किये गये हैं, परन्तु कैसी कुशलता से एक भाव और रस को दूसरे भाव और रस में बदला गया है। इसी तरह रघुवंश, सर्ग २ में जहाँ दिलीप गौ की सेवा के लिए हिमालय पर जाते हैं, वहाँ एक भी विरोधी भाव नहीं आने पाया है।

भारवि की कविता की विशेषताएँ हैं, मधुरता, बुद्धिमत्ता, और वर्णनों का विस्तार। उनकी उपमाएँ जहाँ सहज हैं, वहाँ उत्कृष्ट हैं। परन्तु जहाँ उनकी प्रधान रुचि—असाधारणता की खोज—तीव्र हो जाती है, वहाँ उपमाएँ खींचा-तानी की हो जाती हैं। जैसे,

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्म्मणा ॥" [५.२]

"कृतोर्म्मिरेखं शिथिलत्वमायताः शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा ।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरंगितक्षौमविपाण्डुसैकतम् ॥" [४.६]

पहले श्लोक में हिमालय का वर्णन है । इसमें पर्वतश्रेणी का पीठ पर गज-चर्म्म धारण किये, हँसते शिव से समीकरण बड़ा विषम प्रतीत होता है। उसी तरह दूसरे श्लोक में जब अर्जुन तप के लिए जा रहे हैं, तो नदियों के बालुकामय तीर को देख कर उन्हें स्त्रियों की रेशमी साड़ी याद आ जाती है। दोनों ही उपमाएँ खींचातानी की हैं, जो असाधारणता की खोज के उदाहरण हैं ।

भारवि के वर्णन विस्तृत होते हैं । उनका शब्द-चित्र छोटी-छोटी बातों को गूँथने से तैयार होता है। परन्तु, यह विस्तार कृत्रिम कल्पनाओं से यों भर दिया जाता है कि उस पूर्ण चित्र को प्रत्यक्ष करने में बड़ी कठिनाई होने लगती है, यहाँ तक कि जो चित्र उठता है, धुँधला ही रह जाता है। उदाहरणार्थ, शरद्ऋतु का वर्णन लीजिए । इस में पूरा चतुर्थ सर्ग खप गया है। कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में गौण रूप से और संक्षेप में शरद् का वर्णन किया है । दोनों को तुलना करने पर देखा जाता है कि कालिदास ने थोड़े में ही जैसा स्पष्ट चित्र खड़ा कर दिया है, वैसा भारवि नहीं कर पाये हैं ।

भारवि ने हिमालय का वर्णन किया है, परन्तु इस वर्णन में कोई यथार्थता नहीं मालूम होती। ऐसा प्रतीत होता है कि भारवि ने हिमालय देखा ही नहीं था, और केवल कल्पना के आधार पर एक चित्र गढ़ने का प्रयत्न किया है। हिमालय की नदियों में कमल का खिलना असम्भव है [५.७]; हिमालय की विशेषता, देवदारु, न कि तमालवन है [५.६] । विलक्षणता की खोज में, भारवि कभी-कभी साधारण बातों को भी भूल-से जाते हैं। जैसे ४.२७ में वे भूल जाते हैं कि धान के खेत में कमलिनी का होना असम्भव है । इसके प्रतिकूल ४.३६ में सुन्दर निष्कलंक चित्र उतरा है। परन्तु ये दो श्लोक, एक ही भावना के दुहराने का दोष, जिससे पाठक ऊब जाता है, भी दिखाते हैं ।

यह सब होते हुए भी, भारवि की कविता का माधुर्य्य, सौन्दर्य्य और कल्पना का विस्तार पाठक को मोहने में समर्थ हैं । इस प्रकार, सब दृष्टिकोणों से देख कर हम कालिदास के शब्दों में कह सकते हैं:—

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मिलिन्द-प्रश्न की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

श्री सुमन वात्स्यायन

पालि-साहित्य में मिलिन्दपन्हो का स्थान बहुत ऊँचा है। यद्यपि यह त्रिपिटिक की तरह बुद्ध-वचनों का संग्रह नहीं है। फिर भी, इसका सम्मान और महत्त्व उससे कम नहीं है। इस ग्रंथ में यवन (ग्रीक) राजा मिलिन्द (योनकानं राजा मिलिन्दो) बौद्ध भिक्षु नागसेन से भारतीय धर्म और दर्शन पर बड़े ही तार्किक ढंग से विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछता है और वे उनका उत्तर देते हैं। संक्षेप में कथानक इस प्रकार है:—

"नदी और पर्वतों से सुशोभित, उद्योग-धंधों में उन्नत सागल (वर्त्तमान स्यालकोट) नाम का एक यवन नगर था। उसके प्राकार और भवन हिमालय के शिखर के समान ऊँचे और मजबूत बने थे। शहर की दूकानें सामान से भरी रहती थीं। अनेक दानशालाएँ बनी थीं। वहाँ की सड़कों पर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल चलनेवालों की भीड़ लगी रहती थी। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, श्रमण और सभा-जन एक साथ घूमते-फिरते दीख पड़ते थे। अनेक विद्याओं में पारंगत पण्डितजन वहाँ निवास करते थे। काशी, कोटुम्बर आदि स्थानों के बने वस्त्रों की तथा फूल, इत्र आदि की बहुसंख्य दूकानें थीं। शृंगार-प्रसाधनों के बेचनेवाले अपनी चीजें फैलाये रहते थे। कार्षापण (एक सिक्का), चाँदी, सोना, काँसा और पत्थर से परिपूर्ण वह शहर एक चमकता हुआ निधि-निकेत था। उस नगर का भांडार और कोष धन-धान्यपूर्ण था। उपज में वहाँ की भूमि उत्तर कुरु के समान थी। सौंदर्य में वह अलकनन्दा देवपुर के समान था।"[1]

सागल नगर का वर्णन करने के बाद लेखक ने भिक्षु नागसेन और राजा मिलिन्द (ग्रीक-मेनांडर) के 'पूर्वयोग' अर्थात् पूर्वजन्म की संक्षिप्त कथा कही है। इस पूर्वयोग के अनुसार बुद्ध ने स्वयं भविष्यवाणी की थी, 'मेरे परिनिर्वाण के पाँच सौ वर्ष बाद ये दोनों पैदा होंगे और मेरे द्वारा सूत्ममरूपेण उपदिष्ट धर्म-विनयको प्रश्नोत्तर, उपमा और युक्तियों द्वारा स्पष्ट करेंगे।[2]

राजा मिलिन्द के बारे में लेखक आगे कहता है, "वह जम्बुद्वीप के सागल नगर में मिलिन्द नाम का राजा हुआ। वह पंडित, चतुर, मेधावी और बुद्धिमान् था। अनेक शास्त्रों को उसने पढ़ा था, यथा—१. श्रुति २. स्मृति ३. सांख्य ४. योग [3] ५. न्याय [4] ६. वैशेषिक

१—बाहिरकथा, मिलिन्दपन्हो, नागरी संस्करण, बंबई।

२—पूर्वयोग, बाहिरकथा, मि० प०, पृ० ३।

३—सिंहल संस्करण में 'संख्यायोगा' है, जिसका अनुवाद सिंहल भाषा में 'गणनशास्त्र' और 'कामशास्त्र' किया गया है।

४—'नीति' का अनुवाद आचार्य जगदीश काश्यपने 'न्याय' किया है। प्रसंग को देखते हुए 'न्याय' भी ठीक है। वैसे नीतिशास्त्र भी हो सकता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

७. गणित [1] ८. संगीत (गन्धब्बा) ९. वैद्यक १०. चारो वेद ११. पुराण १२. इतिहास १३. ज्यौतिष १४. माया (जादूटोना) १५. तर्क (हेतु) १६. तंत्रमंत्र (मन्तना) १७. युद्धविद्या १८. छन्दःशास्त्र और १९. सामुद्रिक। शास्त्रार्थ (वितण्डावाद) करने में वह अजेय था। सारे जम्बुद्वीप में राजा मिलिन्द के समान प्रज्ञा, धन और बल में कोई दूसरा नहीं था। उसके पास अनन्त सेना और वाहन थे।"[2]

राजा मिलिन्द शास्त्रार्थ में अपने विरोधी भारतीय विद्वानों को हराकर अक्सर अभिमान से कहता था, "यह जम्बुद्वीप तुच्छ है (तुच्छं वत भो जम्बुदीपो)! यहाँ कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण है जो मेरे साथ संलाप कर मेरी शंकाओं को दूर कर सके?"[3]

राजा मिलिन्द की वाक्पटुता की ऐसी धाक जमी थी कि बारह वर्षों से सागल नगर श्रमण-ब्राह्मण और गृहस्थ-पंडितों से खाली था, क्योंकि जो कोई भी भारतीय विद्वान् आता, राजा उससे शास्त्रार्थ करता और उसे हरा देता था। फलतः, विद्वान् नगर छोड़कर चले जाते थे। बौद्ध भिक्षुओं को भी बड़ी परेशानी थी। इनमें एक थे भिक्षु रोहण। एक बार उनकी दृष्टि नागसेन नामक एक बड़े प्रतिभावान् ब्राह्मण-पुत्र पर पड़ी। उनके मनमें आया कि यदि इस बालक को समुचित शिक्षा मिले तो यह निश्चय ही राजा मिलिन्द को शास्त्रार्थ में पराजित कर सकता है। ब्राह्मण बालक भी भिक्षु रोहण की विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुआ। बहुत आग्रह के बाद ब्राह्मण ने अपने पुत्र को प्रव्रजित होने की अनुमति दी। रोहण स्थविर पहले तो नागसेन को स्वयं पढ़ाते रहे, फिर, वर्त्तनीय आश्रम में अश्वगुप्त (अस्सगुत्त) के पास अध्ययन के लिए भेजा। वहाँ की पढ़ाई समाप्त कर उच्च शिक्षा के लिए नागसेन को पाटलिपुत्र (पटना) के अशोकाराम में आचार्य धर्मरक्षित के पास भेज दिया। पाटलिपुत्र में अपना अध्ययन समाप्त कर नागसेन हिमालय पर्वत के रक्षिततल को चले आए।

वहाँ अर्हतों ने नागसेन से कहा, "नागसेन, राजा मिलिन्द वाद-प्रतिवाद में प्रश्न पूछकर भिक्षु-संघ को तंग करता है। अच्छा हो कि तुम जाकर राजा का (शास्त्रार्थ में) दमन करो।"[4] नागसेन ने बड़े धैर्य के साथ आश्वासन देते हुए कहा, "भन्ते, आप लोग निर्भय हो सागल नगर जायँ।"[5] तब स्थविर भिक्षुओं ने सागल नगर को काषाय वस्त्र के प्रकाश से प्रकाशित कर ऋषियों के अनुकूल वातावरण पैदा किया। कुछ समय बाद स्वयं नागसेन भी एक बड़े भिक्षु-संघ के साथ सागल नगरस्थित बौद्ध आवास संखेय्य परिवेण में पहुँचे। वहीं पाँच सौ यवन (ग्रीक) सरदारों के साथ राजा मिलिन्द भिक्षु नागसेन का दर्शन करता है। यहीं 'बाहिरकथा' समाप्त होती है। इसके बाद राजा मिलिन्द और भिक्षु नागसेन के बीच शास्त्रार्थ शुरू होता है। पर शास्त्रार्थ के प्रथम चरण में ही राजा मिलिन्द भिक्षु नागसेन का लोहा मान लेता है। बाद के सारे अध्यायों में राजा जिज्ञासुभाव से बौद्ध धर्म और दर्शनविषयक प्रश्न पूछता है और नागसेन उत्तर देते हैं। ये प्रश्न इतने सुन्दर, दिलचस्प और हृदयग्राही हैं कि पाठक का जी बिलकुल नहीं ऊबता है।

१—'गणिका' और 'गणिता'—दोनों पाठ हैं।
२—मि० प० पृ० ४। ३—मि० प० पृ० ६।
४—बाहिरकथा, मि० प्र०। ५—वही।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ट्रेंकनर संस्करण और सिंहल संस्करण के अनुसार उपमाकथाप्रश्न (ओपम्मकथानु-पन्हो) की समाप्ति के बाद लिखा है, "छह कांडों में बाईस वर्गों से युक्त, दो सौ बासठ प्रश्नों का पहले से चला आता हुआ, यह मिलिन्दप्रश्न नामक ग्रंथ समाप्त होता है। प्राप्त-अप्राप्त—सब मिलाकर तीन सौ चार प्रश्न होते हैं।" इससे स्पष्ट है कि वर्त्तमान मिलिन्द-प्रश्न का कुछ भाग नष्ट हो चुका है। प्रश्नों के अंत में राजा मिलिन्द कहता है, "भन्ते नागसेन! मेरे अपराधों को क्षमा करें और आज से जीवनपर्यन्त मुझे उपासक स्वीकार करें।" इस तरह वह ग्रीक राजा भारतीय धर्म ग्रहण करने के बाद 'मिलिन्द' नाम का विहार (बौद्ध मंदिर) बनवाता है। अंत में पुत्र को राज्य सौंपकर वह, प्रव्रजित (संन्यासी) हो जाता है और विदर्शना को बढ़ाते हुए अर्हत् पद प्राप्त करता है। ग्रंथ क्राउन १/१६ आकार में कोई सवा चार सौ पृष्ठों का है।

राजा मिलिन्द कौन था?

अब प्रश्न उठता है कि यह राजा मिलिन्द कौन था? क्या वह कोई ऐतिहासिक पुरुष था? मिलिन्दपन्हो में उसे 'योनकानं राजा' अर्थात् यवनों का राजा कहा गया है। प्राचीन साहित्य में 'यवन' शब्द विशेष रूप से ग्रीक लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मिलिन्द कोई ग्रीक राजा था। किन्तु उसका नाम भारतीय ज्ञात होता है। इसका कारण यह है कि जिस तरह यूनानियों ने भारतीय नामों को अपने उच्चारणावयवों के अनुकूल बनाया, उसी तरह भारतीयों ने भी यूनानी नामों को किया। बैक्ट्रिया के ग्रीक राजाओं में मेनांडर का भी नाम आता है। मिलिन्द उसीके नाम का भारतीयकरण प्रतीत होता है। मूल में मिलिन्द-प्रश्न किस भाषा में लिखा गया, यह कहना कठिन है, किन्तु आज जो संस्करण प्राप्त है, वह पालि भाषा में ही है। पालि भाषा की प्रकृति और वर्ण-परिवर्तन को देखते हुए मेनांडर या मेनांड्रोसका निकटतम रूप मिलिन्द ही उपयुक्त जँचता है। ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से भी यही ठीक प्रतीत होता है। मेनांडर के एक सिक्के पर उसका नाम मिनांड (Minand) भी है। 'न' का 'ल' रूप-परिवर्तन पालि ही में नहीं, आज की भारतीय भाषाओं में भी आम बात है। 'मिलिन्दपन्हो' में अनेक ऐसे नाम आये हैं, जिनके ग्रीक (यूनानी) रूप का पता लगाना आज कठिन है। उदाहरणार्थ—'अथ खो देवमन्तियो राजानं मिलिन्दो एतदवोच…(पृष्ठ २३); अनन्तकायो च मंकुरो च सब्बदिन्नो च येन मिलिन्दो राजा…' (पृष्ठ ३२) [१] आदि।

ऊपर उद्धृत देवमन्तियो, अनन्तकाय, मंकुर और सब्बदिन्न आदि नामों के ग्रीक रूप का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लग पाया है। संभव है, देवमन्तियो देमेत्रियोस (Demetrios) और अनन्तकाय एण्टिओकस (Antiokous) हो। इसी प्रकार और नामों के रूप भी पालि और प्राचीन ग्रीक भाषा के अध्ययन द्वारा निर्धारित किये जा सकते हैं।

स्त्राबो ने अपने भूगोल में मेनांडर का उल्लेख बैक्ट्रिया के उन दो राजाओं में से किया है, जिन्होंने अपना राज्य भारत के पूर्वी भाग तक फैलाया था। स्त्राबो के अनुसार मेनांडर सतलज पार करके यमुना नदी तक के प्रदेशों में घुस आया था। जस्टिन के अनुसार भी मेनांडर

१—मिलिन्दपन्हो, नागरी संस्करण, बम्बई।

CC-0,.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भारत का राजा था। प्लुटार्क कहता है कि मेनांडर न्याय के लिए बहुत प्रसिद्ध था। वह इतना लोकप्रिय शासक था कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी शरीर-धातु के लिए विभिन्न नगरों में आपस में स्पर्धा होने लगी। इस स्पर्धा का अन्त तभी हुआ, जब तमाम नगरों ने शरीर-धातु को आपस में बाँट कर विभिन्न स्थानों पर स्तूप बनाना स्वीकार किया।[1]

भारत और यूनान का सम्बन्ध बहुत पुराना है। भारत से यूनान ने और यूनान से भारत ने बहुत कुछ सीखा है। ३२७ ई० पूर्व० में सिकंदर महान् ने भारत पर हमला किया था; किन्तु भारत-विजय का उसका स्वप्न अधूरा ही रहा। उसके मरने के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। सेनापति और सरदार आपस में ही राज्याधिकार के लिए लड़ते रहे। किन्तु सिकन्दर के आक्रमण ने महत्त्वाकांक्षी यूनानी राजाओं और सेनापतियों के लिए पूर्वी देशों का द्वार खोल दिया। बाख्त्री यूनानी सरदारों (क्षत्रपों) का एक मजबूत गढ़ था। २५० ई० पूर्व के आसपास क्षत्रप दियोदोतस सीरिया के साम्राज्य से अलग हो बाख्त्री में स्वतंत्र बन बैठा। बाख्त्री का साम्राज्य कालान्तर में चीन तक फैल गया। १९०–८० ई० पू० के आस-पास यहाँ के यवनों ने 'दिमेत्र' के नायकत्व में भारतवर्ष के ठीक अंदर तक चढ़ाई की, जहाँ सिकन्दर की सेना भी नहीं पहुँची थी। हमारे वाङ्मय में एक तो कालिदास के मालविकाग्निमित्र में यवनों और वसुमित्र के युद्ध की तरफ निर्देश है; दूसरे पतञ्जलि मुनि के महाभाष्य में यवनों की चढ़ाई के विषय में दो-एक वाक्य हैं; तीसरे गर्ग-संहिता नामक ज्यौतिष के पुराने ग्रंथ के अंतिम अध्याय युगपुराण में भी उस यवन-आक्रमण का संक्षिप्त वृत्तान्त है। स्रोतों के निर्देश से प्रकट नहीं होता कि भारतीय विजयों में कितना अंश दिमेत्र का था और कितना उसके बाद मेनेन्द्र (मेनांडर) का; मालविकाग्निमित्र में केवल यवनों का उल्लेख है, आक्रान्ता का नाम नहीं है; महाभाष्य में केवल इतना लिखा है कि यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने माध्यमिक को घेरा, और यह दिखलाया है कि वह घेरा लेखक के जीवन-काल में हुआ था।'[2]

युगपुराण से ऐसा प्रकट होता है कि दिमेत्र या मेनांडर (मिलिन्द्र) पांचाल और मथुरा के बाद पाटलिपुत्र तक चढ़ आया था। ऐसा लगता है कि जिस समय यवनों की सेना उत्तर भारत को रौंद रही थी, उसी समय एक कठिन प्रतिरोधात्मक शक्ति का आविर्भाव हुआ था और वह था खारवेल। उसने पंजाब तक अपनी प्रभुता स्थापित की थी। पुष्यमित्र ने भी सिन्धु-तट पर यवनों को पराजित किया। उसने शाकल तक अपना अधिकार विस्तृत किया।[3]

किन्तु, इस समय तक भी पंजाब के एक बड़े भू-भाग पर दिमेत्र और मेनांडर का कब्जा रहा ही। भारत की भूमि पर शाकल या स्यालकोट उनका प्रमुख केन्द्र था। ये यवन आक्रमणकारी आपस में राजसत्ता के लिए बहुत लड़ा करते थे। इसलिए किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में अनेक छोटे-मोटे राज्य कायम हो गये थे।

महान् यवन विजेता दिमेत्र के उत्तराधिकारियों में ही मेनांडर या मिलिन्द था। इसका

१—दि सेक्रेड बुक्स आफ दि ईष्ट, वोल्यूम XXXV. रिज डेविड्स।
२—भारतीय इतिहास की रूपरेखा—श्री जयचंद्र विद्यालंकार।
३—भा० इ० रू०, दूसरा खंड।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्म अलेक्जेंड्रिया (अलसंद-मि० प्र०) के कलसि या करिसि नामक स्थान पर हुआ था।[1] कुछ विद्वानों के मत में अलसन्द द्वोप काबुल-पंजशीर नदियों के दोआब में था।[2] प्लुटार्क के मतानुसार मेनांडर भारतीयों के विरुद्ध गंगा की तलहटी में लड़ते हुए छावनी में ही मरा था। बैक्ट्रिया के ग्रीक राजाओं का सिर्फ एक ही ऐसा सिक्का मिला है, जिसमें 'करिसि' खुदा हुआ है। स्पष्ट है कि पालि का 'कलसि' और 'करिसि' एक ही शब्द के दो रूप हैं।[3]

मिलिन्द के समय के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ की राय में मेनांडर ने लगभग १५५ ईसवी पूर्व में भारत पर हमला किया था; किन्तु गार्डनर ११० ई० पूर्व मानता है। राय चौधरी और बार्नेट प्रथम शताब्दी ई० पू० स्वीकार करते हैं। विनयतोष भट्टाचार्य और आर० सी० मजुमदार का कहना है कि मेनांडर का समय ९० ई० पू० से पहले नहीं हो सकता। विंटरनीज के मतानुसार मेनांडर प्रथम शताब्दी ई० पू० में शासन करता था और उसके राज्य में सारा सिंध, गुजरात और गंगा का तटप्रदेश भी शामिल था।[4] आज मेनांडर के भारत पर आक्रमण करने की तिथि निश्चित करना कठिन है, किन्तु इतना निर्विवाद है कि वह ई० पूर्व पहली सदी में भारत के एक बड़े भू-भाग पर शासन करता था।

मिलिन्द के सिक्के

राजा मिलिन्द (मेनांडर) के कई प्रकार के सिक्के भारत और अफगानिस्तान में मिले हैं। मिलिन्द के सिक्कों की उत्कृष्टता इसीसे प्रकट होती है कि गुजरात के राजा लोग आठवीं सदी तक उनका अनुकरण करते रहे। 'प्राचीन मुद्रा' के अनुसार मैसन को काबुल के उत्तर और बेग्राम में मिलिन्द के १५३ सिक्के मिले थे, और कनिंघम ने १००० से अधिक सिक्के एकत्र किये थे। भारत में मथुरा, रामपुर, आगरा के समीप भूतेश्वर और शिमला जिले के साबाभूत नामक स्थान पर मिलिन्द के बहुत-से सिक्के मिले थे। मिलिन्द के पाँच प्रकार के चाँदी के सिक्के मिले हैं। कुछ सिक्कों पर एक ओर मुकुट पहने हुए राजा का मस्तक और दूसरी ओर यूनानी देवता पैलास की मूर्ति है। कुछ ऐसे भी सिक्के हैं, जिनमें राजा के हाथ में शूल है। पैलास की जगह कुछ में पक्षयुक्त देवमूर्ति है और कुछ में घुड़सवार या सिर्फ घोड़े की मूर्ति है। ताँबे के भी अनेक प्रकार के सिक्के मिले हैं। इनमें भी कितनों में एक ओर राजा की मूर्ति और दूसरी ओर विजया देवी, राक्षस का मुख आदि हैं। कुछ ऐसे भी सिक्के मिले हैं, जिन पर एक ओर साँढ़ या हाथी की मूर्ति और दूसरी ओर त्रिपद वेदी या गदा है। ताँबे के कुछ ऐसे सिक्के हैं, जिन पर एक ओर धर्मचक्र और दूसरी ओर तालवृक्ष की शाखा है।[5]

कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों को 'मिलिन्दपन्हो' ग्रन्थ का यह कथन कि राजा मिलिन्द

"१—अत्थि भंते अलसन्दो नाम दीपो तत्थाहं जातोति।
अत्थि भंते कलसिगामो नाम तत्थाहं जातोति।"
[मि० प्र० पृ० ८६]

२—भा० इ० रू०।
३—सें० बु० ई०; XXXV.।
४—इंडियन लिटरेचर (अँगरेजी संस्करण), कलकत्ता, पृ० १७५।
५—प्राचीन मुद्रा (पृ० ६७), राखालदास वंद्योपाध्याय।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

था मेनांडर ने आर्यधर्म (बौद्ध धर्म) स्वीकार किया और गृहत्याग कर भिक्षु बना आदि ठीक नहीं जँचता है। किन्तु, मेनांडर के सिक्के उनके इस विचार को गलत ही साबित नहीं करते, बल्कि मिलिन्दपन्हो के वर्णन की पुष्टि भी करते हैं। धर्मचक्रवाले सिक्कों से प्रतीत होता है कि अशोक की तरह ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद मेनांडर ने जो सिक्के ढलवाये होंगे, उन्हीं पर धर्मचक्र का चिह्न अंकित किया गया होगा। सारनाथ (काशी) में भगवान् बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया था, जिसे उन्होंने 'धर्म का चक्का घुमाना' कहा था।[1] इस उपदेश का नाम भी है 'धम्मचक्कपवत्तनसुत्त'। उसी को लक्ष्यकर बौद्ध धर्म में चक्र को धार्मिक चिह्न माना गया। इसे बौद्ध धर्मानुयायी राजाओं ने अपना राज्यचिह्न बनाकर आदर किया। आज भारत के राज्यचिह्न में जो चक्र का स्थान है और जिसे अशोक का राज्यचिह्न माना जाता है, उसके मूल में भी यही घटनाक्रम है। यूनानी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उसके पुराने सिक्कों पर थे। बौद्धधर्म स्वीकार करने के बाद उसने 'धर्मचक्र' को ही अपना राज्यचिह्न माना और उसे ही अपने सिक्कों पर स्थान दिया।

राजा मिलिन्द का एक ऐसा दुर्लभ सिक्का मिला है, जिस पर एक ओर लिखा है—बसिलेओस दिकाओउ मेनन्द्रोउ Basileos Dikaiou Menandrou और उन्हीं सिक्कों के दूसरी ओर अंकित है—महरजस धर्मिकस मेनान्द्रस। इस महत्त्वपूर्ण सिक्के से भी स्पष्ट हो जाता है कि राजा मिलिन्द या मेनांडर ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। इसमें कुछ संदेह नहीं कि ऐसे सिक्के कम मिलते हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि भिक्षु बनने के कुछ ही पहले मिलिन्द ने ऐसे सिक्कों का प्रचलन किया हो। कुछ अन्य बाख्त्री-यूनानी राजाओं के सिक्कों पर भी 'धर्म' शब्द आया है। इन्हें देखकर कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों का अनुमान है कि सिक्कों पर धर्म शब्द का अंकन उन दिनों एक प्रथा-सी रही होगी और इसका संबंध ग्रीक कहानी से है।[2] किन्तु, यह अनुमान सिर्फ कल्पना है, इसमें कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। मुसलमानों के पूर्व जितने भी आक्रमणकारी भारत आये, सभी को भारतीय धर्म और संस्कृति को स्वीकार कर भारतीय ही बनना पड़ा।[3]

बौद्ध परंपरा के अनुसार 'धार्मिक' विशेषण बौद्ध मतावलम्बी के लिए, विशेषकर जिसे बौद्ध धर्म पर अगाध श्रद्धा हो और उसके अनुसरण एवं प्रसार में सहयोग देता हो, उसीके नाम के पहले प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ, सम्राट् अशोक को धर्माशोक कहा गया है।[4]

१—"धम्मचक्कं पवत्तेतुं गच्छामि कासिनं पुरं।
महावग्गो, विनयपिटक (स्यामी संस्करण)।

२—रिज डैविड्स—से० बु० ई० XXXV.।

३—'खीणासवा पसादत्थं धम्मासोकस्स राजिनो। धम्मासोकोति नायित्थ पच्छा पुञ्ञेन कम्मुना।'—महावंसो, नागरी संस्करण, बम्बई।

४—कुछ और बाख्त्री ग्रीक राजाओं के सिक्कों पर 'धर्म' शब्द अंकित मिले हैं। निश्चय ही राजनीतिक परिस्थितिवश इन्हें आर्य धर्म स्वीकार करना पड़ा होगा। विस्तार के लिए देखिये—सेक्रेड बुक आफ दि ईष्ट XXXV. और 'प्राचीनमुद्रा'।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्राट् अशोक ने धर्मशब्द का उपयोग सबसे ज्यादा किया है। जैसे, धर्मानुशासन, धर्मानुशिष्ट्यै, धर्ममहामात्र, धर्मयुक्त, धर्मलिपि, धर्ममंगल, धर्मशुश्रूषा, धर्मव्रत, धर्मसंबंध, धर्मविजय[1] आदि। और, सिर्फ बौद्धधर्म में ही क्यों, यह तो भारतीय परंपरा है।

राजा मिलिन्द या मेनांडर ने एक ऐसा धर्म स्वीकार किया था, जिसका प्रचार उसीके राज्य में नहीं, बल्कि उसके पड़ोसी देशों में भी था। वैसी हालत में शिशु-संघ उसे 'धार्मिक' की उपाधि से विभूषित कर ही सकता था। एक चतुर और सफल शासक को धर्म का आश्रय लेना उतना ही आवश्यक है, जितना कि धर्माध्यक्षों को शासक का। इतिहास में ऐसी सैकड़ों-हजारों घटनाएँ मिलती हैं।

पाश्चात्त्य विद्वान्, जिन्हें अपनी बौनी सभ्यता के सामने सारा संसार छोटा दीखता है, यह मानने को तैयार नहीं कि ग्रीक-सभ्यता, विद्या और कला पर कुछ भी भारतीय प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्त्य देशों में ग्रीक सभ्यता बहुत प्राचीन मानी जाती है; किन्तु उसकी प्राचीनता का इतिहास भी अधिक-से-अधिक ईसा पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी तक ही पहुँचता है। अलेक्जेंडर का देश मकदूनिया ई० पूर्व चौथी सदी तक असभ्य और बर्बर समझा जाता था। इसके विपरीत ई० पू० पाँचवीं-छठी शताब्दी में महावीर और बुद्ध जैसे महापुरुषों को भारत जन्म देता है। बुद्ध ने अपने अनुचरों से कहा था—'चरथ भिक्खवे चारिकं, बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय।' अर्थात्, भिक्षुओ, जनता के हित के लिए, जनता के सुख के विचरण करो।' बुद्ध के इसी आदेश के अनुकूल सम्राट् अशोक ने 'धर्म-विजय' के लिए विभिन्न यवन-राज्यों में भिक्षुओं को भेजा था। अपनी एक धर्मलिपि में वह कहता है, "जो धर्म की विजय है, वही देवताओं के प्रिय की मुख्य विजय है। यह विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ (अपने राज्य में) तथा सब सीमांत प्रदेशों में छह सौ योजन तक जिसमें अंतियोकस[2] नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुरमय[3] अंतकिन[4] मग[5] तथा असिकसुंदर[6] (के राज्य) हैं ··हुई।" सम्राट् अशोक के इस शिलालेख से स्पष्ट है कि मिलिन्द या मेनांडर के कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले ही ग्रीक-राज्यों में भारतीय धर्म का प्रवेश हो चुका था।

पाश्चात्त्य धर्म, साहित्य, कला और जीवन को हमारे पूर्वजों ने कितना प्रभावित किया और स्वयं वे कितना प्रभावित हुए—इसका अध्ययन अब तक भारतीय दृष्टि से नहीं हुआ है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने जो कुछ लिखा उसी को प्रामाणिक मानकर हम चलते आ रहे हैं। अँगरेजी विचार और भाषा का चश्मा उतारकर ही हम सही तथ्य को सही रूप में देख सकेंगे।

१—अशोक की धर्मलिपियाँ—गौ० ही० ओझा द्वारा संपादित, पृ० १८, ४०, ४१, ५० आदि।

२—एंटिओक्स थिओस ही अन्तियोकस है। वह सेल्युकस निकेटर का पौत्र था और सीरिया, बैक्ट्रिया आदि देशों का शासक था।

३—टालेमी फिलाडेलफस, मिश्र का राजा।

४—एंटीगोनस गोनटस, मेसिडोनिया का राजा।

५—मगस, सिरीनीका राजा। यह टालेमी का भाई था।

६—असिकसुन्दर=एलेक्जेंडर, एपिरस का राजा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

छायावादी कवियों की सौन्दर्य-चेतना

श्री कुमार विमल, एम्० ए०

सौंदर्य वस्तुनिष्ठ है। इसलिए वह प्रत्यक्ष-बोध से सम्बन्धित है। प्रत्यक्ष के लिए अन्तःकरण और इन्द्रिय, दोनों का वस्तु के साथ सन्निकर्ष या संयोग होना चाहिए। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—सेन्द्रिय और अतीन्द्रिय। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वह है, जिसका ग्रहण किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। उदाहरणार्थ, आशा, भय, संकल्प आदि चित्त के परिणाम हैं, जिन्हें केवल चित्त ही जानता है। जिस प्रकार सन्दिरस्थ दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है और अपनी लौ के अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अन्तःकरण दूसरी वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है और अपना भी प्रत्यक्ष करता है। निश्चय ही इस प्रकार के अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सौंदर्य का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सुन्दर वस्तु में ही सौंदर्य है, जो अस्मत् का नहीं, युष्मत् का अंश है, अर्थात् द्रष्टा अथवा ज्ञाता से बाहर है। इसलिए सौंदर्य का सम्बन्ध मूल प्रकृति के रूपतन्मात्र से है। और, यह सिद्ध है कि वस्तु का ज्ञान हमें सेन्द्रिय प्रत्यक्ष से होता है। सेन्द्रिय प्रत्यक्ष की मात्रा इन्द्रियों की सशक्तता-अशक्तता और अच्छाई-बुराई पर निर्भर है। इन्द्रिय एक प्रकार की शक्ति है, जिसमें बाहरी वस्तु, ज्ञेय अथवा दृश्य से प्रभावित होने तथा उनको प्रभावित करने की क्षमता है। सेन्द्रिय होने के कारण ही, अर्थात् प्रत्यक्षीकरण के माध्यम की विशेषता के कारण ही, हम व्यक्तियों में 'सौंदर्य' के प्रभाव से मुग्ध होने तथा 'सुन्दर' को प्रभावित करने में स्तर अथवा मात्रा की भिन्नता पाते हैं। इसलिए, व्यक्ति के सौंदर्य-बोध की भिन्नता ही इसका पुष्कल प्रमाण पेश करती है कि सौंदर्य का सम्बन्ध सेन्द्रिय प्रत्यक्ष से है, अर्थात् सौंदर्य वस्तुनिष्ठ है। शायद, इसी कारण आई० ए० रिचर्ड्स ने सौंदर्य को संस्पर्श-सुख (Coen-esthesia) कहा है।

इस मान्यता को स्वीकृत करने पर एक दूसरा तथ्य स्वयं उद्घाटित होता है—वह है, सौंदर्य के ग्रहण में अन्तःकरण का योग। अन्तःकरण के योग की आवश्यकता दो अवस्थाओं में है—एक सौंदर्य की प्रत्यक्षावस्था में, दूसरे उसकी मानसिक पुनरावृत्ति में। पहली अवस्था में इसलिए अतःकरण का योग चाहिए कि अन्यमनस्क होने की दशा में—चित्त कहीं और लगे रहने की अवस्था में, सौंदर्य के अवलोकन में मन नहीं रमता। दूसरी अवस्था में—सौंदर्य की मानसिक पुनरावृत्ति में—अन्तःकरण का योग इसलिए चाहिए कि इसमें सौंदर्य का वास्तविक आलम्बन अन्तर्हित रहता है। उदाहरणार्थ, जल को उच्छल तरंगों से बाजी मारनेवाले 'डैफोडिल्स' को वायु-वेग से हिलते हुए देखकर वर्डस्वर्थ की वह सौंदर्य-चेतना जगी होगी, जिसे उसने अपने कमरे में 'पेन्सिभ मूड' में बैठकर पुनः पकड़ने की कोशिश की। कविता लिखते समय वास्तव में 'डैफोडिल्स' उसके सामने नहीं थे। किन्तु, उनके प्रत्यक्षीकरण के बाद उसकी इन्द्रियों पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह कवि की स्मृति में सुरक्षित रही। इस द्वितीयावस्था की उद्भूति प्रथमावस्था में ही निहित है। सौंदर्य-

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भावन में यही वह स्थल है, जहाँ 'आइडिया' और 'इमेज' में एकत्व अथवा सन्तुलन रहता है। इन दोनों में यदि भावगत पौर्वापर्य माना जाय तो 'आइडिया' कारण और 'इमेज' कार्य होगा। इसी विचार-सरणी पर यह स्थापना निर्भर है—Image is the realization of an idea in a single object. किन्तु, वास्तव में 'इमेज' और 'आइडिया' में वस्तुगत पौर्वापर्य है जिसके अनुसार प्रथम कारण और द्वितीय कार्य है। इसमें नियत-पूर्ववर्त्तित्व के साथ-साथ अविनाभाव है।

सारांश यह कि वस्तु के सन्निकर्ष के विना सौंदर्य की उद्भूति संभव नहीं है। लाक ने ठीक ही कहा है कि मानव-मन एक श्वेत-पट (Tabularasa) के तुल्य है, जिस पर सम्पर्कित अनुभव-जन्य विचारों का ही अंकन होता है। सच तो यह है कि प्रत्यय अथवा अनुभूति के लिए आलम्बन का गोचर प्रत्यक्ष अथवा ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष आवश्यक है, क्योंकि वस्तु का प्रत्यक्ष ही उसके अस्तित्व का सूचक है। बर्कले का यह कथन—Esse est percipi : to be is to be perceived, अर्थात् किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष (Perception) में ही है, अपनी आत्यंतिकता के बावजूद अपेक्षित महत्त्व रखता है। सारांश यह कि 'सौंदर्य' की अनुभूति 'सुन्दर' के अवलोकन पर निर्भर है। इसलिए इसका अधिकांश सम्बन्ध हमारे निर्विकल्प एवं सविकल्प प्रत्यक्ष से है।

मानव-मन की एक प्रसारिका वृत्ति-शक्ति होती है, जिसके द्वारा वह संवेदित प्रत्ययों का प्रसार करता है। 'सुन्दर' को देखकर ही 'सुन्दरतर' की सृष्टि उसके लिए संभव है। इसी स्थल पर हम क्रिष्टोफर काडवेल के इस मत से सहमत हो सकते हैं कि सौंदर्य के वस्तुनिष्ठ होने पर भी सौंदर्य-चेतना में आत्मनिष्ठता की गुंजाइश है। जिस प्रकार एक फोटोग्राफर छोटे 'निगेटिव' का विस्तृत अंकन (एनलार्जमेंट) यांत्रिक साधन से प्रस्तुत कर देता है, उसी प्रकार मानव-मन प्रागनुभूत प्रत्ययों का प्रसार कल्पना के द्वारा सरलतापूर्वक कर लेता है। बहुत संभव है कि औसत से अल्पाधिक सुन्दर कोई वनकन्या ही वह आधार-फलक रही हो, जिसपर कालिदास की अनुपम सौंदर्य-सृष्टि शकुन्तला के रूप में चित्रित हुई। यह प्रसार और संवर्द्धन मन की औपम्यमूलक चेतना पर निर्भर करते हैं, जिसके जरिये सादृश्य एवं साधर्म्य-विधान के द्वारा मुख चंद्र और कर कमल बन जाते हैं। इसलिए सौंदर्य को केवल मानसिक प्रत्यय मानना उचित नहीं है। ऐसा मानना बौद्धों के योगाचार मत के विज्ञानवाद एवं पाश्चात्य दर्शन के 'सब्जेक्टिव आइडियलिज्म' की आत्यंतिकता के समान दोषयुक्त है। जिस प्रकार कांट ने सौंदर्यानुभूति के लिए लिखा है कि 'सृष्टि का ज्ञान होने के लिए यद्यपि मनुष्य की बुद्धि का एकीकरण आवश्यक है, तथापि बुद्धि इस ज्ञान को सर्वथा अपनी ही गाँठ से, अर्थात् निराधार नहीं, उत्पन्न कर देती, उसे सृष्टि की बाह्य वस्तुओं की सदैव अपेक्षा रहती है,' उसी प्रकार सौंदर्य-चेतना के लिए आत्मनिष्ठ अन्तश्चेतना के सिवा बाह्य वस्तुओं की सदैव अपेक्षा रहती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह एक साधारण सत्य है कि किसी भी वस्तु को देखने के लिए नेत्रों को मन की सहायता की आवश्यकता है—'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा।' किन्तु, वास्तव में वस्तुनिष्ठ होने पर भी सौंदर्य केवल नेत्रों का विषय नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक इन्द्रिय का विषय हो सकता है। संत कबीर ने लगभग सम्पूर्ण इन्द्रिय-समूह से अपने अविनाशी प्रीतम के सौंदर्याकर्षण का वर्णन किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'मैं का जाणो राम कूँ, नैनू कबहूँ न दीठ', यद्यपि उन्होंने राम को चक्षुओं से नहीं देखा, किन्तु, उसकी अनभिव्यंजनीय सौंदर्यानुभूति से वे प्रभावित हुए, जिसका स्पष्ट संकेत उनकी कुछ पंक्तियों—यथा, 'रितु फागुन नियरानी हो'—में मिलता है। यहाँ ध्यातव्य है कि आध्यात्मिक धरातल के कारण कबीर की सौंदर्य-निष्ठा भावानुभूति न रहकर रस-चर्वणा बन गई थी। ऐसी सौंदर्य-चेतना, जो केवल चाक्षुष गोचर पर निर्भर करती है, बड़ी निकृष्ट होती है। चाक्षुषेतर सौंदर्य को ग्रहण करने की अक्षमर्थता के कारण रीतिकालीन कविता की निम्नाभिमुख सौंदर्य-चेतना कोकशास्त्रीय प्रवल्हिकाओं की व्याख्या का उपादान बन गई। रूपाकार की मांसलता सर्वथा निषिद्ध एवं वर्जनीय नहीं है, किन्तु, कलाकार द्वारा उसका उचित शुद्धीकरण एवं उदात्तीकरण आवश्यक है।

सौंदर्य के साथ कुरूपता का निरन्तर वैपरीत्य है। सौंदर्य का विपरीतार्थक अथवा प्रतीप असौंदर्य नहीं, बल्कि कुरूपता है। कुरूपता भी हमारी सौंदर्य-चेतना से संबंधित है। सौंदर्य और कुरूपता एक दूसरे के मूल्यों एवं सीमाओं का निर्धारण करते हैं। इसीलिए वाल्मीकि ने राम के सौंदर्य को अधिक प्रभविष्णु एवं शूर्पणखा की कुरूपता को अधिक विकर्षक बनाने के लिए सौंदर्य और कुरूपता का समानान्तर वर्णन किया है:—

"सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा॥
प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा।
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी॥"

सारांश यह कि कुरूपता के प्रति शिथिलता हमारी सौंदर्य-चेतना के लिए अशोभन है और कुरूपता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हमारी सौंदर्य-चेतना के लिए शुभकर है। इसमें शक नहीं कि छायावादी कवियों में कुरूपता के प्रति तीव्र प्रतिकिया है।

सौंदर्य की भोग-प्रक्रिया जहदजहत्स्वरूपा है। जहदजहत् का अर्थ है निर्वाचन—कुछ को छोड़ना, कुछ को लेना। छायावादी कविता इस प्रक्रिया का अन्यतम निदर्शन है। नियाग्रा अथवा कावेरी के जलप्रपात के सौंदर्य से, जिसमें भैरव भास्वर है, वे कवि प्रभावित नहीं हो सके। उनकी रुझान इस ओर नहीं रही। उनकी वृत्ति उस शांत गंगा के सौंदर्य में रमी, जिसमें उनके जल-विहार की नौका पालों के पंख खोलकर 'मृदु मंद मंद मंथर मंथर' तिर सकी। जिस प्रकार सभी प्रेय श्रेय नहीं होता, उसी प्रकार सौंदर्य सर्वत्र आकर्षणमय नहीं होता। द्रौपदी के कर्षित केश को शत्रु के रक्त में चुपड़कर वेणी-बंधन करते समय भीम की प्रतिहिंसा को ही परितोष नहीं हुआ होगा, बल्कि उसे एक सौंदर्यिक तृप्ति भी मिली होगी;

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जो करुणा-प्रधान व्यक्ति के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती। प्रत्येक व्यक्ति भूपग की तरह चिकने संगमर्मर पर फैली रक्त की बूँदों में वीर-बहूटियों को उपमा नहीं निरख सकता। इस प्रकार सौंदर्य का आलम्बन व्यक्ति-भेद और स्थान-भेद के कारण एक ही प्रकार गृहीत नहीं होता।

'सुन्दर' अपने सामान्य का उत्कृष्टतम विशेष है। अस्तु, सच्चे सौंदर्य के लिए किसी भी परिवेशगत प्रसाधन अथवा चाकचिक्य की आवश्यकता नहीं है—वह जीवंत विभु है। संस्कृत के अलंकृत काल के कवियों का भी ऐसा विश्वास रहा है। कवि कालिदास ने पार्वती का रूप-वर्णन करते हुए कुमारसम्भव के पाँचवें सर्ग में लिखा है—

"यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैः
जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं
सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते॥"

अर्थात्, "पार्वती का मुख जिस प्रकार सजे हुए केशों से सुन्दर लगता था, उसी प्रकार जटाओं से भी लगता था। कमल केवल भौंरों की पंक्तियों से ही नहीं, अपितु काई के साथ भी शोभायमान लगता है।" लेकिन छायावादी कवियों ने परिवेश-प्रसाधन पर अधिक बल दिया है, जिसके फलस्वरूप उनके सौंदर्य का आलम्बन ईहकृत्या आकर्षक, किन्तु, वास्तव में अयथार्थ है। इसी 'लूज' प्रवृत्ति के कारण पन्त को 'भावी पत्नी' शीर्षक कविता में कवि-प्रसिद्धियों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा है। वर्त्तमान समय में सौंदर्य की भावना एक मनोवैज्ञानिक स्तर पर आ गई है। इस मनोवैज्ञानिक स्तर का निर्वाह छायावादी कवियों के बीच केवल प्रसाद ही कर सके। कामायनी का 'काम' सर्ग इसका अन्यतम उदाहरण है।

सौंदर्य के प्रति युग का दृष्टिकोण बदलता रहता है। जिस प्रकार सत्य के पहलुओं में देशकालानुसार परिवर्त्तन होते हैं, उसी प्रकार सौंदर्यिक अभिरुचि के निर्माण में अथवा सौंदर्य-निष्ठा में दिक्कृत, कालकृत और स्थलकृत भेद काम करते हैं। चीन में छोटे पाँव सुन्दरता की दृष्टि से समादृत हैं, जिसके लिए सुकुमारियों को बाल्यावस्था में ही लौह पदत्राण 'फिट' कर दिये जाते हैं। पेरिस की सुन्दरियों को सुनहले बाल प्रिय हैं, तो अपने यहाँ काले बाल आकर्षणमय हैं। इसी तरह स्थान-भेद से रुचि-भेद के समान ही युगीन दृष्टि-भेद सौंदर्य-चेतना में पर्याप्त हेरफेर लाता है। आगत युग विगत युग के सौंदर्यिक मूल्यों में परिवर्त्तन और परिष्कार लाता है। जिस प्रकार दैचारिक विप्लव, परिवेशगत परिवर्तन एवं चिन्तन-पद्धति के नवीन शोधों के द्वारा मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध, आत्मप्रत्यभिज्ञान तथा जीवन-दृष्टि में हेरफेर होता है, उसी प्रकार सौंदर्य-चेतना भी परम्परा से ग्रहण-वर्जन करती हुई नवीन परिवेश के अनुसार बदलती है।

छायावादी कवियों की सौन्दर्य-चेतना में इस जीवंतता का अभाव है, जो अत्यावश्यक थी। रूसी विचारक शर्नीशेव्स्की ने ठीक ही कहा है—Beauty is life. वस्तुतः कोई भी निष्प्राण—मृत वस्तु हमें आकृष्ट नहीं कर सकती। उससे घिन, विकर्षण अथवा विराग पैदा होता है। इसलिए काव्य-जगत् में मृत्यु-रति का प्रायः अभाव है। फ्रायड के एक-आध

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पट्शिष्य ही मृत्यु-रति को साहित्य में लाने का साहस कर सके हैं। छायावादियों की असफलता का मुख्य कारण यह है कि वे दो अतियों के बीच सामंजस्य का सेतु उपस्थित नहीं कर सके। रीतिकाल की मांसल सौंदर्य-दृष्टि के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया के कारण वे 'सूक्ष्म' की ओर झुके, किन्तु, यथार्थोन्मुख दृष्टि के अभाव में वे अपनी धारणा में दृढ़ नहीं हो सके। फलस्वरूप, उनकी सौन्दर्य-चेतना कुछ स्थलों पर सूक्ष्म और कुछ स्थलों पर मांसल हो गई। ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ मांसलता की दृष्टि से छायावादी कवि रीतिकाल से टक्कर ले सकते हैं। विशेषकर पन्त की कविता कभी-कभी स्थूलता की अति के कारण यौनाविष्ट हो जाती है, जिसमें ऊष्मा का अतिरेक रहता है—

"बजा दीर्घ साँसों की भेरी
सजा सटे कुच कलशाकार
बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार;
देव ! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार।" (पल्लव)

इसी प्रकार निराला की कविताओं में भी विरल मांसलता मिलती है। निम्नांकित पंक्तियों में रूपाकार की चाक्षुष अंगिता के कारण भोंड़ी स्थूलता है—

"देख यह कपोत-कंठ
बाहु-वल्ली कर-सरोज
उन्नत उरोज पीन-क्षीण कटि
नितम्ब-भार-चरण सुकुमार
गति मंद मंद..... ।" (अनामिका)

इन्हें पढ़ते ही प्रियतमा से शारीरिक मिलन के लिए आतुर कालिदास के यक्ष की यह व्याकुल वाणी याद आ जाती है, जिसमें शीर्षस्थ स्थूलता है—'तन्वी श्यामा शिखरिदशना.....श्रोणिभारात् अलसगमना।'

स्पष्ट है कि सौंदर्य के प्रति अध्यासमय दृष्टिकोण रखने से दोलाचल वृत्ति के कारण छायावादी कवि न तो 'सूक्ष्म' को स्वायत्त कर सके और न 'स्थूल' को ही पकड़ सके, जबकि स्वस्थ सौंदर्य-चेतना के लिए संतुलित यथार्थोन्मुख दृष्टि की प्राथमिक आवश्यकता है। जिस गति से व्यक्ति की दृष्टि यथार्थोन्मुख होती है; उसी गति से उसकी सौंदर्य-चेतना परिशोधित, होती है, क्योंकि सौंदर्य भी एक यथार्थ है। छायावादी कवियों का 'यथार्थ' से नहीं के बराबर सम्बन्ध था। अतः उनकी सौंदर्य-पिपासा तृप्त नहीं हो सकी। सत्य में जिज्ञासा

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को सन्तोष मिलता है। सत्य के सम्पर्क में ही इन्द्रियों को शांति मिलती है। और, इस सत्य का साक्षात्कार 'यथार्थ' में ही होता है। इसी 'यथार्थ' की अनुपलब्धि के कारण छायावादियों की सौंदर्य-चेतना हमारी आशंसा की अधिकारिणी न बन सकी। यथार्थ के रिक्त स्थल की पूर्ति उन्होंने कल्पना के द्वारा की, जिसमें एक प्रकार की केन्द्रगामिता थी। इसलिए उनका सौंदर्यांकन और आस्वादन अध्यासमय रहा। उनकी सौंदर्य-रेखाएँ उतनी उभर न सकीं; जितनी हमारी वृत्तियों को रमाने और इन्द्रियों के सन्निकर्ष के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि प्रारम्भ में पाठकों और आलोचकों ने उनके काव्य को पलायनशील कहा। इस प्रसंग में श्री नेमिचन्द्र के इस वक्तव्य को प्रस्तुत करना समीचीन जान पड़ता है—"सौंदर्य का आकर्षण 'पलायन' की प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता।... सौंदर्य की अनुभूति तो व्यक्तित्व को और संवेदनशील बना देती है। पलायनशील साहित्य वही होगा, जिसमें साहित्यकार एक प्रकार के सौंदर्याभास के कल्पना-जाल में अपने दायित्व से भागता है, जो सौंदर्य के प्रति सचमुच आकृष्ट नहीं है। बल्कि जो सौंदर्य को अपनी दायित्वहीनता की एक आड़ बनाना चाहता है।" (तारसप्तक)

छायावादी कवियों ने 'सौंदर्य' से अधिक उसके माध्यम का अभिविन्यासन और परिमार्जन किया है। सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम का सौंदर्य अपेक्षित है। इसलिए सौंदर्य-चेतना के विश्लेषण में माध्यम का सौंदर्य भी अर्थप्रतिपत्ति के क्षेत्र में अन्तर्भुक्त है। छायावादी कवियों ने माध्यम के सौंदर्य अर्थात् अभिव्यंजना के सौंदर्य में अद्भुत सफलता पायी है। लक्षणा और व्यंजना के सहारे अर्थ की मार्मिक छवियों के उद्घाटन के साथ ही शब्द-शोधन के नये कला-प्रकार के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि वास्तव में काव्य शब्दों का संगीत है। विशेषकर निराला ने यति-गति का अंकुश स्वीकार कर मुक्त छंद के परिसर में वर्ण-मैत्री और शब्द-संगीत की सहायता से जिस नाद-सौंदर्य की सृष्टि की, वह छायावाद की एक महान् उपलब्धि है। छंदानुशासन को स्वीकार कर लेने पर भी निराला ने कुछ स्थलों में इस दृष्टि से विलक्षण सफलता पाई है। उदाहरणार्थ—

"मौन रही हार
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते शृङ्गार
कण-कण कर कंकण
प्रिय किण-किण रव किंकिणी
रणन रणन नूपुर उर लाज लौट रंकिनी
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते शृङ्गार।"

अथवा

"उठकर छवि से आता है पलजीवन के उत्पल का उत्कल।
पंकज के ईक्षण शरद हँसी, भू-भाल शालि की बाल फँसी।
बह चला सलिल, खुल• चली नसी, सीझे दल, इधर पसीजे फल।"

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस फन में दूसरे छायावादी कवि भी माहिर हैं। इस प्रकार सौंदर्य के मानदण्ड की दृष्टि से छायावाद का साधन साध्य से अधिक सफल है, उसका विधान (Form) विषय (Content) से अधिक महत् है।

सारांश यह है कि छायावादी कवियों की सौंदर्य-चेतना जीवंत और स्पृहणीय नहीं हो पायी है। एक ओर महादेवी और प्रसाद की कविताओं के अधिकांश स्थलों में सौंदर्य का संपृक्त आधार इतना सूक्ष्म और वायवीय हो गया है कि उसकी रमणीयता साधारणीकृत नहीं हो पाती। दूसरी ओर पन्त आदि की रचना के कुछ स्थलों में उनकी सौंदर्यानुभूति मांसलता से बेतरह दब गयी है। इस प्रकार दो अतियों से आक्रान्त रहने के कारण इनकी सौंदर्य-चेतना में सप्राणता तथा स्पष्टता का अभाव है। सच पूछिये, तो छायावाद की सौंदर्य-चेतना का विशिष्ट व्यक्तित्व (Identity) उसकी धूमिल अस्पष्टता में ही छिपा है। वास्तव में छायावादी कवि न तो रीतिकालीन कवियों की तरह मांसल अथवा शरीरी सौंदर्य का सफलतापूर्वक अंकन कर पाये और न रहस्यवादियों की तरह एक उच्चतर धरातल पर परम सुन्दर (Absolute Beauty) को ही स्थापित कर सके।

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन*

[मनोविश्लेषण और कलाकार]

श्री कलीमुद्दीन अहमद, एम्० ए० (प० वि०), बी० ए० (केम्ब्रिज)

(गतांक से आगे)

अक्सर ही बलपूर्वक कहा गया है कि प्रतिभा और उन्माद घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। यह विचार नया नहीं है, किन्तु अब इसे न्यूनाधिक वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तथाकथित परीक्षित साक्ष्य के बाहुल्य के साथ। अरस्तू के जितने प्राचीन समय में ही उन्माद और प्रतिभा में बहुल समानताएँ आविष्कृत हुई थीं—साधारणतः महत्त्वरहित मूढ़ताओं को ही कारण और मूल तत्त्व मान लेने की भूल की गई थी। 'बहुतेरे लोग कवि, मसीहा और डायनें (Sibyl) हो जाते हैं और मार्कस और साइराक्यूजन (Syracusuan) की तरह, तब तक काफी अच्छे कवि भी रहते हैं, जब तक वे मनीयकल (maniacal) रहते हैं, किंतु वे स्वस्थ हो जाने पर पद्य नहीं लिख पाते। काव्य, राजनीति और कलाओं में लब्धप्रतिष्ठ मनुष्य, एजैक्स (Ajax) की तरह, बहुधा औदासिक (melancholic) और उन्मत्त थे, या बेलेरोफन (Bellerophon) की तरह नृघृणिक (misanthropic)। आधुनिक युग में भी ऐसे चरित्रों को सुकरात, एंपेडोक्लीज (Empedocles) और अन्य

* Psycho-analysis and Literary Criticism. मूल अँगरेजी पुस्तक के एक अंश का अनुवाद।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बहुतेरे लोगों में, खास कर कवियों में, निर्दिष्ट किया गया है।'[1] एक मात्र अरस्तू ही इस भ्रांति का शिकार नहीं हुआ। डिमाक्रिटस (Democritus), सेनेका (Seneca), सिसेरो (Cicero), प्लुटार्क (Plutarch), पैस्कल (Pascal), लामार्त्तिन (Lamartine), दिदेरो (Diderot) और दूसरों के एतादृश कथन मिलते हैं। पिछली शताब्दि में, उन्माद और प्रतिभा की यह अनुमित समानता विवेचन का अत्यंत लोकप्रिय विषय बन गया था। मोरियो (Moreau), हेगेन (Hagen), रेडस्टाक (Radestock) लोंब्रोजो इस सिद्धांत को ले उड़े थे। हर्त्श (Hirsch) के भी अनुसार इस पूर्वाग्रह का एक विशेष कारण था : 'वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के उनके प्रयास उनके अन्वेषणों के रागात्मक पक्षग्रहण को प्रायः तनिक भी छिपाते नहीं। यह केवल मात्र आकस्मिक बात ही नहीं है कि प्रतिभा की विगर्हणा और विक्षिप्तता के साथ उसकी संबद्धता का तभी प्रतिपादन होता है जब जनतंत्र न सिर्फ उद्ग्रीव रहता है, बल्कि धार्मिक महत्त्व और रागात्मक पवित्र-भावना से रंजित भी होता है; ऐसे समय में असामान्य होने और साधारणता के सुपरिचित परिधान से रहित होने का एक ही निष्कर्ष निकाला जाता है—जो हमारे समान नहीं हैं, वे सभी एक समान हैं; अर्थात् उन्मत्त और निकृष्ट, चाहे कितनी कुशलता से वे अपने स्वभाव को कविताओं उक्तियों और कला-कृतियों के द्वारा आवृत करें।'[2]

जो भी कारण हो, यह एक तथ्य है कि विगत शताब्दि में प्रतिभा बहुधा क्षुद्र सिद्ध की गई। फ्लोरें (Flourens) ने १८६१ के जितना पहले इसका खंडन किया था; 'मैं उतनी ही शीघ्रता से पुण्य और पाप के एकीभाव में विश्वास कर सकूँगा, जितनी प्रतिभा और विक्षिप्तता के। यद्यपि इतने दिनों से संसार में पाप फैलता-फूलता रहा है, फिर भी पुण्य, जैसा फेनेलों (Fenelon) ने कहा है, पुण्य ही कहा जाता है और अपने नाम से अधिकार-च्युत नहीं किया जा सकता। ऐसा ही प्रतिभा के साथ होगा। प्रतिभा, संक्षेप में, सदैव प्रतिभा रहेगी।...हमें सदैव सुकरात और पैस्कल के इलहामों (hallucination) की याद दिलाई जाती है। सुकरात का विश्वास था कि एक दैत्य उसके साथ बना रहता था; पैस्कल का खयाल था कि वह अपने पैरों के नीचे एक खाईं को मुँह बाये देखता था। लेकिन ये प्रमाणित क्या करते हैं? क्या ये प्रमाणित करते हैं कि इलहाम प्रतिभा है, या कि यह प्रतिभा को उत्पन्न करती है? अपने इलहामों के बिना भी क्या सुकरात के पास उसकी सुबुद्धि नहीं रहती और पैस्कल के पास उसकी उदात्त भावना? क्या यह एक तथ्य नहीं है कि प्रतिभा और विक्षिप्तता के सम्बन्ध मात्र बाह्य, यादाकदाचित्क और आकस्मिक हैं?'[3]

इस शताब्दि में मनश्चिकित्सकों और मनोविश्लेषकों ने प्रतिभा और विक्षिप्तता के बीच आभ्यंतर और कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं माना है। क्रेत्श्मर कहता है, 'क्या हम इन बातों से लोंब्रोजो का ही निष्कर्ष निकालेंगे : प्रतिभा उन्माद है? अवश्य ही हम ऐसा

---

१ ह्यूजे (Huset) से उद्धृत।
२ हर्त्श (Hirsch) : 'Genius and Creative Intelligence.'
३ 'De La Raison, du Ginie et de la Folie.'

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नहीं करेंगे। किंतु, हम कहेंगे : विशुद्ध प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रतिभाशाली व्यक्ति मानव-जाति का एक अतिशय विविधतापूर्ण (Variant) रूप है। प्राणिशास्त्र में इस प्रकार के विविधतापूर्ण रूप बार-बार मानव-जाति के सामान्य सदस्य की तुलना में, आकार की घटी हुई स्थिरता, तीव्र ह्रासोन्मुखता, प्रजनन की अभ्यधिक कठिनताएँ प्रस्तुत करते हैं। फलतः, हमें यह देख कर आश्चर्य नहीं होगा कि...प्रतिभाशाली मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक बनावट में ऐसी अस्वाभाविक अस्थिरता और अतिसंवेदनशीलता का परिचय देते हैं, जिनके साथ मनोशिप, (Psychoses) स्नायुशिष (Neruoses) और मनःपथिक (Psychopathic) रोग लगे रहते हैं।...दार्शनिक मूल्यांकन के दृष्टिकोण से यह फिर भी पूर्णतः संभव है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति को मानव जाति का आदर्श प्रकार माना जाए। किन्तु, जोर देकर यह कह सकना, जैसा कि अक्सर किया जाता है, कि प्राणिशास्त्रीय अर्थ में प्रतिभा पूर्णता और योग्यता की उच्चतम मात्रा अभिव्यक्त करती है, गुरु वैज्ञानिक सांख्य के सर्वथा विपरीत होगा। नैतिक और प्राणिशास्त्रीय मूल्यों का यहाँ की तरह अन्यत्र कहीं इस तरह तीक्ष्णता से पार्थक्य नहीं है।'[१]

अब स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या इस मनःपथिक तत्त्व के बावजूद या इसके कारण प्रतिभा प्रतिभा है ? मनोविश्लेषकों को स्वीकार करना पड़ता है कि केवल इस कारण कि मनःपथों (Psychopaths) में बुद्धिमत्ता और योग्यता ठीक उसी तरह पाई जाती हैं जिस तरह मनसा स्वस्थ लोगों में, यह सत्य नहीं हो सकता कि इस मनःपथिक प्रवृत्ति तथा योग्यता की उच्च मात्रा में कार्य-कारण सम्बन्ध है। 'मनःपथिक प्रवृत्ति अपने आप में', क्रेत्श्मर लिखता है, 'अवश्य ही साहित्य-मंदिर में सीधे पहुँचने लिए कोई प्रवेश-पत्र नहीं है।'[२] वह यह भी स्वीकार करता है, 'साधारणतः, मनःपथिक तत्त्वों से स्वतंत्र ही मानसिक योग्यता का एक विशेष स्तर विकसित किया जाता है।'[३] किन्तु उसका विचार है, 'प्रतिभा के विकास का अतिशय अनुकूल अवसर उस बिंदु पर निर्मित होता है जहाँ प्राचीन तथा अत्यधिक सुसंस्कृत परिवारों में ह्रास के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।' वह आगे कहता है, 'प्रतिभा के निर्माण के लिए, सीधी-सादी योग्यता के साथ अति प्राकृतिक का योग आवश्यक है, और ऐसा प्रतीत होता है कि अतिप्राकृतिक, अंतर की वाणी, मनःपथिक तत्त्व पर ही आधारित है। कारण कि अतिप्राकृतिक तत्त्व, जो प्रतिभा का सारभूत अंश है, जो अव्याख्येय है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से निर्माणात्मक और मौलिक है उसे, और साथ ही साथ विचित्र वासनाओं और असामान्य विचारों के संपूर्ण विस्तार को अपनी परिधि में बाँधे रहता है।[४] प्रतिभा के संघटन से मनःपथिक रिक्थ, अतिप्राकृतिक तत्त्व और मानसिक तनाव को हटाने का अर्थ है, प्रतिभा को योग्यता के बिल्कुल साधारण स्तर पर उतार देना। अतः क्रेत्श्मर का निर्णय है कि 'मनःपथिक तत्त्व जैवी स्वरूप की मात्र

---

१ 'The Psychology of Men of Genius.
२ उपरिवत्। ३ उपरिवत्। ४ उपरिवत्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एक चिन्त्य, अनावश्यक आकस्मिकता ही नहीं है, किंतु शब्द के निश्चित अर्थ में प्रतिभा के प्रत्येक रूप के लिए एक अंतर्निहित और अपरिहार्य अंग है, कदाचित् एक अनिवार्य परिवर्त्तिष्ट (Catalyst) है।'[1]

यह निष्कर्ष लोंब्रोजो के सिद्धांत—'प्रतिभा उन्माद है'—से नितांत भिन्न है। किन्तु, यह निष्कर्ष भी असमर्थनीय है। प्रतिभा की समस्या का मनोविश्लेषक जिस प्रकार प्रतिपादन करते हैं, वह मूलतः सदोष है। मनोविश्लेषक अपने साथ सदैव परामर्श-चेम्बर (consulting-room) का वातावरण लिये चलते हैं। वे प्रतिभा को उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में वे एक रोगी को देखते, और वे हरदम यही ढूँढ़ते है कि खराबी क्या है। उनकी निरंतर पूर्व-चिंता, उनके परीक्षण का मूलगत प्रमुख उद्देश्य है, किसी रोग के कारण का विशेष अनुसंधान और उसकी चिकित्सा। खरादी क्या है, इसका निरंतर अन्वेषण अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में भी उनके दृष्टिकोण को पूर्वाग्रह-दूषित बना देता है, वे विभिन्न प्रकार की स्नायविक विपर्यस्तता के इतने समीप रहते हैं कि वे सर्वत्र स्नायुग्रिष (neurosis) ही देखते हैं; वे सर्वथा विकाररहित और स्वस्थतम रूप के पीछे भी इसकी उपस्थिति ढूँढ़ निकालते हैं।

एक छोटा-सा उद्धरण मनोविश्लेषक दृष्टिकोण का उद्घाटन कर देगा : 'साधारणतः असामान्य वासनाओं से असामान्य विचारों का उद्भव होता है। जब भावनाओं को खुल खेलने के लिए छोड़ दिया जाता है और विचारसरणियाँ शिथिल कर दी जाती हैं, तब असामान्य उत्थित होता है और परिस्थितियों के अनुसार प्रतिभा, विकृतियाँ या उन्माद को ला उपस्थित करता है।'[2] यह विचित्र समवर्गीकरण—प्रतिभा, विकृतियाँ, उन्माद—मनोविश्लेषकों को विचित्र नहीं प्रतीत होता। अतिस्वाभाविक और उपस्वाभाविक के बीच कोई भेद नहीं किया जाता—शायद, जान-बूझ कर इसकी उपेक्षा की जाती है। इस प्रकार का विभेद उदाहरण के लिए, इस संदर्भ में किया गया है : 'किसी व्यक्तित्व के क्षणिक अनुभव में या पूर्णत्व में अतिस्वाभाविक स्वाभाविक की अपेक्षा अधिक सहव्यवस्थित रहता है, जब कि उपस्वाभाविक अपेक्षाकृत कम सहव्यवस्थित रहता है। कोई असाधारण व्यक्ति या किसी असाधारण क्षण में कोई व्यक्ति स्वाभाविक से अधिक अस्थिर होता है, किन्तु साधारण की अस्थिरता गति का संतुलन है, जब कि उपस्वभाविक की अस्थिरता मात्र चलचित्तता है। संतुलन खोना था तो एक नये संतुलन में पहुँच जाना है—जो स्थिति का होने के बदले गति का होना है—या एक अर्धवृत्त से झूलते हुए पिंडलंब (pendulum) के समान बन जाना है...। स्वाभाविक मनुष्य, जब वह अनस्थिर रहता है, पिंडलंब के समान होता है, और फिर भी वह आगे बढ़ता है जब कि उपस्वाभाविक पिंडलंब के सिवा और कुछ नहीं होता। प्रतिभाशाली व्यक्ति, या किसी असाधारण क्षण में कोई भी मनुष्य गति में रहता है : और इसे ही गलती से अस्थिरता मान लिया जाता है, किंतु वह वस्तुतः है संतुलन का ही एक नया रूप। ...स्वाभाविक मनुष्य भी कुछ खास क्षणों में असाधारणतः उदासीन हो जाता है

१ उपरिवत्। २ उपरिवत्।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और कुछ खास दूसरे क्षणों में उल्लसित। प्रतिभाशाली व्यक्ति इसी प्रकार, किंतु अधिक अतिशयता के साथ, मनःस्थितियों की एक विस्तीर्ण श्रेणी को आच्छादित करता है। वह गहराइयों में उतरता है और उँचाइयों में उठता है : वह जमीन के नीचे के आँसुओं को और आसमान के ऊपर की हँसी को जानता है : और इन्हीं से वह विषाद और आनन्द की सृष्टि करता है। उपस्वाभाविक को, इसके विपरीत, पर्याप्त गति नहीं है, क्योंकि यदि वह नैराश्य में डूबता है तो जो प्रतिभाशाली में एक आकर तुरत चली जानेवाली मनःस्थिति है वह उसमें एक निश्चित मनोवृत्ति बन जाती है।'[१]

अतिस्वाभाविक और उपस्वाभाविक का यह अन्तर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, और इसका सदैव निर्वाह होना चाहिए। इस अन्तर की उपेक्षा करना इतना ही आपत्तिजनक है जितना, उदाहरण के लिए, अच्छे और बुरे के भेद की उपेक्षा करना। 'प्रतिभाशाली मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक बनावट में ऐसी अस्वाभाविक अस्थिरता और अतिसंवेदनशीलता का परिचय देते हैं, जिनके साथ (psychosis), स्नायुशिष (neurosis) और मनःपथिक (psychopathic) रोग लगे रहते हैं'[२] किन्तु इन सब बातों से यह नहीं सिद्ध होता कि प्रतिभाशाली मनुष्य पागल हैं, न यही सिद्ध होता है कि वे विक्षिप्तों की श्रेणी में परिगणनीय हैं। प्रतिभाशाली मनुष्य स्वाभाविक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक संवेदनशील और अधिक सूक्ष्मता से संघटित होता है; वह एक सूक्ष्म और जटिल यन्त्र के समान होता हैं जो तनिक से विघ्न या असामंजस्य से काम करना बन्द कर देता है। यह तथ्य कि प्रतिभा स्नायुशिष, मनोशिप और मनःपथिक रोगों से ग्रस्त हो सकती है, कुछ भी सिद्ध नहीं करता; यह इसे तो अवश्य ही नहीं प्रमाणित करता कि प्रतिभाशाली व्यक्ति की प्रतिभा उसके व्यक्तित्व के मनःपथिक तत्त्वों से आविर्भूत होती है। यूँग का समाधान निश्चित रूप से युक्तियुक्त है ...:'सर्जनात्मक शक्ति मानवीय प्रवृत्तियों को इस मात्रा तक निचोड़ सकती है कि व्यक्तिगत अहं नाना-प्रकार के दुर्गुणों को अवश्य ही विकसित करेगा—निरंकुशता, स्वार्थपरता और गर्व (तथाकथित स्वरतिकस्म)—और हर तरह के व्यसन को भी, जिससे वह जीवन के स्फुलिंग को बचाए रख सके और उसे पूर्णतः निःशेष न होने दे।...एक विशिष्ट योग्यता का अर्थ है किसी खास दिशा में एक भारी व्यय, जिसका परिणाम होता है, जीवन के किसी दूसरे भाग से निःसरण।"[३]

[क्रमशः]

---

१ Burns Delisle : "Horizon of Experience."

२ "The Psychology of Men of Genius."

३ Jung : "Modern Man in Search of a Soul."

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हस्तलिखित प्राचीन पोथियों का : विवरण

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

१०६—हिन्दी-महाभारत—ग्रन्थकार—प्रेमदास। लिपिकार—द्वारिकानाथ मिश्र। अवस्था—प्राचीन, हाथ का बना देशी कागज, जीर्ण-शीर्ण; खंडित। पृष्ठ-सं०—३३४। प्र० पृ० पं० लगभग—३६। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—फाल्गुन द्वितीया, सं० १९११ वि०, शाके—१७७६, सन् १२६१ शाल।

प्रारंभ—"पुनी ग्योलीनी आई सभ पाई
सुना आऐ जो वाल कन्हाई
जैसे.....से सभ चलीन्हा
ऐकक संग ऐक नहीं मीलीन्हा
ऐक मही ललीपती सुपी पाई
गोवर हाथ भरे उठी धाई
....
तब गै भेटहु त्रीभुअन नाथा
तब ते तासो उंतर दीन्हा
उजर मैल तुम्है नही चीन्हा"

मध्य (१६५) "जर्जुवेद श्याम अथरव करता
नमो नमश्ते पातघ हरता
कथा कवीत गीती तु अकरबा
बश्वरूप शभै दुष हरता
जौ शंसार वांछा कीछु होई
सभ करता प्रनवौ सोई
वीश्नु नाम प्रुषतोह आही
नमो नमश्ते प्रनवौ ताही
हंश रूप मनी कुंडल काना
नमो नमश्ते प्रनवौ भाना"

अन्त—"कलिजुगकै भाषौ वेवहारा
सुनहु चीत दै धर्म्म मुआरा
ब्रह्मन सता वेदनरही हही
नर आधार...ढ दीज कहीहही
धर्म्महीन रोजादीज छीजीहही
थोरो थोरो जो दान करेवे

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दीहलहो..... पुन्य कपावैं
अस्मेध्य सौ नौ वरप भऐउ
हस्थीनापुर वास दुधीष्ठील कीए
नृपजन्मै स्रोता भौजैमुनी कहमनलऐ
अस्मेध्व कहै भारत चौदह वर्पसीनाऐ

इति श्री अस्मेध्व जग्य महाभारथे जैमुनी संस्कृत भापा प्रेम दास क्रीत जैमसनी पुराने राजा दुधीष्ठीलजग्य करण संपुर्न समाप्तेह भयै पैशर्ठमोअमोध्या ॥६५॥ सुभमस्तु ॥"

विषय—महाभारत के अंत में पांडवों के अश्वमेध यज्ञ और यज्ञ के घोड़े के छोड़े जाने तथा उसके देश-देशान्तर में विजय के लिए घूमने की कथा का वर्णन। श्री जनमेजय जैमिनी ऋषि से पूछते हैं और ऋषिवर कथा का सविस्तर वर्णन करते हैं। बीच-बीच में सृष्टि, मृत्यु, पाप, पुण्य और कलियुग में मनुष्य और देवता की स्थिति का विशद वर्णन किया गया है।

टिप्पणी—(क) निम्नलिखित रूप से ६५ पैंसठ अध्यायों में कथावस्तु का निर्वाह हुआ है।

१—अनुशैलातुर आहरनो नाम, १२ (बारहमो) अध्यायः—पृष्ठ-सं० ५० तक। (इसके पूर्व ११ अध्याय खंडित हैं)।

२—श्री कृष्ण समुझावनो नाम १३ (तेरहमो) अध्यायः—पृ० सं० ५१ से ५५ तक।

३—महिषामनि नगर तुरग प्रवेशोनाम १४ (चौदहमो) अध्यायः—पृ० सं० ५५ से ६१ तक।

४—नीलध्वज विजय (को जीतनो) नाम १५ (पंद्रहमो) अध्यायः—पृ० सं० ६१ से ७० तक। (बीच में १६ वाँ अध्याय नहीं है। पृष्ठक्रम आदि ठीक हैं, किन्तु उक्त अध्याय, प्रतीत होता है, अन्तर्लिखित है।)

५—सुधन्वा (कराहमेलनो) नाम १७ (सतरहमो) अध्यायः, पृ० सं० ७७ से ८५ तक।

६—सुधन्वा युद्धवर्णन नाम १६ (उनैइशमो) अध्यायः—पृ० सं० ८६ से ६७ तक। (बीच में कई पृष्ठ और बीसवें अध्याय का अन्तिम पृष्ठ खंडित है)।

७—स्त्रीराज्य तुरग प्रवेशो नाम २१ (ऐकइसमो) अध्यायः—पृ० सं० ६८ से १०८ तक। (बीच में १० अध्याय खंडित हैं)।

८—लछुमन (गवनो) नाम ३२ (बतीसमो) अध्यायः—पृ० सं० १६१ तक। (बीच के ३ अध्याय खंडित हैं)।

९—रामचन्द्र अश्वमेधयज्ञ सम्पूर्णो नाम ३६ (छतीशमो) अध्यायः—पृ० सं० १९३ तक। (३७ वाँ अध्याय खंडित है)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

१०—पुण्डरीकमणि (आनै पाताल गौ) नाम (अठतीसमो) अध्यायः—पृष्ठ सं० २०३ तक। (३६ वाँ अध्याय खंडित है)।

११—अर्जुन वृषकेतु जीवनो नाम ४० (चालीसमो) अध्यायः—पृ० २१५ तक।

१२—रत्नपुर नगर प्रवेशो नाम ४१ (एकतालीशमो) अध्यायः—पृ० सं० २१६ से २१६ तक।

१३—ताम्रध्वज युद्ध (करनो) नाम ४२ (बेआलीसमो) अध्यायः—पृ० सं० २१६ से २२४ तक।

१४—ताम्रध्वज-अर्जुन युद्धवर्णनोनाम ४३ (तेतालीसमो) अध्यायः—पृ० सं० २२५ से २२८ तक।

१५—कृष्ण प्रार्थना.....नाम ४४ (चौआलीसमो) अध्यायः—पृ० सं० २२८ से २३२ तक।

इसी प्रकार ६५ पैसठ अध्यायों में ग्रंथ समाप्त हुआ है, किन्तु बीच-बीच में कई अध्याय खंडित हैं।

(ख)—यह महाभारतान्तर्गत राजा युधिष्ठिर के अश्वमेधयज्ञ के आधार पर श्री प्रेमदासजी की मौलिक रचना है। ग्रंथ की भाषा पर यत्र-तत्र भोजपुरी का असर है। ग्रंथ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में नागरी-प्रचारिणी की खोजविवरणिका (सन् १६२६-२८ ई०, पृ० सं० ७४,५२३, और ग्रं० सं० ३५६) में भी चर्चा है। उक्त विवरणिका में ग्रन्थकार गोरखपुर जिले के बड़ागाँव का निवासी बताया गया है। उनका सम्बन्ध मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुरीय श्री धरणीधर पण्डित से था और उनसे ही कथा सुनकर, इस ग्रंथ की रचना उन्होंने की थी। नागरी-प्रचारिणी के विवरण में प्राप्त प्रति के उद्धरण से प्रस्तुत प्रति में पठान्तर भी हैं।

(ग)—ग्रंथ के छत्तीसवें अध्याय में रामचन्द्र के अश्वमेध यज्ञ की चर्चा है और वह वाल्मीकिकृत रामायण पर आधारित है। इसके बाद के प्रसंग के प्रारम्भ के पूर्व 'दूसरा खंड' लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रंथकार ने ग्रंथ को कई खंडों में विभाजित किया है, किन्तु यह प्रति खंडित, जीर्ण-शीर्ण और व्यस्तक्रम है।

(घ)—ग्रंथ की अवतारणा जनमेजय और जैमिनि के कथोपकथन से की गई है। ग्रंथ अनुसन्धित्सु जगत् के लिए अवश्य नवीन है और संभवतः अमुद्रित और अप्रचलित भी है

(ङ)—ग्रंथ की लिपि अस्पष्ट, प्राचीन और कैथी के सदृश है। लिपिकार ने अपना परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया है—"सम्वत १६११ शाके १७७६ सन १२६१ साल फाल्गुन दुतीआ.....पठनार्थ श्री बाबू

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जग्रनाथ सिंह आत्मज स्त्री बाबू दुरगा दत्त मालीक महदीपुर प्रगनै मुंगेर दसषत द्वारकानाथ मिश्र वासींदै महल्ला पुरानीगंज शाकदीपी टोला प्रगने मुंगेर श्री ।"

यह पोथी श्री अंजनि कुमार सिन्हा, बिहार-विश्वविद्यालय, पटना के सौजन्य से प्राप्त हुई ।

१०७—भरथ विलाप—ग्रन्थकार—तुलसीदास । लिपिकार—श्यामलाल । अवस्था—अच्छी, हाथ का बना, देशी कागज । पृष्ठ—सं० ३२ । भाषा—हिन्दी । लिपि—नागरी । रचनाकाल—×। लिपिकाल—२२ जनवरी, सन् १९०७ ई०, सन् १३१४ माघ ।

प्रारम्भ—दोहा—"सुनत भरथ वीकल भए
धरती पर मुरछाऐ
तुलसीदास मन गहबरी
लोग न बोधा जाए

चौपाई—रोवत भरत चली गौ ताहां
सोग सो बैठी कौसीला जाहां
रोवत सुमींत्रा देखा जाइ
भरतही देखी माता दोउधाक
भरत के पाँवपरी ढहनाई
भरत उठाइ के हीरदां लगाइ"

मध्य (पृ० सं० २५)—"चौपाई—रोवत भरथ पीता पहं जाइ
कर गही लोगन कहा बुझाई
तोहरे रोवत समै मनी जाइ
मरीहै कोसीला सुमींत्रा माइ

दोहा—तेहीछन हीरदैं.....
वोधे दोनो भाऐ
तुलसीदास मन गहवरी
वीग्रह दीन्ह छोड़ाऐ"

अन्त—"चौपाइ—तुलसी भरथही कहा बुझाइ
नीश्चै सांमीजपहु मन लाइ
जेहीं ते नरक पाप छै जाइ
बाढ़ै धरम सुमती गती पाइ
भरथ वीलाप पढ़े मन लाइ
सहंस्र होम सो दीन दीन करइ
सो दुख हरी सो नर पढ़इ

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नीसचै ताही सकल सुभ लहइ
राम नाम जीन्ह पुरुवन्ह
गुनत जो एको वार
ताके जन्म सुफल भऐ
ताछु जनम हे सार
दोहा—राम नाम जीन्ह के घट
तेही पुरुखा तरी जाऐ
तुलसीदास भजु राम पद
राम नाम मन लाऐ

इतीश्री पोथी तुलसीदास वीरचीत भरथवीलाप संपुरन भइल जो पत्र मो देखा सो लीखा मम दोखन दीजीऐ पंडीत जन सों वीनती मोरी टुटल अछर लेव सभ जोरी। इती पोथी भरथ वीलाप सम्पुरन ॥"

विषय—कैकेयी द्वारा सब समाचार सुनना और भरत की मूर्च्छा और विलाप, दशरथ की दाहक्रिया, राम-भरत-मिलन। कुल १८ दोहे और १५७ चौपाइयों में ग्रन्थ समाप्त।

टिप्पणी-(क)—यह ग्रन्थ खंडित है। ग्रन्थकार तुलसीदास हैं। किन्तु ग्रन्थ की भाषा, रचना-शैली आदि से रामचरितमानस के प्रणेता गो० तुलसीदास नहीं प्रतीत होते हैं। तथापि अन्य सूचनाओं के अभाव में नागरी-प्रचारिणी की खोज-विवरणिका के सम्पादक महोदय ने इसे श्री गो० तुलसीदास की ही प्रति माना है। देखिये—ना० प्र० को खो० वि० सन् १२९६-२८ ई० पृ० सं० ७७४, ग्र० सं० ४८५ ए०। ग्रंथ की एक प्रति श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, गया में भी सुरक्षित है। दे० मन्नूलाल० विवरणिका—ग्रन्थ-सं० ४८।

(ख)—ग्रन्थ की लिपि स्पष्ट किन्तु प्राचीन है। यह ग्रन्थ श्री प्रसादीराम जी, मंत्री, आर्य-समाज, लक्खीसराय, मुँगेर के सौजन्य से प्राप्त।

१०८—नागलीला—ग्रन्थकार—×। लिपिकार—श्यामलाल। अवस्था—अच्छी, हाथ का बना, देशी कागज। पृ० सं० १०। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल=१ अप्रैल, सं० १९०५ वि०।

प्रारंभ—"श्री गनेसजी सदा सहाए नमह
श्री रामजी सदा सहाए नमह
श्री कालीजी सदा सहाए नमह
श्री गंगाजी सदा सहाऐ नमह
श्री पोथी नागलीला लीख्यते

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पार ब्रह्म पुरुसोतम जदुकुल में अवतार
भगती प्रेम वसी नन्द ग्रीही प्रगट भऐ कर तार
चलो चलो सखी जहाँ जाईऐ जांहां नंद के लाला भऐ
धन धन जसोदा भाग तेरो गोखुला के दुख गऐ
सुभ घरी सुभ दीन मंगल नन्द के लाला भऐ
गोप गोपी गोआल बालक करन उतसव सभ गऐ
ऐक सोहागीनी सोंठ कुटे ऐक वंदत वंदना
ऐक सोहागीनी चौक पुरे ऐक चंदन रोचना"

मध्य (पृ०-सं० ७)—"गोखुला हमारो ग्राम है नंद के हम पुत्र नागीनी
क्रीस्न हमारो नाम है कहत नागीनी हरी सों वातैं
जाहु बालक भागी के जो तुम्हारी खबरी पइहौं
नाग उठी हैं जागी के नाग जागे हमही लागे"

अन्त०—"करजोरी नागीनी करत वीनती प्रभु त्रीआ वंदी छोड़ाइऐ
अही बात दै जसोदा के नंदन वंदी तेरी कहाइऐ
धीर धरु आधीर नागीनी मांगे सो वर पाइऐ
सुन के प्रभु नागलीला रासी मण्डल गोईऐ
इति श्री पोथी नागलीला संपुरन जो पत्र मो देखा सो लीखा मम दोख
ना दीजीऐ पंडीतजनसों वीनती मोरी टुटल अछर लेव सभ जोरी"

विषय—श्रीकृष्ण-जीवन-सम्बन्धी नागों की लीला। श्रीकृष्ण जीवनोत्सव, गोपियों में उत्साह और हर्ष। शुभ दिन, लग्न आदि देखने के लिए पण्डितों का बुलाया जाना। श्रीकृष्ण द्वारा गेंद का खेल। गेंद के लिए यमुना में कूदना। नागिन का कोप और श्रीकृष्ण से परिचय। नाग-जागरण के पूर्व ही श्रीकृष्ण को भागने का नागिन के द्वारा परामर्श दिया जाना। नाग को नाथने का निश्चय और श्रीकृष्ण-नागिन-विवाद। कृष्ण द्वारा वंशी-वादन। गरुड़ की पहुँच। नाग की मूर्च्छा। नाग का नाथा जाना। नागिन द्वारा श्रीकृष्ण की विनय। नागलीला-पाठ-फल।

टिप्पणी—१-ग्रन्थ के प्रारंभ के ३ पृष्ठ खंडित हैं। ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं है। कथा श्रीमद्भागवत के आधार पर लिखी गई है। रचना में कवित्व का अभाव है। भाषा में प्रवाह नहीं है।

२-ग्रन्थ की लिपि अस्पष्ट और प्राचीन है। लिपिकार ने अपना परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया है—

"हमारा ठेकाना—सहर कलकत्ता जान बाजार फेरी इस्कुल रास्ता नंबर

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पाँच ५ दूकान के मालीक मोसमात गौरावेवा करमीनी है दसखत सामलाल नाम का"

यह ग्रन्थ श्री प्रसादीरामजी, मन्त्री, आर्य-समाज, लक्खीसराय, मुँगेर के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

१०६—दानलीला—ग्रन्थकार—कृष्णदास। लिपिकार—श्री श्यामलाल। अवस्था—अच्छी प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ-सं०—१८। प्र० पृ० पं० लगभग—१४। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—सन् १६०५ ई०।

प्रारम्भ—"श्री गनेस जी सदा सहांऐ
श्री रामजी सदा सहाऐ
श्री कालीजी सदा सहाऐ
श्री गंगाजी सदा सहाऐ
श्री पोथी दानलीला लीख्यते

दोहा—चलो सखी जहां जाइऐ जहां मीलै ब्रीज राज
गोरस वेंचत हरी मीलै, ऐक पंथ दुइ कांज

चौपाइ—प्रभु पुरन ब्रम्ह अखंडा जाके रोम कोटि ब्रहमंडा
जब सरगुन ब्रम्ह कहाऐ मथुरा तैं ब्रींदावन आऐ
जहां देवलोक सभजेते सभ गोप गोवालीनी तेते
देवकी सुत नाम धराऐ वसुदेव ही रूप देखाऐ
तीन्ह नंदभवन पहुँचाऐ ताहां नंद के लाल कहाऐ

छन्द—जन्म लीन्ह वसुदेव के ग्रीह नंद के बालक भऐ
छपनकोटी जदु बंशीमाआ जुथ गोप गोवाली के
श्री क्रीस्न के संग बहुत बालक गौचरावन वन गऐ
हरखी गावही दानलीला सुनहु सज्जन कान दे"

मध्य—छन्द—"सदा जांही ऐही पंथ मथुरा दान हम सों कीन्ह लइ
दयी मांगत छांछ दुरलभ हौं सुता ब्रीख भानुकी
कंस राऐ के राज मों प्रभु नइ रीत.....जी
नंद के ग्रोह दंद उपजै दुख परे तन छीजीऐ"

अन्त—छन्द—"श्री क्रीस्न घंट वजाऐ आरती जोती वंदन-सभ करे
ग्रीजानंद प्रसाद पावै जन्म जन्म दुख हरै
जो नर गावही दानलीला सुनही मन चीत लावही
कोटी तीरथ करे को फल वीस्नुलोक सीधावही

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दोहा—लीला अगम अपार है सोभा वरनी ने जाऐ
छत्रपती तुअ दरस को, सदा रहे चीत लाऐ.

इतीश्री पोथी दानलीला संपुरन"

विषय—यमुनातट पर, समीपस्थ वन की ओर जानेवाली गोपियों से श्रीकृष्ण तथा उनके साथियों द्वारा दधि के दान की याचना। गोपियों द्वारा कंस नृप का भय दिखाया जाना। कृष्ण को दान से विमुख करने का प्रयत्न। कृष्ण का, निर्भयता दिखलाते हुए, अपनी शक्ति का परिचय देना। व्रजवनिता का आत्मसमर्पण और ईश्वर रूप में श्रीकृष्ण की स्तुति।

टिप्पणी—यह प्रसिद्ध 'दानलीला' की खंडित प्रति है। इस में यत्र-तत्र पाठभेद तो है ही, साथ ही मध्य में अनेक पंक्तियाँ छूट भी गई हैं। इसके ग्रंथकार श्रीकृष्णदास जी 'पयहारी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी चर्चा नागरी-प्रचारिणी की खोज-विवरणिका में भी है। देखिए—खो० वि० १९२६-२८ की पृ० सं० ५६, ग्रं० सं० २४७ और खोज-विवरणिका सन् १९०३ तथा सन् १९२३-२५ ग्रं० सं० १९। सन् १९२६-२८ की विवरणिका में ५ हस्तलेखों का उल्लेख है। अब तक प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन हस्तलेख का काल सन् १९५६ ई० है। यह ग्रन्थ प्रकाशित है। ग्रन्थ-सं०, ७, ८ और ९ एक ही जिल्द में है। यह ग्रंथ श्री प्रसादीराम, मन्त्री, आर्य-समाज, लक्खीसराय, मुँगेर से प्राप्त।

[क्रमशः]

भागवत सम्प्रदाय*

प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

'भागवत सम्प्रदाय' श्री बलदेव उपाध्याय का 'भारतवर्ष के मुख्य वैष्णव सम्प्रदायों का एक गंभीर अध्ययन है।' पुस्तक के इस विवरणात्मक उपशीर्षक के अध्ययन शब्द के विशेषण की सार्थकता और औचित्य के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते।

वैष्णव धर्म की महत्ता, वेद में विष्णु, तंत्र में विष्णु, पुराणों में विष्णु, दक्षिण के संप्रदाय, रामावत संप्रदाय, निंबार्क संप्रदाय, श्रीवल्लभ-मत, राधावल्लभीय संप्रदाय, पूर्वी भारत में भक्ति-आंदोलन, महाराष्ट्र का वैष्णव पंथ और वैष्णव साधना, ये पुस्तक के विभिन्न अध्यायों के मुख्य शीर्षक हैं, जिनसे प्रतिपाद्य विषय के विस्तार तथा लेखक के वैदुष्य का आभास सहज ही मिल जाता है। केवल साढ़े छह सौ पृष्ठों में इस जटिल विषय का, जिसकी सामग्रियाँ अनेक भाषाओं के बहुसंख्यक ग्रंथों में विकीर्ण हैं, स्पष्ट किंतु प्रामाणिक और युक्ति-

* प्रकाशक—नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; मूल्य ६)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

युक्त प्रतिपादन करना किसी ऐसे ही विद्वान् के लिए संभव था, जिसको समस्त वैष्णव साहित्य हस्तामलकवत् होता। संस्कृत के अधिकारी पंडित हिंदी को कितना कुछ दे सकते हैं, इसका 'भागवत सम्प्रदाय' अनुकरणीय उदाहरण है। बलदेव जी ने इस तथा ऐसे अनेक दूसरे सुपरिचित ग्रंथों से हिंदी के ज्ञान-भांडार को समृद्ध बनाया है। यह अवश्य खेद का विषय है कि संस्कृत के अन्य विद्वानों ने इसी प्रकार अपनी विद्या का उपयोग नहीं किया है।

सूर या तुलसी आदि हिंदी कवियों के अध्ययन के सिलसिले में वैष्णव धर्म पर हिंदी के विद्वानों ने अनेक महाप्रबंध लिखे हैं, किंतु उनके ईषत् सावधान अवलोकन से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे आधार-ग्रंथों के मूल स्रोतों तक न जाकर उनके सुलभ विवरणों को ही पर्याप्त मान बैठे हैं और उनके चर्वित-चर्वण को ही शोध के रूप में स्वीकार्य बनाने में सफल-मनोरथ हुए हैं। संस्कृत और हिंदी के अतिरिक्त भागवत धर्म-सम्बन्धी प्रभूत और महत्त्वपूर्ण सामग्री भारत की अन्य भाषाओं में भी लिपिबद्ध है। उनका तो हिंदी के तथाकथित शोध-ग्रंथों में अत्यल्प विवरण भाग उपलब्ध होता है। श्री बलदेव उपाध्याय ने इस समस्त सामग्री का, परिश्रमपूर्वक और सूक्ष्म प्रज्ञा का परिचय देते हुए, मीमांसन किया है।

भागवत धर्म से संबद्ध विशाल साहित्य की रूप-रेखा प्रस्तुत कर देना ही बड़ी बात होती, उसे क्रमबद्ध रीति और तुलनात्मक दृष्टि से विरूपित और विवेचित करना उच्च पांडित्य का ही काम था। भागवत धर्म वास्तविक अर्थ में शोध-ग्रंथ है, जिसका लाभ न केवल हिंदी के, प्रत्युत समस्त भारतीय भाषाओं के अध्येता उठा सकेंगे, क्योंकि भागवत धर्म उन सभी के द्वारा प्राप्त महार्घ रिक्थ है। हिंदीतर भाषाओं के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जा सके तो वे अवश्य ही प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद के द्वारा भारतीय धर्म और संस्कृति के ऐक्य-विधायक तत्त्व को अपने भाषा-भाषियों के समक्ष उपस्थित करना चाहेंगे।

पुस्तक की इस अनिवार्यतः संक्षिप्त आलोचना में हम उसकी अन्य दो विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। बलदेव जी ने समस्त प्राप्य स्रोतों से तथ्य और विवरण संकलित किये हैं और उन्हें एक सुव्यवस्थित योजना प्रदान की है, किंतु इसके साथ ही साथ उन्होंने अपनी मौलिक मनीषा का परिचय देते हुए नवीन निष्कर्षों का भी स्थापन किया है। उदाहरणार्थ, पुराणों में विष्णु का विवेचन करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है:— 'समस्त वेदांतसारमयी भागवती कथा का यही प्रयोजन, यही चरम लक्ष्य है—प्रीतिमय हृदय से भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण। भागवत भगवद्गीता का ही उपबृंहण नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मसूत्र का मर्मप्रकाशक भाष्य भी है। जिस भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना कर उपनिषदों के प्रकीर्ण तथ्यों को एक सूत्र में ग्रथित किया, उन्होंने ही भागवत का निर्माण कर अपने सूत्रों के ऊपर अकृत्रिम भाष्य की रचना स्वयं कर दी, अतः स्कंदपुराण का यह अभिमत सिद्धांत है कि भागवत ब्रह्मसूत्रों का अर्थोपबृंहण है। वैष्णव आचार्यों का भी इस विषय में ऐकमत्य है।' भागवत धर्म में माधुर्य की प्रधानता है। पुस्तक की शैली में विषयानुरूप माधुर्य है, जो उसे शुष्क शोध-ग्रंथों से भिन्न रचनात्मक साहित्य की कोटि में परिगणनीय बना देता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नवीन....और....उल्लेख्य

समीक्षक : शिवपूजन सहाय

हिन्दी ऋग्वेद[1] और हिन्दी-विष्णुपुराण[2]। हिन्दी-जगत् के सुपरिचित साहित्य-सेवी पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री प्राचीन भारतीय वाङ्मय के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। हिन्दी-पाठक उनको भूतपूर्व 'गङ्गा'-सम्पादक के रूप में जानते हैं। वह 'गङ्गा' बिहार की मासिक पत्रिका थी। उसके वेदाङ्क, पुरातत्त्वाङ्क, विज्ञानाङ्क आदि विशेषाङ्क प्रसिद्ध हो चुके हैं। शास्त्रीजी की 'वैदिक साहित्य' नामक पुस्तक भी हिन्दी-पाठकों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। वे अनेक वर्षों से वैदिक, पौराणिक और शास्त्रीय साहित्य को सुबोध हिन्दी में सुलभ करने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनकी 'ऋग्वेद-संहिता' (हिन्दी-अनुवाद), 'दर्शन-परिचय' आदि पुस्तकें केवल हिन्दी जाननेवाले पाठकों के लिए सुगम और ज्ञानवर्द्धक हैं। वे साधारण जन तक को भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत का पता बताने की धुन में लगे रहते हैं। आज के युग में इसकी बड़ी आवश्यकता भी है।

शास्त्रीजी की यह नई पुस्तक (हिन्दी ऋग्वेद) केवल हिन्दी-पाठकों के लिए ही नहीं है, वैदिक विषयों पर हिन्दी के माध्यम से शोध करनेवाले विद्वानों के लिए भी उपादेय है। बड़ी सरल भाषा में वेदमंत्रों के भाव और अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। पृष्ठसंख्या १४६६ है और ७१ पृष्ठों की विषय-सूची तथा ७४ पृष्ठों की भूमिका। अनुभवी अनुवादक की अनुसन्धानप्रियता और श्रमशीलता का अनुमान भूमिका पढ़कर ही किया जा सकता है। जो केवल हिन्दी ही जानते हैं वे इस पुस्तक के सहारे ऋग्वेद-विषयक बहुतेरी ज्ञातव्य बातें सहज ही जान सकते हैं। अन्त में ऋग्वेद-सम्बन्धी ६४ उल्लेखनीय ग्रन्थों के नाम और उन्हें प्राप्त करने के देशी-विदेशी पते भी दे दिये गये हैं।

जो लोग संस्कृत और अँगरेजी नहीं जानते वे हिन्दी मात्र के माध्यम से ऋग्वेद का आशय समझ सकते हैं और भूमिका पढ़कर वेद का तत्त्व-महत्त्व भी जान सकते हैं, यही इस पुस्तक की विशेषता है। केवल विषयों की सूची पढ़ जाने से ही ऋग्वेद का असली रूप ध्यान में आ जाता है।

स्थानाभाव के कारण हम अनुवाद के उदाहरण नहीं दे रहे हैं। अनेक स्थल बड़े ही सुन्दर और उपदेशप्रद हैं। कितने ही प्रसंग तो काव्य और अलंकार की छटा दिखाकर मुग्ध कर देते हैं। मानव-जाति के सुख-सौभाग्य के लिए, समाज के अभ्युदय और जीवमात्र के कल्याण के लिए, एक-से-एक अनमोल वचन और दिव्य भाव ठौर-ठौर मिलते हैं।

कई प्रकरण बड़े गूढ़ मालूम होते हैं। परन्तु आगे-पीछे का क्रम मिलाकर मनोयोग से

१—प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, मूल्य सजिल्द १२)।

२—प्रकाशक—आर० एल० बर्मन ऐण्ड कम्पनी, डालमियानगर, (शाहाबाद, बिहार), सचित्र, सजिल्द, १२)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पढ़ने पर साफ खुल जाते हैं। यदि कोई यन्त्र-तन्त्र पढ़कर रहस्य समझना चाहेगा तो निराश होगा। लेकिन लगातार पढ़ते जाने पर भावार्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अनुवादक महोदय विशद रीति से अर्थ समझाने में सफल हुए हैं।

इस एक ही पुस्तक से जितना उपकार पाठकों का हो सकता है, उतना दूसरी सैकड़ों पुस्तकों से भी सम्भव नहीं है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहीं कोई साम्प्रदायिक बात नहीं मिलती। मतभेद को तो कहीं गुञ्जाइश ही नहीं है। जान पड़ता है कि विश्व-भूमण्डल की मानवता का हित ध्यान में रखकर मंत्र रचे गये हैं। मानव-जीवन के लिए सुखशान्ति के जितने भी साधन हो सकते हैं, सबका समावेश मंत्रों के अर्थ में दृष्टिगोचर होता है। वेदमंत्रों के अमर सन्देश बस सुनने ही योग्य हैं।

'हिन्दी-विष्णुपुराण' में भी शास्त्री जी की जो लम्बी प्रस्तावना है, वह हिन्दीवालों के मनन करने योग्य है। अनुवाद तो और भी हुए हैं, पर इतनी शोध-सामग्री किसी में नहीं है। जिज्ञासुओं और तार्किकों को प्रस्तावना पढ़ने से काफी प्रकाश मिलेगा। पुराण-सम्बन्धी भ्रान्तियों के दूर करने में भी प्रस्तावना सहायक होगी। शास्त्रीजी ने गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखकर यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद मात्र, आधुनिक वैज्ञानिक ढंग की भूमिका के बिना, विशेष लाभदायक नहीं हो सकता।

समीक्षक : नलिनविलोचन शर्मा

'प्रतिष्ठान'[1] और 'परिव्राजक की प्रजा'[2] श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की बहुत रोचक, सहज भाव से त्वरित प्रिय बन जानेवाली आत्मसंस्मरणात्मक कृतियाँ हैं। शांतिप्रिय जी और चार्ल्स लैंब के जीवन में ही विचित्र समानता नहीं है, कृतित्व में भी है। लेखक पलातक अतीत को, वह जब, जहाँ, जितना पकड़ में आता है, चित्रित करता गया है। भानमती के इन पिटारों में सजावट नहीं है, लेकिन उनमें दायित्व के साथ सँजोई चीजों के बीच मिल जानेवाले चिथड़े और चिरकुट भी बेशकीमत बन गये हैं। शांतिप्रिय जी ने एक साथ ही असीम करुणा और कठोर निर्ममता से काम लिया है—अपने बारे में और दूसरों के भी—और अश्रु इन्द्रधनुषित हो उठे हैं।

मैंने अन्यत्र लिखा है कि शांतिप्रिय द्विवेदी की आलोचना में गांधीवाद साहित्यिक स्तर पर उन्नीत हुआ है, और उनकी आलोचनात्मक अभिव्यंजना में गांधी जी की आत्यंतिक परिष्कृति और सरलता का समन्वय हुआ है। 'प्रतिष्ठान' और 'परिव्राजक की प्रजा' इस निष्कर्ष के आधार हैं।

'सीधी चढ़ान'[3] और 'स्वप्न-सिद्धि की खोज में'[4]। गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ कथाकार जी कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की आत्म-कथा, 'आधे रास्ते', 'सीधी चढ़ान' और 'स्वप्न-सिद्धि की खोज में' जैसे उपन्यासोचित शीर्षकोंवाली पुस्तकों में, प्रस्तुत हुई है।

---

१ और २—इंडियन प्रेस, प्रयाग; मूल्य ३) और ३॥)।
३ और ४—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्रत्येक का मूल्य ५)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'सीधी चढ़ान' का अनुवाद मंजुला वीरदेव ने और 'स्वप्न-सिद्धि की खोज में' का प्रवासीलाल वर्मा 'मालवीय' ने किया है। इस आत्म-संस्मरण में पाठक को बहुपथीन व्यक्तित्व और प्रतिभा के मनुष्य के घटना-बहुल, बहुवर्ण जीवन की झाँकी उस तरह मिलती है, जिस तरह कभी-कभी पट खोले जानेवाले प्रासाद की झाँकी दर्शक को सुलभ हो जाती है। यह एक ऐसे महत्त्वाकांक्षी मनुष्य के जीवन की कथा है जिसने जैसे चाहा है, जिया है, और जो चाहा है, उसे प्राप्त किया है, और यह सब जितने रोचक ढंगसे सम्भव है, लिखने में सफल भी हुआ है।

इन पुस्तकों में प्रस्तुत आत्मसंस्मरण में आत्मीयता कम और अस्मिता अधिक है। 'प्रतिष्ठान' और 'परिव्राजक की प्रजा' तथा 'सीधी चढ़ान' और 'स्वप्न-सिद्धि की खोज में' अपने वैषम्य में तुलनीय हैं!

'भारत-विभाजन की कहानी'[1] के लेखक श्री एलन कैंपवेल जान्सन लार्ड माउंटबेटन के 'प्रेस-एटैची' थे। दैनंदिनी के रूप में अँगरेजी में लिखित उनकी पुस्तक 'मिशन विद माउंटबेटन' प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। उक्त पुस्तक का अनुवाद श्री रनवीर सक्सेना ने किया है, जिसके संपादक हैं श्री यशपाल जैन।

पुस्तक में 'भारत के बँटवारे तथा सत्ता-हस्तांतरण की आंतरिक कहानी है।' यह प्रकाशकीय संकेत सर्वथा संगत है। मूल लेखक ने एक लोमहर्षक औपन्यासिक वृत्तांत का ऐसा आँखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया है कि यह मान लेना पड़ता है कि 'सत्य गल्प से विचित्रतर होता है।' अनुवाद की भाषा सरल और परिमार्जित है और मूल की रोचकता अक्षुण।

'खजूर के पेड़'[2] रामेश्वरनाथ तिवारी के व्यक्तिगत निबंधों के इस संग्रह में खजूर के पेड़, अखबार, कांटियाँ, ट्रक-यात्रा, खिड़की से, वे प्रणाम करते हैं, भूमिका लिख रहा हूँ, माटी के राम, ध्रुव-तारा, ठाकुर, तीन चित्र, प्रातः अटन, थप-थप, आज सनीचर है, अतिथिदेवो भव, बेकारी, दो बरस का बचपन, चीनी नहीं चाय, यह राजधानी की सड़क है, घाट से चलिए, खानाबदोश का संसार और अस्तव्यस्तता ये बाईस ऐसे निबंध हैं, जिनमें व्यक्तिगत निबंध के गुण यथेष्ट मात्रा में वर्त्तमान हैं। लेखक ने इन्हें वैयक्तिक निबंध कहा है। मेरी दृष्टि में संग्रह का तेईसवाँ और अन्तिम निबन्ध 'बबूल और गुलाब' भले ही वैयक्तिक निबंध कह लिया जाए, दूसरे निबंध तो व्यक्तिगत ही हैं। व्यक्तिगत और वैयक्तिक इन दोनों अभिधेयों में हिन्दी के विद्वान् पार्थक्य नहीं निभाते, किन्तु व्यक्तिगत और वैयक्तिक अँगरेजी के 'पर्सनल' और 'इण्डिविडुअल' के पर्याय हैं। निबंध लेखक के व्यक्तिगत तत्त्व के कारण ही महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रूप माना जाता है। जिस निबंध में इस तत्त्व के विपरीत लेखक की वैयक्तिकता प्रमुख हो जाती है उसमें करारा व्यंग्य भले हो, पाठक के साथ आत्मीयतापूर्ण मैत्री स्थापित करने की क्षमता नहीं रहती।

१—सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली; मूल्य ४)।
२—कुसुम प्रकाशन, कुसुमपुरी, पटना ३; मूल्य १॥)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तिवारी जी ने महत्त्वरहित-से लगनेवाले ऐसे विषयों को भी पाठक के लिए सार्थक बना दिये हैं जो विशेष मनोदशा के क्षणों में उनके लिए इतने अर्थपूर्ण हो गए होंगे कि वे उन्हें बिसरा नहीं सके हैं। अन्तिम निबन्ध में लेखक ने दूसरे का परिहास किया है। यह निर्मल हास नहीं है, किन्तु संग्रह में यह निबन्ध अपवाद है। अन्य निबन्धों की गुदगुदी कभी चिकोटी नहीं बनती। हिन्दी में निर्मल हासवाले इस श्रेणी के बहुत अधिक निबन्ध नहीं पाये जाते।

'बाबा बटेसरनाथ'[1] नागार्जुन का यह छोटा-सा उपन्यास जानपदिक जीवन का जानपदिक हिन्दी में लिखा हुआ उपन्यास है। किसी भी समुन्नत और परिनिष्ठित भाषा की लक्ष्मणरेखा को गल्प ही अतिक्रांत करती है, क्योंकि यही जीवन का समीपतम साहित्यिक रूप है और इसके लिए भाषा के बने-बनाये साँचे अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। जानपदिक हिन्दी में प्रेमचन्द के प्राग्भावी उपन्यासकारों ने कथोपथन लिखे थे, किन्तु स्वयं प्रेमचन्द ने अटट गाँवों का वातावरण और ग्रामीणों का वार्तालाप भी परिनिष्ठित हिन्दी के द्वारा असम्भवप्राय सफलता के साथ प्रस्तुत किया था। हिन्दी अब इतनी परिष्कृत और प्रतिमित हो चुकी है कि उसमें जानपदिक या आंचलिक भाषाओं के रूप गल्प के माध्यम से सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। बँगला में इस प्रवृत्ति को कुछ पहले से ही प्रश्रय मिलने लगा था। हिन्दी में इसके नव-प्रवर्त्तन का श्रेय नागार्जुन को है।

'बाबा बटेसरनाथ' की आंचलिकता उसकी भाषा और वातावरण तक ही सीमित है आंचलिक जीवन का चित्रण लेखक ने वैसा किया है, जैसा वह देखना चाहता है। 'बाबा बटेसर नाथ', जिस साँचे में ढाला गया है वह 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' के साँचे से भिन्न नहीं है। यदि उसकी अपनी कोई विलक्षणता है तो यह कि गाँव का पुराना बरगद—बाबा बटेसरनाथ—प्रतीकात्मकता की दृष्टि से 'हँसिया-हथौड़ा' की श्रेणी में स्थापित कर दिया गया है। कालिदास ने एक स्थान पर ऋषियों के श्मश्रु की (वट-)प्ररोह से तुलना की है; नागार्जुन को कदाचित् वट-प्ररोह को देख कर अपने भुक्तोज्झितवाद के महर्षि की याद आ गई है!

'अमराई की छाँह में'[2] वीरेन्द्र नारायण का यह उपन्यास भी उपर्युक्त भाषा-सम्बन्धी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। नागार्जुन के उपन्यासों के साथ 'अमराई की छाँह में' केवल इसी दृष्टि से तुलनीय है। नागार्जुन ने आंचलिक भाषा और वातावरण का निर्वाह करते हुए भी, अपनी कथावस्तु और पात्रों को अंततः विकलांग बनाकर भी अपनी पसन्द के साँचे में जैसे-तैसे बिठाल दिया है। 'अमराई की छाँह में' ग्रामीण जीवन का यथातथ चित्र उपस्थित कर देना ही लेखक ने पर्याप्त समझा है। फलतः उसके चित्र वस्तुतः चित्र बन पड़े हैं।

उपन्यास के सर्वथा विश्वसनीय और वर्तुल पात्रों के बीच अंजलिदी कल्पनाप्रसूत

१—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य १॥।=)।
२—कुसुम प्रकाशन, कुसुमपुरी,पटना ३; मूल्य २)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और शरत्चन्द्र की सुपरिचित पात्रियों की अनुकृति है। हम इस जान बूझकर की गई अनुकृति की सार्थकता के कायल नहीं है।

लेखक ने जितने आग्रह के साथ आंचलिक शब्दों का प्रयोग किया है, उतने ही अवधान के साथ हिन्दी के शब्दों का भी करता, यह उचित था। पुस्तक का आवरण पुस्तक के साथ न्याय नहीं करता।

'बहता तिनका'[१] कमल जोशी के इस उपन्यास में हमें वस्तुतः पुराने ढंग की एक बहुत लम्बी कहानी ही पढ़ने को मिलती है। यदि हम यह नहीं भी जानते कि कमल जोशी ने कहानियाँ लिखने में सफलता पाई है, तो भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते। कभी-कभी साहित्य के किसी एक रूप में अभ्यस्त होने के बाद दूसरे मिलते-जुलते, किन्तु तत्त्वतः भिन्न रूपों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना लेखक के लिए कठिन हो जाता है। जोशीजो ने इस कठिनता पर विजय नहीं पाई है, और जिस वस्तु को वे एक सफल छोटी कहानी के रूप में उपस्थित कर पाते, उसे उन्होंने उपन्यासोचित विस्तार तो दे दिया है, किन्तु स्थापत्य नहीं दे सके हैं। पात्र चिपटे रह गए हैं और गोलाई में चित्रित होकर सजीव नहीं बन सके हैं। स्थापत्य की तरह भाषा भी शिथिल है।

'बाहर-भीतर'[२] डा० देवराज का नातिदीर्घ और, इसी कारण, नात्यपठनीय उपन्यास है। इस उपन्यास में इसी लेखक के बृहत्काय उपन्यास 'पथ की खोज' की अनेक अधगढ़ी मूर्त्तियों में से एक, जैसे-तैसे करके, आकृति पा गई है। लेखक के अनुभव का बाहर-भीतर लांगूल-वृत्त की तरह स्वल्प-परिधि है। प्रथम पुरुष में लिखा उपन्यास इस तथ्य का पर्याप्त संकेत दे देता है। अपनी कहानी सुनाने को उद्यत नायक ने साफगोई के साथ, पहली पंक्ति ही यह लिखी है—'मैं लेखक नहीं हूँ···!'

'प्रेत की छाया'[३] और 'विधाता की भूल'[४] श्री ज्योतींद्रनाथ की छोटी कहानियों के संग्रह हैं। लेखक के पास कहने लायक किस्सों की कमी नहीं है। उसके पास कहने लायक ढंग भी है। इन उपादानों के अतिरिक्त भी उत्कृष्ट कहानियों में बहुत कुछ रहता है, जिनका प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में अभाव है। ज्योतींद्रनाथ ने इसे छिपाने की कोशिश नहीं की है, और जो उनके बस की बात है, उसका भरोसा रखा है। जब कहने को किस्सा नहीं रह जाता, तब कुशल लेखक अपरिचित और रूमानी प्राकृतिक पृष्ठभूमि के कवित्वपूर्ण वर्णन या अन्य कौशलों से इस अभाव को आच्छादित कर देते हैं। ज्योतींद्र की अनेक कहानियाँ अनगढ़

१—नवयुग प्रकाशन, २८१ चावड़ी बाजार, दिल्ली; मूल्य २)।
२—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य १।।।=)।
३—अरुण पुस्तक-माला, लहेरियासराय; मूल्य १।।)।
४—राजेन्द्र प्रकाशन, भँवरपोखर, पटना ४; मूल्य २)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रह गई हैं, किन्तु यह इससे अच्छा है कि गैरजरूरी नक्काशी से खूबसूरती पैदा की जाय। सधी कारीगरी से सहज अनगढ़पन ही भला !

ज्योतींद्रनाथ ने बहुधा घटनाओं का वर्णन किया है और उनमें की कहानी नहीं देखी है। किन्तु दोनों संग्रहों में ऐसी भी अनेक कहानियाँ हैं, जिनमें एक घटना सीधे कह दी गई है और कहानी अनायास उभर आई है—एक ही बिंदु को उद्भासित कर देनेवाली केंद्रित प्रकाश-रेखा !

'ऊटपटाँग' [१] अलबर्ट कृष्ण अली की हास्य रस की गद्य तथा पद्य-रचनाओं का सार्थक नामधेय संग्रह है। इन रचनाओं का हास्य तमाचे की छड़ी—'स्लैप-स्टिक'—का शस्त्र है, जिसका प्रयोग हाल-हाल तक पात्र-विशेष मंच पर करता था और जो आज भी सर्कसों में इस्तेमाल में देखा जाता है।

'संधि-संदेश' [२] स्व० दामोदर सहाय 'कविकिंकर' लिखित खंड-काव्य है। 'कविकिंकर' जी समय और शैली दोनों दृष्टियों से द्विवेदी-युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह खंड-काव्य १९२९ ई० में ही रचित हुआ था। यह दुर्भाग्य की बात है कि इसका प्रकाशन इतने दिनों के बाद हुआ है। यदि यह बीस वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो गया होता तो उस युग के श्रेष्ठ खंड-काव्यों में इसकी गणना होती। इसके विलंबित प्रकाशन का भी साहित्यिक इतिहास के लिए पर्याप्त महत्त्व है।

'जिन्दगी का नशा' [३] वीरेन्द्र नारायण का ऐसा नाटक है, जिससे अभिनय के योग्य नाटक ढूँढ़ते चलनेवाले गैरपेशेवर नाटक-प्रेमियों को प्रसन्न होना चाहिए—यद्यपि हम नहीं जानते कि वह उनकी दृष्टि में भी आया है, क्योंकि जिस नगर में इसका प्रकाशन हुआ है उसीमें ऐसे नाटक खेले जा रहे हैं जो सिर्फ कहने भर को नाटक हैं। नाटक की घटनाएँ दो-एक कमरों में ही घटती हैं, पात्र तीन-चार ही हैं। बातचीत ऐसी, जैसी मनुष्य करते हैं, वैसी नहीं जैसी हिन्दी के प्रायः सभी नाटककार लिखते चले जा रहे हैं, और अंक केवल तीन हैं, अंक को खंडित करनेवाले 'दृश्य' एक भी नहीं। अंक-विधान की यह योजना पृथ्वीराज ने अपने मन्त्र के द्वारा हिन्दी के नाटककारों के लिए परिचित बनाई है, किन्तु स्वयं प्रसाद ने अपने अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी में, तदुपरान्त कृपानाथ मिश्र और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने यही योजना अपनाई है और पृथ्वीराज के मंच के आविर्भाव के बहुत पहले से ही। इधर 'अश्क' ने एकाधिक नाटकों में, और अब वीरेन्द्र नारायण ने, यह योजना अपना कर अपने नाटकों को सहज अभिनेय और अन्विति-युक्त बनाया है।

वीरेन्द्र नारायण के, शरत्चन्द्र के जीवन पर आधारित, एक दूसरे नाटक के कुछ अंश हमने पढ़े है। शरत्चन्द्र के सम्बन्ध में ऐसी अभिरुचि से उत्कृष्ट नाटक का

१—अशोक प्रेस, पटना ६; मूल्य १।।।)।

२—हिन्दी-मन्दिर, शीतलपुर, बरेजा; मूल्य १।।)।

३—ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना ४; मूल्य ।।।=)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निर्माण संभव है। किन्तु, शरत्चन्द्र की जो छाप वीरेन्द्र की कृतियों पर है, वह अहितकर है। आवरण के चित्र से, भय है, नाटक का निर्देशक गुमराह हो जा सकता है, यदि उस पर ध्यान चले जाने के बाद भी उसमें नाटक के निर्देशन की प्रेरणा अवशिष्ट रह जाए!

'आमेर शास्त्र-भंडार, जयपुर, की ग्रंथ-सूची'[१] और 'राजस्थान के जैन शास्त्र-भंडारों की ग्रंथ-सूची' (द्वितीय भाग)[२] के संपादक श्रीकस्तूरचंद कासलीवाल ने इस ग्रंथ-सूचियों के रूप में प्राच्य-विद्या-सम्बन्धी शोध के लिए महत्त्वपूर्ण आधार-शिला प्रस्तुत की है। प्रथम सूची के आवरण-पृष्ठ पर केवल आमेर शास्त्र-भांडार का ही उल्लेख है, किंतु भीतर महावीर शास्त्र-भांडार में संगृहीत पुस्तकों की भी सूची है। समय की दृष्टि से बाद में प्रकाशित सूची के नाम में विषयानुरूप व्यापकता है और उसकी योजना भी अधिक सुव्यवस्थित और सुविधाजनक है। उदाहरण के लिए, पहली सूची में विषय की दृष्टि से पृथक् वर्गों की (सिद्धांत एवं चर्चा, धर्म एवं आचार शास्त्र, आदि) कोई योजना नहीं है, यद्यपि पोथियों के विवरण में ही विषय-निर्देश कर दिया गया है। यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि द्वितीय पुस्तक प्रथम पुस्तक का द्वितीय भाग है अथवा उसका अपना कोई प्रथम भाग भी है। हम अनुभव करते हैं कि पहली बात ही सही है। दोनों पुस्तकों की प्रकाशन-संस्था स्पष्टतः एक है, किंतु नाम में एकरूपता नहीं है। हम समझते हैं, द्वितीय पुस्तक में जिस तरह पुस्तकों के विवरण की योजना अधिक वैज्ञानिक बना ली गई है, उसी तरह उसमें अन्य छोटी-मोटी बातों को भी निश्चित कर लिया गया है और उन्हीं के अनुसार अन्य भागों का प्रकाशन होगा।

इन नगण्य त्रुटियों का उल्लेख कर लेने के बाद, इन सूचियों की प्रशंसा में जो कुछ कहा जाए, वह थोड़ा ही होगा। संपादक का यह दावा निराधार नहीं है कि 'आमेर शास्त्र भंडार की ग्रंथ-सूची एवं प्रशस्ति-संग्रह के प्रकाशित हो जाने से अपभ्रंश भाषा के विशाल साहित्य का परिचय विद्वानों को मिला, जिससे अपभ्रंश साहित्य की लोकप्रियता का विस्तार एवं उसकी विशेषताएँ विद्वानों को मालूम हुईं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए, अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में लिखा है, 'परवर्त्ती हिंदी साहित्य के काव्य-रूप के अध्ययन में ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं।'

आमेर शास्त्र-भांडार में सुरक्षित पोथियों की संख्या का निर्देश नहीं है; अनुमानतः एक हजार पोथियों का विवरण दिया गया है।

इस भांडार के ग्रंथों के साथ ही साथ महावीर शास्त्र-भांडार की जो सूची है उसमें ३०८ पोथियों का विवरण है। जैन भांडारों के आलोच्य दूसरे सूची-ग्रंथ में कुल २६२९ पोथियों का विवरण है। इस सूची के संपादकीय वक्तव्य से सूचित होता है कि अकेले जयपुर के सात शास्त्र-भांडारों में सुरक्षित दस हजार पोथियों की सूची बन चुकी है और उसका शीघ्र प्रकाशन होगा। हमें विश्वास है, इस या इस क्रम की अन्य सूचियों के प्रकाशन

---

१ और २—श्री दिगंबर जैन महावीर अतिशय क्षेत्र कमेटी, महावीर पार्क रोड, जयपुर; पहले का मूल्य ५), दूसरे का ८)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में अर्थाभाव बाधक नहीं होगा। अवश्य ही, यदि आवश्यकता हो, पर्याप्त सरकारी सहायता सुलभ होने में कठिनाई न होगी।

इन भांडारों में मुख्यतः संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी की पोथियां हैं। हिंदी के शोध-कर्त्ताओं का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वे अपभ्रंश और हिंदी की पोथियों का प्रत्यक्ष परीक्षण करें और उन्हें संपादित कर मुद्रणार्थ प्रस्तुत करें। यह हिंदी की साधनसंपन्न संस्थाओं में तनिक भी विवेक होगा तो वे इनके मुद्रण आदि के लिए उसी तरह व्यवस्था करेंगी जिस तरह अन्य, और अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण, कार्यों और उत्सवों तक के लिए वे चंदा और सरकारी अनुदान वसूल कर भड़कीली व्यवस्था करती हैं।

हम यह भी आशा करते हैं कि इन सूचियों से हिंदी के विद्वानों के उस सूची-पांडित्य को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा, जिसके लिए वे प्रसिद्ध हैं!

'वेदोद्यान के चुने हुए फूल'[1] 'गुरुकुल-स्वाध्याय-मंजरी का २३ वां पुष्प' है। इस एक ही पुष्प में ऐसा दिव्य सौरभ है, जिससे कोई भी साहित्य-रसिक आप्यायित हो जायगा।

प्रारम्भ में लेखक, श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति, की बाईस पृष्ठों की सुचिंतित भूमिका है, जिसमें भारतीय संस्कृति, वैदिक वाङ्मय आदि विषयों का, दृष्टिकोण-विशेष से, प्रतिपादन किया गया है, जिससे सबका पूर्णतः सहमत होना संभव नहीं है, किन्तु जिसकी प्रौढ़ि से इनकार नहीं किया जा सकता।

भूमिका को छोड़कर, पुस्तक प्रायः दो सौ पृष्ठों की है, और इतने में ही वेद, ईश्वर, सृष्टि, उपासना, स्वास्थ्य और जीवन-शक्ति, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, राष्ट्र-निर्माण आदि खंडों के अन्तर्गत ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा यजुर्वेद से तत्-तत् विषयों के सम्बन्ध में प्रायः महत्त्वपूर्ण मंत्र, सानुवाद और सविवेचन, संकलित किये गये हैं। हमने वेद को भगवान् माना है और उससे दूर होते गए हैं—जिसे भगवान् मान लिया उसे समझने का, उसके समीप रहने का प्रयत्न कैसा! प्रियव्रत जी के इस ग्रन्थ से वैदिक साहित्य और उसे भगवत्स्वरूप मानने-वालों के बीच की दूरी ही नहीं हटेगी, दर्शन और काव्य के ऐसे प्रेमियों के लिए भी तथ्य उद्भासित होगा जो संस्कृत नहीं जानते।

प्रियव्रतजी ने परिष्कृत किन्तु सुबोध हिन्दी में अनुवाद और विवेचन किया है। मोटे कागज पर सुमुद्रित, सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल चार रुपये है—जो हिन्दी की इधर की औसत पुस्तकों के मूल्य की तुलना में 'न्यौछावर' मात्र है।

'वेद-सार'[2] श्री विश्वबन्धु के द्वारा प्रस्तुत बहुत कुछ उपर्युक्त प्रकार का ही संकलन है। यदि वैदिक साहित्य से प्रारंभिक परिचय प्राप्त करना अभीष्ट हो तो इस संकलन को पहले और तब 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' का उपयोग किया जा सकता है। इस संकलन में मूल मन्त्रों के सरल और सुबोध अनुवाद ही हैं, विवेचन नहीं, किन्तु विविधता में, आकार

१—प्रकाशन-मन्दिर, गुरुकुल-विश्वविद्यालय, कांगड़ी, हरिद्वार, मूल्य ४)।
२—विश्वेश्वरानन्द प्रकाशन, होशियारपुर; मूल्य १॥)।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की लघुता के बावजूद, पूर्वालोचित पुस्तक से घट कर नहीं है। सुरुचिपूर्ण मुद्रण और स्वल्प मूल्य इस संकलन की भी प्रशंसनीय विशेषताएँ हैं। वैदिक साहित्य को लोकप्रिय बनाने के लिए ऐसे उपयोगी साधनों को सुलभ बनानेवाली दोनों संस्थाएँ अभिनन्दनीय हैं।

समीक्षक : श्रीरंजन सूरिदेव

'मूर्च्छना'[१] और 'हिमशिखर'[२]। 'मूर्च्छना' श्रीरुद्रजी के सतहत्तर गीतों का संग्रह है। प्रत्येक गीत में कवि की अन्तर्वृत्ति और उसकी आन्तरिक कोमलता का संकेत स्पष्ट है। कवि ने आकांक्षाओं से आकुल अपनी अन्तर्वृत्ति, रागात्मक अनुभूति एवं कल्पना के सहारे विषय-वस्तु को आदर्श एवं भावात्मक बना दिया है। मूर्च्छना में एक ही वस्तु से आविर्भूत विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं के शब्द-चित्र हैं, जिनमें कवि की अपनी आकांक्षाओं, अपने स्वप्नों और अपने विचारों की अभिव्यक्ति है। विषयाभिव्यक्ति के विस्तार के लिए आकुल अभिव्यञ्जनाओं को अपने माध्यम की परिधि में सिमटना पड़ा है। फलतः, मूर्च्छना के गीतों में विचार और अनुभूति के सौंदर्य के साथ ही संवेदनशीलता और प्रभविष्णुता का समावेश हो गया है। संगृहीत गीतों में शब्द-चमत्कार, नाद-सौन्दर्य एवं भाषा-सौष्ठव की त्रिपथगा तरंगित हो उठी है।

इन गीतों के भाषा-सौष्ठव, शब्द-चयन एवं छन्द और लय पर श्री मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव है, किन्तु कवि की अपनी रेखाएँ, अपने रंग भी हैं।

'हिमशिखर' श्री रुद्रजी की छत्तीस राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह की कविताओं की रेखाएँ, यथार्थवादिता की ओर आग्रहशील रहने के कारण, कुछ ज्यादा स्पष्ट हैं। इनमें ऐसे मानवीय दृष्टिकोण का प्राधान्य है, जो केवल मानव-समाज की ओर ही नहीं, अपितु अपने देश, जाति और सभ्यता-संस्कृति की ओर भी उन्मुख है। राष्ट्रीय जागरण की उद्भावना की दृष्टि से 'हिमशिखर', 'शहीद-गीत', 'सत्यरथ', 'चुनौतियाँ', 'नया बिहान', शीर्षक कविताएँ ओजपूर्ण हैं। अन्धकार पर मुस्कुरानेवाले और फूलों के चरण लेकर भी अंगार पर चलनेवाले वीर 'सत्यरथ' के लिए कवि की उत्तेजना देखिये—

"बढ़ते चलो, हे सत्यरथ, बढ़ते चलो, बढ़ते चलो।
हर ओर बादल छा रहे, घहरा रहे हहरा रहे,
काले क्षितिज के क्षेत्र में विद्युद् ध्वजा फहरा रहे;
धमका रहा पर्वत-शिखर, शर छोड़ निर्झर के प्रखर;
बस सावधान! वहीं ठहर, गुर्रा रहे दिङ्मुख मुखर;
नटराज के दृग से बढ़ा, भूचाल के रथ पर चढ़ा;
तूफान को ललकारता, संवर्त्त आता है बढ़ा;
पर बढ़ चले तब तर्क क्या, हे क्रान्तिपद! बढ़ते चलो।"

भाषा और भाव की दृष्टि से आलोचित दोनों कविता-संग्रहों में कवि की मँजी हुई काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

---

१ और २—चाणक्य-प्रकाशन, पटना ४; मूल्य दो-दो रुपये।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संकलन

द्रविड़ देश में तुलसी-रामायण

मद्रास प्रांत में चार भाषाएँ बोली जाती हैं—तमिल, तेलगू, कन्नड़ तथा मलयलम। ये भाषाएँ द्रविड़ परिवार की हैं। इन भाषाओं में तमिल सबसे पुरानी भाषा है। इस भाषा का साहित्य तथा शिलालेख ईसा के दो हजार वर्ष पहले तक के मिलते हैं। बाकी भाषाओं में प्रामाणिक साहित्य तथा शिलालेख ईसवी सन् १००० वर्ष के बाद से ही मिलते हैं। मेरे विचार से ईसवी सन् की दसवीं शताब्दि ही हिन्दी भाषा की भी जन्म-शताब्दि कही जा सकती है।

जनसंख्या की दृष्टि से तमिल तीन करोड़ लोगों की मातृभाषा है। सिलोन (लंका) के उत्तरी भागों में भी तमिल बोली जाती है। तेलगू साढ़े तीन करोड़ लोग बोलते हैं। कन्नड़ दो करोड़ लोगों की मातृभाषा है। मलयलम एक करोड़ लोग बोलते हैं। स्थान की दृष्टि से दक्षिण-भारत में मद्रास शहर के उत्तर में १० जिलों में तेलगू बोली जाती है। मैसूर, मंगलूर तथा हुबली की तरफ कन्नड़ भाषा प्रचलित है। त्रिवांकुर, कोचीन तथा मालाबार में मलयलम बोली जाती है।

इन सभी भाषाओं में प्रारम्भ से ही विषय तथा शब्दों में संस्कृत भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। संस्कृत-साहित्य में रामायण तथा महाभारत का प्रभाव द्राविड़ी भाषाओं में स्पष्ट झलकता है। यदि इन दोनों महाकाव्यों को द्राविड़ी भाषा-साहित्य का मेरुदंड कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। रामायण की कथा अत्यंत प्रचलित है। चारो द्राविड़ी भाषाओं में संस्कृत की बाल्मीकि रामायण का रंग पक्का चढ़ गया है, तमिल भाषा में 'कंब' रामायण महानाटक है जो बाल्मीकि रामायण के टक्कर का है। साथ ही साथ मौलिक भी है। तेलगू, कन्नड़ तथा मलयलम भाषाओं में रामकथा की पुस्तकें या काव्य हैं, किन्तु वे रामायण के अनुवाद-से प्रतीत होते हैं। तमिल-रामायण की भाँति उनमें मौलिकता नहीं है।

कहा जाता है, तामिल देश में एक शैव साधु—कुमारगुरु दिल्ली के दरबार में गये हुए थे। मुगल बादशाहों के आग्रह से वे तमिल कंब रामायण का प्रवचन, उत्तर भारत में दिल्ली, प्रयाग, काशी आदि नगरों में, हिन्दी भाषा में करने लगे थे। गोस्वामी तुलसीदास जी उन प्रवचन-सभाओं में उपस्थित रहते थे। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी रामायण में द्रविड़ शैव के सुन्दर उद्धरणों का भी समन्वय किया था। इसीलिए तुलसी-रामायण में लाक्षापाक की मधुरता पाई जाती है।

दक्षिण की भाषाओं में तुलसी-रामायण का पूरा अनुवाद अब तक नहीं हुआ है। हाँ, कुछ लोगों ने रामायण के कतिपय अंशों का अनुवाद अवश्य किया है। सर्वप्रथम तमिल भाषा में तुलसी-रामायण का अनुवाद हुआ है। स्वर्गीय रघुवरदयाल मिश्र ने (जिनकी जन्मभूमि फर्रूखाबाद (उत्तर-प्रदेश) होते हुए भी जो तामिल-देश में बस गये थे) कुल दोहों तथा चौपाइयों का अनुवाद तमिल में किया था। गुहा ने भी गोस्वामी तुलसीदास की रामायण का तमिल में भाषान्तर किया है। उस अनुवाद को लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं तथा मूल रामायण

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पढ़ने की इच्छा से हिन्दी भाषा को सीखना आरंभ कर दिया है। आंध्र देश में तेलगू भाषा के द्वारा तुलसी-रामायण का कथा-वाचन होता है। हजारों की संख्या में लोग रामायण की कथा सुनने के लिए जमा होते हैं। कन्नड़ तथा मलयलम में तुलसी-रामायण का पूरा अनुवाद अबतक नहीं हुआ है। किन्तु, लोग तुलसीदास के नाम से अधिक परिचित हैं। इसका मुख्य कारण महात्मा गाँधी जी हैं। राजनीतिक बातों के साथ वे तुलसी-रामायण तथा भगवद्गीता की महिमा पर भी दक्षिण में भाषण देते थे। इसका प्रभाव जनता पर अधिक पड़ा।

अब समय आ गया है कि दक्षिण-भारत के निवासी गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरित मानस का अध्ययन द्राविड़ी भाषा की रामायण के साथ तुलनात्मक दृष्टि से करें।

(दैनिक 'अमृत-पत्रिका', प्रयाग; ७ अगस्त '५४ ई०)

साहित्य में पत्र और डायरी का महत्त्व

कितने ही साहित्यकारों के पत्र साहित्य में अक्षय स्थान प्राप्त कर चुके हैं। पत्र ही नहीं, कुछ लोगों की डायरी भी साहित्य में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी है। डायरी अथवा पत्र में व्यक्तिगत जीवन की ही बातों की चर्चा रहती है। परन्तु, उसमें रचना की एक ऐसी कुशलता व्यक्त होती है, जिसके कारण उसकी गणना साहित्य में हो जाती है। काव्य, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के अंगों में जो एक सौष्ठव रहता है, उसके कारण उनके द्वारा सभी पाठकों को एक विशेष रस की प्राप्ति होती है। कला की इसी विशेषता के कारण वे सब पाठकों के लिए चिरंतन आनन्द के साधन हो जाते हैं। डायरी और पत्र में भी जब कला की यही विशेषता व्यक्त होती है, तब उनके द्वारा भी पाठकों को एक अपूर्व रस की अनुभूति होती है। अँगरेजी साहित्य में कई लेखक अपने पत्र और डायरी के कारण अक्षय यश के पात्र हो चुके हैं। उनकी ऐसी रचनाओं की गणना स्थायी साहित्य में होती है। अँगरेजी के एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है, "मन की एक विशेष स्थिति में होरेस वालपोल के पत्र विशेष आनन्दप्रद हो जाते हैं। हमें ऐसा जान पड़ता है कि वह लोगों का एक ऐसा साथी है, जिसके साहचर्य में हमलोगों को कभी विरक्ति नहीं होती। यह सच है कि उसके पत्रों में व्यंग्य है, आक्षेप है, तिरस्कार है और सहृदयता भी नहीं है। परन्तु, उसकी रचना में एक ऐसा आकर्षण है कि हम सब लोग उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसके पत्रों को पढ़ते समय हमें ऐसा जान पड़ता है, मानों हम किसी अपरिचित देश की यात्रा कर रहे हैं; परन्तु हम ऐसे व्यक्ति के साथ जा रहे हैं, जिसके लिए वह स्थान बिल्कुल ही अपरिचित नहीं है। वह उस स्थान के सभी व्यक्तियों को जानता है, सभी स्थलों को देख चुका है और कहीं भी उसे किसी प्रकार की अड़चन नहीं होती। हम अनायास ही उसके साथ सभी स्थानों में पहुँच जाते हैं। उसके युग का सारा समाज हमलोगों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। उस युग की बड़ी-छोटी कोई भी बात उसके लिए उपेक्षणीय नहीं है। निन्दा और कलंक की बात तक हमलोग जान लेते हैं। हमें विस्मय होता है और कौतूहल भी।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसके वर्णन की यह विशेषता है कि चित्रपट की तरह वह युग हमलोगों के लिए प्रत्यक्ष हो जाता है।"

यह विशेषता एकमात्र वालपोल के ही पत्रों में प्रकट नहीं हुई है। अँगरेजी साहित्य में अन्य पत्रों और डायरियों में भी यही विशेषता देखी जाती है। पन्द्रहवीं शताब्दी का चित्र पेष्टन-लेटर में व्यक्त हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी का चित्र पेपीज की डायरी में विद्यमान है। फाक्स और वेस्ले के जर्नल भी इसी बात के लिए प्रसिद्ध हैं। उर्दू साहित्य में गालिब के जो पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी तत्कालीन युग की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाती है।

सच पूछिये, तो रसात्मक पत्र मन की उस स्वच्छन्द अवस्था में लिखे जाते हैं, जब लेखक स्वयं पत्र लिखने में ही एक उमंग का अनुभव करता है। उन्हें लेखक स्वांतःसुख के लिए लिखता है। इसीसे जीवन की अत्यन्त क्षुद्र बात भी रसमयी हो जाती है। यों तो आवश्यकता पड़ने पर सभी लोगों को पत्र लिखने पड़ते हैं। उन पत्रों की महत्ता तभी तक रहती है, जबतक जिसके लिए वह पत्र लिखे जाते हैं, वे उन्हें पढ़ नहीं लेते। एकबार उन पत्रों को पढ़ लेने के बाद फिर उनकी कोई महत्ता नहीं रह जाती। यह बात दूसरी है कि कभी किसी पत्र का ऐतिहासिक महत्त्व हो जाता है और उसके द्वारा किसी विशेष प्रश्न अथवा समस्या पर कोई प्रकाश पड़ने के कारण यह अनुसन्धान का भी विषय हो जाता है। परन्तु, ऐतिहासिक अनुसंधान एक बात है और रस की अनुभूति दूसरी बात है। कला में रस की अनुभूति होती है और पत्र-रचना में भी जो एक कला की विशेषता लक्षित होती है, उसीके कारण कोई पत्र साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है। तब वह व्यक्तिगत न रहकर सार्वजनिक भी हो जाता है।

सच तो यह है कि जिन पत्रों में कला का निर्देशन होता है, उनमें जीवन की यथार्थ बातों के साथ भाव का सौन्दर्य रहता है। तब उनमें कल्पना के साथ सहानुभूति और विचार की गंभीरता के साथ सहृदयता की प्रधानता होती है। उसमें तर्क ही नहीं, स्नेह भी रहता है। स्नेहसिक्त होने के कारण यथार्थता की विरस कटुता भी सरस हो जाती है।

—(सम्पादकीय, 'सरस्वती', प्रयाग; अगस्त '५४ ई०)

राष्ट्रभाषा हिन्दी पर एक दक्षिणी साहित्यकार का मत

आंध्र-प्रदेश कांगरेस के अध्यक्ष, तेलगू में रवीन्द्र-साहित्य के अनुवादक और आंध्र-विश्वविद्यालय के कुलपति बी० गोपाल रेड्डी ने एक साहित्यिक समारोह की अध्यक्षता की।

श्री बी० गोपाल रेड्डी ने अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा—"इस समय जनहित का काम करने में अनेक संस्थाएँ जुटी हुई हैं। हमलोग जनता की इस चेतना का उपयोग अपने साहित्य-क्षेत्र में करें, जिससे साहित्य जनता तक पहुँच सके। आज तक राजा महाराजा साहित्यिकों और कलाकारों को आश्रय देते रहे हैं। किन्तु, उनका अस्तित्व समाप्त हो चुका। आज उन्हें जनता का आश्रय प्राप्त करना होगा।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हम अपने देश का पुनर्निर्माण कर रहे हैं। पुनर्निर्माण के उत्थान का काम प्रत्येक क्षेत्र में होगा। इस काम में लगभग ५० वर्ष लग सकते हैं। हमलोग निराशा का त्याग करें और 'श्रेयस्' की प्राप्ति के लिए प्रत्येक क्षेत्र में अथक प्रयत्न किया जाय। इस पीढ़ी का यह सौभाग्य है कि उसे अपने देश के निर्माण का अवसर प्राप्त हुआ है। इस सौभाग्य को बनाये रखने में साहित्य बहुत योग दे सकता है।

कुछ लोग सोचते हैं कि वह केवल सामयिक समस्याओं से ही सम्बन्ध रखता है। किन्तु, साहित्य केवल सामयिक समस्याओं की व्याख्या ही नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि साहित्य हिमालय की तरह स्थिर और अटल है। हमारी भाषाओं का साहित्य पिछले बीस वर्षों में कहाँ से कहाँ चला गया है। हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि साहित्य में राजनीति से अधिक शक्ति और स्थायित्व है। आंध्र में कितने ही राजा आये और गये, किन्तु उन राजाओं के समय में जो साहित्य लिखा गया, वह आज भी पढ़ा जाता है। साहित्य प्रत्येक स्थिति में पथ-प्रदर्शन करता है। तेलगू-भागवत या त्यागराज की रचनाएँ केवल रचनाकाल के लोगों को ही प्रभावित नहीं करती थीं, वे आज भी हमारे हृदय पर शासन करती हैं। हमारा साहित्य ही हमारे देश की आत्मा का परिचय देता है। यह बात ठीक नहीं कि लेखक केवल स्वेच्छा से साहित्य लिखता है। उसकी रचनाओं से पाठकों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। साहित्य को नियमों में बाँधना भी उचित नहीं।

हमारे देश की सभी भाषाओं में ऊँचा-से-ऊँचा साहित्य है। हमलोगों को अपने देश की सभी भाषाओं का आदर करना चाहिए। आजतक हमलोगों का ध्यान केवल अँगरेजी पर केन्द्रित रहा है। आज हमें देश की एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हमें देश की एक से अधिक भाषाएँ सीखकर उनके साहित्य को मौलिक रूप से पढ़ना चाहिए। यदि तेलगूभाषी समझते हैं कि उनका काम केवल तेलगू पढ़ने से चल जायगा, तो वे गलती करेंगे। हम लोग आंध्र-विश्वविद्यालय में अन्य भाषाओं के अध्ययन का प्रबंध भी कर रहे हैं।

हिन्दी को हमने अंतरराष्ट्रीय व्यवहार के लिए स्वीकार किया है। वह देश की मानव-संस्कृति को व्यक्त करने का माध्यम भी बनेगी, इसमें कोई संदेह नहीं कि आगामी दस-बारह वर्षों में हिन्दी का महत्त्व बहुत बढ़ेगा। और, देश में सभी जगह उसके अध्ययन को प्रोत्साहन मिलेगा। यह बहुत आवश्यक है कि हिन्दी में देश-विदेश की भाषाओं के श्रेष्ठतम साहित्य का अनुवाद हो। अँगरेजी को इस समय संसार में जो महत्त्व मिला हुआ है, उसका कारण उसका मौलिक साहित्य ही नहीं है, अपितु उसमें संसार की सभी भाषाओं के उत्तमोत्तम साहित्य को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। मौलिक साहित्य के साथ-साथ हमें इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। हिन्दी से किसी भी प्रान्तीय भाषा को आघात नहीं पहुँचेगा। इसी तरह हिन्दी को भी सभी भाषाओं का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।'

(दैनिक 'आज', काशी; ७ अगस्त '५४ ई०)

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिषद् के निम्नलिखित ग्रंथ छप रहे हैं

१. रबर—(सचित्र) ले० श्री फूलदेव सहाय वर्मा (कालेज-इन्सपेक्टर, बिहार वि० वि०)
२. शैवमत—डा० यदुवंशी (केन्द्रीय शिक्षा-विभाग, दिल्ली)
३. ईख और चीनी (सचित्र)—श्री फूलदेव सहाय वर्मा
४. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह
५. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ०सी०एस्०, (बिहार-सचिवालय)
६. बौद्ध-धर्म-दर्शन—ले० आचार्य नरेन्द्रदेव
७. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (पिशल-कृत)—(मूल जर्मन से अनुवाद) —डा० हेमचन्द्र जोशी
८. मध्य एशिया का इतिहास—प्रथम और द्वितीय खण्ड (सचित्र) —श्री राहुल सांकृत्यायन
९. नक्षत्र और ग्रह (सचित्र)—ले० श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०
१०. राजकीय व्यय-प्रबंध के सिद्धांत-श्री गोरखनाथ सिंह—(भूतपूर्व शिक्षा-निर्देशक, बिहार)
११. नीहारिकाएँ (सचित्र)—डा० गोरख प्रसाद (प्रयाग-विश्वविद्यालय)
१२. राजनीति और दर्शन—डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा (पटना-विश्वविद्यालय)

हिन्दी-संसार के पुस्तक-विक्रेताओं से निवेदन

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी के विद्वानों के लिखे हुए जिन अनमोल ग्रन्थों को सर्वांङ्गसुन्दर रूप में प्रकाशित किया है और जिनकी प्रशंसा सभी भाषाओं के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों तथा पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्तकण्ठ से की है, उन ग्रन्थों को देश के पुस्तकालयों, साहित्यिक संस्थाओं और साहित्यानुरागी पाठकों तक सुगमता से पहुँचाने के लिए परिषद् ने यह निश्चय किया है कि देश-विदेश के पुस्तक-विक्रेताओं को इन उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रचारार्थ आवश्यक सुविधाएँ दी जायँ। उक्त निश्चय के अनुसार सभी समर्थ पुस्तक-विक्रेताओं से अनुरोध है कि वे परिषद् के प्रामाणिक ग्रन्थों को अपने-अपने व्यापार-क्षेत्र में खपाने का प्रयत्न करें। इसके लिए उन्हें निम्नलिखित सुविधाएँ दी जायँगी—

१. सबको प्रत्येक छोटे-बड़े आर्डर पर केवल २०% कमीशन दिया जायगा।

२. एक साथ पाँच सौ रुपये के आर्डर पर पैकिंग-पोस्टेज मुफ्त और सवारीगाड़ी का भाड़ा आधा तथा मालगाड़ी का भाड़ा पूरा दिया जायगा।

३. सालभर में पाँच हजार रुपये तक की बिक्री करने पर निश्चित २०% कमीशन के अतिरिक्त ५% अधिक (कुल २५%) कमीशन दिया जायगा। पाँच हजार से अधिक की पुस्तकें बिक्री करनेवाले पुस्तक-विक्रेताओं के नाम परिषद् के कार्य-विवरण में प्रकाशित कर दिये जायँगे।

मन्त्री
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिषद्-द्वारा प्रकाशित

हिन्दी-साहित्य के बारह अनमोल ग्रंथ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
मूल्य सवा तीन रुपये सजिल्द; पौने तीन रु० अजिल्द। पृष्ठ संख्या १३२।

२. यूरोपीय दर्शन—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा;
मूल्य सवा तीन रुपये। पृ० संख्या ११५। सजिल्द।

३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
मूल्य साढ़े नौ रुपये। दो तिरंगे और लगभग १८८ इकरंगे आर्ट पेपर पर छपे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र भी। पृष्ठ संख्या २७४। सजिल्द।

४. विश्व-धर्म-दर्शन—श्री सौंबलिया विहारीलाल वर्मा
मूल्य साढ़े तेरह रुपये। पृ० संख्या ५०२। सजिल्द। एक चित्र भी।

५. सार्थवाह—ले० डा० मोतीचन्द्र। मूल्य ग्यारह रुपये। आर्ट पेपर पर छपे १०० अलभ्य ऐतिहासिक चित्र तथा व्यापार-पथ के दुरंगे मानचित्र भी। पृ० सं० ३१४। सजिल्द।

६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा० सत्यप्रकाश
(प्रयाग-विश्व-विद्यालय)। मूल्य आठ रुपये। पृ० संख्या २८२। सजिल्द।

७. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पी०-एच्० डी०। मूल्य चौदह रुपये। बढ़िया आर्ट पेपर पर सात तिरंगे और बारह पृष्ठ एकरंगे चित्र भी। पृ० संख्या ५३६। सजिल्द।

८. काव्यमीमांसा—पं० श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत; 'सुप्रभातम्'-सम्पादक। मूल्य सौढ़े नौ रुपये। गवेषणापूर्ण प्रामाणिक भूमिका और परिशिष्ट के साथ। पृ० संख्या २६२। सजिल्द।

राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रीय संग्रहालय
क्र० सं०.....
तिथि ६...
हिन्दी पुस्तकालय

९. श्री रामावतार शर्मा-निबंधावली—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा
मूल्य पौने नौ रुपये। पृ० संख्या ३३०। सजिल्द।

१०. प्राङ्मौर्य विहार—डा० देवसहाय त्रिवेद, पी०-एच्० डी०। मूल्य सवा सात रुपये। प्राङ्मौर्यकालीन विहार के मानचित्र के साथ ग्यारह एकरंगे ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण चित्र भी। पृ० संख्या २२२। सजिल्द।

११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर। मूल्य साढ़े नौ रुपये। आर्ट पेपर पर गुप्तकालीन मुद्राओं पर लिपियों के सत्ताईस सविवरण फलक भी। पृ० संख्या २४०। सजिल्द।

१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी।
पृ० सं० ६२५। मूल्य साढ़े तेरह रुपये। सजिल्द।

पक्की जिल्दों पर रंगीन सचित्र आवरण बड़े आकर्षक हैं!

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सम्मेलन भवन, पटना—३

मुद्रक—योगी, प्रेस पटना-१ : : प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना—३

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

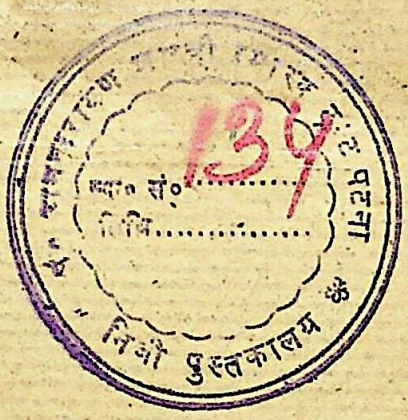

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.